

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला पुष्प नं० २२

महर्षि, विद्वच्छिरोमणि, दिगम्बर तपोनिधि

श्रीमद् आचार्य कुंथुसागर महाराज विरचित

शान्तिसुधासिंधु

टीकाकार—

धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्री

प्रकाशक—

चैनसुख गम्भीरमल पांड्या, कलकत्ता

प्रति— १०००

वीरनिर्वाण सं० २४६७, सन् १९४१
रक्षाबन्धनपर्व

मूल्य ६)
~~न्योछावर~~—
स्वपरकल्याण

मुद्रक—
पं० श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
मंत्री—भारतीय जैन-सिद्धांतप्रकाशिनी संस्था
जैन-सिद्धांत-प्रकाशक (पवित्र) प्रेस
नं० ७ बैसाख स्ट्रीट कलकत्ता



ग्रंथ मिलनेका पता—
जातिशिरोमणि सेठ चैनसुखजी
गम्भीरमलजी पांड्या
नं० ४१, शिवतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता
अथवा
कुचामन (मारवाड़)

विषय-सूची



संसारी-जीव विचार

विविध-विचार





ध्यान विचार

प्रकाशनमें सहायता

जिनवाणी-भक्त, धर्मपरायण, गुरुभक्त-शिरोमणि, श्रेष्ठिवर्य गंभीरमलजी साहबसे कौन अपरिचित होगा ? आपके हृदयमें धर्मके प्रति असीम प्रेम है। गुरुओंके चरणमें अवंचक भक्ति है, जिनवाणी माताके प्रति निर्मल विनय है, धर्म संकटके समयमें उसके निवारणके लिए आप सदा कटिबद्ध रहते हैं।

श्री परमपूज्य आचार्य श्रीशांतिसागर महाराजके संघ के प्रति आपके हृदय में भरपूर भक्ति है। वर्षमें २-३ महीने आप संघसेवा व साधु समागममें व्यतीत करते हैं। पात्रदान देकर अपनेको धन्य मनाते हैं। इसी तरह आप श्री आचार्य कुन्थुसागर महाराजकी वंदनाके लिए भी वर्षमें दो चार बार आते हैं व भक्तिसे पात्रदान, शास्त्र श्रवणकर अपने जीवन को सफल करते हैं। गतवर्ष आचार्य श्रीकी वंदनाके लिए आप जहेर पधारे थ उस समय गुरु भक्तिसे प्रेरित होकर इस "शांतिसुधासिन्धु" ग्रन्थराजके प्रकाशनकी भावना दिखाई व महाराजसे अनुमतिके लिए प्रार्थना की। सेठजीके उस शुभभावके फलस्वरूप आज यह ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहा है। इस ग्रन्थराजके प्रकाशनका सर्व श्रेय सेठ साहबको ही है। साथमें जितने भी सज्जन इसका स्वाध्याय कर ज्ञान लाभ करेंगे उनकी आत्मामें संयम की वृद्धि व विशुद्धी होगी। इन सबको जो पुण्यबंध होगा। वह पुंजीभूत होकर सेठ साहबको भी होगा। कारण निष्काम भावसे किया हुआ कार्य व्यर्थ नहो होता है। इसी प्रकार पूज्य श्रीके आगेके ग्रन्थोंको भी प्रकाशित करानेका सेठ साहबने विचार किया है।

आपके पूज्य भ्राता सेठ चैनसुखजी साहब परम धार्मिक और गुरुभक्त हैं। हम श्रीजिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना करते हैं कि आप सपरिवार आयुरारोग्यैश्वर्यादि विभूतियोंसे युक्त होकर सुखमय दीर्घ जीवनको व्यतीत करें। आपके हृदयमें इसी प्रकार देवगुरुश्रुत भक्ति वृद्धिंगत हो।

यह भी हमारी भावना है कि जिन वीतरागी विद्वान् तपोनिधि आचार्य श्रीकुन्थुसागर महाराजने जिन चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्रीशांतिसागर महाराजकी स्मृतिमें इस महान् ग्रन्थराज की रचना कर लोकोपकार किया है, वे दोनों साधु पुंगव इस युगमें जयवन्त रहें। उनका पुण्य विहार—चिरकालतक इस आर्यभूमिपर होकर असंख्यात भव्योंका उद्धार हो एवं इतोप्यधिक धर्मका अभ्युदय हो।

विनीत गुरुचरण भक्त—
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (विद्यावाचस्पति)
मंत्री-आचार्य श्री कुंथुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर

संघने अनेक स्थानोंमें धर्मवर्षा करते हुए कटनीमें चातुर्मास को व्यतीत किया। बादमें दूसरे वर्ष संघका पदार्पण चातुर्मासके लिए ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्य महाराजके संघमें सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुवोंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं थी परन्तु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघमें क्षुल्लक ज्ञानसागरजी जो बादमें मुनिराज सुधर्मसागरजीके नामसे प्रसिद्ध हुए थे, विद्वान् व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस ग्रन्थके कर्ता श्री ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी उनसे व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करना प्रारंभ किया।

आपको तत्त्वपरिज्ञानमें पहिलेसे ही अभिरुचि, स्वाभाविकबुद्धि तेज, सतत अध्ययनमें लगन, उसमें भी ऐसे विद्वान् संयमी विद्यागुरुओंका समागम, फिर कहना ही क्या? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान् हुए। इस बीचमें सोनगिर सिद्धक्षेत्रमें आपको श्री आचार्य महाराजने दिगम्बर दीक्षा दी, उस समय आपको मुनि कुंथुसागरके नामसे अलंकृत किया। आपके चारित्रमें वृद्धि होनेके बाद ज्ञानमें भी नैर्मल्य बढ़ गया। ललितपुर चातुर्माससे लेकर ईडरके चातुर्मास पर्यन्त आप बराबर अध्ययन करते रहे। आज आप कितने ऊंचे दर्जेके विद्वान् बन गए हैं यह लिखना आश्चर्यकारक होगा। आपकी विद्वत्ता इसीसे स्पष्ट है कि अब आप संस्कृतमें ग्रंथोंका भी निर्माण करने लग गए हैं। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बड़ी २ उपाधियोंसे विभूषित विद्वान्को हम आपसे तुलना नहीं कर सकते। आपमें केवल ज्ञान ही नहीं किन्तु चारित्र जो कि ज्ञानका फल है वह पूर्ण अधिकृत होकर आपमें विद्यमान् है इसलिए आपमें स्वपरकल्याणकारी निर्मल ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजनपूज्य हुए। आपकी जिस प्रकार रचनाकलामें विशेष गति है, उसी प्रकार वक्तृत्वकालमें भी आपको पूर्ण अधिकार है। श्रोताओंके हृदयको आकर्षण करनेका प्रकार, वस्तुस्थितिका निरूपण कर भव्योंका संसारसे तिरस्कार करनेका विचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत है। आपके गुण, संयम आदिको देखनेपर यह कहे हुए बिना नहीं रह सकते कि आचार्य शांतिसागर महाराजने आपका नाम 'कुंथुसागर' बहुत सोच समझ कर रखा है।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐलक अवस्थामें अपनी प्रतिभासे बहुत ही अधिक धर्मप्रभावनाके कार्य किए थे। संस्कारोंके प्रचारके लिये सतत उद्योग किया था। करीब करीब तीन लाख व्यक्तियोंको आपने यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत किया था। एवं लाखों लोगोंके हृदयमें मद्य मांस, मधुकी हेयताको जंचाकर त्याग कराया था। हजारोंको मिथ्यात्वसे हटाकर सन्मार्गमें प्रवृत्त कराया था। मुनि अवस्थामें उत्तर प्रान्तके अनेक स्थानोंमें विहारकर धर्मकी जागृति की। गुजरात प्रान्त जो कि चारित्र व संयमकी दृष्टिसे बहुत ही पीछे पड़ा था उस प्रान्तमें छोटे छोटे गांवमें विहार कर लोगोंको धर्ममें स्थिर किया। गुजरातके जैन व जैनेतरोंके मुखसे आपके लिए आज यह उद्गार निकलता है कि "साधु हों तो ऐसे ही हों।" बड़े बड़े राजा महाराजोंपर भी आपके उपदेशका गहरा प्रभाव पड़ता है।

सुदासना, टीवा, अलुवा, माणिकपुरा, मोहनपुरा, बडासन, पेथापुर, ओरान, देलवाड़ा आदि छोटे बड़े संस्थानोंके अधिपति आपके परम भक्त हैं। गत दिनोंमें जब आपके संघका पदार्पण बड़ौदा राजधानीमें हुआ उस समय राजकीय लवाजमेके साथ बहुत ही वैभवसे आपके संघ

का स्वागत किया गया और राज्यके न्याय मंदिरमें कई-हजार जनता व खास दीवान साहेब श्री कृष्णमाचारी की उपस्थितिमें जो आपका गंभीर तत्त्व विवेचन पूर्ण भाषण हुआ वह सुवर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। वहां सर्व जन साधारण पर दि० जैन मुनियोंके महत्वका काफी प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार कई स्थानोंमें आपके सार्वजनिक हितके तत्त्वोपदेश होते हैं।

बहुतसे राजाओंने आपके उपदेशसे प्रेरित होकर अपने राज्यमें अहिंसा दिन पालनेकी प्रतिज्ञा ली है। गुजरातमें बड़े २ राजा महाराजाओं के द्वारा आपका स्वागत हुआ और हो रहा है। आपके उपदेशामृत पान करनेके लिये बड़े २ राजा महाराजा लालायित रहते हैं। आपके द्वारा अभूतपूर्व धर्म प्रभावना हो रही है।

गत तारंगा महोत्सवके समय कई हजारोंकी उपस्थितिमें चतुःसंघके समक्ष पूज्यश्रीको 'आचार्य' पदसे अलंकृत किया है। आपके कारणसे अनेक साधु संयमी व लाखों भव्योंका कल्याण हो रहा है। यह आपका संक्षिप्त परिचय है। पूर्णतः लिखनेपर स्वतंत्र पुस्तक ही बन सकती है।

ग्रन्थ-निर्माण

पूज्यश्रीने अपने विद्वत्ताके बलसे अनेक ग्रंथोंका निर्माण किया है। आपकी वीतरागवृत्ति इतनी बढ़ी हुई है कि आप दिनमें बहुतसे मौनव्रतसे रहते हैं। केवल आत्मकल्याणेच्छु भव्योंके लिये एक घंटा धर्मोपदेश देते हैं व तत्त्वचर्चा शंकासमाधान आदि करते हैं। बाकी चर्या, अल्पशयन, व ध्यान अध्ययनके समयको छोडकर अन्य समय मौनमें रहकर आप ग्रन्थ निर्माण करते रहते हैं।

चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शांतिसागरचरित्र, बोधामृतसार, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, ज्ञानामृतसार, लघुबोधामृतसार, स्वरूप दर्शनसूर्य, नरेशधर्मदर्पण, लघुप्रतिक्रमण, लघुज्ञानामृतसार, सुधर्मोपदेशामृतसार, लघुसुधर्मोपदेशामृतसार, श्रावकप्रतिक्रमणसार, शांतिसुधासिंधु आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ पूज्यश्रीके ही परिश्रमके फल हैं।

प्रकृत ग्रन्थका हेतु

हम पहिले बता चुके हैं कि पूज्यपाद चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराजने अपने दिव्य विहारसे असंख्य प्राणियोंका उद्धार किया है। वर्तमानमें दिगम्बर साधुओंका सम्प्रदाय जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है वह आचार्य श्रीकी ही कल्याणमय भावनाका फल है। संस्कारोंका प्रचार, व्यसनोंका त्याग, अभक्ष्यभक्षणका त्याग, अपूर्व धर्मप्रभावना आदि अनेक विषय आचार्य संघसे हुए हैं और हो रहे हैं। इतना ही नहीं पूज्य आचार्यश्रीने धर्मका सार्वत्रिक उद्योत करनेके लिए समर्थ अनेक विद्वान् तपस्वी शिष्योंको उत्पन्न किया है। उन्हींमें अन्यतम प्रभावशाली श्रीमहर्षि कुन्थुसागर महाराज हैं। अपने पूज्य गुरुकी स्मृति चिरन्तन बनी रहे एवं भव्योंके हृदयमें सदा गुरुवरके प्रति भक्ति बनी रहे। आचार्यश्रीके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंको मूर्तस्वरूप आकर सर्व भव्योंके लाभकी वह चीज बने, सबसे अधिक अपने उद्धारके लिए सर्वथा मूलभूत ऐसे महान् विभूतिकी भक्तिके चिन्हके रूपमें इस ग्रन्थका निर्माण पूज्यश्रीने किया है। इससे यह स्पष्ट है कि महापुरुषोंकी कृति स्वपर कल्याण साधनभूत हुआ करती है।

ग्रंथ विषय

प्रकृत ग्रन्थमें क्या विषय है यह स्वाध्याय करनेवाले स्वतः उसका अनुभव करेंगे तथापि संक्षेपसे हम इतना कह सकते हैं कि इस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थमें आत्मकल्याणेच्छु भव्योंके उद्धारकी सामग्री एकत्रित कर दी गई है। आत्माका उद्धार किस प्रकार होगा, संसारीजीव किस प्रकार अपना अहित कर लेता है। सरागी व वीतरागियोंकी परिणति कैसी होती है, संसारी जीवका क्या कर्तव्य है, ध्यानकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस प्रकार करीब तीन सौ विषयोंके सम्बन्धमें आचार्यश्रीने इसमें प्रकाश डाला है। सचमुचमें एक दफे इसे बांचनेपर आत्माके ऊपर विशिष्ट प्रभाव हुए विना नहीं रह सकता।

ग्रंथवर्णन-शैली

ग्रन्थवर्णनशैलीके सम्बन्धमें इतना ही हम कह सकते हैं कि पुज्यश्रीके आज पर्यन्तके ग्रन्थ जिस प्रकार अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए भी आबाल वृद्धोंको समझने जैसे सुलभ हैं उसी प्रकार प्रकृतग्रन्थ भी अत्यन्त सुलभ शैलीमें निर्मित है। थोड़ा भी संस्कृतका अध्ययन जिन्होंने किया है वे महर्षिके ग्रन्थके श्लोकोंको लगा सकेंगे। विषयोंका संकलन इस प्रकार किया है कि एक दफे स्वाध्याय करके तृप्ति नहीं हो सकती है। जटिलसंस्कृत, दीर्घसमास, विचित्र अलंकारसे युक्त काव्यमय ग्रन्थके बनानेसे साधारण श्रेणीकी जनताको उपयोग नहीं हो सकता है, इसी विचारसे इस सरल व सरस शैलीको महर्षिने अपनाया है।

अनुवादक

जैन समाजके लिए चिरपरिचित श्री धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्रीने इस ग्रन्थका अनुवाद किया है। पंडितजीने संस्कृत साहित्यकी अपूर्व सेवा की है। वे सफल अनुवादक हैं। रात्रिंदिन जिनवाणी माताकी सेवामें श्रम करते हैं इसलिए श्रुतदेवी भी उनसे प्रसन्न है। श्री आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमालासे आज तक प्रकाशित प्रायः सब ग्रन्थोंका उन्होंने ही गुरुभक्तिसे अनुवाद किया है। पंडितजी स्वतः संयमशील, जपतपानुष्ठानमें निरतरव सदा तत्त्वपरामर्शमें रत रहते हैं। रहे सहे समयमें इस प्रकार साहित्यसेवा करते हैं। आपके द्वारा ही अनूदित सैकड़ों ग्रन्थोंके होनेसे आज सबके स्वाध्यायके लिए सुलभ हुए हैं। इस उपकृतिके लिए हम पंडितजीके हृदयसे आभारी हैं। और जैन-समाज भी कृतज्ञ रहेगा।

निवेदक—

चैनसुख गंभीरमल पांड्या

कलकत्ता

प्रकाशनमें सहायता

जिनवाणी-भक्त, धर्मपरायण, गुरुभक्त-शिरोमणि, श्रेष्ठिवर्य गंभीरमलजी साहबसे कौन अपरिचित होगा ? आपके हृदयमें धर्मके प्रति असीम प्रेम है। गुरुओंके चरणमें अवंचक भक्ति है, जिनवाणी माताके प्रति निर्मल विनय है, धर्म संकटके समयमें उसके निवारणके लिए आप सदा कटिबद्ध रहते हैं।

श्री परमपूज्य आचार्य श्रीशांतिसागर महाराजके संघ के प्रति आपके हृदय में भरपूर भक्ति है। वर्षमें २-३ महीने आप संघसवा व साधु समागममें व्यतीत करते हैं। पात्रदान देकर अपनेको धन्य मनाते हैं। इसी तरह आप श्री आचार्य कुन्थुसागर महाराजकी वंदनाके लिए भी वर्षमें दो चार बार आते हैं व भक्तिसे पात्रदान, शास्त्र श्रवणकर अपने जीवन को सफल करते हैं। गतवर्ष आचार्य श्रीकी वंदनाके लिए आप जहेर पधारे थे उस समय गुरु भक्तिसे प्रेरित होकर इस "शांतिसुधासिन्धु" ग्रन्थराजके प्रकाशनको भावना दिखाई व महाराजसे अनुमतिके लिए प्रार्थना की। सेठजीके उस शुभभावके फलस्वरूप आज यह ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहा है। इस ग्रन्थराजके प्रकाशनका सर्व श्रेय सेठ साहबको ही है। साथमें जितने भी सज्जन इसका स्वाध्याय कर ज्ञान लाभ करेंगे उनकी आत्मामें संयम की वृद्धि व विशुद्धो होगी। इन सबको जो पुण्यबंध होगा। वह पुंजीभूत होकर सेठ साहबको भी होगा। कारण निष्काम भावसे किया हुआ कार्य व्यर्थ नहो होता है। इसी प्रकार पूज्य श्रीके आगेके ग्रन्थोंको भी प्रकाशित करानेका सेठ साहबने विचार किया है।

आपके पूज्य भ्राता सेठ चैनसुखजी साहब परम धार्मिक और गुरुभक्त हैं। हम श्रीजिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना करते हैं कि आप सपरिवार आयुरारोग्यैश्वर्यादि विभूतियोंसे युक्त होकर सुखमय दीर्घ जीवनको व्यतीत करें। आपके हृदयमें इसी प्रकार देवगुरुश्रुत भक्ति वृद्धिंगत हो।

यह भी हमारी भावना है कि जिन वीतरागी विद्वान् तपोनिधि आचार्य श्रीकुन्थुसागर महाराजने जिन चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्रीशांतिसागर महाराजकी स्मृतिमें इस महान् ग्रन्थराज की रचना कर लोकोपकार किया है, वे दोनों साधु पुंगव इस युगमें जयवन्त रहें। उनका पुण्य विहार—चिरकालतक इस आर्यभूमिपर होकर असंख्यात भव्योंका उद्धार हो एवं इतोप्यधिक धर्मका अभ्युदय हो।

विनीत गुरुचरण भक्त—
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (विद्यावाचस्पति)
मंत्री-आचार्य श्री कुंथुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत संपत्ति थी परंतु उनके कोई संतान नहीं थी। वे रामचन्द्रसे कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरह तुम ही ले लो। मेरे यहांके सब कारोभार तुम ही चलावो। परंतु रामचंद्र उन्हे दुःख न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी, परंतु मनमें यह विचार किया करता था कि मैं अपना भी घरबार छोड़ना चाहता हूं। इनकी संपत्ति लेकर मैं क्या करूं। रामचंद्रकी इन प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुरको दुःख होता था। परन्तु रामचन्द्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करनेका निश्चय ही कर लिया तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दुःख हुआ।

दैवात इस बीचमें मातापिताका स्वर्गवास हुआ। विकराल कालकी कृपासे भाई बहिनने भी विदाई ली। अब रामचन्द्रका चित्त और भी उदास हुआ। उसका बन्धन छूट गया। अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

इतनेमें भाग्योदयसे गनापुरमें प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजका पदार्पण हुआ। वीतरागी तपोधन मुनिको देखकर रामचन्द्रके चित्तसे संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न हो गई। प्राप्त समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्री आचार्य चरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण किया।

सन् १९२५ फरवरी महीनेकी बात है। श्रवणबेलगुल महाक्षेत्रमें श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषेकके समाचार पाकर ब्रह्मचारीजीने वहां जानेकी इच्छा की। श्रवणबेलगुल जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी सम्पत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। एवं श्रवणबेलगुलमें आचार्य शान्तिसागर महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया। ध्यान अध्ययनादि कार्योंमें अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्रमें आपने वृद्धि की व आचार्य चरणोंमें ही रहने लगे।

आपके दीक्षित होनेके बाद आपकी धर्मपत्नीने अपने जीवनको गृहस्थाश्रममें ही धर्ममय व्यतीत किया।

चार वर्ष बाद आचार्यपादका चातुर्मास कुम्भोज (बाहुबलि पहाड़) में हुआ। उस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलताको देखकर उन्हें ऐलक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाड़पर एक खास बात यह हुई कि संघभक्तशिरोमणि सेठ पूनमचन्द घासीलालजी आचार्य वन्दनाके लिए आये और महाराजके चरणोंमें प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजीके लिए संघ निकालना चाहता हू। आप अपने संघ सहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्तशिरोमणिजीकी विनतीको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभ मुहूर्तमें संघने तीर्थराजकी वन्दनाके लिए प्रस्थान किया। ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्रीतीर्थराजकी वंदनाके लिये विहार किया। सम्मेदशिखर संघके पहुंचनेके बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्री परिषद्के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थोंके साथ, जंगमतीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।

प्रकाशनमें सहायता



जिनवाणी-भक्त, धर्मपरायण, गुरुभक्त-शिरोमणि, श्रेष्ठिवर्य गंभीरमलजी साहबसे कौन अपरिचित होगा ? आपके हृदयमें धर्मके प्रति असीम प्रेम है। गुरुओंके चरणमें अवंचक भक्ति है, जिनवाणी माताके प्रति निर्मल विनय है, धर्म संकटके समयमें उसके निवारणके लिए आप सदा कटिबद्ध रहते हैं।

श्री परमपूज्य आचार्य श्रीशांतिसागर महाराजके संघ के प्रति आपके हृदय में भरपूर भक्ति है। वर्षमें २-३ महीने आप संघसेवा व साधु समागममें व्यतीत करते हैं। पात्रदान देकर अपनेको धन्य मनाते हैं। इसी तरह आप श्री आचार्य कुन्थुसागर महाराजकी वंदनाके लिए भी वर्षमें दो चार बार आते हैं व भक्तिसे पात्रदान, शास्त्र श्रवणकर अपने जीवन को सफल करते हैं। गतवर्ष आचार्य श्रीकी वंदनाके लिए आप जहेर पधारे थे उस समय गुरु भक्तिसे प्रेरित होकर इस "शांतिसुधासिन्धु" ग्रन्थराजके प्रकाशनकी भावना दिखाई व महाराजसे अनुमतिके लिए प्रार्थना की। सेठजीके उस शुभभावके फलस्वरूप आज यह ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहा है। इस ग्रन्थराजके प्रकाशनका सर्व श्रेय सेठ साहबको ही है। साथमें जितने भी सज्जन इसका स्वाध्याय कर ज्ञान लाभ करेंगे उनकी आत्मामें संयम की वृद्धि व विशुद्धी होगी। इन सबको जो पुण्यबंध होगा। वह पुंजीभूत होकर सेठ साहबको भी होगा। कारण निष्काम भावसे किया हुआ कार्य व्यर्थ नहीं होता है। इसी प्रकार पूज्य श्रीके आगेके ग्रन्थोंको भी प्रकाशित करानेका सेठ साहबने विचार किया है।

आपके पुज्य भ्राता सेठ चैनसुखजी साहब परम धार्मिक और गुरुभक्त हैं। हम श्रीजिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना करते हैं कि आप सपरिवार आयुरारोग्यैश्वर्यादि विभूतियोंसे युक्त होकर सुखमय दीर्घ जीवनको व्यतीत करें। आपके हृदयमें इसी प्रकार देवगुरुश्रुत भक्ति वृद्धिंगत हो।

यह भी हमारी भावना है कि जिन वीतरागी विद्वान् तपोनिधि आचार्य श्रीकुन्थुसागर महाराजने जिन चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्रीशांतिसागर महाराजकी स्मृतिमें इस महान् ग्रन्थराज की रचना कर लोकोपकार किया है, वे दोनों साधु पुंगव इस युगमें जयवन्त रहें। उनका पुण्य विहार—चिरकालतक इस आर्यभूमिपर होकर असंख्यात भव्योंका उद्धार हो एवं इतोऽप्यधिक धर्मका अभ्युदय हो।

विनीत गुरुचरण भक्त—
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (विद्यावाचस्पति)
मंत्री-आचार्य श्री कुंथुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर

आद्य-वक्तव्य

स्वदोपशान्त्यावहितात्मशांतिः शांतेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शांतिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

दुनियांमें शांति बहुत बड़ी चीज है। तीन लोककी सम्पत्ति, साम्राज्यको एक तरफ रक्खा जाय और इस दो अक्षरकी चीजको एक तरफ रक्खें तो इसके बराबर वह सम्पत्ति वैभव तुलना नहीं कर पाती है। यह एक अलौकिक निधि है। बड़े-बड़े ऋषि महर्षि केवल इसकी प्राप्तिके लिए अनेक घोर तपोंका आचरण करते हैं। बड़े बड़े राजा-महाराजा संसार भोगोचित सर्व सामग्रियोंके होते हुए भी इसके विना बेचैन रहते हैं। इसके विना राजाका राज्यैश्वर्य भी बेकार है किंतु इसके प्राप्तहोनेपर रंक भी राजासे अधिक सुखी होता है। इसी निधिकी प्राप्तिके लिये जैनधर्ममें उपदिष्ट सर्व अनुष्ठान हैं। जप है, तप है, व्रत व संयम है। यदि जप तप ध्यान अध्यनादिकोंमें इस शांतिका निवास न हो तो वे सब व्यर्थ हैं। उनसे आत्मकल्याण बिलकुल भी नहीं हो सकता है।

मन बहुत चंचल है। क्षणार्धमें वह किस तेजीसे अपनी गतिसे प्रक्षुब्ध वातावरण निर्माण करता है, यह सर्व प्राणियोंके लिये अनुभूत विषय है। रात्रि-दिन आकुलता, संक्लेश, क्षोभ आदिके होनेसे यह मनुष्य दुःखी होता है। इससे बढ़कर दुनियांमें कोई कष्ट नहीं है। सारांश यह कि वह शांतिको टिकने नहीं देता है। उसपर विजय पानेके लिये ही इंद्रियदमन, कषायनिग्रह, समितियोंका पालन, अनर्थदंडोंका त्याग आदि बातें करनी पड़ती हैं। जब इनमें सफलता होती है तब यह शांतिदेवी वशमें होती है, यह अनुभवगम्य विषय है।

किसीने पूछा कि वह शांति क्या चीज है, तो हम उसका वर्णन बड़ी बड़ी व्याख्या करके कर सकते हैं, परन्तु किसीने उस चीजको प्रत्यक्ष देखा हो तो दिखावो हम सबकी दृष्टि उस साधु महात्माके प्रति जाती है जिसका उदय दक्षिणसे हुआ, जो

शांतिके ही प्रतिकृति हैं, या यों कहिये शांतिदेवी जिनके चरणोंकी दासी है। जिसने इस महत्वपूर्ण निधिको पाकर अपना तथा दूसरोंका उद्धार किया है। महर्षि पूज्यपाद चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज आज जगद्वंद्य हैं। शांतिके आदर्श मूर्ति हैं; आपके जीवनमें बाल्यकालसे ही शांति सुधाकी धारा बह रही है।

आपके प्रसादसे आसेतु हिमाचल, अटकसे कटक तक अलौकिक धर्मप्रभावना हो रही है। आजके युगमें आचार्य महाराज अलौकिक महापुरुष हैं, विश्ववंद्य हैं। संसारके दुःखोंसे भयभीत प्राणियोंको तारनेके लिये अकारण बंधु हैं। आपके हृदयकी गंभीरता, अन्य दुर्लभ शांति, अचल धीरता आदिको देखते हुये सचमुचमें आपके नामका सार्थक्य समझमें आता है। जिन्होंने भक्तिपूर्वक आपका एक बार भी दर्शन किया है उनको आपकी महत्ताका परिज्ञान हुए विना नहीं रह सकता है। एक दफे आपके सामने कोई क्रूर हृदयी शत्रु भी क्यों न आवे; आपकी शांतमुद्राको देखकर वह द्रवित हो जाता है। इतना ही क्यों बड़े से बड़े क्रूर मृग, विषधर आदि भी शांत हो जाते हैं। आपका माहात्म्य इसीसे स्पष्ट है कि कई दफे प्राणकंटक उपसर्ग आने पर भी उनसे महाराजकी सिंहवृत्तिमें कोई विराधना नहीं हो सकी! ऐसे प्रातःस्मरणीय साधुओंके दर्शन, स्तवन व वैयावृत्यके लिये ही नहीं नामोच्चारण करनेके लिये भी पूर्वोपार्जित पुण्यकी आवश्यकता है। यह सर्वसाधारणके लिये सुगम नहीं है।

आचार्य महाराज आज विश्वके अलौकिक विभूति हैं। आपके ही प्रधान शिष्य विद्वच्छिरोमणि श्रीआचार्य कुंथुसागर महाराजने इस ग्रंथको गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर प्रणयन किया है। अपने परमपूज्य उद्धारक परमगुरु प्रति समय स्मृतिपथमें रहें इस हेतुसे महर्षिने इस ग्रंथका नाम भी शांतिसुधासिंधु रक्खा है और हमने भी इस पवित्र ग्रन्थको भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था के पवित्र प्रेस—श्रीजैनसिद्धान्तप्रकाशक प्रेसमें छपाया है, जहां कि कपड़ेके बेलनसे ही छपाई होती है। हमारे भाइयोंसे निवेदन है कि वे इस ग्रंथका अवश्य स्वाध्याय कर स्वपरकल्याण करेंगे।

निवेदक—

चैनसुख गंभीरमल पांड्या



ग्रन्थकर्ताका परिचय

महर्षि कुंथुसागरजीने इस ग्रंथकी रचना की है। आप एक परम वीतरागी, प्रतिभाशाली, विद्वान् दिगंबर मुनिराज हैं। आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है, जिसे पूर्वमें कितने ही महर्षियोंने अलंकृत कर जैनधर्मका मुख उज्ज्वल किया है।

कर्नाटक प्रांतके ऐश्वर्यभूत वेलगांव जिलेमें ऐनापुर नामक सुंदर ग्राम है। वहांपर चतुर्थकुलमें ललामभूत अत्यंत शांत स्वभाववाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वतीके समान सद्गुणसंपन्न थी। इसलिए सरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थी। सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यंत प्रेम व उत्साहसे देवपूजा, गुरूपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे। धर्मकार्य को वे प्रधान कार्य समझते थे। उनके हृदयमें आंतरिक धार्मिक श्रद्धा थी। श्रीमती सौ० सरस्वतीने स० २४२० में एक पुत्ररत्नको जन्म दिया। इस पुत्रका जन्म शुक्लपक्षकी द्वितीयाको हुआ, इसलिए शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान दिनपर दिन अनेक कलाओंसे वृद्धिंगत होने लगा माता-पिताओंने पुत्रका जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचारसे जन्मसे ही आगमोक्त संस्कारोंसे संस्कृत किया, जातकर्म संस्कार होनेके बाद शुभ मुहूर्तमें नामकरण संस्कार किया गया जिसमें इस पुत्रका नाम रामचन्द्र रखा गया। बादमें चौलकर्म, अक्षराभ्यास, पुस्तकग्रहण आदि संस्कारोंसे संस्कृत कर सद्विद्याका अध्ययन कराया। रामचंद्रके हृदयमें बाल्यकालसे ही विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत थे, जिसे देखकर लोग साश्चर्य व संतुष्ट होते थे। रामचंद्रको बाल्यावस्थामें ही साधु संयमियोंके दर्शनमें उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुरमें आते तो वह बालक दौड़कर उनकी वंदनाके लिए पहुंचता था। बाल्यकालसे ही हृदयमें धर्मकी अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियोंके साथमें तत्त्वचर्चा करनेमें ही इसका समय बीतता था। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। तब माता पिताने रामचंद्रका विवाह करनेका विचार प्रगट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचंद्रने विवाहके लिए निषेध किया एवं प्रार्थना की कि पिताजी! इस लौकिक विवाहसे मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्तिलक्ष्मीके साथ विवाह कर लेना चाहता हूं। माता पिताने आग्रह किया कि पुत्र! तुम्हें लौकिक विवाह भी करके हम लोगोंकी आकांक्षा तृप्त करना चाहिए। माता-पिताकी आज्ञोल्लंघनके भयसे इच्छा न होते हुए भी रामचन्द्रने विवाहकी स्वीकृति दी। माता पिताने विवाह किया। रामचन्द्रको अनुभव होता था कि मैं विवाह कर बड़े बंधनमें पड़ गया हूं।

विशेष विषय यह है कि बाल्यकालके संस्कारोंसे सुदृढ़ होनेके कारण यौवनावस्थामें भी रामचन्द्रके कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगति व शास्त्रस्वाध्यायका था। बाकी व्यसन तो उनसे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पच्चीस वर्ष तक रामचन्द्रने किसी तरह घरमें वास किया परतु बीच २ में मनमें यह भावना जागृत होती थी कि भगवन्! मैं इस गृहबंधनसे कब छूटूं, जिनदीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा? वह दिन कब आवेगा जब कि सर्व संगपरित्याग कर मैं स्वपर कल्याण कर सकूं।

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत संपत्ति थी परंतु उनके कोई संतान नहीं थी। वे रामचन्द्रसे कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरह तुम ही ले लो। मेरे यहांके सब कारोभार तुम ही चलावो। परंतु रामचंद्र उन्हें दुःख न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी, परंतु मनमें यह विचार किया करता था कि मैं अपना भी घरवार छोड़ना चाहता हूं। इनकी संपत्ति लेकर मैं क्या करूं। रामचंद्रकी इस प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुरको दुःख होता था। परन्तु रामचन्द्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करनेका निश्चय ही कर लिया तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दुःख हुआ।

दैवात् इस बीचमें मातापिताका स्वर्गवास हुआ। विकराल कालकी कृपासे भाई बहिनने भी विदाई ली। अब रामचन्द्रका चित्त और भी उदास हुआ। उसका बन्धन छूट गया। अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

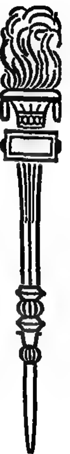
इतनेमें भाग्योदयसे एनापुरमें प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजका पदार्पण हुआ। वीतरागी तपोधन मुनिको देखकर रामचन्द्रके चित्तसे संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न हो गई। प्राप्त समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्री आचार्य चरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण किया।

सन् १९२५ फरवरी महीनेकी बात है। श्रवणबेलगुल महाक्षेत्रमें श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषेकके समाचार पाकर ब्रह्मचारीजीने वहां जानेकी इच्छा की। श्रवणबेलगुल जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी सम्पत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। एवं श्रवणबेलगुलमें आचार्य शान्तिसागर महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया। ध्यान अध्ययनादि कार्योंमें अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्रमें आपने वृद्धि की व आचार्य चरणोंमें ही रहने लगे।

आपके दीक्षित होनेके बाद आपकी धर्मपत्नीने अपने जीवनको गृहस्थाश्रममें ही धर्ममय व्यतीत किया।

चार वर्ष बाद आचार्यपादका चातुर्मास कुम्भोज (बाहुबलि पहाड़) में हुआ। उस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलताको देखकर उन्हें ऐलक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाड़पर एक खास बात यह हुई कि संघभक्तशिरोमणि सेठ पूनमचन्द घासीलालजी आचार्य वन्दनाके लिए आये और महाराजके चरणोंमें प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजीके लिए संघ निकालना चाहता हूं। आप अपने संघ सहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्तशिरोमणिजीकी विनतीको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभ मुहूर्तमें संघने तीर्थराजकी वन्दनाके लिए प्रस्थान किया। ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्रीतीर्थराजकी वंदनाके लिये विहार किया। सम्मेदशिखर संघके पहुंचनेके बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्री परिषद्के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थोंके साथ, जंगमतीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।





श्री परमपूज्य जगद्वन्द्य आचार्य श्रीकुन्थुसागर जी महाराज



श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमदाचार्यवर्य नरेन्द्रवंद्य श्रीकुंथुसागरविरचित

शान्तिसुधासिन्धु

"धर्मरत्न" पं० लालारामजी शास्त्री कृत

हिंदी भाषा टीका सहित

वृषभादिमहावीरान् धर्मतीर्थप्रवर्तकान् ।
स्वर्मोक्षदायकान् पूतान् पूर्वाचार्यान्निजाश्रितान् ॥१॥

शान्तिसिन्धुं तथा नत्वा सुधर्मं सुखदं मया।
शान्तिसिंधुवरो ग्रंथो लिख्यते विश्वशान्तये ॥२॥

वंदों मैं जिनवीरको सबविधि मंगलकार, "शान्ति-सिंधु" टीका लिखूं भवि-जीवन सुखकार ॥

अर्थ—भगवान वृषभदेवसे लेकर श्री महावीर स्वामी पर्यंत चौवीसों तीर्थंकर धर्मरूपी तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्षको देनेवाले हैं और अत्यंत पवित्र हैं। ऐसे चौवीसों तीर्थंकरोंको मैं नमस्कार करता हूं तथा अपने आत्माके आश्रित रहनेवाले श्रीकुंदकुंद आदि समस्त आचार्योंको नमस्कार करता हूं, अपने दीक्षा-गुरु आचार्यवर्य श्री शान्तिसागरको नमस्कार करता हूं और सुख देनेवाले विद्यागुरु आचार्य सुधर्म-सागरको नमस्कार करता हूं। इस प्रकार मैं अपने इष्ट-देवको नमस्कार कर समस्त संसारमें शान्ति स्थापन करनेकेलिये मैं "शान्तिसुधासिंधु" नामका श्रेष्ठ ग्रंथ लिखता हूं।

प्रश्न—स्वात्मस्वरूपं कथय प्रभो ! मे, प्राप्नोति जीवो विधिना हि केन।

अर्थ—हे प्रभो ! अब मेरेलिये अपने आत्माका स्वरूप कहिये तथा वह अपने आत्माका स्वरूप किस प्रकार प्राप्त हो सकता है सो भी बतलाइये ?

उत्तर—यः कोपि भव्यो विषयं कषायं, त्यक्त्वा प्रमादं विषमां कुबुद्धिम्।
अन्वेषणार्थं यतते यथार्थं स्वात्मस्वरूपं परभावभिन्नम् ॥ ३ ॥
स एव भव्यः सुखदं यथार्थं, प्राप्नोति चानन्दपदं पवित्रम्।
गच्छन् सुमार्गेण यथा स्वदेशं, प्रयाति धीमान् न खलः प्रमादी ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पुरुष अपने देशको जानेकेलिये श्रेष्ठ मार्गसे चलता है तो

पहुंच जाता है और जो दुष्ट पुरुष प्रमाद करता रहता है वह कभी नहीं पहुंच पाता। उसी प्रकार जो कोई भव्य पुरुष अपने विषय कषायोंका त्याग कर देता है तथा प्रमादको छोडकर तथा आत्माको घात करनेवाली कुबुद्धिको छोडकर पर-भावोंसे सर्वथा भिन्न ऐसे अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको अन्वेषण करनेके लिये वा प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न करता है वहीं भव्य पुरुष चिदानंद पदस्वरूप, अत्यंत पवित्र और अनंत सुख देनेवाले आत्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—आत्माका स्वरूप अत्यंत पवित्र है, चिदानंदमय है अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप और अनंत सुख स्वरूप है तथा क्रोधादिक कषायोंसे और अन्य समस्त पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है एवं अनन्त सुख देनेवाला है। इस प्रकारके आत्माके स्वरूपको वही प्राप्त हो सकता है जो विषय कषायोंका सर्वथा त्याग कर देता है, विषके समान आत्माका घात करनेवाली कुबुद्धिका त्याग कर देता है और प्रमादका त्याग कर ध्यान तपश्चरणके द्वारा उसको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। ऐसा यह आत्मा अपने उसी आत्मामें लीन होता हुआ शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वमूढः कथय प्रभो मे, सुखी भवेत्क्वापि न वा त्रिलोके।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अत्यंत अज्ञानी हुआ यह जीव तीनों लोकोंमें कहीं भी सुखी होता है वा नहीं होता?

उत्तर—मिथ्यात्वमूढो ह्यमतिश्च भुंक्ते, नाकेऽपि नित्यं नरकस्य दुःखम्।
सन्तोषहीनश्च नरो वराको, दुःखी धनाढ्योऽपि विचित्रवार्ता ॥५॥
सम्यक्त्वशाली नरकेऽपि नित्यं, धीरो नरः स्वर्गसुखं च भुंक्ते।
सन्तोषसम्पन्ननरो यथैव, दारिद्र्युक्तोऽपि सदा सुखीह ॥६॥

अर्थ—जो नीच मनुष्य मिथ्यादृष्टि होता है तथा उस मिथ्यात्वके कारण आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित अज्ञानी होता है और इसीलिये जो बुद्धि हीन कहलाता है ऐसा मनुष्य सदा असंतोषी होता है तथा ऐसा मनुष्य स्वर्गमें जाकर भी नरकोंके दुःख भोगता है और धनाढ्य होकर भी सदाकाल दुःखी बना रहता है। संसारमें यह एक विचित्र बात है। इसी प्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टी होता है वह धीर वीर होता है और वह नरकमें भी स्वर्गके सुखोंका अनुभव करता रहता है। तथा जिस प्रकार, संतोषी पुरुष सदा सुखी रहता है उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टी पुरुष भी दरिद्री होनेपर भी सदा काल सुखी रहता है।

भावार्थ—स्वर्गमें भी नरकके दुःख भोगना और धनी होकरभी दुःखी रहना एक प्रकारसे विचित्र बात है। परंतु विचार पूर्वक देखा जाय तो बहुतसे धनी पुरुष भी महा दुखी दिखाई पडते हैं। किसीके पुत्र नहीं है इसलिये दुखी होता है, किसीकी स्त्री अच्छी नहीं है वा कलह करनेवाली है अथवा कोई धनी सदा बीमार रहता है उसके धनका उपयोग दूसरे लोग करते रहते हैं परन्तु उसको सिवाय मूंगकी दालके और कुछ खानेको मिलता ही नहीं है। इस प्रकार धन रहते हुए भी वे लोग मिथ्यात्व-कर्मके उदयसे सदा दुःखी बने रहते हैं। इसी प्रकार स्वर्गमें भी किल्विष आदि नीच देव होते हैं वे इन्द्रकी सभामें प्रवेश भी नहीं कर सकते तथा इससे वे महा दुःखी बने रहते हैं। वे देव अन्य समृद्धि-शाली देवोंकी विभूतियोंको देखकर महा दुःखी हुआ करते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ये संसारी जीव सदाकाल दुःख भोगते रहते हैं। हे आत्मन्! यदि तू इन दुःखोंसे बचना चाहता है तो सम्यग्दर्शन धारण कर। सम्यग्दृष्टी पुरुष नरकमें पहुंचने पर आत्मजन्य सुखका अनुभव करता हुआ सदा सुखी बना रहता है। देखो जो पुरुष अत्यंत संतोषी होता है वह पुरुष दरिद्री होने पर भी उसीमें सुख मानता रहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा सुखी बना रहता है।

प्रश्न—सप्तमं नरकं याति यो मोक्षं याति किं न सः ।

अर्थ—हे भगवन् ! जो पुरुष सातवें नरकमें जा सकता है वह पुरुष क्या मोक्षमें नहीं जा सकता ?

उत्तर—गाढप्रमोहाद्विषयाभिलाषाद्, यः सप्तमं श्वभ्रमपि प्रयाति ।
स एव किं मोक्षगृहं न याति, ध्यानाग्निना कर्मचयं च दग्ध्वा ॥७॥
मोक्षाभिलाषी सुखदं सुपुण्यं, बीजं भवाग्नेस्त्यजतीति मत्वा ।
दुःखप्रदं पापतमः स किं न, लोकेऽस्ति भव्यस्य कृतिर्ह्यगाधा ॥८॥

अर्थ—जो पुरुष अपने गाढ मोहनीय कर्मके उदयसे तथा तीव्र विषयोंकी अभिलाषासे सातवें नरकमें पहुंचता है वही पुरुष अपने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको जलाकर क्या मोक्ष महलमें नहीं पहुंच सकता ? अर्थात् अवश्य पहुंच सकता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाला जो भव्य पुरुष सुख देनेवाले श्रेष्ठ पुण्यको भी जन्म मरणरूप संसारकी अग्निका कारण वा बीज समझता है और इसीलिये वह पुरुष उस पुण्यका भी त्याग कर देता है, वह महापुरुष क्या महा दुःख देनेवाले पापरूपी अंधकारका त्याग नहीं कर सकता ? अवश्य कर देता है। इस संसारमें भव्य पुरुषकी कृति बहुत ही गहरी वा अगाध है।

भावार्थ—जिसमें जितनी शक्ति होती है वह उतना ही काम कर सकता है। यह जीव स्त्री पर्यायसे सातवें नरकमें नहीं जा सकता, इसलिये वह स्त्री पर्यायसे मोक्षमें भी नहीं जा सकता। जो पुरुष सातवें नरकमें जासकता है वह पुरुष मोक्ष भी जा सकता है। केवल साधन बदलने की आवश्यकता है। नरककी प्राप्ति अत्यंत तीव्र मोहसे और अत्यंत तीव्र विषय भोगोंकी इच्छासे होती है और मोक्षकी प्राप्ति ध्यान और तपश्चरणसे होती है। जब ध्यानके द्वारा यह जीव समस्त कर्मोंका नाश

कर लेता है ,और अत्यंत शुद्ध अवस्थाको धारण कर सिद्ध अवस्थामें जा विराजमान होता है तब वही जीव मुक्त कहलाता है। जो पुरुष नरककी कारण- भूत ऐसी विषयोंकी अभिलाषाका त्याग कर देता है वह पुरुष चक्रवर्तीके महासुखोंको भी हेय समझ कर उनका त्याग कर,देता है फिर भला उसके लिये महा दुःख देनेवाले पापोंकी तो बात ही क्या है उनका त्याग तो वह कर ही देता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि भव्य पुरुषोंके समस्त कार्य अगाध वा अत्यंत गंभीर होते हैं, उनका पार कोई नहीं पा सकता। इसलिये हे आत्मन् ! तू भी विषय कषायोंका त्याग कर और मोक्षकी इच्छा करता हुआ, ध्यान तपश्चरणके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर।

प्रश्न—भो गुरो हेतुना केन दुःखं प्राप्नोति मानवः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपा कर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किन किन कारणोंसे दुःख भोगता है ?

उत्तर—अज्ञानतो मूढजनश्च भीमे, श्वभ्रे सदा भेदनछेदनोत्थम् ।
तिर्यग्गतौ वा वधबन्धनोत्थं, मानानलोत्थं च नृजन्मनीह ॥९॥
स्वर्गे तथा लोभकषायजातं, ह्यागन्तुकं वा सहजादिकं च ।
प्राप्नोति दुःखं विषवद् व्यथादं, नाहो खलो वेत्ति करोति किं किम् ॥१०॥

अर्थ—इस संसारमें अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानके कारण भयानक नरकमें छेदन भेदन मारण तारण आदिके महा दुःख भोगता है, तिर्यंच गतिमें वध बंधन आदिके महादुःख भोगता है, मनुष्य-गतिमें अभिमानरूपी अग्निसे उत्पन्न हुए महा दुःख भोगता रहता है और स्वर्गमें लोभकषायसे उत्पन्न हुए महादुःखोंको भोगता रहता है। इन चारों गतियोंमें स्वभावसे होनेवाले महादुःख तथा अकस्मात् आनेवाले महादुःख वा अन्य अनेक प्रकारके महादुःख वा विषके समान महादुःख देनेवाले

महादुःख भोगने पड़ते हैं। आचार्य कहते हैं कि दुष्ट पुरुष क्या क्या करते हैं और कैसे कैसे दुःख भोगते हैं यह हम भी नहीं जान सकते।

भावार्थ—चारों गतियोंमें जो दुःख भोगने पडते हैं उनका वर्णन भी कोई नहीं कर सकता। नरकगतिमें नारकी लोग परस्पर एक दूसरेको दुःख दिया करते हैं, कोई किसीको मारता है, कोई किसीको सिंह बनकर खा लेता है, कोई वैतरणीमें पटक देता है और कोई शरीरके टुकडे टुकडे कर देता है। उनका शरीर पारेके समान टुकडे टुकडे होकर भी फिर ज्योंका त्यों मिलकर एक हो जाता है। वहां पर कुछ नरकोंमें गर्मी है और इतनी गर्मी है कि मेरु पर्वतके समान लोहेका गोला भी जाते जाते गल जाय तथा जिन नरकोंमें ठंडक है वहां इतनी ठंडी है कि इतना ही बडा लोहेका गोला ठंडकसे क्षार क्षार हो जाय। वहांके पत्ते तलवारकी धारके समान पैने होते हैं जो शरीरपर पडते ही टुकडे टुकडे कर देते हैं। कहां तक कहा जाय वहांके दुःखोंको सर्वज्ञ ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं कह सकता। तिर्यंचगतिमें छोटे छोटे जीव यों ही चाहे जब मारे जाते हैं तथा पशुओंपर भारी बोझा लादा जाता है, भूखे, प्यासे बंधे रहते हैं, गर्मी सर्दीके महा दुःख भोगते रहते हैं और सदा पराधीन रहते हैं। मनुष्यगतिमें दरिद्रताका दुःख है, रोगोंका दुःख है, विषयोंकी तृष्णाका दुःख है, संतान न होनेका दुःख है, मान अपमानका दुःख है और जीविकाका दुःख है। देवगतिमें नीचता ऊंचताका दुःख है। छोटे देव बडे देवोंकी संपत्ति देखकर जला करते हैं तथा उनको अधिकतर मानसिक दुःख है। इसप्रकार चारों गतियोंमें महा दुःख हैं। इसलिये हे आत्मन्! यदि तू इन दुःखोंसे बचना चाहता है तो कषायोंका त्याग कर और अपने आत्माको शुद्ध बनाकर उसमें लीन हो।

प्रश्न—वद मे कीदृशो जीवो याति स्वर्गसुखादिकम्।

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि कैसा जीव स्वर्गादिकोंके सुखोंको प्राप्त होता है।

उत्तर—सम्यक्त्वशाली गुणदोषवेत्ता, दानादिकारी शुभयोगधारी ।
श्रेष्ठं च सौख्यं वरभोगभूम्याः, सर्वार्थसिद्धेर्वचसाप्यवाच्यम् ॥११॥
पुनश्च साम्राज्यपदं पवित्रं, भुक्त्वेति धीरश्च गतान्तरायम् ।
प्रयाति मोक्षं क्रमतोऽप्यहो सः, शुभक्रियाया महिमा ह्यचिन्त्यः ॥१२॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करता है, जो गुण और दोषोंका पूर्ण विचार करनेवाला होता है, जिन-पूजन और पात्र-दान आदि शुभ क्रियाओंको करता रहता है और जो सदाकाल शुभ योगोंको धारण करता रहता है, ऐसा पुरुष उत्तम भोगभूमिके श्रेष्ठ सुखोंको प्राप्त होता है तथा जो वचनोंसे कहे भी नहीं जा सकें ऐसे सर्वार्थसिद्धिके उत्तम सुखोंको प्राप्त होता है। तदनंतर वह धीर वीर पुरुष विना किसी अन्तरायके चक्रवर्ती आदिके पवित्र साम्राज्य पदका अनुभव करता है और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है क्योंकि शुभ क्रियाओंकी महिमा अचिंतनीय है।

भावार्थ—समस्त क्रियाओंमें सर्वोत्तम शुभक्रिया सम्यक्त्व क्रिया कहलाती है। इस संसारमें सम्यग्दर्शनकी महिमा अद्भुत है उसका कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे यह जीव स्वर्गोंके सुख भोगता है, सम्यक्त्वके ही प्रभावसे चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त करता है सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे अनेक ऋद्धियां प्राप्त करता है और सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—कथं स्वात्मसुखं भुंक्ते स्वामिन् कथय मानवः ।

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य आत्मसुखका अनुभव किस प्रकार करता है?

उत्तर–शुभाशुभं दुःखमयं स्पृहादिं, त्यक्त्वाऽक्षसौख्यं च कषायकाण्डम्।
यः स्वात्मना स्वात्मनि स्वात्मने वात्मानं सदा पश्यति वेत्ति लोके॥१३॥
स एव चानन्दरसं पिबेद्धि, भुंजीत साम्राज्यसुखं निजं च।
शुद्धोपयोगस्य बलेन स स्यात् समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तः॥१४॥

अर्थ—जो पुरुष अपने समस्त शुभाशुभ परिणामोंका त्याग कर देता है, अनंत दुःख देनेवाली समस्त इच्छाओंका त्याग कर देता है, समस्त इन्द्रियोंके सुखोंका त्याग कर देता है और समस्त कषायोंके समूहका त्याग कर देता है। इन सबका त्याग कर जो अपने आत्मामें अपने ही आत्माकेलिये अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको सदाकाल देखता वा जानता रहता है वही पुरुष इस संसारमें अपने शुद्धोपयोगके बलसे आत्मजन्य अनंत आनंद-रसका पान करता रहता है तथा शुद्ध आत्माके साम्राज्यसुखका अनुभव करता रहता है और अंतमें वह समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ–आत्मरसके पान करनेका अभिप्राय आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना है तथा अनुभव आत्माके शुद्धोपयोगसे होता है। यद्यपि आत्माके शुद्धस्वरूपका अनुभव करना और शुद्धोपयोगका होना दोनों ही आत्माके स्वाभाविक धर्म हैं तथापि कर्मोंने उस स्वभावको ढक रक्खा है। वे कर्म आत्माके शुभ अशुभ भावोंसे आते हैं, महादुःख देनेवाली विषयभोगोंकी तृष्णासे आते हैं, इन्द्रिय जन्य सुखोंसे आते हैं और कषायोंसे आते हैं। इसलिये जब यह आत्मा शुभाशुभ भाव, विषयभोगोंकी तृष्णा, कषाय और इन्द्रियोंके सुखोंका त्याग कर देता है तब अनुक्रमसे पहलेके कर्म नष्ट होकर शुद्धोपयोग प्राप्त हो जाता है और फिर उस शुद्धोपयोगसे यह आत्मा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करने लगता है।

कि सरागी जीवोंकी लीला बडी ही विचित्र होती है अथवा यह सब कल्पना मनकी मलिनतासे होती है।

भावार्थ—इस संसारमें जो-जो सुखके साधन हैं जो-जो स्वादिष्ट भोजन स्त्री पुत्रादिक इष्ट पदार्थ हैं वे सब किसी भी रोगके होनेपर अनिष्ट वा दुःखके साधन हो जाते हैं। यद्यपि वे पदार्थ ज्योंके त्यों हैं उनमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है तथापि ज्वरादिक रोगमें वे सब दुःखदायी जान पडते हैं। जाडेके दिनोंमें जो रुईका कोट सुख देनेवाला समझा जाता है वही रुईका कोट गर्मीके दिनोंमें दुःखदायी समझा जाता है। यह सब रागद्वेषकी कल्पना है अथवा मनकी मलिनता है। जिन जीवोंके हृदयसे रागद्वेष निकल जाता है अथवा मनकी मलिनता निकल जाती है वे जीव अपने आत्माके सिवाय अन्य शरीरादि समस्त पदार्थोंको हेय समझते हैं और इसीलिये वे किसीमें भी राग वा द्वेष नहीं करते। क्योंकि राग वा द्वेषकी कल्पना ही सुख वा दुःखका कारण है। इस प्रकार जो जीव राग द्वेषका सर्वथा त्यागकर देते हैं वे पुरुष समता धारणकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—रोचते कीदृशं वस्तु गुरो सरागिणे वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें सरागी जीवोंको कैसे पदार्थ अच्छे लगते हैं ?

उत्तर—मनः प्रियं वस्तु यदेव सुष्ठु सरागिणे स्याद्धि तदेव योग्यम्।
सुरोचते प्राणत एव मान्यं, प्रियं भवेन्मोक्षपदार्थतश्च॥१९॥
तद्वस्त्वयोग्यं भवदे व्यथादं, किं स्यान्न कौ मूर्खजनस्तथापि।

अर्थ—रागी पुरुषको जो पदार्थ मनको अच्छा लगता है उसी पदार्थको वह योग्य समझता है, उसीको अच्छा समझता है उसीको प्राणोंसे अधिक समझता है और उसीको मोक्ष पदार्थसे भी प्रिय समझता है। वह पदार्थ चाहे अयोग्य ही क्यों न हो, जन्म मरण रूप संसारको बढानेवाला ही क्यों न हो और महा दुःख देनेवाला ही क्यों न हो तथापि अज्ञानी पुरुष उसके संचयके लिये प्रयत्न करता रहता है। हे भगवन्! आप उनको सम्यग्ज्ञान प्रदान कीजिये।

भावार्थ—जिस प्रकार मद्य पीनेवाला वा अफीम खानेवाला पुरुष उस मद्य पीनेमें वा अफीम खानेमें अनेक प्रकारकी हानियां समझता है। उनको खा पीकर दुःखी भी होता है तथापि उसको छोडता नहीं। इसी प्रकार रागी पुरुष उसीको अच्छा समझता है जो उसके मनको अच्छा लगता है। वह पदार्थ चाहे अयोग्य ही क्यों न हो उससे चाहे जितना दुःख क्यों न मिले तथापि वह उसे प्राणोंसे अधिक मानता है और उसीके संचयके लिये प्रयत्न करता रहता है। यदि उसे यथार्थ ज्ञान हो और यदि वह पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको समझने लगे तो फिर वह दुःख देनेवाले पदार्थोंमें कभी भी अनुराग न करे। अपने गाढ अज्ञानके ही कारण वह दुःख देनेवाले पदार्थोंको प्रिय और अच्छा मानता है। इसलिए हे भगवन्! ऐसे अज्ञानी पुरुषोंका अज्ञान दूर कीजिये और उनको आत्मज्ञान दीजिये, जिससे कि वे पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप समझने लगें।

प्रश्न—सत्यार्थवस्तु प्रविहाय मूढो, गृह्णाति किंवा विपरीतवस्तु ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अज्ञानी पुरुष यथार्थ वस्तुको भी छोडकर विपरीत पदार्थोंको क्यों ग्रहण करता है?

उत्तर—अत्यंत दुष्टेन भवप्रदेन, मोहेन मत्तो हतधर्मकर्मा।
यथार्थवस्तु प्रविहाय मूर्खो, गृण्हात्यबोधाद्विपरीतवस्तु ॥२१॥

सुरादिपानेन हतात्मबुद्धिर्नरो यथा कौ भगिनीमपीह ।
सुमन्यते मातरमेव मूढो, भार्यां वरां मन्यत एव देवीम् ॥२२॥

अर्थ—इस संसारमें जो पुरुष मद्यपान करता है उसकी बुद्धि मारी जाती है—नष्ट हो जाती है। और फिर वह अत्यन्त मूर्ख पुरुष अपनी बहिनको भी स्त्री समझ लेता है और माताको भी स्त्री समझ लेता है अथवा अन्य किसी देवीको भी स्त्री समझ लेता है। उसी प्रकार जन्म मरण रूप संसारको देनेवाले और अत्यन्त दुष्ट ऐसे मोहसे उन्मत्त हुआ यह जीव धर्म कर्मसे सर्वथा रहित हो जाता है। और वह मूर्ख अपने अज्ञानके कारण यथार्थ वस्तुओंका तो त्यागकर देता है और विपरीत वा अयथार्थ वस्तुओंको ग्रहणकर लेता है।

भावार्थ—तीव्र मोहके कारण ही यह मनुष्य पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको भूल जाता है और उसके विपरीत स्वरूपको मानने लगता है। जिस प्रकार मद्यपान करनेवाला पुरुष माताको स्त्री समझ लेता है वा स्त्रीको माता मानने लगता है वा बहिनको स्त्री मान लेता है। उसी प्रकार मोहके कारण ही यह जीव परपदार्थोंको अपना मान लेता है और अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाता है। जब यह जीव इस मोहको छोड़ देता है तब ही यह जीव अपने आत्माका स्वरूप समझने लगता है और फिर पर पदार्थोंको अपना माननेका संकल्प छोड़ देता है। ऐसा करनेसे वह यथार्थ ज्ञानी कहलाता है और शीघ्र ही आत्माका कल्याण कर लेता है।

प्रश्न—एकस्थाने सदा ब्रूहि किं न तिष्ठति मानवः ?

अर्थ—हे देव ! अब यह बतलाइये कि यह जीव सदा काल किसी एक स्थानपर क्यों नहीं रहता है। परिभ्रमण क्यों किया करता है ?

उत्तर—पूर्वक्रियाकर्मवशाच्च जीवो ह्यत्यन्तनिंद्ये विषमे भवाब्धौ ।
भूत्वा ह्यसास्यो भ्रमतीह नित्यं वस्त्रान्नपानै रहितश्च दीनः ॥२३॥
पूर्वप्रयोगाद्दिवि वायुयंत्रं भुवीह वै धूमरथो यथा हि ।
कुलालचक्रं स्वरगीतयंत्रं गतिर्विचित्रास्ति कुकर्मणो हा ॥२४॥

अर्थ—जिस प्रकार हवाई जहाज पहलेके प्रयोगसे अर्थात् चाबी भर देनेसे वा यंत्र घुमा देनेसे आकाशमें उडा करता है—किसी एक स्थानपर नहीं ठहरता तथा पृथ्वीपर चलनेवाली रेलगाडी एक स्थानपर नहीं ठहरती अथवा कुंभारका चक्र एकबार घुमा देनेपर घूमता ही रहता है तथा फोनोग्राफ की चूडी एक बार चाबी देदेनेपर वह घूमती ही रहती है उसी प्रकार इस जीवने जैसे कर्म किये हैं उनके उदय होनेपर यह जीव राग द्वेषको धारण करता हुआ तथा अन्न पान वस्त्र आदिसे रहित अत्यंत दीन होता हुआ अत्यंत निन्द्य और भयानक ऐसे संसार रूपी समुद्रमें सदा काल परिभ्रमण किया करता है। सो ठीक ही है इस संसारमें अशुभ कर्मोंका उदय वा कुकर्मोंका फल बहुत ही विचित्र होता है।

भावार्थ—यह जीव जैसे कर्म करता है उनके उदय होनेपर उसको वैसी ही गतिमें वैसी ही योनिमें और वैसाही शरीर धारण कर जन्म लेना पडता है। कभी नरकमें जाकर जन्म लेता है, कभी तिर्यंच योनिमें जाकर अनेक प्रकारके कीडे मकोडोंमें जन्म लेता है, कभी मनुष्य योनिमें ऊंच नीच दुःखी दरिद्री वा धनी सुखी होकर जन्म लेता है और कभी व्यंतर ज्योतिष्क भवनवासी आदि देवोंमें जन्म लेता है। अपने अपने कर्मके अनुसार चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहता है। इस जीवके साथ जबतक यह कर्मोंका संबंध लगा रहता है तब तक यह जीव कभी एक स्थानपर नहीं ठहर सकता। जब यह जीव

विषय कषायोंका त्यागकर ध्यान और तपश्चरण करने लगता है तब यह जीव समस्त कर्मोंको नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है और फिर अनंत काल तक वहीं विराजमान रहता है। कर्मोंका अभाव होनेसे फिर उसका परिभ्रमण सर्वथा छूट जाता है।

प्रश्न—स्वामिन् ! पातयितुं चेच्छेत्स्वयं पतेन्नवा वद ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइये कि जो मनुष्य दूसरोंको गिराना चाहता है वह स्वयं गिरता है वा नहीं ?

उत्तर–यः कोपि दुष्टः खलु दुष्टबुद्ध्या स्वमानवृद्ध्यै स्वधनादिहेतोः ।
न्यायात्स्वधर्मात्स्वपदात्सुमार्गात् लक्ष्म्यास्तथा पातयितुं सदा यः ॥
अन्यान् सुबन्धून् यततेऽन्धकूपे, स एव पापीह तथान्यलोके ।
तत्पापयोगात्स्वयमेव भीमे, पतत्यवश्यं नरके निगोदे ॥ २६ ॥

अर्थ—जो कोई दुष्ट पुरुष अपनी दुष्ट बुद्धिके कारण अपना धन बढ जानेके कारण अपने अभिमानको बढानेके लिए अन्य धर्मात्मा भाइयोंको न्यायमार्गसे गिराना चाहता है वा अपने धर्मसे गिराना चाहता है वा अपने स्थानसे गिराना चाहता है अथवा श्रेष्ठमार्गसे गिराना चाहता है अथवा किसीको धनसे गिराना चाहता है अथवा अन्य किसी अन्धकूपमें गिराना चाहता है वह पापी पुरुष अपने उस महा पापके कारण दूसरे जन्ममें जाकर अत्यंत भयानक नरकमें वा निगोदमें अवश्य गिर जाता है।

भावार्थ—इस संसारमें जो जीव जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। जो मनुष्य जिनालयकी शिखर बनाता है वह शिखरकी उंचाईके साथ-साथ ऊंचा चढता जाता है तथा जो कूंआ

खोदता है और कूआंकी गहराईके साथ साथ नीचे उतरता जाता है। इसीप्रकार जो जीव अन्य जीवोंका उद्धार करता रहता है वा अन्य जीवोंका कल्याण करता रहता है उसका कल्याण सदा होता रहता है और जो पुरुष दूसरोंके अहित करनेका विचार करता रहता है वा किसीको न्यायमार्गसे च्युत करना चाहता है वा धर्म-मार्गसे च्युत करना चाहता है वा किसीका धन लूटना चाहता है वा अपनी प्रसिद्धिके लिए दूसरोंको गिराना चाहता है अथवा अन्य किसी भी तरहसे दूसरोंकी हानि पहुंचाना चाहता है वह जीव इस जन्ममें भी नीचा देखता है, दुःखी दरिद्री होता है और परलोकमें जाकर नरक निगोदके असह्य दुःख भोगता रहता है। इसलिए हे आत्मन्! तू अपने आत्माका कल्याण करता हुआ सदा दूसरोंका कल्याण करता रह।

प्रश्न—कृतकर्मफलं जीवो भुंक्तेरन्यः कोपि वा स्वयम् ?

अर्थ—हे भगवन्! यह जीव अपने किये हुए कर्मोंका फल स्वयं भोगता है अथवा अन्य किसीको भोगना पडता है?

उत्तर—शुभाशुभं यत्किमपीह कर्म, कृतं च यैर्वा खलु कारितं हि।
तैरेव तत्कर्मफलं हठाद्धि, प्रभुज्यते राज्यपदे स्थितेऽपि॥२७॥
स्पष्टं परैर्दृश्यत एव लोके, यस्यास्ति देहे विषमश्च रोगः।
स एव तं सहते स्थितेऽपि, न स्यात्सभागी प्रियबांधवेपि॥२८॥

अर्थ—संसारमें यह बात स्पष्ट रीतिसे दिखाई पडती है कि जिसके शरीरमें कोई विषम रोग हो जाता है वही पुरुष अनेक प्रिय भाई बंधुओंके होनेपर भी अकेला ही उस दुःखको सहन करता रहता है, उस समय कोई भी भाई बंधु उसके दुःखको नहीं बांट सकते। इसी प्रकार जिस जीवने शुभ

अशुभ जो कुछ कर्म किये हैं वा जो कुछ कराये हैं उन समस्त कर्मोंका फल यही जीव बडे-बडे राज्य सिंहासन पर विराजमान होकर भी परवश होकर सहन करता रहता है।

भावार्थ—इस संसारमें जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। उसका कारण यह है कि जिस समय यह जीव किसी भी शुभ वा अशुभ कार्यके करनेका चिंतवन करता है वा उसकी सामग्री इकट्ठी करता है अथवा उस कामको करने लगता है उसी समय इस जीवके जैसे शुभ वा अशुभ परिणाम होते हैं उन्हीं परिणामोंके अनुसार उसी समय इस जीवके वैसे ही शुभ अथवा अशुभ कर्मका बंध हो जाता है। उस समय यदि शुभ परिणाम हों तो शुभ कर्मोंका बंध होता है और यदि अशुभ परिणाम हों तो अशुभ कर्मोंका बंध होता है। तथा उसी समय इस जीवके परिणामोंमें यदि तीव्र कषाय होती है तो उन कर्मोंमें अधिक दिन तक प्रबल सुख वा दुख देनेकी शक्ति पड जाती है और यदि कषायोंकी मंदता होती है तो थोडे दिनों तक थोडे सुख वा दुख देनेकी शक्ति पड जाती है, इसप्रकार जिन कर्मोंमें सुख वा दुःख देनेकी शक्ति पड गई है और सुख देनेके लिए कालकी मर्यादा वा स्थिति भी पड गई है ऐसे वे कर्म अपने समयके अनुसार उसी समय उदयमें आ जाते हैं और उसी जीवको सुख वा दुःख देने लगते हैं। उदयमें आनेपर वे कर्म अपने सुख दुःख देनेके निमित्त भी सब वैसे ही मिला लेते हैं! यद्यपि कर्म जड वा पुद्गल हैं परंतु जिस प्रकार जीव पदार्थमें गमनागमन करनेकी वा क्रिया करनेकी शक्ति होती है उसी प्रकार पुद्गलोंमें भी गमनागमन करनेकी वा क्रिया करनेकी शक्ति होती है। जिसप्रकार सूर्य चन्द्रमा वा नक्षत्रोंके विमान पुद्गलके बने हुए होनेपर भी समयानुसार अपने आप उदय अस्त होते रहते हैं वा पानीका बरसना वा दक्षिणी पश्चिमी वायुका चलना समयानुसार अपने आप होता रहता है उसीप्रकार कम भी अपने समयपर अपने आप उदयमें आकर इस जीवको सुख वा दुःख दिया करते हैं और यह जीव उन कर्मोंके

उदयसे उस किये हुए अपने कर्मके अनुसार स्वयं दुःख वा सुख भोगा करता है। उस सुख वा दुःखको अन्य कोई भी जीव नहीं बांट सकता। जिसप्रकार किसी रोगीका दुःख अन्य कोई भी नहीं बांट सकता उसी प्रकार किसीके किए हुए कर्मोंको वा उनके उदयसे होनेवाले सुख दुःखको कोई नहीं बांट सकता यह अटल सिद्धांत है।

प्रश्न—पशून् नयन्ति वध्वेति रज्जुना केन मानवान् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जिस प्रकार पशुओंको रस्सीसे बांधकर ले जाते हैं उसी प्रकार मनुष्योंको किससे बांधते हैं वा किससे बांधकर ले जाते हैं?

उत्तर—दृढप्रगाढेन च मोहरज्जु-नान्त्यन्तदुःखाब्धिविवर्द्धकेन।
वध्वेति जीवान् खलकर्मचौरा, हठान्नयन्त्येव च यत्र तत्र॥२९॥
यथैव वध्वा दृढरज्जुना च, कौ शृंखलेनैव नरा नयन्ति।
क्रूरांश्च सौम्यानपि सर्वजन्तून्, ग्रामान्तरं वा नगरान्तरं च॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य किसी मजबूत रस्सीसे अथवा संकलसे बांधकर क्रूर अथवा शान्त पशुओंको एक गांवसे दूसरे गांव तक अथवा एक नगरसे दूसरे नगर तक ले जाते हैं, उसीप्रकार अत्यन्त दुष्ट ऐसे कर्मरूपी चोर अत्यन्त प्रबल और महा दुःखरूपी समुद्रको बढानेवाले ऐसे मोहरूपी रस्सीसे इन मनुष्यादिक समस्त जीवोंको जबर्दस्ती बांधकर इधर उधर ले जाते हैं।

भावार्थ—यह जीव स्वयं जिन कर्मोंको करता है फिर वह उन्हीं कर्मोंके आधीन हो जाता है। जिसप्रकार घोडेके बालोंसे बटी हुई रस्सी उसी घोडेको मजबूतीके साथ बांध लेती है, उसी प्रकार इस जीवके द्वारा किये हुए कर्मरूपी चोर उन्हीं कर्मोंके-उदयसे-उत्पन्न-होनेवाले मोहरूपी रस्सीके

द्वारा इस जीवको मजबूतीके साथ बांध देते हैं और फिर चारों गतियोंके परिभ्रमणमें अनन्तकाल तक घुमाया करते हैं। पशुओंको सांकल वा रस्सीसे बांधकर एक स्थानसे दूसरे स्थान तक ले जाते हैं इसमें तो मनुष्योंका स्वार्थ है। मनुष्य अपने स्वार्थके लिए ही पशुओंको बांधते हैं और बांधकर ले जाते हैं। परन्तु कर्म जो मोहरूपी रस्सीसे जीवोंको बांधते हैं वा बांधकर चारों गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं उसमें कर्मोंका कोई स्वार्थ नहीं है। वे कर्म तो इसी जीवने अपने स्वार्थके लिए वा विषय-भोगोंकी तृष्णाके लिए बांधे थे। परन्तु वे ही कर्म उदय आनेपर इस जीवको चारों गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं जिसप्रकार चोरी करनेवाले चोरको राजकर्मचारी पकडकर बांध लेते हैं परन्तु उसमें राजकर्मचारियोंका कुछ स्वार्थ नहीं है। चोरी करनेके अपराधसे ही वे उसको बांधते हैं, इसी प्रकार जीवका ही स्वयं अपराध होनेसे जीव बांधा जाता है तथा उस अपराधके कारण ही कर्म उसे बांधकर चारों गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं।

प्रश्न–गुरो यत्र भवेद्रागस्तत्र द्वेषो न वा वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि जहांपर राग होता है वहांपर द्वेष होता है वा नहीं अर्थात् जिस जीवके राग होता है उसके द्वेष होता है वा नहीं ?

उत्तर–यस्यास्ति रागो भवदुःखदश्च, समस्तसंकल्पविकल्पकारी।
द्वेषोपि तस्यावयवोस्ति पूर्णो, मिथः सदावैरविरोधहेतुः ॥ ३१ ॥
ग्रस्तः सदाभोगपिशाचवर्गैः, यः कोपि मूर्खश्च कुटंबवर्गैः।
द्वेषो न कस्योपरि मे प्रभो स्याद्, ब्रवीति चैवं स खलेषु मुख्यः ॥३२॥

अर्थ—जिस जीवके आत्मामें समस्त संकल्प विकल्पोंको करनेवाला और संसारके महादुःख

देनेवाला राग होता है, उस जीवके अवयवोंमें सदाकाल वैर विरोधको बढानेवाला वा परस्पर वैर विरोधका कारण ऐसा द्वेष भी पूर्ण रीतिसे रहता है। यदि भोगोपभोगरूपी पिशाचोंके समूहसे ग्रस्त हुआ और अनेक कुटंबियोंसे घिरा हुआ कोई मूर्ख पुरुष यह कहे कि हे भगवन ! मैं किसीसे द्वेष नहीं करता तो समझना चाहिए कि वह दुष्टोंमें भी मुख्य दुष्ट है।

भावार्थ—संसारी जीवोंमें यह नियम सिद्ध सिद्धान्त है कि जहां-जहां राग होता है वहां-वहां द्वेष अवश्य होता है अथवा जहां-जहां द्वेष होता है वहां-वहां राग अवश्य होता है। जहां राग नहीं होता वहां द्वेष भी नहीं होता अथवा जहां द्वेष नहीं होता वहां राग भी नहीं होता। यह राग द्वेषका जोडा बराबर नौवें गुणस्थान तक बना रहता है। इसलिए जो मनुष्य भोगविलासोंमें लगा हुआ है तथा जो अनेक कुटंबियोंके साथ रहता है ऐसा जो मनुष्य यह बात कहता है कि मैं राग तो करता हूं परन्तु द्वेष किसीसे नहीं करता तो समझना चाहिए कि वह मायाचारी करता है। जब वह कुटंबियोंसे प्रेम वा राग करता है तो उन कुटंबियोंको हानि पहुंचानेवालोंपर द्वेष भी अवश्य करेगा। अथवा यों समझना चाहिए कि जो पुरुष अपने कुटंबियोंको हानि पहुंचानेपर वा मारनेपर हानि पहुंचानेवालेके साथ वा मारनेवालेके साथ द्वेष नहीं करता वह अपने कुटंबियोंके साथ राग भी नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि रागद्वेष दोनों साथ-साथ ही रहते हैं जहां राग होता है, वहां द्वेष अवश्य होता है।

प्रश्न—दुःखं संसारिजन्तोर्वा स्याद्वद कीदृशं सुखम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इन संसारी जीवोंको सुख कैसा होता और दुःख कैसा वा किसप्रकार होता है ?

उत्तर—प्रमोहि जन्तोः परिवर्तते च, दुःखस्य पश्चात्फलदं सुखं वै।

भीमं च दुःखं हि सुखस्य पश्चात, लोके सदैवं दिनरात्रिवाद्धि ॥ ३३ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिसप्रकार दिनके बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन होता है उसी प्रकार मोह करनेवाले इन संसारी जीवोंका सुख दुःख बदलता रहता है। दुःखके बाद श्रेष्ठ फल देनेवाला सुख होता है और सुखके बाद भयंकर दुःख होता है।

भावार्थ—यह जीव प्रत्येक समयमें कर्मोंका बन्ध करता रहता है। यदि वह कर्मका बन्ध अशुभ परिणामोंसे किया जाता है तो अशुभ कर्मोंका बन्ध अधिक होता है और शुभ कर्मोंको थोडा भाग मिलता है और यदि वह कर्मका बन्ध शुभ परिणामोंसे किया जाता है तो शुभ कर्मोंका बन्ध अधिक होता है और अशुभ कर्मोंको थोडा भाग मिलता है। तथा परिणाम सब जीवोंके सदा एकसे नहीं रहते। कभी शुभ होते हैं और कभी अशुभ होते हैं। इसलिए जिस प्रकार परिणामोंमें शुभपना तथा अशुभपना बदलता रहता है उसी प्रकार उनसे बन्धे हुए कर्मोंके फलसे होनेवाले सुख दुःख भी बदलते रहते हैं, कभी सुख होता है और कभी दुःख होता है। जिस प्रकार रात्रि दिन बदलते रहते हैं उसी प्रकार सुख दुःख बदलता रहता है। तथा कभी दिन बडा होता है और कभी रात्रि बडी होती है उसी प्रकार कभी दुःख अधिक होता है और कभी सुख अधिक होता है। अथवा जिस प्रकार कभी कभी दिन रात बराबर होते हैं उसी प्रकार कभी कभी सुख दुःख बराबर होते हैं।

प्रश्न—धनार्जनं किमर्थं भो क्रियते दुःखदं गुरो ?

अर्थ—हे भगवन्! ये संसारी जीव दुःख देनेवाले इस धनका संग्रह किस लिए करते हैं?

उत्तर—दुःखं यदुत्पादन एव तीव्रं, तद्रक्षणे स्यादधिकं ततोपि।
तद्रक्षणे तत्पचनेपि चैव-माद्यन्तमध्ये विषमं व्यथादम् ॥३४॥

सि २२

एतादृशं दुःखगृहं धनं च, भोगोपभोगाय कुटंबहेतोः ।
दानैर्विना केवलकुक्षिहेतो-र्विचक्षणो रक्षति कश्च भव्यः ॥३५॥

अर्थ—इस धनके उत्पन्न करनेमें तीव्र दुःख होता है तथा उसकी रक्षा करनेमें उससे भी अधिक तीव्र दुःख होता है और उसके भोग करनेमें वा उसको पचानेमें उससे भी अधिक दुःख होता है। इस प्रकार यह धन प्रारम्भमें भी विषम दुःख देनेवाला है, मध्यमें भी विषम दुःख देनेवाला है और अन्तमें भी विषम दुःख देनेवाला है। इस प्रकार यह धन अनेक दुःखोंका घर है तथापि यह मनुष्य अपने भोगोपभोगके लिए अथवा अपने कुटंबके लिए उस धनको इकट्ठा किया करता है। परन्तु दानके बिना केवल पेट भरनेके काममें आनेवाले उस धनको ऐसा कौन चतुर भव्य पुरुष है जो उसकी रक्षा करे? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—इस संसारमें धन कमानेके लिए बडे बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं, बड़े बडे दुःख सहन करने पडते हैं और बड़े बड़े पाप करने पड़ते हैं। इतना सब करनेपर भी वह धन किसीको प्राप्त हो जाता है और किसीको नहीं होता। इसका कारण यह है कि धन कमानेसे नहीं आता किंतु पुण्य-कर्मके उदयसे आया करता है। जिस किसीके पुण्यकर्मका उदय होता है उसके परिश्रम करनेपर भी धन आ जाता है और बिना परिश्रमके भी आ जाता है। जो लोग लखपति वा करोड़पतिके घर दत्तक चले जाते हैं वे बिना कमाये ही बहुतसे धनके स्वामी बन जाते हैं तथा उन्हींके सगेभाई दरिद्रा-वस्थामें ही पड़े पडे जन्मभर दुःख भोगा करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि धन आनेका मुख्य हेतु पुण्योदय है तथापि यह जीव उस धनको कमानेके लिए तीव्र दुःख भोगा करता है। यदि किसी पुण्यकर्मके उदयसे धन आ भी जाय तो उसकी रक्षा करनेमें महा दुःख होता है। चोर लोग सदा

उसकी घात लगाया करते हैं, राजा भी सब तरहसे उनसे धन छीननेका प्रयत्न किया करता है और कुटंबी लोग भी उसके बांटनेका प्रयत्न करते रहते हैं। इन सबसे धनकी रक्षा करना अत्यंत कठिन हो जाता है। यदि कदाचित् उसकी रक्षा भी हो जाय तो उस धनके द्वारा कुटंबका पालन करनेमें वा भोगोपभोगोंका सेवन करनेमें महा पाप उत्पन्न हुआ करता है। इसके सिवाय भोगोपभोगोंका सेवन करनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं जिनसे महा दुःख होता है। इस प्रकार यह धन सब प्रकारसे दुःखका साधन है। एक दान देना ही इसका सदुपयोग है। जो पुरुष धन पाकर सत्पात्रदान देता है वही पुरुष अपने धनको सार्थक बनाता है। इसलिए धन पाकर दान अवश्य देना चाहिए। बिना दानके धनकी शोभा नहीं है। केवल पेटके लिए धनका संग्रह करना और अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करना बुद्धिमानी नहीं है। कोई भी बुद्धिमान पुरुष केवल पेटके लिए धन कमाना नहीं चाहता। क्योंकि पेट तो कुत्ता बिल्ली ऐसे नीचसे नीच पशु भी भर लेते हैं। धन कमानेका वा प्राप्त करनेका सदुपयोग केवल दान देना है। धनकी तीन गति हैं दान, भोग, नाश। सबसे अधिक धन दानमें देना चाहिए और बचेखुचे थोडेसे धनको भोगोपभोगके साधनमें लगाना चाहिए। जो लोग न तो दान करते हैं और न भोगोपभोगोंके साधनमें खर्च करते हैं उनका धन किसी न किसी प्रकारसे अवश्य नष्ट हो जाता है।

प्रश्न–किं कार्यं चतुरैर्दृष्ट्वा लोकान् दोषगुणान्वितान् ?

अर्थ–अनेक दोषोंसे दूषित और अनेक गुणोंसे सुशोभित होनेवाले लोगोंको देखकर चतुर पुरुषोंको क्या करना चाहिए ?

उत्तर–स्वाचारनिष्ठश्च गुणी स्वदोषं, त्यजत्यवश्यं भवदं प्रमादम् ।

स्वाचारशून्यस्त्यजति स्पृहां न, ततः कुमार्गे पतति प्रमूढः ॥३६॥
पूर्वोक्त जन्तोश्च कृतिं विलोक्य, ह्यासन्नभव्यो निजदोषदूरः ।
भवत्यवश्यं चतुरश्चिदात्मा, तदन्यजीवश्च खलः प्रमादी ॥३७॥

अर्थ—गुणोंसे सुशोभित होनेवाले तथा दोषोंसे दूषित होनेवाले मनुष्योंको देखकर अपने सदाचारमें लीन रहनेवाला गुणवान् पुरुष संसारके महा दुःख देनेवाले दोषोंका त्याग कर देता है और उन दोषोंके कारणभूत प्रमादका त्याग कर देता है। इसी प्रकार सदाचारको कभी न पालन करनेवाला मनुष्य अपनी तृष्णाओंका त्याग नहीं करता और इसीलिए वह मूर्ख कुमार्गमें जाकर पड जाता है। इस प्रकार ऊपर लिखे हुए जीवोंके कार्योंको देखकर निकट भव्य जीव अपने समस्त दोषोंका त्यागकर चतुर और शुद्ध चैतन्य स्वरूप बन जाते हैं तथा दीर्घ-संसारी जीव गुणोंका त्यागकर दुष्ट और प्रमादी बन जाते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें गुणी पुरुष अपने आत्माका कल्याण करते हुए समस्त जीवोंका उपकार किया करते हैं। इसीलिए सदाकाल और सर्वत्र उनका आदर होता है और वे इस संसारमें सर्व-श्रेष्ठ समझे जाते हैं। ऐसे गुणी पुरुषोंको देखकर प्रत्येक भव्य जीवको गुणी बन जाना चाहिए। यदि अपनेमें कोई दोष हों तो उनका त्याग कर देना चाहिए। गुणी पुरुषोंके समागमका यही सर्वोत्तम फल है। दोषोंको धारण करनेवाले पुरुष सर्वत्र तिरस्कृत होते हैं तथा अपने आत्माका भी अकल्याण किया करते हैं और अन्य दूसरे लोगोंका भी अकल्याण किया करते हैं। इसलिए अपने आत्माके स्वरूपको जाननेवाले और इसीलिए सदाचार पालन करनेमें ही श्रद्धा रखनेवाले पुरुष इन दोषोंका सर्वथा त्यागकर देते हैं। तथा आत्मकल्याणमें लग जाते हैं।

प्रश्न–धने सत्यपि किं नात्ति किं ददाति न साधवे ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि धनके रहते हुए भी बहुतसे लोग न तो उसका उपभोग करते हैं और न किसी साधुके लिए आहार तक देते हैं इसका क्या कारण है ?

उत्तर–जीवान् कष्टगतप्राणान्, वस्त्रान्नगृहवर्जितान् ।
स्वबन्धून् द्रव्यहीनान् वा, दृष्ट्वापि योगिनस्तथा ॥ ३८ ॥
स्वयं तद्रक्षणार्थं न ददाति नात्ति मानवः ।
ततो निश्चीयते द्रव्यं लोभिनां प्राणतः प्रियम् ॥ ३९ ॥

अर्थ–इस संसारमें बहुतसे ऐसे पुरुष हैं जो अन्न वस्त्र घर आदि सबसे रहित हैं, धनसे सर्वथा रहित हैं और जिनके प्राण अत्यंत कष्ट भोग रहे हैं। ऐसे दुःखी जीवोंको वा ऐसे दुःखी अपने भाई बन्धुओंको देखकर भी न तो उनको कुछ देते हैं और न स्वयं खाते पीते हैं । यहां तक कि किसी महा तपस्वी मुनिको भी देखकर उनके लिये आहार तक नहीं देते हैं। ऐसे महा लोभी पुरुष उस धनकी केवल रक्षा किया करते हैं। इससे यही निश्चय कर लेना पड़ता है कि लोभी पुरुषोंको अपना धन प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है।

भावार्थ–पहले इसी ग्रंथमें दिखला चुके हैं कि धनका सदुपयोग दान देना है। दान भोग और नाश ये तीन ही धनकी गति हैं। जो पुरुष न तो दान देते हैं, न भोगोपभोगके काममें लाते हैं उनका धन अवश्य नष्ट होता है। धनका सद्भाव तो पुण्यकर्मके उदयसे होता है । तथा जितना पुण्यकर्मका उदय होता है उतना ही बना रहता है। कूआंके जलके समान उसमेंसे चाहे जितना खर्च किया जाय तो भी वह धन बढ़कर उतना ही हो जाता है। इसलिये धन पाकर खूब दान देना चाहिये। चैत्यालय बन

वाना चाहिए, जिनप्रतिमा बनवानी चाहिए, चारों प्रकारके संघके लिए जिस-जिस पदार्थकी आवश्यकता हो उसको वही पदार्थ देना चाहिए। मुनियोंको आहारदान, पीछी, कमण्डलु, शास्त्र, औषध आदि देना चाहिए। अर्जिका क्षुल्लिकाओंको पीछी, कमंडलु, आहार, शास्त्र, औषध और वस्त्र आदि देना चाहिए। मुनि अर्जिकाओंको गर्म जलकी आवश्यकता हो तो गर्म जल देना चाहिए। मुनि लोग वा अर्जिकाएं आहारके समय जो जल लाती हैं वह आठ पहर तक चलता है। यदि वे मुनि वा क्षुल्लिका अर्जिकाएं दूसरे दिन उपवास करें वा दो चार लगातार उपवास करें तो उनके कमंडलुमें जलकी आवश्यकता होती है। इसलिए ऐसा समय आनेपर गर्म जल पहुंचाना श्रावकका मुख्य कर्तव्य है। श्रावकोंको मुनियोंकी देखभाल रखनी चाहिए। बेलगांवके पास पहले किसी श्रावकने मुनियोंके निवासके लिए पर्वतमें उकेर कर सातसौ गुफाएं बनवाई थीं। यह बात निश्चित है कि जहां इतने मुनियोंका समुदाय रहता है वहांपर दस बीस पचास मुनि एक-एक दो-दो वा चार-चार उपवास करनेवाले भी मिल जाते हैं। ऐसे मुनियोंके कमंडलुओंमें गर्म जल पहुंचानेके लिए उसी श्रावकने एक गांव भी समर्पण किया था। इस प्रकार उस श्रावकने सदाके लिए यह प्रबंध कर दिया था। ऐसा ही विचार प्रत्येक श्रावकको रखना चाहिए। इसके सिवाय मुनियोंके समुदायमें जिस पदार्थकी आवश्यकता हो वह पहुंचानी चाहिए, उनकी रक्षाका पूर्ण प्रबंध करना चाहिए, शास्त्रभंडार स्थापित करने चाहिए जिनमें जैनशास्त्र ही विराजमान करने चाहिए। इनके सिवाय जिनपूजन और जिन-प्रतिष्ठाएं करानी चाहिए, पंचकल्याणक महोत्सव कराने चाहिए, रथोत्सव करानी चाहिए और जिनधर्मकी खूब प्रभावना करानी चाहिए। इन सबमें द्रव्य लगानेसे महा पुण्यकर्मका बंध होता है। इसी प्रकार श्रावक श्राविकाओंको भी आहार औषध वस्त्र आदि देना चाहिए। श्रावकोंमें इस प्रकार जो देन लेन होता है वह सब समदत्ति कहलाती है। यह समदत्ति श्रावकोंको अवश्य करनी चाहिए। इसके सिवाय जो जीव दुःखी हैं उनका दुःख दूर करना चाहिए। जो भूखे हैं

उनको अन्न वस्त्र देना चाहिए, जो बेकार हैं उन्हें जीविकासे लगा देना चाहिए और जो रोगी हैं उनको औषधदान देना चाहिए। इस प्रकार श्रावकोंको अपना बहुतसा द्रव्य दान पुण्यमें कर देना चाहिए। केवल पहरेदारके समान धनकी रक्षा कर लेना पुण्यका फल नहीं है।

प्रश्न—मुमुक्षुर्विपत्कीर्णे वा सुखे चिन्तयतीह किम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुष किसी आपत्तिके समयमें अथवा सुखके समयमें क्या क्या चिन्तवन करते हैं ?

उत्तर—कोहं ममात्मा स्वपदं च किं मे, जैनोस्म्यजैनः सुजनश्च पापी।
धर्मोपि मे कः स्वगुणः स्ववासः, किं मे स्वकृत्यं स्वगृहं च किं मे॥४०॥
ग्राह्यस्तथाग्राह्यविधिश्च मे कः, किं साधनीयं च विवर्जनीयम्।
इत्थं मुमुक्षुर्निजराज्यहेतोः, सदा विचारं सुखदं करोति ॥४१॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुष चाहे तो बड़ी भारी विपत्तिमें फंसे हों अथवा चक्रवर्तीका सुख भोग रहे हों दोनों ही अवस्थाओंमें वे सदाकाल यही सुख देनेवाला चिंतवन करते रहते हैं कि मैं कौन हूं, मेरे आत्माकी क्या अवस्था है अथवा मेरे आत्माका क्या स्वरूप है, मेरा अपना निवासस्थान वा मेरा पद कौनसा है, मैं जैनधर्मको धारण करता हूं अथवा अन्य किसी धर्मको धारण करता हूं, मैं सज्जन हूं अथवा पापी हूं, मेरा धर्म क्या है, मेरे निजके गुण क्या हैं, मेरा निजका निवासस्थान कहां है, इस संसारमें मेरा कर्तव्य क्या है, मेरा घर कौनसा है, इस संसारमें मेरे लिए ग्रहण करने योग्य पदार्थ कौन हैं और त्याग करने योग्य पदार्थ कौन हैं, त्याग करनेकी विधि क्या है, हम क्या सिद्ध करना

चाहिए और क्या छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार मोक्षकी इच्छा करनेवाला पुरुष मोक्षरूपी स्वराज्यके लिए सदाकाल ऐसा ही सुख देनेवाला चिंतवन किया करता है।

भावार्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाला आत्मा सदाकाल अपने आत्मामें ही लीन रहता है, तथा आत्मामें लीन रहनेके कारण वह न तो किसी दुःखसे दुखी होता है और न किसी सुखमें सुख मानता है। चक्रवर्ती महाराज भरतके समान वह सदा सिद्धोंका चिन्तवन करता रहता है अथवा नरकमें पड़े हुए श्रेणिकके जीवके समान घोर दुःखमें भी आत्म-चिन्तवन करता रहता है। आत्माके चिन्तवन करनेमें भी आत्माके स्वरूपका चिंतवन करता है, आत्माके गुणोंका चिंतवन करता है, आत्माके निवासस्थानका चिंतवन करता है। आत्माके धर्मका चिंतवन करता है, आत्म के कर्तव्योंका चिंतवन करता है, हेय उपादेयका चिंतवन करता है और मोक्ष प्राप्त होनेका उपाय वा साधन चिंतवन करता है। इस प्रकार चिंतवन करता हुआ वह अपने मोक्ष प्राप्त करनेके कार्यमें लग जाता है और इस प्रकार वह स्वर्गादिकके सुख भोगता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न–किमर्थं संचिनोतीह धनं धर्मप्रभावकः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइए कि धर्मकी प्रभावना करनेवाले सज्जन पुरुष धनका संचय किस लिए करते हैं ?

उत्तर–श्रीजैनधर्मादिविकाशनार्थं, विद्यालयादेः स्थितिवृद्धिहेतोः।
स्वर्मोक्षमार्गाय तनप्रवृद्ध्यै, सत्पात्रदानाय शिवप्रदाय ॥४२॥
जैनागमादेः परिरक्षणार्थं, व्याध्यादिदुःखव्यपनोदनार्थम् ।
धर्मप्रचारी च धनं चिनोति, न चेन्द्रियार्थं व्यसनादिवृद्ध्यै ॥४३॥

अर्थ—धर्मकी प्रभावना करनेवाला धर्मात्मा पुरुष चारों ओर जैनधर्मका प्रचार करनेके लिए, धार्मिक ग्रंथोंका पठन पाठन करनेके लिए, स्वाध्यायशाला वा विद्यालय स्थापन करनेके लिए वा उनकी वृद्धि करनेके लिए, स्वर्ग मोक्षके मार्गके आयतनोंकी वृद्धिके लिए, मोक्ष देनेवाले सत्पात्र दानके लिए, जैन आगम आदिकी रक्षा करनेके लिए और किसी भी रोगसे उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेके लिए धनका संचय करता है। धर्मात्मा पुरुष इन्द्रियोंको पुष्ट करनेके लिए अथवा किसी व्यसनकी वृद्धि करनेके लिए धनका संचय कभी नहीं करता।

भावार्थ—विना धनके गृहस्थधर्म चल नहीं सकता तथा मोक्षमार्ग भी नहीं चल सकता। यह ठीक है कि मोक्षका साक्षात् साधन निर्ग्रंथ वीतराग अवस्था है परन्तु उस निर्ग्रंथ वीतराग अवस्थाका टिका रहना गृहस्थधर्मके आधीन है और गृहस्थधर्म धनके आधीन है। यही समझकर धर्मात्मा गृहस्थ न्यायपूर्वक धन कमाते हैं अन्यायपूर्वक एक पैसा भी घरमें नहीं आने देते। इसका भी कारण यह है कि अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन धर्मकार्यमें कभी नहीं लग सकता। वह तो अधर्म और अन्याय कार्योंमें ही लगता है और अन्तमें घरके धनको लेकर नष्ट हो जाता है। न्यायपूर्वक कमाया हुआ धन धर्मकार्यमें लगता है और वह धर्मकी वृद्धि करता हुआ स्वयं वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। इसलिए धर्मात्मा पुरुष सदाकाल न्यायपूर्वक ही धनका संचय करते हैं। बहुतसे लोगोंको पडा हुआ धन मिल जाता है अथवा अन्य किसी अन्याय मार्गसे आ जाता है तथा वह लेनेवाला यह समझ कर ले लेता है कि इस धनको किसी धर्मकाममें लगा देंगे। परंतु ऐसा अन्यायका आया हुआ धन धर्मकार्यमें कभी नहीं लगाना चाहिए। अन्यायका आया हुआ धन धर्मकार्यमें लगानेसे उस धर्मायतनको भी नष्ट कर देता है। इसलिए ऐसे धनको ग्रहण न करना ही सबसे अच्छा है। न्यायसे कमाया हुआ धन धर्मके प्रचारमें लगाना चाहिए। गा बजाकर वा ड्रामा आदि दिखाकर लोगोंको प्रसन्न कर लेना और फिर उनसे खूब धन ऐंठ लेना धर्मका

प्रचार नहीं कहलाता। इसी प्रकार धर्मका घात करनेवाली विद्याकी शिक्षा देनेवाले विद्यालय धार्मिक विद्यालय नहीं कहलाते हैं। अथवा जैन ग्रंथोंको छोडकर अन्य धर्मके ग्रंथ पढानेवाले विद्यालय भी धार्मिक विद्यालय नहीं कहलाते। वर्तमान कालमें जो बहुतसे विद्वान् धर्मका घात करनेवाले व्याख्यान देते फिरते हैं वा धार्मिक संस्कारोंको नष्ट करनेका उपदेश देते फिरते हैं वा ऐसी पुस्तकें वा समाचारपत्र लिखते हैं वे सब ऐसे ही विद्यालयोंके फल हैं। इसलिए ऐसे विद्यालयोंमें धन देना दान नहीं कहलाता किंतु कुदान कहलाता है तथा यह भी निश्चित ही समझना चाहिए कि अन्यायसे आया हुआ धन ही ऐसे विद्यालयोंमें लगता है। न्यायपूर्वक कमाया हुआ धन उन्हीं विद्यालयोंमें वा स्वाध्यायशालाओंमें लगता है जिनमें कि धार्मिक ग्रंथ ही पढाये जाते हैं वा धार्मिक ग्रंथोंका स्वाध्याय किया जाता है। ऐसे धार्मिक विद्यालयोंमें धन लगाना पुण्यका कार्य समझा जाता है। वर्तमान कालमें धर्मके नामपर कितने ही पुस्तकालय खुल गये हैं। परंतु उनमें अधिकतर पश्चिमी सभ्यताका उपदेश देनेवाले जासूसी उपन्यास रहते हैं अथवा धार्मिक संस्कारोंका घात करनेवाले समाचारपत्र पढे जाते हैं। परंतु ऐसे पुस्तकालयोंसे धर्मकी कुछ उन्नति नहीं होती। इसलिए ऐसे पुस्तकालयोंमें धन देना भी पुण्यका कार्य नहीं है। जिन कामोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी आज्ञाका प्रचार हो वा जिन ग्रंथोंके पढनेसे विषय कषायोंका त्याग हो ऐसे कामोंमें वा ऐसे ग्रंथ पढानेवाले विद्यालय वा सरस्वतीभवनोंमें धन देना पुण्य कार्य गिना जाता है। किसी भी कार्यमें धन देते समय धर्मात्मा लोग धर्मकी वृद्धिका ध्यान रखते हैं। देखो तीर्थंकर परमदेवसे अनेक भव्य जीवोंका कल्याण होता है, इसलिए मुनि अवस्था धारण करनेवाले तीर्थंकरोंको जो थोडासा आहार दिया जाता है उसका तत्काल फल रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य वर्षा है तथा परम्पराफल मोक्षकी प्राप्ति है। इसलिए जिन-जिन स्थानोंसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति हो, जिन-जिन श्रावकोंसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति वा वृद्धि हो अथवा जिन-जिन कार्योंसे मोक्षमार्गकी वृद्धि हो ऐसे कार्योंमें धन देना प्रत्येक

श्रावकका कर्तव्य है। श्रावक लोग इंद्रियोंके विषयोंको और व्यसनोंको तो सर्वथा हेय समझते हैं। इसलिए वे लोग अपना धन ऐसे हेय कार्योंमें कभी नहीं लगाते।

प्रश्न—केवलं कुक्षिहेतोर्यः पचत्यन्नं स कीदृशः ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो गृहस्थ केवल पेट भरनेके लिए भोजन बनाता है वह कैसा है ?

उत्तर—तपो जपध्यानदयान्वितताय, स्वानन्दतृप्ताय निजाश्रिताय ।
दत्वा यथायोग्यपदाश्रिताय, पात्राय दानं नवधापि भक्त्या ॥४४॥
करोति पश्चात्खलु भोजनादिं, संकल्प्य योग्यं पचतीति वस्तु ।
श्रेष्ठो गृहीस्यात्स च केवलं यः, स्वकुक्षिपुष्ट्यै पशुतः पशुः सः ॥४५॥

अर्थ—जो पुरुष जप तप ध्यान और दया आदि गुणोंमें सुशोभित रहता है, जो अपने आत्मजन्य आनन्दसे तृप्त रहता है और जो अपने आत्माके ही आधीन रहता है ऐसे महा पुरुषको पात्र कहते हैं। उत्तम मध्यम जघन्यके भेदसे उस पात्रके तीन भेद हैं। इन तीनों भेदोंमेंसे जो अपने यथायोग्य पदपर विराजमान है ऐसे पात्रको उसकी योग्यतानुसार नवधाभक्तिपूर्वक दान देकर पीछे जो भोजन पान करता है और पात्रदानका संकल्पकर ही जो योग्य शुद्ध आहार बनाता है वही पुरुष इस समस्त संसारमें श्रेष्ठ गृहस्थ कहलाता है। जो पुरुष केवल पेट भरनेके लिए भोजन बनाता है वह पुरुष पशुसे भी अधम पशु कहलाता है।

भावार्थ—रत्नत्रयको धारण करनेवाला पात्र कहलाता है। उस पात्रके तीन भेद हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और पूर्ण सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाला महाव्रती साधु उत्तम पात्र कहलाता है।



सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और एकदेश चारित्रको धारण करनेवाला अणुव्रती वा प्रतिमाधारी श्रावक मध्यमपात्र कहलाता है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्रको धारण करनेवाला श्रावक जघन्य पात्र कहलाता है। ये तीनों ही पात्र सम्यग्दर्शनरूपी आत्मजन्य प्रकाशके प्रकट होनेसे अपने आत्मजन्य आनन्दमें ही तृप्त रहते हैं, अपने ही आत्माके आधीन रहते हैं और अपनी अपनी योग्यताके अनुसार जप तप वा ध्यानमें लीन रहते हैं और समस्त जीवोंपर दया पालन करते हैं। इन तीनों प्रकारके पात्रोंको उनकी योग्यतानुसार दान देना चाहिए। तथा उनकी योग्यतानुसार ही उनको नवधा भक्ति करनी चाहिए। प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादोदक, अर्चना, प्रणाम, मनशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और आहारशुद्धि यह नवधाभक्ति कहलाती है। चर्यांके लिए आते हुए मुनिको देखकर "हे स्वामिन् यहां ठहरिये आहार पानी शुद्ध है" इस प्रकार कहना प्रतिग्रह है। भीतर ले जाकर उनको ऊंचे आसनपर विराजमान करना उच्चस्थान है। उनके चरण धोकर मस्तकसे लगाना पादोदक है। अष्ट द्रव्यसे पुजा करना अर्चन है। नमस्कार करना प्रणाम है। मनको शुद्ध रखना मन शुद्धि है। वचनको शुद्ध रखना वचन शुद्धि है। कायको शुद्ध रखना काय शुद्धि है और आहारका शुद्ध रखना आहार शुद्धि है। इस प्रकार मुनियोंको दान देते समय नौ प्रकारकी भक्ति करनी पडती है। तथा क्षुल्लक ऐलकोंके लिए भी ये भक्ति करनी पडती हैं। इसके सिवाय अन्य श्रावकोंके लिए न्योता देना प्रतिग्रह है। उनके आनेपर उनके योग्य स्थानपर उनको बिठाना उच्चस्थान है। उनके पैर धुलाना पादोदक है। उनकी योग्यतानुसार पहरावनी डुपट्टा देना वा उनकी प्रशंसा करना अर्चन है। यथा-योग्य रीतिसे उनको जुहारु कहना प्रणाम है और मन वचन कायमें किसी प्रकारकी मायाचारी नहीं ना मन शुद्धि वचन शुद्धि काय शुद्धि है तथा उनको शुद्ध भोजन कराना आहार शुद्धि है। इस र श्रावकोंके लिए उनकी योग्यतानुसार नवधा भक्ति की जाती है। प्रत्येक गृहस्थके घर प्रति



दिन भोजन बनता है। यदि वही भोजन शुद्ध बनाया जाय और यह धारणा रक्खी जाय कि "यदि कोई पात्र मिलेगा तो उसको खिलाकर ही खाऊंगा" तो वही भोजन बनाना पुण्यका कारण बन जाता है। अन्यथा पीसने कूटनेमें, चौका लगानेमें, पानी आदिके भरनेमें बहुतसी हिंसा होती ही है। यदि उस भोजनमें पात्रदानका ध्यान न हो तो फिर वह उस भोजनका बनाना हिंसाका ही साधन समझना चाहिए। पात्रदानका ध्यान परिणामोंको शुद्ध रखता है और फिर वह भोजन शुद्ध परिणामोंसे ही बनाया जाता है। इसलिए उसके बनानेमें विशेष हिंसा नहीं होती तथा जो कुछ होती है वह परिणामोंकी शुद्धतासे वा पात्रदानकी धारणाके संस्कारसे व्यर्थ हो जाती है—नष्ट हो जाती है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थको पात्रदानके अभिप्रायसे ही भोजन बनाना चाहिए और पात्रदानके समयको टालकर ही भोजन करना चाहिए। अथवा पात्र न मिलनेपर किसी एक रसका त्याग कर देना चाहिए। गृहस्थके लिए धनके सदुपयोग करनेका और पात्रदान करनेका यही सर्वोत्तम उपाय है। जो लोग केवल पेट भरनेके लिए ही भोजन बनाते हैं वे पशुओंसे भी बढकर नीच पशु हैं।

प्रश्न—स्याद्वा धनार्जने पापं न गुरो सिद्धये वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब मेरी आत्माकी सिद्धिके लिए यह बतलाइए कि धन कमानेमें पाप लगता है वा नहीं ?

उत्तर—मायाचारसहस्रेण दुराचारशतेन हि।
उपार्ज्यते धनं नित्यं संसारक्लेशवर्द्धकम ॥४६॥
मन्ये ततो धनं न स्यात् पापपुंजमुपार्ज्यते।
दाने धर्मे व्ययं नित्यं न कुर्याद् यतिशर्मदे ॥४७॥

ध्रुवं तत्पापतो भीमं प्रयाति नरकं नरः ।
ज्ञात्वेति चतुरैर्दानं देयं तत्पापशान्तये ॥४८॥

अर्थ—इस संसारमें जो धन कमाया जाता है वह हजारों मायाचारी और सैकड़ों दुराचार करके कमाया जाता है। इसीलिये वह धन संसारके अनंत दुःखोंको देनेवाला कहा जाता है। अतएव आचार्य कहते हैं कि हम तो ऐसा मानते हैं कि यह संसारी जीव धन नहीं कमाता किंतु पापोंका समूह ही कमाता है। यदि यह गृहस्थ इस धनको दान धर्ममें खर्च न करे अथवा मुनियोंके कल्याणके लिये खर्च न करे तो समझना चाहिए कि वह गृहस्थ उस पापके उदयसे भयानक नरकमें अवश्य पड़ेगा। अतएव यही समझकर चतुर पुरुषोंको उस धन कमानेके पापको शांत करनेके लिए वह धन दान देनेमें ही खर्च कर देना चाहिए।

भावार्थ—खेती करना वा व्यापार करना आदि धन कमानेके साधन हैं तथा इन सब साधनोंमें जीवोंकी हिंसा अवश्य होती है। इसके सिवाय अनेक प्रकारकी मायाचारी करनी पड़ती है, अनेक प्रकारके न करने योग्य काम करने पड़ते हैं और अनेक प्रकारके दुराचार करने पड़ते हैं इतने सब अनर्थ करनेपर धन कमाया जाता है। इसीलिए यह धन पापोंका समूह माना जाता है और धन कमानेका अर्थ पापोंका समूह कमाना हो जाता है। परंतु वह पापोंका समूह उस धनको दान धर्ममें खर्च कर देनेसे नष्ट वा शान्त हो जाता है। यदि वह धन दान धर्ममें खर्च न किया जाय अर्थात् दान धर्ममें खर्च कर उस पापको शांत न किया जाय तो उस कमानेवालेको उन पापोंके उदयसे अवश्य ही नरकमें जाना पड़ता है और बहुत काल तक वहांके घोर दुःख सहन करने पड़ते हैं। वे नरकके

घोर दुःख सहन न करने पड़ें इसके लिए गृहस्थोंको दान धर्म अवश्य करना चाहिए। दान करनेसे ही गृहस्थीके पाप शान्त होते हैं।

प्रश्न—कीदृक् कामपिशाचोस्ति तद्बोधाय गुरो ! वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब मुझे यह बतलाइए कि यह कामरूपी पिशाच कैसा है ?

उत्तर—समस्तसंतापविवर्द्धकश्च, स्वर्मोक्षमार्गादिनिरोधकारी।
भवप्रदो वैरविरोधकर्ता, क्षमाकृपाशान्तिदयापलापी ॥४९॥
आद्यन्तमध्ये खलवद्व्यथादः, एतादृशः कामपिशाचवर्गः।
तद्भेदभावादिविदा नरेण केनात्मनाशाय सुरक्ष्यते सः ॥५०॥

अर्थ—यह कामरूपी पिशाचोंका समूह संसारके समस्त संतापोंको बढानेवाला है, स्वर्ग वा मोक्षके मार्गको रोकनेवाला है, जन्म मरणके महा दुःखोंको देनेवाला है, सबके साथ वैर विरोध करनेवाला है, क्षमा कृपा शांति दया आदि आत्माके स्वाभाविक गुणोंका नाश करनेवाला है और आदि मध्य अंत तीनों अवस्थाओंमें दुष्ट पुरुषके समान महा दुःख देनेवाला है। इस प्रकारके इस कामदेवके भेद वा हाव-भाव आदिके जाननेवाले ऐसे कौन मनुष्य हैं जो अपने आत्माका नाश करनेके लिए इस कामदेवकी रक्षा करें अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—संसारमें समस्त आपत्तियोंका मूल कारण वा समस्त दुःखोंका मूल कारण यह कामदेव ही है। जिस मनुष्यके हृदयमें कामवासना बनी रहती है उसका मन सदाकाल अपवित्र और मलिन रहता है तथा उस अपवित्र और मलिन मनसे फिर किसी भी धर्मकार्यको वह नहीं कर सकता। फिर उससे न तो पुण्यका कोई साधन बनता है और न मोक्षका कोई साधन बनता है। फिर तो वह उस अपवित्र

और मलिन मनसे सदाकाल पाप ही उत्पन्न करता रहता है और उन पापोंके फलसे नरकादिकके घोर दुःख सहन किया करता है। देखो इसी कामकी तीव्र वासनासे रावणने सीताका हरण किया था। यद्यपि वह परम सती सीताके पवित्र शीलमें रत्तीभर भी मलिनता नहीं ला सका था। अपने पवित्र शीलके पालन करनेमें वह सीता सुमेरु पर्वतके समान अचल रही थी तथापि उस रावणको केवल कामदेवकी कामवासनामात्रसे ही नरकमें जाना पडा था और अब तक वहांके घोर दुःख सहन कर रहा है। कामदेवकी वासनामात्रसे इस जीवको घोर दुःख सहन करने पडते हैं और रावणके समान युगयुगांतर तक अपकीर्ति बनी रहती है। इस कामदेवकी वासनामात्रसे ही राम रावणका घोर युद्ध हुआ था और इसीके कारण कृष्ण शिशुपालका युद्ध हुआ था, कहां तक कहा जाय यह कामदेव भाई भाइयोंमें, पिता पुत्रमें, मा बेटोंमें और न जाने कितने कितने सगे सम्बन्धियोंमें वैर विरोध करा देता है। यह निश्चित है कि जहांपर कामदेवकी वासना रहती है वहांपर आत्माके कोई भी उत्तम गुण नहीं रह सकते। यद्यपि रावण महा विद्वान् था तथापि कामदेवकी वासना मात्रसे ही उसके शांति दया क्षमा आदि गुण सब नष्ट हो गये थे। और तो क्या सीताके हरी जानेपर रामचन्द्र ऐसे आदर्श महापुरुष भी अत्यन्त विह्वल हो गये थे और इतने विह्वल हो गये थे कि वृक्षों तकसे सीताकी खबर पूछने लगे थे। इससे सिद्ध होता है कि यह कामदेव बडे-बडे महापुरुषोंसे भी बडी कठिनतासे जीता जाता है। जो शूरवीर महापुरुष इस अकेले कामदेवको जीत लेता है वह पुरुष अवश्य ही आत्माके समस्त गुणोंको धारण करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस कामदेवकी वासनाको हटाकर आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होना ही मोक्षका सर्वोत्तम उपाय है।

प्रश्न—तृप्तः स्यात्कामभोगैश्च प्रभो मे वद मानवः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य इस कामदेवसे कभी तृप्त भी होता है वा नहीं ?

उत्तर—नदीसहस्रैरुदधिश्च तृप्तः, स्यादेव वन्हिस्तृणकाष्ठतैलैः ।
तोयं तथाधो गमनेन पापी, लोभी धनैः पापशतेन धूर्तः ॥५१॥
न स्याद्धि जीवश्च कदापि तृप्तः, सत्काममभोगैरिह जीवलोके ।
ज्ञात्वेति धीरैः परिवर्जनीयः, स्वर्मोक्षहर्ता खलकामभोगः ॥५२॥

अर्थ—यद्यपि हजारों लाखों नदियोंसे समुद्र कभी तृप्त नहीं होता, लकडी काठ वा तेलके समूहमे अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, जल नीचेकी ओर गमन करनेसे कभी तृप्त नहीं होता, पापी लोभी पुरुष धनसे कभी तृप्त नहीं होता और धूर्त पुरुष सैकडों पाप कर लेनेसे भी कभी तृप्त नहीं होता तथापि यदि कदाचित् हजारों लाखों नदियोंसे समुद्र भी तृप्त हो जाय, बहुतसी लकडी वा काठ तैलसे अग्नि भी तृप्त हो जाय, कदाचित् नीचेकी ओर गमन करनेसे जल भी तृप्त हो जाय, बहुतसे धनसे कदाचित् लोभी भी तृप्त हो जाय और सैकडों पापोंसे धूर्त भी कदाचित् तृप्त हो जाय तथापि इस संसारमें यह जीव काम भोगोंसे कभी तृप्त नहीं हो सकता । यही समझकर धीर वीर वा शूर वीर पुरुषोंको स्वर्ग मोक्षको हरण करनेवाले इस दुष्ट कामभोगका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ।

भावार्थ—यह जीव काम भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता । यह काम भोग दादके समान हैं । जिस प्रकार दादको जितना खुजाते हैं उतनी ही खुजली उसमें और बढती है तथा खुजानेके बाद बहुत दुःख देता है । दाद खुजलानेसे कभी अच्छी नहीं होता । इसी प्रकार काम भोगोंसे भी यह जीव कभी तृप्त नहीं होता । यह जीव ज्यों ज्यों काम भोगोंका सेवन करता है त्यों त्यों कामभोगोंकी तृष्णा भी बढती

जाती हैं। इसलिये सबसे पहले अपने मनको वशमें रखना चाहिये ; उस मनको कामभोगोंसे हटाकर उसके दुःखदायी स्वरूपके चिंतवनमें लगाना चाहिये और इस प्रकार चिंतवन करते-करते उससे विरक्त हो जाना चाहिये। यह जीव आत्मजन्य सुखसे तृप्त हो सकता है, अन्य किसीसे कभी तृप्त नहीं हो सकता।

प्रश्न—निजाम्नाये सतो वृत्तिः कीदृशी स्यात्खलस्य का ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अपने आम्नायमें अर्थात् देव, शास्त्र गुरुके श्रद्धानमें सज्जन पुरुषोंकी प्रवृत्ति कैसी होती है और दुष्ट पुरुषोंकी प्रवृत्ति कैसी होती है ?

उत्तर—निःशंकवृत्तिश्च जिनोक्तमार्गे स्वर्मोक्षदे स्याद् गुरुदेवशास्त्रे।
सतः प्रवृत्तिर्व्यवहारकार्ये यदा तदा स्याच्च विचारशीला ॥ ५३ ॥
सशंकवृत्तिर्गुरुदेवशास्त्रे जिनोक्तमार्गे विपरीतबुद्धिः।
खलस्य लीला भुवि तद्विरुद्धा ततः सुबुद्धिं जिन ! देहि तस्मै ॥५४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए मोक्षमार्गमें तथा स्वर्ग मोक्ष देनेवाले देव शास्त्र गुरुमें सज्जन पुरुषोंकी प्रवृत्ति सदा निःशंकरूप रहती है। तथा जब कभी व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है तब भी विचारपूर्वक होती है। परन्तु दुष्ट पुरुषोंकी प्रवृत्ति देव शास्त्र गुरुमें भी सशंकित बनी रहती है और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें उस दुष्टकी प्रवृत्ति विपरीतरूप ही रहती है। इस प्रकार दुष्ट पुरुषोंकी लीला इस संसारमें सदा विरुद्ध ही रहती है। हे भगवन् ! उस दुष्ट पुरुषोंको आप सुबुद्धि प्रदान करें।

भावार्थ—यहांपर सज्जन पुरुषोंके कहनेसे सम्यग्दृष्टी पुरुष समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टी पुरुषोंके सम्यग्दर्शनरूप एक विचित्र अमूर्त प्रकाश प्रगट हो जाता है, जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको दिखला

देता है। आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जानेके कारण सज्जन पुरुषोंकी बुद्धि आत्मस्वभावके अनुकूल ही रहती है। इसलिये वे आत्माके शुद्धस्वरूपको भी समझते हैं, देव शास्त्र गुरुके यथार्थ स्वरूपको भी समझते हैं और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप मोक्ष मार्गको भी समझते हैं। इसीलिये वे सम्यग्दृष्टी पुरुष रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें कभी किसी प्रकारकी शंका नहीं करते और न देव शास्त्र गुरुमें किसी प्रकारकी शंका करते हैं, वे सम्यग्दृष्टी पुरुष भगवान अरहन्तदेवको ही देव मानते हैं, वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुको ही गुरु मानते हैं और भगवान जिनेन्द्रदेवकी कही हुई वाणीको ही शास्त्र मानते हैं। ऐसे पुरुष व्यवहारके कार्योंको भी बहुत विचारके साथ करते हैं, हिंसादिक पापोंसे सदा डरते रहते हैं और सदाकाल दयारूप धर्मका पालन करते रहते हैं। दुष्ट वा मिथ्यादृष्टी पुरुषोंकी बुद्धि अपने तीव्र मिथ्यात्वकर्मके उदयसे सदाकाल विपरीतरूप रहती है। मिथ्यात्वरूपी अन्धकार देव शास्त्र गुरुका वा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गका यथार्थ ज्ञान नहीं होने देता। इसीलिये इन सबमें उनकी बुद्धि विपरीत ही रहती है। वे कुदेवको ही देव मान लेते हैं, कुशास्त्रोंको ही शास्त्र मानते हैं और कुगुरुओंको ही गुरु मान लेते हैं। तथा जो संसारके मार्ग हैं उन्हींको मोक्षके मार्ग मान लेते हैं। इसप्रकार वे अपनी सब प्रवृत्तियां विपरीत ही करते हैं। हे भगवन्! अब कृपाकर उनका मिथ्यात्व दूर कीजिये जिससे कि उनको सुबुद्धि उत्पन्न हो और वे अपने विपरीत कर्तव्योंको छोडकर सुमार्गमें लगें और उनके आत्माका कल्याण हो।

प्रश्न—कर्तुं योग्यं गुरोः कृत्यं यः करोति स कीदृशः ?

अर्थ—हे गुरो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष अपने करने योग्य कार्योंका पालन करता है वह मनुष्य कैसा है ?

उत्तर–कियत्कृतं वांछितदं क्षमादं, पुण्यं मया क्लेशकलंकमुक्तम् ।
लोकप्रियं प्राणिदयाप्रधानं, लोकद्वये शांतिकरं यथेष्टम् ॥५५॥
कियत्कृतं घोरतरं कुकृत्यं, लोकद्वये क्लेशकरं नितान्तम्
ह्येवं करोत्येव सदा विचारं, स एव धीमान् नरकृत्यवेदी ॥५६॥

अर्थ–इस संसारमें जो विचारशील मनुष्य प्रतिदिन यह विचार करता रहता है कि जो पुण्य-कार्य समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला है, क्षमा आदि आत्माके गुणोंको प्रगट करनेवाला है, क्लेश और कलंकसे जो सर्वथा रहित है, जो समस्त लोकमें प्रिय है, प्राणियोंकी दया करना ही जिसमें प्रधान है और जो इच्छानुसार दोनों लोकोंमें शांति उत्पन्न करनेवाला है ऐसा पुण्यकार्य मैंने कितना किया है। तथा जो दुष्कृत्य दोनों लोकोंमें अत्यंत क्लेश उत्पन्न करनेवाला है ऐसा अत्यंत घोर दुष्कृत्य मैंने कितना किया है। इस प्रकार जो पुरुष प्रति दिन विचार करता रहता है वही पुरुष बुद्धिमान् कहलाता है और वही पुरुष मनुष्योंके कर्तव्योंका जानकार गिना जाता है।

भावार्थ–इस संसारमें रहता हुआ यह जीव प्रतिदिन पापकार्य वा पुण्यकार्य करता रहता है। आत्माके गुणोंको प्रगट करनेवाले जितने कार्य हैं वे सब पुण्यकार्य कहलाते हैं और आत्माके गुणोंको घात करनेवाले जितने कार्य हैं वे सब पाप कार्य कहलाते हैं। यह जीव जबतक अपने आत्मज्ञानसे रहित रहता है तबतक आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण प्रायः पाप-कार्योंमें ही लगा रहता है। परन्तु मोहनीय कर्मके हट जानेसे अथवा अत्यंत मंद हो जानेसे जब इसको आत्माके स्वरूपका बोध होता है तब यह जीव आत्माको यथार्थ सुख पहुंचानेके अभिप्रायसे पाप कार्योंका त्याग करता जाता है और पुण्प कार्योंकी वृ करता जाता है। ऐसा ही विचारशील सम्यग्दृष्टी पुरुष प्रतिदिन

अपने पुण्यकार्य वा पापकार्योंकी संख्या गिना करता है। वह सम्यग्दृष्टी पुरुष उन पुण्य पापोंकी संख्या ही गिनकर नहीं रह जाता किंतु प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनों समय पापकार्योंकी आलोचना करता है, उनको नष्ट करनेके लिए प्रतिक्रमण करता है और आगे ऐसे पाप न करनेके लिए आत्माको बाधित करता है। इस प्रकार वह पापकार्योंका त्यागकर पुण्यकार्योंमें लग जाता है। तदनंतर धीरे-धीरे वह आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करता है। इसके लिए वह पुण्यकार्योंका भी त्याग कर देता है और फिर आत्माके ध्यानमें लीन होता हुआ समस्त कर्मोंको नष्ट कर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस संसारमें ऐसा जो पुरुष है वही बुद्धिमान् और कर्तव्योंको पालन करनेवाला कहा जाता है।

प्रश्न—गुरो! विषयतुल्योऽस्ति पदार्थोऽन्योपि मादकः ?

अर्थ—हे भगवन्! क्या इस संसारमें विषय सेवनके समान अन्य भी कोई मादक पदार्थ हैं ?

उत्तर—न्यूनाधिकाद्वा सकलः पदार्थः, उन्मादकः स्याद् भुवने कदाचित्।
न किंतु दृष्टो विषयस्य तुल्य, उन्मादकश्चैव विकारकारी ॥५७॥
यत्सेवनेनैव जनाश्च सर्वे, स्वबोधशून्याश्च सदा हि दीनाः।
वाचन्द्रसूर्यं च भवन्ति मत्ता, धिगस्तु कौ तं विषयं नरं च॥५८॥

अर्थ—वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें कोई भी पदार्थ उन्माद उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं तथापि कदाचित् किसी कारणसे हीनाधिकरूपसे समस्त पदार्थ उन्माद उत्पन्न करनेवाले हो जांय तो भी विषयोंके समान उन्मत्तता उत्पन्न करनेवाले और विकार उत्पन्न करनेवाले अन्य कोई पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। क्योंकि इन विषयोंके सेवन करनेसे जब तक ये सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं तब तक ये संसारी जीव अपने आत्मज्ञानसे रहित हो जाते हैं, दीन हो जाते हैं और उन्मत्त हो जाते हैं।

इसलिए इन विषयोंको धिकार हो और उन विषयोंको सेवन करनेवाले मनुष्योंको भी धिक्कार हो।

भावार्थ—भांग चरस गांजा अफीम मद्य आसव अरिष्ट आदि बहुतसे पदार्थ मादक वा उन्मत्तता उत्पन्न करनेवाले हैं परंतु वे सब सशरीर जीवका संबंध होनेपर ही उन्मत्तता उत्पन्न करते हैं अन्यथा दूध पानी आदि अन्य पदार्थोंके समान पडे रहते हैं, पडे पडे वे कुछ नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि मद्य आदिक पदार्थ भी जो उन्मत्तता उत्पन्न करते हैं वह थोडी ही देर तकके लिए उत्पन्न करते हैं, परंतु विषयोंकी तृष्णाकी समानता वे मद्यादिक पदार्थ कभी नहीं कर सकते। क्योंकि विषयोंकी तृष्णासे जो उन्मत्तता उत्पन्न होती है वह अनंतकाल तक रहती है और इस जीवको नरकादिके महा दुःखोंमें पटक देती है। विषयोंकी तृष्णासे उन्मत्त होकर यह जीव विषयोंका सेवन करता है और उनसे उत्पन्न हुए महापापसे यह जीव नरकादिकके दुःख भोगता है। विषयोंके सेवन करनेसे यह विषयोंकी तृष्णा दिन-दिन दूनी बढती है तथा इस आत्माको अज्ञानी बनाकर दीन और उन्मत्त बना देती है। इसलिए आचार्योंने सदा काल इन विषयोंका तिरस्कार किया है और अन्य सब जीवोंको इनके छोडने तथा तिरस्कार करनेका उपदेश दिया है।

प्रश्न—शुद्धो निश्चयाज्जीवोऽशुद्धो जातः कथं प्रभो !

अर्थ—हे भगवन्! यह जीव निश्चयनयसे शुद्ध है फिर भला वह अशुद्ध कैसे हो गया?

उत्तर—अनादितः स्याद् भुवि कर्मबन्धोऽशुद्धश्च हेमोपलवत्सुजीवः।
स्यात्किंतु चानन्दपदाधिकारी योग्यक्रियायोगत एव शुद्धः ॥५९॥
काष्ठाद्यथाग्निश्च घृतं हि दुग्धात्तैलं तिलादेव तनोश्चिदात्मा।
ज्ञात्वेति मुक्त्वा भवदं प्रमादं निजात्मशुद्ध्यै चतुरा यतन्ताम् ॥६०॥

अर्थ– यद्यपि वास्तवमें देखा जाय तो सुवर्ण शुद्ध है परंतु वह अनादिकालसे सुवर्ण पाषाणमें मिला हुआ अशुद्ध हो रहा है। वही सुवर्ण-पाषाण अग्निके संयोगसे अपने कीट कालिमाको अलग कर देता है और शुद्ध सुवर्णमय हो जाता है। उसी प्रकार इस संसारमें यह जीव भी अनादिकालसे कर्मोंके बंधनमें पड़ा हुआ अशुद्ध हो रहा है तथापि तपश्चरण ध्यान आदि योग्य क्रियाओंके निमित्तसे यही चिदानन्दमय अनंत सुखका भोगनेवाला शुद्ध हो जाता है। जिसप्रकार लकडीसे अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दूधसे घी उत्पन्न हो जाता है और तिलसे तेल उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार चिदानन्दमय शुद्ध आत्मा भी इसी अशुद्ध जीव विशिष्ट शरीरसे सर्वथा भिन्न होकर सदाके लिए शुद्धस्वरूप हो जाता है। यही समझकर चतुर पुरुषोंको जन्ममरणरूप संसारको बढानेवाले प्रमादका त्याग कर देना चाहिए और अपने आत्माको शुद्ध बनानेके लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ–सुवर्ण और पाषाण दोनों ही अनादिकालसे मिले हुए चले आते हैं। उस सुवर्णमें पाषाण मिला रहनेसे वह सुवर्ण अनादिकालसे ही अशुद्ध माना जाता है। परन्तु वह अशुद्ध सुवर्ण अग्निके संयोगसे अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार यह आत्मा कर्मोंके सम्बन्धसे अनादिकालसे अशुद्ध हो रहा है। कर्मोंका सम्बन्ध अनादिकालसे लगा हुआ है इसलिए अनादिकालसे ही यह जीव अशुद्ध हो रहा है। जब यह जीव ध्यानरूपी अग्निके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है और पर सम्बन्धसे सर्वथा भिन्न हो जाता है, तब यह जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस संसारमें यह जीव जो अनेक प्रकारके दुःख भोग रहा है वह कर्मोंके उदयसे ही भोग रहा है। यदि इस जीवके साथ कर्म न रहें तो यह जीव अपने स्वाभाविक स्वरूपमें हो जाता है और फिर शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनन्तसुखमय हो जाता है। इसलिए प्रत्येक चतुर पुरुषको अपना प्रमाद छोडकर अपने आत्माके अनन्त सुखमय कल्याणमें लग जाना चाहिए।

प्रश्न—वपुःसंगात्कथं जीवोऽशुद्धो भ्रमति भूतले ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि शरीरके सम्बन्धसे यह जीव किस प्रकार तो अशुद्ध हो जाता है और क्यों इस संसारमें परिभ्रमण करता है ?

उत्तर—संसर्गतो देहमलीमसस्य, शुद्धः पदार्थोपि भवेदशुद्धः ।
वस्त्रान्नपानं च विलेपनादि-रत्यंतनिंद्यश्च विवर्जनीयः ॥६१॥
जीवोपि तत्संगवशात्प्रमूढो, भूत्वा भवाब्धौ भ्रमतीह भीमे ।
त्याज्यश्च बुद्ध्वेति वपुःप्रसंगः, स्वराज्यहेतोश्च विचारशीलैः ॥६२॥

अर्थ—देखो, इस शरीरकी मलिनताके संबंधसे अन्न पान वस्त्र चन्दन आदि जितने शुद्ध पदार्थ हैं वे सब अत्यंत अशुद्ध अत्यंत निंदनीय और त्याग करने योग्य हो जाते हैं। इसी प्रकार ये संसारी जीव भी इसी शरीरके सम्बन्धसे अत्यंत अज्ञानी होकर इस भयानक संसाररूपी सागरमें परिभ्रमण किया करते हैं। यही समझकर विचारशील पुरुषोंको अपना मोक्षरूपी स्वराज्य सिद्ध करनेके लिए इस शरीरका सम्बन्ध छोड देना चाहिए।

भावार्थ—इस शरीरके सम्बन्धसे अन्न सब विष्ठाके रूपमें परिणत हो जाता है, दुध पानी आदि मूत्रके रूपमें परिणत हो जाते हैं, जो वस्त्र एक बार पहन लिए जाते हैं उनको फिर दूसरा कोई आदमी नहीं पहनता। चन्दन केशर कपूर आदि सुगन्धित और शुद्ध पदार्थ भी शरीरपर लगते ही अशुद्ध हो जाते हैं फिर उनको कोई छूता भी नहीं, वे तो फिर निंद्य और सर्वथा त्याज्य हो जाते हैं। वास्तवमें यह शरीर अत्यंत घृणित है, मांस रुधिर आदि अस्पृश्य पदार्थोंसे ही बना हुआ है। जीवके सम्बन्धसे ही यह शरीर स्पर्श करने योग्य हो जाता है, अन्यथा इस शरीरसे जब यह जीव निकल

जाता है और मुरदा शरीर पडा रहता है तब उसे स्पर्श करके स्नान करना पडता है। अथवा मुरदाके साथ जानेवाले चाहे स्पर्श भी न करें तो भी उन्हें स्नान करना पडता है इसीलिए इस निंदनीय और सर्वथा त्याज्य शरीरके सम्बन्धसे ही यह जीव महा पाप उत्पन्न करता रहता है तथा उन पापोंके निमित्तसे नरक निगोद आदिके महा दुःख भोगा करता है। यद्यपि यह शरीर इस प्रकारके महा दुःखोंको देनेवाला है तथापि यह अज्ञानी जीव रातदिन इसीका पालन पोषण करता रहता है। इसीके पालन-पोषणके लिये अनेक प्रकारके अन्याय और अत्याचारोंसे द्रव्य कमाया करता है और इसीको सुख पहुंचानेके लिये बडे बडे महल वा बडे बडे बाग बगीचे लगाया करता है तथा अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न किया करता है। ये ही सब बातें समझकर विचारशील पुरुषोंको शरीरसे अपना ममत्व हटा लेना चाहिये और अत्यंत दुर्लभतासे प्राप्त होनेवाले इस मनुष्य-शरीरमें तपश्चरण वा ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये। यही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है।

प्रश्न—सन्त्यात्महितकर्तारः के विश्वे वद मे प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें आत्माका हित करनेवाले कौन कौन हैं ?

उत्तर—व्रतोपवासश्च जपस्तपोपि, कृपाक्षमाध्यानदयासुधैर्यः।
स्वाध्यायशान्तिप्रशमप्रमोदाः, सिद्धिः समाधिः परिणामशुद्धिः ॥६३॥
प्रीतिश्च मैत्री करुणापि कान्तिः, पूर्वोक्तभावाः सुखदाः पवित्राः।
पर्यायदृष्ट्यात्मन एव चोक्ताः, स्वमोक्षहेतोर्हृदि धारणीयाः ॥६४॥

अर्थ—व्रत, उपवास, जप, तप, कृपा, क्षमा, ध्यान, दया, धैर्य, स्वाध्याय, शान्ति, प्रशम, प्रमोद,

सिद्धि, समाधि, परिणामोंकी शुद्धता, प्रीति मैत्री करुणा और कान्ति आदि जितने सुख देनेवाले पवित्र भाव हैं वे सब पर्यायदृष्टीसे आत्माके ही कहे जाते हैं और इसीलिये ये सब भाव आत्माका हित करने वाले हैं। भव्यजीवोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ये सब भाव अपने हृदयमें धारण करने चाहिये।

भावार्थ—इस संसारमें जीवोंको जो दुःख होता है वह पर पदार्थोंके निमित्तसे ही होता है तथा जबतक पर पदार्थोंका संबंध बना रहता है तबतक इस जीवको बराबर दुःख भोगना पड़ता है। जब यह जीव परभावोंका त्याग कर देता है तब इसके निजके भाव अपने आप प्रगट हो जाते हैं। जैसे क्रोध का त्याग कर देनेसे आत्माका क्षमा गुण प्रगट हो जाता है, मानका त्याग कर देनेसे आत्माका मार्दव गुण प्रगट हो जाता है, मायाचारीका त्यागकर देनेसे आर्जव गुण प्रगट होता है, लोभका त्याग करनेसे शौच गुण प्रगट होता है, मिथ्याभाषणका त्यागकर देनेसे सत्य गुण प्रगट होता है, हिंसाका त्याग कर देनेसे दया प्रगट होती है, काम भोगोंका त्यागकर देनेसे ब्रह्मचर्य गुण प्रगट होता है और अशुभ परिणामोंका त्यागकर देनेसे शुभ वा शुद्ध परिणाम प्रगट हो जाते हैं। ये सब आत्माके निजके गुण हैं और इसीलिए आत्माका हित करनेवाले हैं। इसलिए भव्य जीवोंको स्वर्ग वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए क्रोधादिक परभावोंका त्यागकर अपने आत्माके गुण प्रगट कर लेने चाहिये क्योंकि आत्माके गुण ही मोक्षके कारण हैं।

प्रश्न—स्वात्माहितकराः पृथ्व्यां के सन्ति वद मे प्रभो !

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइये कि इस पृथ्वीपर अपने आत्माका अहित करनेवाले कौन कौन हैं ?

उत्तर—दाहाकराः क्रोधपिशाचवर्गाः, स्पृहाः प्रदोषाश्च सदा व्यथादाः ।
भोगोपभोगादिकसेवनेच्छाः, क्रूराः सदा मर्मविदारकाश्च ॥६५॥
पूर्वोक्तभावाश्च निजात्मबाह्याः, प्रोक्तास्तथात्माहितकारकाश्च ।
ज्ञात्वेति धीरैः स्वपरात्मशान्त्यै, प्रवर्जनीयाश्च पराः पदार्थाः ॥६६॥

अर्थ—इस संसारमें क्रोधरूपी पिशाचोंका समूह इस शरीरको जला देनेवाला है, मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर देनेवाला है, क्रूरता उत्पन्न करनेवाला है और अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला है। इसी प्रकार भोगोपभोगादिकके सेवन करनेकी इच्छा वा तृष्णा आदि अनेक दोष दुःख देनेवाले हैं वा मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले हैं। ये सब अशुद्ध आत्माके भाव हैं और इसीलिए अपने आत्माके स्वरूपसे भिन्न हैं। अपने आत्माके स्वरूपसे भिन्न होनेके ही कारण ये सब विभावभाव आत्माका अहित करनेवाले हैं। यही समझकर धीर वीर पुरुषोंको अपने आत्माको अटल शांति प्राप्त करनेके लिए तथा अन्य जीवोंको शांति प्राप्त करनेके लिए पर पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—क्रोध शब्दसे क्रोध मान माया लोभ काम आदि आत्माको दुःख देनेवाले जितने विकार हैं वे सब ग्रहण कर लेना चाहिए। जो पुरुष अत्यन्त क्रोधी होता है वह अपने हृदयमें सदाकाल जला करता है तथा दूसरेके मर्मको विदीर्ण करनेवाले वचन ही उसके मुखसे निकलते हैं। क्रोधके आवेशमें आकर वह अन्य जीवोंका भी घात कर लेता है। इस प्रकार इस लोकमें महा दुःख भोगकर परलोकमें नरकादिकके दुःख भोगता है। इसी प्रकार मान करनेवाला गुणी जनोंका भी तिरस्कार करता हुआ पापबन्ध किया करता है। मायाचारी करनेवाला न जाने कितने लोगोंको हानि पहुंचाया करता है। लोभी पुरुष सब प्रकारके अन्याय और अत्याचार किया करता है। कामी पुरुषसे संसारका कोई

पाप नहीं बच सकता। इस प्रकार ये सब आत्माके विकार इस जीवको इस लोकमें भी दुःख देते हैं और परलोकमें भी नरकादिकके दुःख देते हैं। इसी प्रकार धनादिककी तृष्णासे वा भोगोपभोग सेवन करनेकी लालसासे भी सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं और इसीलिए ये सब विकार आत्माका अहित करनेवाले हैं। ये सब विकार कर्मोंके निमित्तसे होते हैं और कर्मोंका सम्बन्ध इन्हीं विकारोंसे होता है। इसलिए अपने आत्माको सुख पहुंचानेके लिए इन सब विकारोंका त्याग कर देना चाहिए और इन विकारोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका भी नाश कर देना चाहिए।

प्रश्न—देहद्वारेण जीवः स्वहिताहितं करोति किम्?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह जीव अपने शरीरसे क्या-क्या अपना हित करता है और क्या-क्या अपना अहित करता है?

उत्तर—देहदुरुपयोगाद्धि जीवोयं धर्मवर्जितः।
याति सन्नरकं निंद्यं दुःखदं मर्मभेदकम् ॥६७॥
देहसदुपयोगात्स्याज्जीवोयं धर्मधारकः।
लभते स्वर्गसौख्यं च मोक्षसुखमनुक्रमात् ॥६८॥
अग्नेर्दुरुपयोगाद्धि यथा वस्त्रान्नवर्जितः।
तत्सदुपयोगात्स्यात्सदा सुखी गृहस्थकः ॥६९॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका दुरुपयोग करनेसे यह गृहस्थ अन्न वस्त्रसे रहित हो जाता है और उसी अग्निका सदुपयोग करनेसे वही गृहस्थ सदा सुखी बना रहता है उसी प्रकार शरीरका दुरुपयोग करनेसे यह जीव धर्म कर्मसे रहित होकर अत्यन्त निंद्य दुःख देनेवाले और मर्मस्थानको भेदन करने-

वाले नरकमें जा पडता है तथा इसी शरीरका सदुपयोग करनेसे यह जीव धर्मको धारण करता हुआ स्वर्गोंका सुख प्राप्त कर लेता है और अनुक्रमसे मोक्षके सुख प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—अपने घरमें अग्नि लगा देना वा अपने अन्न वस्त्र सब जला देना अथवा अग्निमें कूद-कर जल जाना आदि सब अग्निका दुरुपयोग है तथा मुनिराजोंको आहार देनेके लिए अग्निसे भोजन बनाना वा श्रावकोंको भोजन करानेके लिए भोजन बनाना वा दानके लिए औषधियां तैयार कराना अथवा भगवान जिनेन्द्रदेवको चढानेके लिए लाडू वा नैवेद्य बनाना अग्निका सदुपयोग है। इस प्रकार अग्निका सदुपयोग करनेसे यह जीव इस लोकमें भी सुखी होता है और परलोकके लिए भी अनन्त पुण्य कमा लेता है। इसी प्रकार इस शरीरसे हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, दुराचार सेवन करना, अधिक परिग्रह इकट्ठा करना, अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करना, अन्याय करना सातों व्यसनोंका सेवन करना, लूटना, मारना आदि सब कार्य शरीरका दुरुपयोग है तथा इसी शरीरसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी पुजा करना, मुनियोंके लिए शुद्ध निर्दोष आहारदान देना, क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका, क्षुल्लिका, श्रावक, श्राविका आदिको आहारदान देना, औषधदान देना, वस्त्रादिक दान देना, जिन शास्त्रोंको लिखना, पढना पढाना दान देना, व्रत, उपवास करना, तपश्चरण करना, देख शोध कर चलना, जीवोंकी रक्षा करना, शुद्ध निर्दोष भोजन करना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि कार्य करना शरीरका सदुपयोग है। शरीरका सदुपयोग करनेसे यह जीव अपने धर्मका पालन करता है और इसी-लिए इस लोकमें मान्य पूज्य होता हुआ परलोकमें स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्तकर लेता है। तथा शरीरका दुरुपयोग करनेसे इस लोकमें अनेक रोगादिक तिरस्कारादिकके दुःख भोगता हुआ परलोकमें नरक निगोदके दुःख भोगता है इसलिए विचारशील पुरुषोंको यह अत्यंत दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर इसको सदाकाल सदुपयोगमें ही लगाना चाहिए। यही शरीर धारण करनेका उत्तम फल है।

प्रश्न—रौद्रध्यानी नरः श्वभ्रं याति वा न प्रभो वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि रौद्रध्यानको धारण करनेवाला यह मनुष्य नरकमें जाता है वा नहीं ?

उत्तर—हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दादिसंयुतः ।
सम्यक्त्वसुखनिर्मुक्तः प्रयाति नरकं नरः ॥७०॥
गृहकर्मादिसिद्ध्यर्थं क्वचिद् धर्मादिसिद्धये ।
हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दयुतोपि यः ॥७१॥
सम्यक्त्वसुखसम्पन्नः शास्त्रज्ञो न्यायरक्षकः ।
धर्मप्रभावको धीरो न याति नरकं नरः ॥७२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके सुखसे सर्वथा रहित रहनेवाला मनुष्य यदि हिंसानंद मृषानंद स्तेयानंद परिग्रहानंद इन चारों रौद्रध्यानोंको धारण करता है तो वह मनुष्य अवश्य ही नरक जाता है । परंतु जो मनुष्य सम्यग्दर्शनके सुखसे सुशोभित है, जिनशास्त्रोंका जानकार है, न्यायकी रक्षा करनेवाला है, धर्मकी प्रभावना करनेवाला है और धीर वीर है ऐसा मनुष्य यदि गृहस्थीके किसी कामके लिए अथवा कभी कचित् कदाचित् धर्मकार्योंकी सिद्धिके लिए हिंसानंद वा मृषानंद वा स्तेयानंद अथवा परिग्रहानंद इन चारों रौद्रध्यानोंमेंसे कोई भी रौद्रध्यान धारण करता है अथवा चारोंको धारण करता है तो भी वह नरक नहीं जाता ।

भावार्थ—हिंसामें आनंद मानकर हिंसा करने वा करानेका बार-बार चिंतवन करना हिंसानंद नामका रौद्रध्यान है । झूठ बोलनेमें आनंद मानकर झूठ बोलने वा झूठ बुलवानेके लिए बार-बार चिंत-

वन करना मृषानंद नामका रौद्रध्यान है। चोरीमें आनंद मानकर चोरी करने करानेके लिए बार-बार चिंतवन करना स्तेयानंद नामका रौद्रध्यान है और परिग्रहमें आनंद मानकर परिग्रहकी वृद्धि रक्षा आदिके लिए बार-बार चिंतवन करना परिग्रहानंद नामका रौद्रध्यान है। ये चारों रौद्रध्यान नरकके कारण हैं और इसीलिए ये मुख्यतासे मिथ्यादृष्टियोंके ही होते हैं। यदि किसी सम्यग्दृष्टीके होते हैं तो अत्यंत मंदरूपसे होते हैं तथा चौथे गुणस्थान तक ही होते हैं। कचित् कदाचित् किसी जीवके पांचवें गुणस्थानमें भी होते हैं। परंतु वे चौथे वा पांचवें गुणस्थानमें होनेवाले रौद्रध्यान नरकके कारण नहीं होते। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुषको आत्मज्ञान प्रगट हो जाता है और उसके परिणाम दयारूप हो जाते हैं इसलिए ऐसे दयालु पुरुषके रौद्रध्यानकी तीव्रता कभी नहीं हो सकती तथा रौद्रध्यानकी तीव्रता ही नरकका कारण है।

सम्यग्दृष्टी पुरुषके यह रौद्रध्यान कभी तो घरके कामोंके लिए होता है और कभी-कभी धर्मकार्यके लिए भी होता है। जब कोई दुष्ट पुरुष किसी धर्मकार्यमें विघ्न करना चाहता है तब उस विघ्नको दूर करनेके लिए वह सरलसे सरल उपाय करता है। यदि किसी सरल उपायसे वह विघ्न दूर नहीं होता तो उस समय उसके रौद्रध्यान हो सकता है। जिनालयोंपर आक्रमण करनेवालोंका निग्रह किया ही जाता है। पूजा प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि प्रभावनाके अंगोंमें विघ्न करनेवालोंका भी निग्रह किया ही जाता है। इन सब कामोंमें रौद्रध्यान हो सकता है। परंतु वह अत्यंत मंदरूप होता है, साथमें दयारूप परिणाम भी होते हैं इसलिए वह रौद्रध्यान नरकका कारण कभी नहीं होता।

प्रश्न–आर्तध्यानी जनो याति तिर्यग्गत्यादिकं न वा ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि आर्तध्यान करनेवाला पुरुष तिर्यंचगति वा अन्य नीच गतियोंमें जाता है वा नहीं?

उत्तर—धर्मार्थकाममोक्षादिपुरुषार्थक्रियोज्झितः ।
तिर्यग्गतिं समायाति नार्तध्यानी ह्यदर्शनः ॥७३॥
क्वचिदिष्टवियोगाद्यार्त्तध्यानधारकोपि कौ ।
धर्मार्थकाममोक्षादिपुरुषार्थसमन्वितः ॥७४॥
दीनजन्तुव्यथाहर्ता जिनधर्मप्रभावकः ।
याति सम्यक्त्वयुक्तो न तिर्यग्गत्यादिकं नरः ॥७५॥

अर्थ—जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका पालन नहीं करता ऐसा मिथ्यादृष्टी आर्तध्यानी पुरुष तिर्यग्गतिको अवश्य प्राप्त होता है । परन्तु जो पुरुष धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका पालन करता है, दीन हीन जीवोंके दुःखोंको दूर करता रहता है, जिनधर्मकी प्रभावना करनेमें सदा तत्पर रहता है और जो सम्यग्दर्शनसे विभूषित होता है वह मनुष्य किसी समय इष्ट वियोग वा अनिष्ट संयोगसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यानको धारण करता है तो भी वह तिर्यंच गतिमें वा अन्य किसी नीच गतिमें नहीं जाता ।

भावार्थ—ऋत शब्दका अर्थ दुःख है । जो ध्यान किसी दुःखसे होता है उसको आर्तध्यान कहते हैं । उस आर्तध्यानके चार भेद हैं—किसी इष्ट पदार्थके वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए बार बार चिंतवन करना पहला आर्तध्यान है । किसी अनिष्टके संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए बार-बार चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान है । किसी रोगके होनेपर उसके दूर करनेके लिए बार-बार चिंतवन करना तीसरा आर्तध्यान है और आगामी कालके लिए वा आगामी जन्मके लिए भोगोपभोगोंकी

इच्छा करना चौथा आर्तध्यान है। ये चारों आर्तध्यान तिर्यंच गतिके कारण हैं। ये चारों आर्तध्यान मुख्यतासे मिथ्यादृष्टियोंके होते हैं तथा चौथे पांचवें गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टीके भी होते हैं। छठे गुणस्थानमें भी किसी मुनिके ये आर्तध्यान होते हैं परन्तु निदान नामका चौथा आर्तध्यान मुनियोंके नहीं होता। यदि कोई मुनि चौथा आर्तध्यान करता है तो उस समय उसका छठा गुणस्थान छूट जाता है। छठे गुणस्थानमें वा चौथे पांचवें गुणस्थानमें होनेवाले आर्तध्यान अत्यन्त मन्द रीतिसे होते हैं इसीलिए वे तिर्यंगतिके कारण नहीं होते। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको समझता है इसीलिए किसी भी प्रकारके इष्ट वियोग वा अनिष्ट संयोग होनेपर वह अपने आत्मामें तीव्र संक्लेश परिणाम नहीं करता वह सब प्रकारके दुःखोंको कर्मोंका फल समझता है। इसीलिए वह तीव्रसे तीव्र दुःख आनेपर भी परिणामोंमें समता धारण करता है इसीलिए उसके आर्तध्यानमें तीव्रता नहीं हो सकती। उस आर्तध्यानमें मन्दता ही रहती है इसलिए वह आर्तध्यान तिर्यंच गतिका वा अन्य नीच गतिका कारण नहीं होता। यही कारण है कि आर्तध्यान करनेवाला सम्यग्दृष्टी पुरुष तिर्यंच गति वा अन्य नीच गतिमें उत्पन्न नहीं होता यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इन चारों पुरुषार्थोंका पालन सम्यग्दृष्टी ही कर सकता है। इसका भी कारण यह है कि ये सब पुरुषार्थ अनुक्रमसे पालन किए जाते हैं। धर्म पुरुषार्थके साथ-साथ जो अर्थ पुरुषार्थ वा काम पुरुषार्थ होता है वही पुरुषाथ कहलाता है। बिना धर्मपुरुषार्थको सेवन किए अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ कभी पुरुषार्थ नहीं कहलाते हैं। यों तो सभी संसारी जीव धन कमाते हैं और कामभोगोंका सेवन करते हैं परन्तु वे दोनों पुरुषार्थ धर्मपुरुषार्थ पूर्वक न होनेके कारण पुरुषार्थ नहीं कहला सकते। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि इन सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष प्राप्त करनेका ध्येय विद्यमान रहता है। धर्म सेवन करना परंपरासे मोक्षका

कारण है ही तथा सम्यग्दृष्टी पुरुष मोक्षकी अभिलाषा करता हुआ ही धर्मका सेवन करता है तथा धन कमाता है वह भी मोक्ष प्राप्त करनेके लिए मुख्यतया धर्मसेवनमें ही लगाता है इसलिए वह उस अर्थ पुरुषार्थको भी मोक्षकी सिद्धिका साधन समझता है और इसीलिए वह अन्याय वा अनीतिपूर्वक धन नहीं कमाता, न्याय और नीति मार्गसे ही धन कमाता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष धार्मिक संतान उत्पन्न करनेके लिए काम पुरुषार्थका सेवन करता है। धार्मिक संतान उत्पन्न होनेसे ही धर्मकी सत्ता कायम रह सकती है और मोक्षमार्ग चल सकता है। यदि संतान धार्मिक न हो तो धर्म और मोक्षमार्गका लोप ही हो जाय! इसलिए सम्यग्दृष्टी पुरुष धर्मवृद्धिके अभिप्रायसे तथा मोक्षमार्गकी स्थिति सदाकाल बनी रहनेके लिए ही कामपुरुषार्थका सेवन करता है और इसीलिए अन्तमें वह सबका त्याग कर मोक्षमार्गमें लग जाता है। मिथ्यादृष्टी पुरुष धन कमानेमें वा कामसेवन करनेमें धर्मका वा मोक्षमार्गका कुछ ध्यान नहीं रखता इसलिए उसके ये दोनों काम पुरुषार्थ नहीं कहलाते। पुरुष शब्दका अर्थ आत्मा है और अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है। जिसमें आत्माका प्रयोजन सिद्ध हो आत्माका कल्याण हो वही पुरुषार्थ कहलाता है। मिथ्यादृष्टी पुरुष आत्माके स्वरूपको ही नहीं समझता है इसलिए वह उसके कल्याणकी ओर कभी नहीं झुकता। इसलिए ही वह किसी पुरुषार्थका सेवन नहीं कर सकता। सम्यग्दृष्टी ही पुरुषार्थोंका सेवन कर सकता है।

इसी प्रकार स्त्रियां भी न तो धन कमा सकती हैं और न कामका फल प्राप्त कर सकती हैं। कामका फल संतान है वह पिताकी कहलाती है। इसलिए धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको पुरुष ही प्राप्त कर सकता है, स्त्रियां नहीं।

प्रश्न–धर्मध्यानी नरो याति कीदृशीं वद मे गतिम् ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब यह बतलाइए कि धर्मध्यान करनेवाला मनुष्य कैसी गतिको प्राप्त होता है ?

उत्तर–आर्तरौद्रं परित्यज्य संसारक्लेशकारणम् ।
आज्ञापायविपाकादिधर्मध्यानपरायणः ॥७६॥
व्रताचारसमापन्नः सम्यक्त्वरत्नभूषितः ।
स्वर्मोक्षमार्गसंलग्नः स्वर्गं श्रेष्ठं प्रयाति सः ॥७७॥

अर्थ—जो पुरुष दुःखमय संसारके क्लेशोंके कारण ऐसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों अशुभ ध्यानोंका त्याग कर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चारों धर्म्यध्यानोंको धारण करता है, जो व्रत सदाचार आदिके पालन करनेमें लीन रहता है, सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे सुशोभित रहता है और स्वर्ग वा मोक्षके मार्गमें सदा काल लीन रहता है वह पुरुष स्वर्गमें उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—ऊपर जिन आर्तध्यान और रौद्रध्यानका वर्णन किया है वे दोनों ध्यान जन्म मरणरूप संसारके समस्त दुःखोंके कारण हैं । धर्मध्यान परंपरासे मोक्षका कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है । धर्मसे वा आत्माके गुणोंकी संलग्नतासे जो ध्यान उत्पन्न होता है उसको धर्मध्यान कहते हैं धर्मध्यानके चार भेद हैं । भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको मानना और उस आज्ञाका सर्वत्र प्रचार करना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहलाता है । इस संसारमें मिथ्यादृष्टियोंका मिथ्यात्व किस प्रकार दूर हो वा दुःखी जीवोंका दुःख किस-प्रकार दूर हो इस प्रकार चिंतवन करना अपायविचय धर्मध्यान कहा जाता है । अपने ऊपर दुःख आनेपर उसको कर्मोंका फल मानना और उसे समतापूर्वक सहन करना विपाकविचय धर्मध्यान कहलाता है तथा लोकका स्वरूप अथवा लोकमें भरे हुए समस्त तत्त्वोंका स्वरूप चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है । इन चारों ध्यानोंमें किसी

प्रकारका पाप उत्पन्न नहीं होता और ये चारों ध्यान आत्माके स्वभावसें उत्पन्न होते हैं। इसलिये इनको धर्म्यध्यान कहते हैं। धर्म्यध्यानको धारण करनेवाला पुरुष कभी अन्याय नहीं करता, वह व्रतोंको पालन करता रहता है, सदाचारका पालन करता रहता है सम्यग्दर्शनसे सुशोभित रहता है और इसीलिए वह स्वर्ग वा मोक्षके मार्गमें लगा रहता है। ऐसा पुरुष उत्तम स्वर्गमें ही उत्पन्न होता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका त्यागकर देनेसे वह नरकगति वा तिर्यंचगतिमें उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए वह उत्तम स्वर्गमें ही उत्पन्न होता है।

प्रश्न–कस्य ध्यानस्य कार्येण मोक्षं प्रयाति मानवः ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह मनुष्य किस ध्यानके करनेसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर–शुक्लध्यानी व्रती धीमांश्चरमांगी दयानिधिः।
गतस्पृहः सदानंदो मदमानमलोज्झितः ॥७८॥
निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तः कृपाब्धिः शीलसागरः।
मोक्षपुरीं प्रयात्युच्चैः विश्वतत्त्वविशारदः ॥७९॥

अर्थ–जो पुरुष महाव्रतोंको धारण करता है, जो अत्यन्त बुद्धिमान है, चरमशरीरी है, दयानिधि है, सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित है, सदानन्द स्वरूप हैं, मद मान आदि विकारोंसे सर्वथा रहित है, सब प्रकारके संकल्प विकल्पोंसे रहित है, जो मद रहित है, अत्यंत शान्त है, कृपाका सागर है, शीलसागर है और समस्त तत्त्वोंका जानकार है ऐसा शुक्लध्यान करनेवाला महापुरुष मोक्ष नगरमें जा विराजमान होता है।

भावार्थ—आत्माके शुद्धस्वरूपका चिन्तवन करना शुक्लध्यान है। पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार उसके भेद हैं। इनमेंसे पहलेके दो शुक्लध्यान श्रुतकेवलियोंके होते हैं और अन्तके दोनों ध्यान केवली भगवानके होते हैं। पृथक्त्ववितर्क तीनों योगोंसे होता है, एकत्ववितर्क किसी एक योगसे होता है, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती काययोगसे होता है और व्युपरतक्रियानिवृत्ति किसी योगसे नहीं होता अयोग अवस्थामें होता है। पृथक्त्ववितर्कके चिंतवनमें पदार्थोंका संक्रमण होता रहता है, अर्थात् एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थका चिंतवन करने लगता है, फिर उसको भी छोडकर तीसरेका चिंतवन करता है। इसी प्रकार पदार्थोंके चिंतवनका संक्रमण होता रहता है। इसके सिवाय योग और शब्दोंका संक्रमण भी होता है। मनोयोगसे चिंतवन करते करते वचन योगसे चिंतवन करने लगता है, वचन योगको छोडकर काययोगसे चिंतवन करता है फिर काययोगको छोडकर मनोयोग वा वचनयोगसे चिंतवन करने लगता है इसको योग संक्रमण कहते हैं। किसी पदार्थको एक शब्दसे चिंतवन करते करते दूसरे शब्दसे चिंतवन करने लगता है फिर तीसरे शब्दसे चिंतवन करता है। इस प्रकार व्यंजन संक्रमण करता रहता है। इन सब संक्रमणोंको वीचार कहते हैं। यह वीचार पहले ही शुक्लध्यानमें होता है आगे नहीं। इस प्रकारके इस शुक्लध्यानको धारण करनेवाला महापुरुष मोक्षमें ही जा विराजमान होता है।

प्रश्न—ग्राह्योस्ति कीदृशश्चात्मा बुध्यते केन हेतुना ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब यह बतलाइए कि इस जीवको अपना कैसा आत्मा ग्रहण करना चाहिए और वह आत्मा किस प्रकार जाना जा सकता है?

उत्तर—स्वानन्दधारी भवभीतिहारी, मायानिवारी मदनप्रहारी।

स्वराज्यकारी स्वसुखप्रसारी, सम्पूर्णसाम्राज्यपदाधिकारी ॥८०॥
समस्तसंकल्पविकल्पवैरी, वाद्यन्तमध्यादिविदूरकारी ।
पूर्वोक्तधर्मेण युतश्चिदात्मा, ग्राह्यः स्वसंवेदनतश्च गम्यः ॥८१॥

अर्थ–जो आत्मा अपने आत्मजन्य आनन्दको धारण करनेवाला है, संसारके जन्ममरणरूप भयको हरण करनेवाला है, मायाचारीसे सर्वथा दूर रहनेवाला है, कामदेवको नष्ट करनेवाला है, अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यको धारण करनेवाला है, आत्मजन्य सुखको फैलानेवाला है, मोक्षरूप समस्त साम्राज्यके पदका अधिकारी है, जो समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित है और आदि मध्य अन्तसे रहित है, जो चैतन्यस्वरूप आत्मा इन ऊपर लिखे हुए धर्मोंसे सुशोभित है वही शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है और ऐसा आत्मा अपने स्वसंवेदनसे जाना जाता है।

भावार्थ–इस संसारमें शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। ऊपर जितने गुण लिखे हैं वे सब शुद्ध आत्मामें ही प्राप्त हो सकते हैं । इसलिए शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य हो सकता है। वह शुद्ध आत्मा अमूर्त होता है इसलिए उसका ज्ञान इंद्रियोंसे नहीं हो सकता। उसका ज्ञान स्वसंवेदनसे होता है। स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञानका अंश है और वह सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होता है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, समस्त विकारोंसे रहित हूं और रत्नत्रयस्वरूप हूं, इस प्रकारके आत्माके अनुभवको स्वसंवेदन कहते हैं। इसी स्वसंवेदनसे आत्माका शुद्धस्वरूप जाना जाता है और वही ग्रहण करने योग्य है।

प्रश्न–स्वात्मायं साध्यते केनोपायेन वद मे गुरो ?

अर्थ–हे गुरो! अब कृपाकर यह कहिये कि यह शुद्ध आत्मा किस उपायसे सिद्ध किया जाता है ?

उत्तर–चित्ताक्षवेगं भवबन्धबीजं, संयम्य सन्तोषहरं कषायम् ।
चिन्हेन बुद्ध्वेति चिदन्यवस्तु, स्वस्वस्वभावे हि यथास्थितं च ॥८२॥
स्वात्मात्मना चात्मनि चात्मने वा, ऽऽत्मानं सदालोकनबोधनं यः ।
करोति भव्यश्च स एव शीघ्रं, स्वानन्दसाम्राज्यपदे प्रयाणम् ॥८३॥

अर्थ–जो महापुरुष संसारके कर्मबन्धके कारणभूत इन्द्रिय और मनके वेगको रोक लेता है तथा सन्तोषगुणको नाश करनेवाले कषायोंको दूर कर देता है और फिर अपने-अपने स्वभावमें स्थिर रहने वाले चैतन्यमय जीव पदार्थको तथा अन्य समस्त पदार्थोंको उनके भिन्न चिन्होंसे समझ लेता है। तदनन्तर जो भव्यस्वरूप अपना आत्मा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माके लिए अपने ही आत्माको सदाकाल देखता और जानता है वही महापुरुष भव्यजीव शीघ्र ही अपने शुद्धात्मजन्य अनन्तसुखरूपी साम्राज्यस्थानमें जा विराजमान होता है ।

भावार्थ–यह जीव इंद्रियोंके विषयोंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है तथा कषायोंके निमित्तसे तीव्र कर्मोंका बंध करता है। इस संसारमें इस जीवको डुबानेवाले इंद्रियोंके विषय और कषाय ही हैं। अतएव मोक्ष प्राप्त करनेवाले महापुरुषोंको सबसे पहले इन इन्द्रियोंके विषयोंका तथा कषायोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। तदनन्तर समस्त तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये तथा उनमें जो हेय वा त्याग करने योग्य पदार्थ हैं उनका त्याग कर देना चाहिये, उनसे अपना ममत्व हटा लेना चाहिये और उपादेय स्वरूप अपने शुद्ध आत्माको ग्रहणकर उसीमें लीन होनेका प्रयत्न करना चाहिये तथा अन्त तक उसी शुद्ध आत्माका ध्यानकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये। यही भव्य श्रावकका सबसे मुख्य कर्तव्य है।

प्रश्न—कीदृशोऽस्तीह चात्मायं गुरो मे वद तत्त्वतः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि वास्तवमें आत्माका स्वरूप कैसा है ?

उत्तर—ज्ञाता दृष्टा जगत्साक्षी तत्त्वतो दोषदूरगः ।

स्वपरवस्तुनः स्वात्मा प्रदीपवत्प्रकाशकः ॥८४॥

अर्थ—यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह आत्मा समस्त पदार्थोंको जानने वाला है, समस्त पदार्थोंको देखनेवाला है, तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखने जाननेवाला है, रागादिक समस्त दोषोंसे रहित है और दीपकके समान अपने स्वरूपको तथा पर पदार्थोंको प्रकाशित करने वाला है ।

भावार्थ—यह संसारी जीव कर्मोंके आधीन हो रहा है, उन कर्मोंके आधीन होनेसे ही यह जीव राग द्वेष मोह अज्ञान आदि अनेक दोषोंसे दूषित हो रहा है परंतु जब यह आत्मा उन कर्मोंको नाश कर अपना शुद्ध स्वरूप प्रगट कर लेता है तब वे दोष भी सब नष्ट हो जाते हैं तथा ज्ञानावरणकर्मके नाश होनेसे यह आत्मा अनंतज्ञानी बन जाता है और दर्शनावरण कर्मके अत्यन्त क्षय होनेसे अनंत दर्शन प्रगट हो जाता है । इसी प्रकार अन्य कर्मोंके नाश होनेसे मोहादिक सब दोष नष्ट हो जाते हैं । उस समय यह आत्मा समस्त पदार्थोंका ज्ञाता हो जाता है, समस्त पदार्थोंका दृष्टा हो जाता है, तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष करने वाला हो जाता है. समस्त दोषोंसे रहित हो जाता है और स्वपर प्रकाशक बन जाता है । जिस प्रकार दीपक अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी अपने स्वरूपका भी ज्ञाता दृष्टा हो जाता है और अन्य समस्त पदार्थोंका भी ज्ञाता दृष्टा हो जाता है । यही आत्माका शुद्ध स्वरूप है ।

प्रश्न—को ज्ञेयो ज्ञायकः कोयं दृष्टा दृश्यः प्रभो वद ?

अर्थ-हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें ज्ञेय कौन है, ज्ञायक कौन है, दृष्टा कौन है और दृश्य वा देखने योग्य कौन है ?

उत्तर-ज्ञेयोपि ज्ञायकोप्यात्मा स्वपरबोधनात्सदा ।
दृष्टा दृश्यस्ततः स्वात्माऽन्यवस्तुव्यवहारतः ॥८५॥

अर्थ—यह आत्मा अपने स्वरूपको भी जानता है तथा अन्य समस्त पदार्थोंके स्वरूपको भी जानता है इसलिए यही आत्मा ज्ञेय है, और यही आत्मा ज्ञायक है । इसीप्रकार यह आत्मा अपने स्वरूपको भी देखता है और अन्य पदार्थोंके स्वरूपको भी देखता है इसलिये यही आत्मा दृष्टा कहलाता है और यही आत्मा दृश्य वा देखने योग्य कहलाता है। आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंके लिये यह आत्मा व्यवहारदृष्टिसे ज्ञायक और दृष्टा ही कहलाता है।

भावार्थ-यह आत्मा समस्त पदार्थोंको जानता है तथा देखता है इसलिये ज्ञाता दृष्टा तो है ही, इसमें तो किसी प्रकारका सन्देह ही नहीं है। परंतु यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा देखा जाता है और अपने ही आत्माके द्वारा जाना जाता है इसलिए यही आत्मा ज्ञेय और दृश्य भी माना जाता है। इसके सिवाय अन्य जितने पदार्थ हैं वे सब ज्ञेय और दृश्य ही हैं। ज्ञायक और दृष्टा नहीं हैं।

प्रश्न-सर्वदेवं च मुक्त्वा किं गृह्यते वद मे जिनः ?

अर्थ-हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि भव्य श्रावक लोक अन्य समस्त देवोंको छोड़कर भगवान जिनेन्द्रदेवको ही क्यों ग्रहण करते हैं ?

उत्तर-त्यक्त्वा जिनं सर्वकलंकमुक्तं, सर्वोपि देवोखिलदोषधारी ।
अस्तीह लोके विषयाभिलाषी, तस्यावभावेन विभूषणेन ॥८६॥

निश्चीयते ह्येव सरागतापि, प्रद्वेषता शत्रुविघातनेन ।
ततो प्रमुक्त्वेति किलान्यदेवं, गृह्णाति लोको जिनपं स्वसिद्ध्यै ॥८७॥
इयं प्रसिद्धा प्रबलास्ति रीतिः, यादृग्धनं यस्य भवेत्स्वपार्श्वे ।
तादृग्धनं दीयत एव तेन, गृह्णाति जीवोपि यथाभिलाषः ॥८८॥

अर्थ–भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त दोषरूपी कलंकोंसे रहित हैं। ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवको छोड कर अन्य जितने देव हैं वे सब दोषोंको धारण करनेवाले हैं और सब विषयाभिलाषी हैं। उनके हाव-भाव और आभूषणोंसे उनमें राग होनेका भी निश्चय होता है और शत्रुओंका घात करनेसे उनमें द्वेष होनेका भी निश्चय होता है इसीलिए विचारवान श्रावक अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अन्य समस्त देवोंका त्याग कर देते हैं और भगवान जिनेन्द्रदेवको ग्रहण करते हैं। संसारमें यह प्रसिद्ध और प्रबल रीति है कि जिसके पास जैसा धन होता है वह उसी धनको दूसरोंके लिये दे सकता है तथा ये जीव भी अपनी-अपनी इच्छानुसार ले आते हैं।

भावार्थ–इस संसारमें भगवान जिनेन्द्रदेवको छोडकर बाकीके जितने देव हैं वे सब विषयाभिलाषी हैं और राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे भरपूर हैं। महादेवको देखो तो वे अपने आधे शरीरमें भवानी-पार्वतीको बिठाये हुए हैं और त्रिशूल उनके हाथमें है तथा सवारीके लिए बैल भी उनके पास है। ये सब साधन विषयोंकी अभिलाषा और राग द्वेषको सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार विष्णु भी राधिकाके साथ रहते हैं, चक्र गदा आदि शस्त्रोंको रखते हैं और सवारीको गरुड रखते हैं, ये सब साधन भी विषयोंकी अभिलाषा और द्वेषको सिद्ध करते हैं। ब्रह्मा तिलोत्तमाके वशीभूत हो गया था इसलिये वह भी विषयाभिलाषासे दूर नहीं हो सकता। इनके सिवाय अन्य काली भैरों आदि देव भी मद्य मांस आदि निषिद्ध और

घृणित पदार्थोंको सेवन करनेवाले कहे जाते हैं। इस प्रकार इन सब देवोंके पास विषयोंकी अभिलाषा, राग, द्वेष आदि आत्माके सब विकार उपस्थित हैं। यदि कोई सेवक इनकी सेवा करता है वा आराधना उपासना करता है तो वे देव उस सेवकको सिवाय विषयोंकी अभिलाषाके और राग द्वेषके और कुछ नहीं दे सकते क्योंकि जिसके पास जो होता है वह वही दे सकता है। जिसके पास धन है वह धन दे सकता है और जिसके पास विद्या है वह विद्या दे सकता है। जिसके पास धन नहीं है वह धन कहांसे दे सकता है, जिसके पास विद्या नहीं है वह विद्या वा ज्ञान कहांसे दे सकता है? कभी नहीं दे सकता। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देव अपने सेवकोंको राग, द्वेष वा विषयोंकी अभिलाषा ही दे सकते हैं। यदि उनसे आत्माका निर्विकार, निर्दोष आत्माका शुद्ध स्वरूप मांगा जाय तो वह कैसे और कहांसे दे सकते हैं? क्योंकि वह उनके पास है ही नहीं। वह आत्माका निर्दोष शुद्ध स्वरूप तो भगवान जिनेन्द्र देवके पास है इसलिए आत्माका शुद्धस्वरूप भगवान जिनेंद्रदेव ही दे सकते हैं। आत्माके शुद्धस्वरूपको भगवान जिनेन्द्र देवके सिवाय अन्य कोई देव नहीं दे सकता। इसीलिए जो भव्य जीव अपने आत्माका कल्याण करना चाहते हैं और रागद्वेष आदि विकारोंका त्यागकर मोक्ष प्राप्तकर लेना चाहते हैं वे भव्य जीव अन्य रागी द्वेषी समस्त देवोंको छोडकर वीतराग सर्वज्ञ और सर्वथा निर्दोष ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी ही उपासना करते हैं, ऐसे भव्यजीव अन्य किसी देवकी उपासना कभी नहीं कर सकते। जो जीव रागी द्वेषी हैं और अपने राग द्वेष वा विषयोंको बढाना चाहते हैं ऐसे दीर्घसंसारी जीव ही अन्य रागी द्वेषी वा विषयाभिलाषी देवोंकी उपासना करते हैं इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको अपना आत्मकल्याण करनेके लिए भगवान जिनेन्द्रदेवकी ही उपासना करनी चाहिए।

प्रश्न—त्यक्त्वान्यशास्त्रं च जिनेन्द्रशास्त्रं किं पठ्यते मे कथय प्रभो वै ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि भव्य जीव अन्य समस्त शास्त्रोंको छोडकर भगवान जिनेन्द्रदेवके ही शास्त्रोंको क्यों पढते हैं ?

उत्तर—संसारचक्रस्य विवर्द्धकत्वा-देकान्तपक्षस्य समर्थकत्वात् ।
त्यक्त्वान्यशास्त्रं विधिवद् विचार्य, स्वर्मोक्षसिद्धेर्विधिदर्शकत्वात् ॥८९॥
यथार्थधर्मप्रतिपादकत्वात्, सापेक्षदृष्ट्या नयमानसिद्धः ।
जिनागमोऽस्त्येव च पाठनीयः, स्वर्मोक्षसिद्ध्यै परिणामशुद्ध्यै ॥९०॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके सिवाय अन्य जितने शास्त्र हैं वे सब संसार-चक्रको बढानेवाले हैं और एकान्त-पक्षका समर्थन करनेवाले हैं। भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिको विधिपूर्वक दिखानेवाले हैं, यथार्थ धर्मको प्रतिपादन करनेवाले हैं और अपेक्षापूर्वक प्रमाणनयसे सिद्ध हैं। इसलिए भव्यजीवोंको विधिपूर्वक विचार करके अन्य शास्त्रोंके पठन-पाठनका त्याग कर देना चाहिये और स्वर्ग मोक्षकी सिद्धिके लिये तथा अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेके लिये भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका ही पठन पाठन करना चाहिये।

भावार्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं। जो वीतराग वा रागद्वेषसे रहित होता है वह किसी प्रकारका पक्षपात नहीं कर सकता तथा जो सर्वज्ञ होता है वह भी पदार्थका स्वरूप विपरीत नहीं कह सकता। इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ पुरुष कभी किसी पदार्थका स्वरूप विपरीत वा मिथ्या नहीं कह सकता। इसलिए भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र ही यथार्थ शास्त्र हैं। वे ही पदार्थोंके यथार्थ-स्वरूपको कहनेवाले हैं, वे ही आत्माके यथार्थ-स्वरूपको कहनेवाले हैं और वे ही शास्त्र यथार्थ-मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले हैं। प्रमाण और नयसे सिद्ध होनेवाले शास्त्र भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे ही शास्त्र हैं

इसलिये जीवोंका कल्याण करनेवाले परिणामोंको विशुद्ध करनेवाले, और मोक्ष देनेवाले शास्त्र भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र ही हैं। अन्य भारत रामायण स्मृति आदि जितने शास्त्र हैं वा वेद उपनिषद आदि शास्त्र हैं, वे मोक्षमार्गके यथार्थ स्वरूपको निरूपण नहीं करते। वे शास्त्र सराग अवस्थाका ही प्रतिपादन करते हैं अथवा वेदादिक शास्त्र मांस-भक्षणादिकका उपदेश देते हैं, इसलिये वे शास्त्र जीवोंका कल्याण कभी नहीं कर सकते। उनके पठन-पाठनसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अतएव अपने आत्माका कल्याण करनेवाले भव्य-जीवोंको अन्य समस्त शास्त्रोंके पठन पाठनका त्यागकर भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए जिनशास्त्रोंका ही पठन पाठन करना चाहिये। इन्हींके पठन-पाठनसे जीवोंका कल्याण हो सकता है तथा मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न—सग्रंथलिंगयुक्तं च साधुं त्यक्त्वा विचक्षणः।
निर्ग्रंथलिंगयुक्तं किं वंदते मे वद प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि चतुर पुरुष परिग्रह धारण करनेवाले साधुओंको छोडकर सर्वथा परिग्रह रहित रहनेवाले साधुओंकी वन्दना क्यों करते हैं?

उत्तर—बाह्यादिसंगादिविवर्जकत्वाद्, वस्त्रास्त्रसंस्कारसुदूरकत्वात्।
सदानिरारम्भपदाश्रयत्वात्, स्वानन्दसाम्राज्यसुखे स्थिरत्वात् ॥९१॥
निर्ग्रंथसाधुः सुखदस्ततश्च, प्रपूज्यते नैव सरागसाधुः।
स्वमोक्षमार्गेऽरुचिदर्शकत्वाद्, वस्त्रास्त्रसंगादिसमन्वितत्वात् ॥९२॥

अर्थ—इस संसारमें जो परिग्रह रहित साधु होते हैं वे अंतरंग बहिरंग आदि सब प्रकारके परिग्रहसे रहित होते हैं, वस्त्र, अस्त्र, शस्त्र आदिके संस्कारोंसे बहुत दूर रहते हैं। सदाकाल आरंभ रहित

पदपर ही विराजमान रहते हैं और अपने आत्मजन्य आनंदके साम्राज्यसुखमें सदाकाल स्थिर रहते हैं। इसीलिए वे वीतराग परिग्रह रहित साधु सबके लिये सुख देनेवाले होते हैं और इसी कारण तीनों लोक उनकी पूजा करता है। रागद्वेषको धारण करनेवाला साधु स्वर्ग और मोक्षके मार्गमें सदा अरुचि दिखलाता रहता है और अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र परिग्रह आदि अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले सामानको अपने पास रखता है, इसीलिये सरागी साधुओंकी कोई भी पूजा नहीं करता है।

भावार्थ—पूजा वा वंदना पूज्य पुरुषोंकी की जाती है तथा पूज्यता आत्माकी शुद्धतासे प्राप्त होती है, इस आत्मामें जो अशुद्धता है वह कर्मोंके निमित्तसे होती है तथा कर्मोंका बंधन रागद्वेषसे होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि इस आत्माकी अशुद्धता रागद्वेषसे ही होती है। जिसके रागद्वेष है उसका आत्मा अशुद्ध है और जिसके रागद्वेष नहीं है अर्थात् जो वीतराग है उसका आत्मा शुद्ध है। रागद्वेषके कारण ही यह आत्मा परिग्रहको धारण करता है, रागद्वेषके कारण ही मोह वा ममत्व करता है और रागद्वेषके कारण ही दुःखी होता है। ऐसे रागद्वेषको धारण करनेवाला साधु कभी मोक्षमार्गमें नहीं लग सकता। रागद्वेषके कारण वह निवृत्तिमार्गमें नहीं लग सकता। इसलिये वह मोक्षमार्गसे हटता ही रहता है और इस प्रकार वह अपने आत्म-कल्याणसे बहुत दूर पड जाता है। ऐसा साधु साधारण हीन दीन गृहस्थोंके समान झोंपडी बनाकर रहता है बर्तन भी रखता है और अस्त्र शस्त्र वा वस्त्र भी रखता है। फिर भला वह पूज्य कैसे हो सकता है? वह तो रात दिन पेटके धंधेमें ही लगा रहता है परंतु जो साधु रागद्वेषसे सर्वथा रहित होते हैं, वे वीतराग होनेके कारण न तो किसी प्रकारका परिग्रह रखते हैं, न झोंपडी बनाते हैं और न पेटके धंधेमें लगते हैं। वे तो ध्यान अध्ययन और तपश्चरणमें ही लगे रहते हैं। ध्यान और तपश्चरणके द्वारा वे अपने कर्मोंको नाश करते जाते हैं तथा मन वचन कायको वशमें रखनेके कारण कर्मवन्धनोंको भी रोकते रहते हैं। इसप्रकार वे साधु

अपने आत्माको अत्यंत शुद्ध बनाकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे ही साधु इस संसारमें तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य और वंदना करने योग्य समझे जाते हैं।

प्रश्न—किमस्ति सद्यतित्वं च वद मे केन हेतुना !

अर्थ—हे स्वामिन्! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि यतिपना क्या है और वह किस कारणसे प्राप्त होता है?

उत्तर—स्वर्मोक्षमार्गयतनात्सुखदं यतित्वं,
वाह्यादिसंगमलमोचनतो मुनित्वं।
स्वानन्दसिंधुगमनेन भवेद् ऋषित्व,
मिष्टार्थसाधनत एव च साधुतापि ॥९३॥
मोहात्मभेदकरणात्परमकृतित्वं,
चित्ताक्षसंयमनतो वरसंयमित्वम्।
ब्रह्मव्रतं रमणतोऽस्तिनिजात्मसौख्ये,
नाम्ना न लिंगग्रहणाद् भुवने यतित्वम् ॥९४॥

अर्थ—जो स्वर्ग और मोक्षके मार्गमें सदाकाल प्रयत्न करते रहते हैं वे सुख देनेवाले यति कहलाते हैं, अन्तरंग और वाह्य परिग्रहके मलका सर्वथा त्याग कर देनेसे मुनि कहलाते हैं, अपने शुद्धात्मजन्य महासागरमें गमन करनेसे ऋषि कहलाते हैं, मोक्षरूप अपने इष्टको सिद्ध करनेके कारण साधु कहलाते हैं, मोह और आत्माको भिन्न-भिन्न करनेके कारण परम-कृती कहलाते हैं, मन और इन्द्रियोंको निग्रह

करनेके कारण संयमी कहलाते हैं और ब्रह्मव्रतमें लीन होनेके कारण अपने आत्मजन्य अनन्तसुखमें निमग्न रहते हैं। इस प्रकार अपने-अपने गुणोंसे यति आदि कहलाते हैं, केवल नाम रख लेनेसे अथवा लिंग धारण कर लेनेसे यति आदि नहीं कहलाते।

भावार्थ—ऋषि मुनि यति साधु केवल नामसे वा वेष धारण कर लेनेसे नहीं कहलाते किंतु अपने-अपने कर्तव्योंसे कहलाते हैं। यति शब्दका अर्थ यत्न करनेवाला है। जो मुनि मोक्ष प्राप्त करनेके लिए वा मोक्ष-मार्गमें चलनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते हैं वे ही यति कहलाते हैं। जो अन्तरंग बहिरंग परिग्रहका सर्वथा त्याग करदेते हैं उनको मुनि कहते हैं। आत्माकी अत्यन्त शुद्धताके कारण जिन्हें ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं इसीलिए जो आत्मजन्य सुखके सागरमें रात दिन विहार किया करते हैं उनको ऋषि कहते हैं। जो मोक्षके सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं। जो मोहको नाश कर अपने शुद्ध आत्माको मोहसे सर्वथा भिन्न कर लेते हैं उनको परम कृती कहते हैं। जो इन्द्रिय और मनको पूर्ण रूपसे निग्रह करलेते हैं उनको संयमी कहते हैं तथा जो ब्रह्मचर्य वा आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रमण किया करते हैं वे आत्मसुखी वा अनन्तसुखी कहलाते हैं। इसप्रकार मुनियोंके जो अलग-अलग नाम हैं वे सब अपने अपने कर्तव्यसे वा गुणोंसे हैं। केवल नाम रखनेसे अथवा भेष धारण कर लेनेसे यति वा मुनि नहीं हो सकते अतएव जो अवस्था वा जो पद धारण किया जाय वह यथार्थ कर्त्तव्य और यथार्थ गुणोंसे परिपूर्ण होना चाहिये तभी उसकी शोभा है अन्यथा विडंबनामात्र है।

प्रश्न—यत्संगं प्राप्य चात्मा स्यात्स्वर्गापवर्गसाधकः।
स कोऽस्ति कीदृशो लोके शर्मद मे गुरो वद ?

अर्थ—हे कल्याण करनेवाले गुरो स्वामिन्! जिनके समागम करने मात्रसे यह जीव स्वर्ग मोक्षको

सिद्ध कर लेता है वे कौन-कौन हैं और कैसे हैं ? यही अब बतलानेकी कृपा कीजिये ?

उत्तर—जिनागमो जिनो देवो जिनधर्मः शिवप्रदः।
स्यान्निर्ग्रंथगुरुः पूज्यः, स्तुत्यः संसारतारकः ॥९५॥
निर्दोषो निर्मदः श्रेष्ठः, सर्वक्लेशहरो ध्रुवम्।
तत्संगं प्राप्य चात्मायं प्रयाति शाश्वतं पदम् ॥९६॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव, भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ आगम, भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ धर्म और समस्त परिग्रहसे रहित गुरु ये चारों पदार्थ इस संसारमें मोक्ष देनेवाले हैं, पूज्य हैं, स्तुति करने योग्य हैं, संसारसे पार कर देनेवाले हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं, मदसे रहित हैं, सर्वोत्तम है और समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले हैं। इन्हीं चारों पदार्थोंको समागम करनेसे यह आत्मा मोक्षरूप शाश्वत-पदको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जिनके तीर्थंकर नामकर्मका उदय प्राप्त हो गया है, जिन्होंने घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान प्राप्तकर लिया है और इसीलिए जिनके अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंत-वीर्य ये चारों अनंत-चतुष्टय प्रगट हो गये हैं, जो अष्ट प्रतिहार्य सहित चौंतीस अतिशय सहित समवसरणमें विराजमान हैं और अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा धर्मोपदेश देकर अनेक भव्य-जीवोंका कल्याण करते हैं उनको देव वा भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं। वे भगवान जिनेन्द्रदेव अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा जो तत्त्वोंका यथार्थ निरूपण करते हैं वा आत्म-कल्याणका मार्ग दिखलाते हैं वह सब जिनागम कहलाता है। अथवा उसी दिव्य-ध्वनिके उपदेशको गणधर परमदेव जो अंगपूर्वरूप रचना करते हैं और उस रचनाके अनुसार जो आचार्यादिक शास्त्र रचना करते हैं वह सब जिनागम कहलाता है तथा उन्हीं

भगवान जिनेन्द्रदेवने जो अहिंसामय धर्मका स्वरूप कहा है जिसमें पांचों पापोंका त्याग बतलाया है, गुप्ति और समितियोंका स्वरूप बतलाया है, दश धर्मोंका स्वरूप बतलाया है और तपश्चरण चारित्र वा ध्यानका स्वरूप बतलाया है तथा जो परम्परा वा साक्षात् मोक्षका कारण है उसको जिनधर्म कहते हैं। उस पूर्णधर्मको धारण करनेवाले जो निर्ग्रंथ साधु हैं, जो विषय कषायोंसे सर्वथा रहित हैं, आरंभ परिग्रहसे सर्वथा रहित हैं और जो ध्यान, अध्ययन वा तपश्चरणमें लगे रहते हैं ऐसे वीतराग साधुओं को वा आचार्य उपाध्यायोंको गुरु कहते हैं। इस संसारमें आत्माका कल्याण और मोक्षकी प्राप्ति इन्हींसे होती है। संसारमें ये ही तरणतारण हैं, जन्ममरणरूप संसारके समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले हैं और राग द्वेषादिक समस्त दोषोंसे रहित हैं और सर्वश्रेष्ठ हैं इसलिए हे आत्मन् ! तू इन्हींकी शरण ग्रहणकर, इन्हींकी सेवा वा पूजाकर, इन्हींका स्मरणकर, जपकर और ध्यानकर। ऐसा करनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होगी।

प्रश्न— संवरः निर्जरा मोक्षः कस्य जीवस्य जायते ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि संवर निर्जरा और मोक्ष किस जीवको प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—त्यक्त्वाऽशुभं व्यथामूलं संसारचक्रमूलकान्।
मिथ्यात्वद्वेषरागादिभावकर्मप्रपंचतः ॥९७॥
वा ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मणो मोक्षरोधिनः।
सदाभिन्नोस्मि देहादि नोकर्मजालतो ध्रुवम् ॥९८॥
एवं हि चिन्तयन् धीरस्तिष्ठति कामदे शुभे।

चिदानन्दपदं शुद्धं यावन्न लभते भुवि ॥९९॥
तत्त्वतस्तस्य जीवस्य संवरो निर्जरा तथा।
सर्वकर्मविनिर्मुक्तो मोक्षोपि सहजायते॥१००॥

अर्थ—जो महापुरुष सबमें पहले समस्त दुःखोंके कारण ऐसे अशुभ परिणामोंका वा अशुभ कार्योंका त्याग कर देता है। तदनन्तर जो धीरवीर यह चिंतवन करता है कि मैं इस संसारचक्रके मूल कारण ऐसे मिथ्यात्व द्वेष राग आदि भावकर्मोंके समूहसे सर्वथा भिन्न हूं, मोक्ष प्राप्तिको रोकनेवाले ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंसे सर्वथा भिन्न हूं और शरीर आदि नोकर्मोंके समूहसे सर्वथा भिन्न हूं। इसप्रकार चिंतवन करता हुआ जो धीरवीर पुरुष जब तक शुद्ध चिदानन्द स्वरूप मोक्षपद प्राप्त न हो जाय तब तक समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले शुभ वा शुद्ध परिणामोंमें ठहरता है उसी महा पुरुषके यथार्थ रीतिसे संवर होता है, यथार्थ रीतिसे निर्जरा होती है और अन्तमें समस्त कर्मोंसे रहित मोक्षपद प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—मिथ्यात्व अव्रत कषाय योग प्रमाद आदि सब कर्मोंके आनेके कारण हैं। कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं और आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। यह संवर गुप्तियोंके पालन करनेसे, समितियोंके पालन करनेसे, दश धर्मोंके पालन करनेसे, बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करनेसे, बाईस परिषहोंको जीतनेसे और चारित्रको पालन करनेसे होता है। जो पुरुष मिथ्यात्व अव्रत कषाय प्रमाद और योगका सर्वथा त्याग कर देता है और गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परिषहजय और चारित्रको धारण करता है उसके संवर अवश्य होता है। संवर होनेपर जो कर्मोंका नाश होता रहता है उसको निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा तपश्चरणसे होती है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदिके साथ-साथ जो तपश्चरण किया जाता है उससे संवरके साथ-साथ निर्जरा होती है। तदनन्तर ध्यानके द्वारा जो शेष

समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रकट होकर यह आत्मा सिद्ध अवस्थामें जा विराजमान हो जाता है उसको मोक्ष कहते हैं। जिस महा पुरुषको संवर और निर्जरा होती है उसको मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। क्योंकि संवरके होनेसे कर्मोंका बन्धन रुक जाता है, आगे नवीन कर्म नहीं आते तथा निर्जराके होनेसे कर्म नष्ट होते रहते हैं। इसप्रकार संवर और निर्जराको धारण करनेवाला महापुरुष ध्यानके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

इति श्रीआचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचिते शान्तिसिन्धुग्रन्थे हितोपदेशवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः समाप्तः।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु ग्रन्थमें 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दीभाषाटीकामें यह आत्माके कल्याणका उपदेश देनेवाला पहला अधिकार समाप्त हुआ।

दूसरा अध्याय

अथ जिनागमरहस्यं प्रतिपाद्यते–

अब आगे जिनागम रहस्य नामका दूसरा अधिकार प्रारम्भ करते हैं।

मिथ्यात्वमूढस्य परात्मबुद्धेः, स्वमोक्षमार्गादिनिषेधकस्य।
स्वच्छन्दवृत्तेः सुखशान्तिहर्त्र्याः, प्रचारकस्यैव पशुक्रियायाः ॥१०१॥

कलंककीर्तेर्विषयान्धजन्तो, स्तृष्णाग्निदग्धस्य च पापमूर्तेः ।
गाढातिगाढोऽचिरभेद्यएवा-स्त्रवच्च बन्धोपि भवेद् व्यथादः ॥१०२॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयसे अत्यन्त मूढ हो रहा है, जिसकी बुद्धि पर पदार्थमय हो रही है, जो स्वर्ग और मोक्षके मार्गका सदा निषेध करता रहता है, जिसकी प्रवृत्ति सदा स्वतंत्र रहती है, जो सुख और शांतिको हरण करनेवाली पशुओंके समान क्रियाओंका प्रचार करता रहता है, जिसकी कीर्ति कलंकरूप है, जो विषयोंसे अन्धा हो रहा है, तृष्णारूपी अग्निसे जल रहा है और जो पापकी मूर्ति है उसका गाढसे गाढ कर्मोंका बन्ध अथवा अत्यन्त शीघ्र नष्ट होनेवाला कर्मोंका बंध अस्त्र शस्त्रके समान दुःख देनेवाला ही होता है।

भावार्थ—यों तो कर्मोंका बंध सब ही दुःख देनेवाला होता है परन्तु मिथ्यात्वके निमित्तसे होने-वाले कर्मोंका बंध अत्यन्त दुःख देनेवाला होता है। जिसप्रकार अस्त्र-शस्त्र चाहे चिरकाल टिकनेवाले हों और चाहे शीघ्र ही नष्ट होनेवाले हों, परन्तु उन दोनोंका घात महा दुःख देनेवाला होता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा तीव्र कर्मोंका ही बंध करता है, वह मोक्षमार्गका निषेध करता हुआ महा पाप उत्पन्न करता है, पशुओंके समान अनेक निंदनीय क्रियाओंको करता हुआ महापाप उत्पन्न करता है, समस्त इंद्रियोंके विषयोंमें तल्लीन होकर अंधा बन जाता है और महापाप उत्पन्न करता रहता है। तृष्णारूपी अग्निमें जलता हुआ महापाप उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार वह मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा-काल अनेक प्रकारके महापाप उत्पन्न करता रहता है। इन पापोंके कारण वह सदाकाल तीव्र और गाढसे गाढ महा अशुभ कर्मोंका बंध करता रहता है और उन कर्मोंके उदय होनेपर नरक निगोदके महादुःख भोगता रहता है। इस प्रकार वह घोर पापोंका ही बंध करता है तथापि कभी-कभी उस मिथ्यात्वकी मंदता होनेपर अल्प स्थितिको धारण करनेवाला कर्मबंध भी कर लेता है। वह मिथ्यादृष्टि पुरुष जो

तीव्र कर्मोंका बंध करता है वह तो महा दुःखदायी होता ही है परंतु वह मिथ्यादृष्टि जो अल्पस्थितिवाला कर्मबंध करता है वह भी महादुःखदायी होता है। छुरी अत्यंत छोटी होती है वा बंदूककी गोली अत्यंत छोटी होती है अथवा विष बहुत थोडा होता है तथापि वह प्राणोंको हरण करता ही है, इससे यह सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टिका बंध कैसा ही हो वह दुःखदायी ही होता है। यही समझकर समस्त भव्य जीवोंको सबसे पहले इस मिथ्यात्वकर्मका नाश करना चाहिए। मिथ्यात्वकर्मका नाश हो जानेसे सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो जाता है, सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होनेसे आत्मज्ञान हो जाता है तथा स्वपर-भेदविज्ञान प्रगट हो जाता है। इन दोनोंके प्रगट होनेसे वह कषायादिक परपदार्थोंका त्याग कर देता है और आत्मामें लीन होकर अपने आत्माको शुद्ध पवित्र बना लेता है। इस प्रकार वह मिथ्यात्वकर्मके नाश होनेसे वह आत्मा शीघ्र ही समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही आत्माका कल्याण है।

प्रश्न—निर्बन्धो वा सबन्धः कः कर्मणा मुच्यते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलाइये कि कर्मोंके बन्धनोंसे बन्धा हुआ जीव कर्मोंसे मुक्त होता है अथवा कर्मोंके बन्धनोंसे रहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है। इन दोनोंमेंसे कौनसा आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है ?

उत्तर—यः कोपि बद्धः स च मुच्यते हि, दुःखप्रदात्कर्मकलंकजालात् ।
निर्बन्धजीवो न च मुच्यते कौ, यो मन्यते मूर्खशिरोमणिः सः ॥१०३॥
रागादिभावेन भवप्रदेन, नोकर्मणा द्रव्यमलेन बद्धः ।
स मुच्यते प्राप्य विधिं च तेन, नो चेद् वृथा मोक्षविधेर्विधानम् ॥१०४॥

अर्थ—इस संसारमें जो जीव महादुःख देनेवाले कर्मरूपी कलंकके जालसे बंधा हुआ है वही जीव उस कर्मरूपी जालसे मुक्त हो सकता है। जो जीव बन्धा ही नहीं वह भला किससे मुक्त होगा अर्थात् जो बन्धा हुआ नहीं है वह मुक्त नहीं हो सकता। जो लोग बन्ध रहित जीवको भी मुक्त होना मानते हैं वे अज्ञानी हैं वा अज्ञानियोंमें भी मुख्य हैं। जो जीव जन्म मरणरूप संसारको बढानेवाले रागादिक भावोंसे बन्धे हुए हैं वा ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मोंसे बन्धे हुए हैं अथवा शरीरादिक नो कर्मोंसे बन्धे हुए हैं वे ही विधिपुर्वक उन कर्मोंको नाशकर उनसे मुक्त हो सकते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो मोक्षको मानना अथवा मोक्ष प्राप्त करनके उपायोंको मानना सर्व व्यर्थ मानना पडेगा।

भावार्थ—मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना है। छूटता वही है जो बंधा होता है। जो बंधा हुआ नहीं है वह छूटा ही है उसका फिर छूटना क्या? यदि छूटा हुआ वा मुक्त जीव भी फिरसे मुक्त होता है तो फिरसे मुक्त हुआ जीव भी फिर मुक्त होना चाहिये और वह भी फिर मुक्त होना चाहिये। इस प्रकार मुक्त होनेसे भी उसको कभी विश्रांति नहीं मिल सकती, इसको अनवस्था दोष कहते हैं। दूसरी बात यह है कि यह जीव अनादिकालसे कर्मोंसे बंध रहा है और इस संसारमें अनंत दुःख भोग रहा है। ऐसे ही जीवके लिये उस दुःखसे छूटने और मोक्षमें प्राप्त होनेवाले अनंत सुख प्राप्त करनेके लिये रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गका निरूपण किया है। वह रत्नत्रय रूप मोक्षका मार्ग कर्मबंधनोंके कारणोंसे सर्वथा भिन्न है। कर्मोंका बंधन रागादिक विकार भावोंसे होते हैं और मोक्षकी प्राप्ति रागादिक रहित निर्विकार भावोंसे होती है। यदि बंधरहित मुक्त जीवको भी मुक्त होना मान लिया जायगा तो फिर मुक्तहोनेकी यह सब व्यवस्था व्यर्थ ही माननी पडेगी। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जो जीव कर्मबंधसे सर्वथा रहित है वह अत्यंत शुद्ध है तथा शुद्ध होनेके कारण वह रागद्वेषसे भी सर्वथा रहित है और रागद्वेषसे सर्वथा रहित होनेके कारण न तो वह कर्मोंका बंध कर सकता है और न मुक्त हो सकता है। इस प्रकार

बंधरहित जीवका मुक्त मानना सवथा असंभव है। इन सब बातोंसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि बंधनबद्ध ही जीव मुक्त होता है कर्मबंध रहित जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता।

प्रश्न—अनादिबद्धो जीवोयं मुच्यते कर्मणा कथम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि अनादिकालसे बंधा हुआ यह जीव कर्मोंसे कैसे मुक्त हो जाता है ?

उत्तर—यः कर्मबद्धोस्ति स बद्ध एव न मुच्यते कार्यशते कृतेपि।
एवं हठान्मन्यत एव कोपि प्रगण्यते धूर्ततरः स मूढः ॥१०५॥
विधिं च लब्ध्वा खनिजातरुक्मं यथा विशेषेण विशुद्ध्यते हि।
निसर्गसिद्धं जननस्वभावं यथा सुदग्धं त्यजतीह बीजम् ॥१०६॥
योऽनादिबद्धोपि तथा हि जीवः त्यक्त्वा प्रमोहं सुगुरुं च लब्ध्वा।
ध्यानाग्निना कर्मचयं सुदग्ध्वा यात्येव मोक्षं सुखदं सदैव ॥१०७॥

अर्थ—कोई कोई लोग ऐसा मानते हैं कि जो जीव कर्मोंसे बंधा है वह सदाकाल बंधा ही रहता है। कर्मोंसे बंधा हुआ जीव सैकडों कार्य वा उपाय करनेपर भी उन कर्मोंसे कभी नहीं छूट सकता। इस प्रकार बहुतसे जीव मानते हैं, परंतु ऐसे लोग अत्यंत धूर्त और अज्ञानी ही समझे जाते हैं। देखो! जिस प्रकार खानमेंसे मिट्टी मिला सोना निकलता है परंतु वही मिट्टी मिला सोना विधिपूर्वक गलानेसे अत्यंत शुद्ध हो जाता है तथा बीजमें उत्पन्न होनेकी शक्ति स्वाभाविक होती है परंतु उस बीजके जल जानेपर वा भुन जानेपर वह उत्पन्न होनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार अनादिकालसे कर्मों द्वारा

बंधा हुआ जीव भी अपने निर्ग्रंथ श्रेष्ठ गुरुको पाकर मोहका त्याग कर देता है और ध्यानरूपी अग्निसे समस्त कर्मोंको जलाकर सदाकालके लिए सुख देनेवाले मोक्षमें जाकर विराजमान हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार खानमें मिट्टी मिला सोना अनादिकालसे मिट्टी मिला हुआ है तथापि प्रयत्न करनेसे गलाने तपानेसे उसकी मिट्टी अलग हो जाती है और सोना अत्यंत शुद्ध हो जाता है इसी प्रकार यह जीव भी यद्यपि अनादिकालसे कर्मोंसे बंध रहा है, अनादिकालसे उसके साथ रागद्वेष लग रहे हैं और अनादिकालसे ही उन रागद्वेषके कारण कर्मोंका बंधन करता चलता आ रहा है तथापि जब यह जीव श्रेष्ठ गुरुओंका समागम पाकर रागद्वेषका त्याग कर देता है और तपश्चरण व ध्यानके द्वारा अनुक्रमसे समस्त कर्मोंको नष्ट कर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेसे वह आत्मा अत्यंत शुद्ध हो जाता है। शुद्ध हो जानेके कारण राग द्वेष आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा विकारोंका अभाव हो जानेसे फिर यह आत्मा कर्मोंका बंधन कभी नहीं कर सकता। जिस प्रकार बीजके जल जानेसे वा भुन जानेसे फिर उसमें उत्पन्न होनेकी शक्ति नहीं रहती इसी प्रकार आत्माके शुद्ध हो जानेसे तथा रागद्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेसे फिर उस आत्मामें कर्म बंधन होनेकी शक्ति नहीं रहती। कर्म मूर्त हैं इसलिए कर्मविशिष्ट आत्मा ही उन कर्मोंका बंध कर सकता है। जो आत्मा कर्मरहित अमूर्त हो जाता है वह कर्मोंका बंध कभी नहीं कर सकता। इन सब बातोंसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि कर्मबद्ध आत्मा भी तपश्चरण व ध्यानके द्वारा उन कर्मोंको नष्ट कर मुक्त हो सकता है और मुक्त होनेपर फिर कभी भी कर्मबद्ध नहीं होता। इसलिए "कर्मबद्ध आत्मा कभी मुक्त नहीं होता" ऐसा जो मानते हैं वे सर्वथा भूलते हैं।

प्रश्न—त्यज्यते पापमेवं कौ पुण्यमपि न मे मतिः ?

अर्थ—हे भगवन्! मैं तो यह समझता हूं कि इस संसारमें इस प्रकारके लोग पापका त्याग तो कर देते हैं परंतु पुण्यका त्याग कोई नहीं करता। क्या यह बात सत्य है?

उत्तर—तीव्रचारित्रमोहादिकर्मोदयवशाद् यदि।
सर्वसंगपरित्यागं कर्तुं शक्तो भवेन्न चेत् ॥१०८॥
तर्ह्यवश्यं सदा निंद्यं साम्राज्यसौख्यनाशकम्।
अवस्करमिव त्यक्त्वा सेव्यं पापं नराधमैः ॥१०९॥
पुण्यकार्ये प्रवृत्तिश्च कुर्याद् वांछितदे सदा।
आत्मशक्तिर्विशिष्टा स्याद् यदा स्वानन्दशोधिनी ॥११०॥
तदा पापसमं पुण्यं मत्वा तत्त्वात्स्वघातकम्।
यतिनिंद्यं जवात्त्यक्त्वा चित्ताक्षतृप्तिकारकम् ॥१११॥
चिदानंदपदं शुद्धं निराकारं निरामयम्।
निर्द्वंद्वं हि क्रमाद् ध्यायन् मोक्षं यात्येव धीधनः ॥११२॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे यदि यह जीव अंतरंग बहिरंग समस्त परिग्रहोंका त्याग नहीं कर सकता तब यह जीव आत्मजन्य अनंतसुखको नाश करनेवाले नीच मनुष्योंके द्वारा सेवन करने योग्य और अत्यंत निंद्य ऐसे पापोंको विष्ठाके समान त्याग कर देता है तथा इच्छानुसार फल देनेवाले पुण्यकार्यमें अपनी प्रवृत्ति करता रहता है, परंतु ऐसा करते-करते जब इस आत्माकी अपनी शक्ति विशेष बढ जाती है और अपने आत्मजन्य अनंत सुखकी खोज करनेमें लग जाती है तब यही

आत्मा पुण्यको भी पापोंके समान ही अपने आत्माका घात करनेवाला समझता है। यद्यपि वह बुद्धिमान् आत्मा उस पुण्यको इंद्रिय और मनको तृप्त करनेवाला समझता है तथापि उसको यतियोंके द्वारा निंदनीय भी समझता है। इसलिए वह शीघ्र ही उस पुण्यका त्याग कर देता है और अत्यंत शुद्ध, निराकार, निरामय, निर्द्वंद्व ऐसे अपने चिदानन्द-पदको अनुक्रमसे चिन्तवन करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—अनादिकालसे यह आत्मा कर्मोंके बंधनसे बंधा हुआ है। जब कभी काललब्धिके निमित्तसे इस जीवके कर्मोंका उदय अत्यंत मंद होता है और दर्शनमोहनीय कर्मका तथा अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभका उपशम क्षयोपशम वा क्षय हो जाता है तब इस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनके प्रगट हो जानेसे इस जीवको अपने आत्माका स्वरूप प्रगट हो जाता है। आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जानेसे यह जीव आत्माके शुद्ध स्वरूपको और उसके रत्नत्रयादिक गुणोंको अपना समझने लगता है और रागादिक परिणामोंको वा शरीरादिकको अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न समझने लगता है। तदनन्तर उस जीवके ज्यों ज्यों चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम वा क्षयोपशम होता जाता है त्यों त्यों यह जीव पाप कार्योंका त्याग करता जाता है और जिनपूजन पात्रदान आदि पुण्य कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करने लगता है। उस समय वह पापोंको विष्ठाके समान अत्यन्त निंद्य और सर्वथा त्याग करने योग्य समझता है और पुण्य कार्योंको उपादेय समझता है। जब तक उसके चारित्रमोहनीयका मन्द उदय बना रहता है तब तक वह पुण्यका त्याग नहीं कर सकता, परन्तु जब उसके चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम वा क्षय हो जाता है तब वही आत्मा पुण्य कार्यको भी हेय समझने लगता है, फिर वह समझने लगता है कि जिस प्रकार पापकर्म आत्माको बन्धनमें डालनेवाले हैं उसी प्रकार पुण्य कर्म भी आत्माको बन्धनमें डालनेवाले हैं। इन पाप और पुण्यमें केवल लोहे और सोनेके

समान अन्तर है। पापका उदय लोहेकी बेडीके समान आत्माको निन्दनीय बनाकर बन्धनमें डालता है और पुण्यका उदय सोनेकी बेडीके समान आदर सत्कारके साथ बन्धनमें डालता है। आत्माको बन्धनमें डालनेवाले दोनों हैं। इस प्रकार समझकर वह आत्मा अपने आत्माके शुद्ध-स्वरूपको प्रगट करनेमें लग जाता है। उस समय वह अपने आत्माके स्वरूपको निराकार समझने लगता है, निरामय अर्थात् रोगादिक समस्त विकारोंसे रहित समझने लगता है, निर्द्वन्द्व अर्थात् समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित समझने लगता है और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप तथा अनन्त-सुखमय समझने लगता है। इस प्रकार समझकर वह शुद्ध आत्मा उसी अपने शुद्ध चिदानन्दमय, निराकार आत्माका ध्यान करने लगता है। इस प्रकार ध्यान करता हुआ वह आत्मा पहले तो घातिया कर्मोंको नष्ट करता है फिर अन्तमें समस्त कर्मोंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करनेके लिए यह जीव पुण्य पाप दोनोंका त्याग कर देता है। क्योंकि दोनोंके त्याग कर देनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—स्वात्मविमुखजन्तोश्च किं चिन्हं विद्यते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि अपने आत्मासे विमुख रहनेवाले जीवके क्या क्या चिन्ह मिलते हैं ?

उत्तर—पंचाक्षपोषणरतः खलकामदग्धो,
धर्मार्थमोक्षविमुखः परवस्तुमग्नः।
स्वाचारसौख्यचलितोऽखिलपापपिण्डो,
दुर्मार्गपक्षपरिपोषणधीरवीरः ॥ ११३ ॥
सत्यार्थपक्षपरिपालनशक्तिहीनः,

स्वमोक्षमार्गपरिरोधनदत्तचित्तः ।
पूर्वोक्त दोषसहितो हतधर्मकर्मा,
प्रोक्तः खलः परमुखी स च रंध्रगामी ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो पुरुष पांचों इन्द्रियोंके पालन पोषण करनेमें तल्लीन रहता है, जो दुष्ट कामदेवसे सदा जलता रहता है, धर्म अर्थ और मोक्ष पुरुषार्थसे सदा विमुख रहता है, आत्मासे सर्वथा भिन्न रहनेवाले पुद्गलादिक पदार्थोंमें ही निमग्न रहता है, अपने आत्मामें लीन रहनेरूप सुखसे सदा चलायमान रहता है, जो समस्त पापोंका पिंड कहलाता है, जो कुमार्गके पक्षको पुष्ट करनेके लिये सदा धीर-वीर रहता है, यथार्थ पक्षको पालन करनेके लिये जो अपनेको शक्ति हीन बतलाता है और जो स्वर्ग मोक्षके मार्गको रोकनेमें सदा सावधान रहता है। इस प्रकार जिसमें ऊपर लिखे सब दोष विद्यमान हैं और जो धर्म कर्मसे सर्वथा रहित है ऐसा दुष्ट पुरुष अपने आत्माके स्वरूपसे सदा विमुख रहनेवाला अथवा शरीरादिक वा पुद्गलादिक पर पदार्थोंमें मग्न रहनेवाला परमुखी कहलाता है। ऐसा पुरुष अवश्य ही नरकगामी होता है।

भावार्थ—जो जीव अपने आत्मासे विमुख रहता है, शरीरादिक पर पदार्थोंके पालन पोषणमें ही लगा रहता है वह पुरुष पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें ही लगा रहता है। उसके हृदयमें सदाकाल इन्द्रियोंको तृप्त रखनेकी लोलुपता ही बनी रहती है, उसके हृदयमें कामदेवकी अग्नि सदा जलती रहती है, वह धार्मिक क्रियाओंसे भी सदा परान्मुख रहता है और मोक्षके मार्गसे भी सदा परान्मुख रहता है, ऐसा जीव मकान वस्त्र आभूषण आदि पर पदार्थोंमें ही निमग्न रहता है और सदाकाल धनादिकका लोलुपी बना रहता है। ऐसा जीव अपने सदाचारके सुखसे दूर रहता है, सब प्रकारके पापोंको करता रहता है,

सदाकाल कुमार्गके पक्षकी ही पुष्टि किया करता है। यथार्थ और सत्य बातके लिये वह शक्तिहीन बन जाता है तथा स्वर्ग मोक्षके कारणोंमें वा धर्मकार्योंमें सदा विघ्न किया करता है। इस प्रकार आत्मासे विमुख रहनेवालेके चिन्ह बतलाये हैं। ऐसे पुरुष नरकगामी ही होते हैं।

प्रश्न—स्वात्मसन्मुखजन्तोः किं चिन्हं स्यान्मे प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो जीव आत्माके स्वरूपके सन्मुख रहता है उसके क्या-क्या चिन्ह हैं ?

उत्तर—चिदानन्दपदे शुद्धे संसारक्लेशवर्जिते ।
निराबाधे निराकारे निर्विकारे निरामये ॥११५॥
पूर्वोक्तगुणयुक्ते यो लीनः स्वात्मनि शाश्वते ।
स एव मोक्षगामीति सुख्येव सौख्यदायकः ॥११६॥

अर्थ—यह अपना शुद्ध आत्मा यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो अत्यंत शुद्ध है, चिदानन्द पदपर विराजमान है, संसारके समस्त क्लेशोंसे रहित है, समस्त बाधाओंसे रहित है, निराकार है, समस्त विकारोंसे रहित है, समस्त रोगोंसे रहित है और सदा इसी प्रकार शुद्ध अवस्थामें रहनेवाला है। ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप आत्मामें जो सदाकाल लीन रहता है तथा जो सदा अनंत सुखी रहता है और समस्त जीवोंको सुख देनेवाला है ऐसा जीव अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होता है।

भावार्थ—जो जीव अपने आत्माके सन्मुख है अर्थात् परपदार्थोंका संबंध छोडकर वा उनसे ममत्व छोडकर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है वह महापुरुष संसारके समस्त क्लेशोंसे

रहित होकर अनंत सुखमें मग्न हो जाता है तथा समस्त जीवोंको सुख देनेवाला होता है वा सुखका कारण होता है और ऐसा जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न–शीतवर्षादिकाले किं दानधर्मधनार्जनम्।
समरूपेण कार्यं वा न्यूनाधिकैर्गुरो वद ?

अर्थ–हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि शीतकालमें वा ग्रीष्मकालमें और वर्षाकालमें गृहस्थ श्रावकोंको दान धर्म और धनका उपार्जन समान रीतिसे करना चाहिये अथवा कुछ हीनाधिक रीतिसे करना चाहिये ?

उत्तर–मुख्यरीत्याष्टमासे हि कार्यं धनार्जनादिकम्।
ब्रतोपवासयोगादि गौणरीत्यैव धार्मिकैः ॥११७॥
गौणरीत्या चतुर्मासे कार्यं धनार्जनं तथा।
स्वानन्दस्वादकाः सन्तः सन्ति यत्रात्मदर्शकाः।
तत्र गत्वार्चनं दानं कार्यं प्रश्नोत्तरादिकम्।
यथाशक्ति तपोध्यानं स्वात्मा स्याद्विमलो यतः ॥११९॥
पूर्वोक्तरीतिं प्रविहाय मूर्खः स्वच्छन्दरीत्या भुवि केवलं यः।
धनार्जनं ह्येव करोति नित्यं स एव पापी पशुतः पशुश्च ॥१२०॥

अर्थ–धर्मात्मा श्रावकोंको शीत ऋतु और ग्रीष्म ऋतु इन आठ महीनोंमें तो मुख्य रीतिसे धन कमाना चाहिए तथा गौण रीतिसे व्रत उपवास योग ध्यान आदि धार्मिक कार्य करने चाहिए, परन्तु

चातुर्मासमें धन कमानेका काम गौण रीतिसे करना चाहिए तथा जहांपर अपने आत्मजन्य आनन्दका स्वाद लेनेवाले और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको अनुभव करनेवाले साधु महात्मा हों वहां जाकर उनकी पूजा करनी चाहिए, दान देना चाहिए और उनसे आत्माका स्वरूप वा तत्त्वोंका स्वरूप पुछना चाहिए तथा अपनी शक्तिके अनुसार तप और ध्यान करना चाहिए। जिससे कि यह अपना आत्मा अत्यन्त निर्मल हो जाय। जो अज्ञानी जीव इस कही हुई रीतिको छोडकर स्वतंत्र होकर केवल धन ही कमानेमें लगे रहते हैं वे मनुष्य पापी हैं और पशुओंसे भी निकृष्ट पशु हैं।

भावार्थ—मगसिर (अगहन) पौष, माघ, फाल्गुन ये चार महीने शीत ऋतुके कहलाते हैं। चैत्र, वैसाख, ज्येष्ठ, आषाढ ये चार महीने ग्रीष्म ऋतु वा गर्मीके कहलाते हैं। श्रावण, भादों, आश्विन, कार्तिक ये चार महीने वर्षा ऋतुके कहलाते हैं। वर्षा ऋतुमें पानी बरसनेके कारण अनेक प्रकारके स्थावर और अनेक प्रकारके त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। यद्यपि कभी-कभी आषाढमें भी पानी बरस जाता है परन्तु जीवोंकी उत्पत्ति प्रायः श्रावणसे ही होती है इसीलिए श्रावणसे लेकर कार्तिक तक वर्षायोग धारण करनेके दिन कहे जाते हैं अर्थात् इन दिनों मुनिराज वा क्षुल्लक ऐलक किसी एक ही स्थानमें रहते हैं। चातुर्माससे पहले ही वे अपने धर्म-ध्यानका सुभीता देख लेते हैं और फिर वर्षायोग धारण करते हैं। एक स्थानपर वर्षायोग धारण करनेसे वहांके श्रावकोंको तथा समीपवर्ती अन्य देशके श्रावकोंको धर्मोपदेश सुननेका, वैयावृत्य करनेका तथा आहार दान देने वा आत्मकल्याण पूछनेका बहुत सुभीता रहता है। इन दिनों प्रायः व्यापार भी कम हो जाता है तथा सर्वोत्तम दशलाक्षणिक पर्व भी इन्हीं चातुर्मासके मध्य भागमें आ पडता है इसलिए श्रावकोंका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इन दिनों आठ महीनेकी की हुई कमाईको सार्थक करें। इन दिनों प्रायः श्रावकोंको मुनिराजकी सेवामें ही अपना समय व्यतीत करना चाहिए। मुनिराजके समागमसे आत्माका कल्याण बहुत शीघ्र होता है।

तत्त्वज्ञान बढता है और व्रत उपवासको धारण कर वा जप तपके द्वारा यह आत्मा अपना कल्याण कर लेता है इसलिए चातुर्मासके दिनोंमें श्रावकोंको प्रायः ऐसे ही स्थानोंमें रहना चाहिए जहां किसी मुनिराजने वर्षायोग धारण किया हो। ऐसा करनेसे उनका व्यापार आदि जीविकाके साधन अपने आप कम हो जाते हैं। चातुर्मासके सिवाय शेष आठ महीनोंमें मुनिराज भी विहार किया करते हैं इसलिए श्रावकोंको उनके साथ रहनेमें कठिनता भी होती है और फिर जीविकाका साधन भी करना पडता है इसलिए आठ महीने व्यापार आदि जीविकाके साधनमें लगे रहना चाहिए। यदि इन दिनोंमें भी कोई मुनिराज वा अन्य त्यागीवर्ग अपने स्थानपर आवें तो फिर उनकी सेवामें लग जाना चाहिए और जितनी बन सके उतनी उनकी भक्ति-सेवा करनी चाहिए। यही श्रावकोंका कर्त्तव्य है। केवल खाने पीनेके काममें वा कमानेके काममें बारहों महीने लगे रहना मनुष्योंका कर्त्तव्य नहीं है।

प्रश्न—सन्ताडिताश्च सततं खलभूतवर्गैः
ध्यानाच्चलन्ति न चला वरसाधुवर्गाः?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि दुष्ट लोग वा भूत पिशाच आदि व्यंतर देव जब किसी उत्तम साधुको दुःख देते हैं, ताडन करते हैं वा मारते हैं तो उस समय वे साधु अपने ध्यानसे चलायमान हो जाते हैं वा नहीं?

उत्तर—सन्तोषशांतिजनका ननु संगमुक्ता
स्वर्मोक्षमार्गनिरता विषयाद्विरक्ताः।
स्याद्वादरीतिरसिकाः परमार्थपुष्टाः
घोरोपसर्गजयिनः समतासमुद्राः ॥१२१॥

संसारतापशमकाश्च निजात्मनिष्ठाः
संतारकाश्च सुखदाः परमाः पवित्राः ।
स्वानन्दतृप्तमुनयो निजभावलीनाः
व्याघ्राहिसिंहपशुभिः शठधूर्त्तवर्गैः ॥१२२॥

सन्ताडिता अपि सदा परिपीडिताः कौ
ध्यानाच्चलन्ति न च शान्तिसुखात् स्वधर्मात् ।
वातैर्यथा न गिरयश्च चलन्ति मूलात्
म्लेच्छादिसंगमलिनैर्विधवाः सुशीलाः ॥१२३॥

अर्थ—जिस प्रकार पर्वत वायुके चलनेपर भी जडमूलसे नहीं उखडते हैं तथा जिस प्रकार म्लेच्छोंकी संगतिसे मलिन हृदयको धारण करनेवाले लोगोंसे सुशीला विधवाएं कभी चलायमान नहीं होती हैं, उसी प्रकार जो मुनि संतोष और शांतिके जनक हैं, सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित हैं, स्वर्ग वा मोक्षके मार्गमें सदा लीन रहते हैं, इंद्रियोंके विषयोंसे सदा विरक्त रहते हैं, स्याद्वाद-सिद्धांतके रसिक होते हैं, पारमार्थिक भावनाओंसे सदा पुष्ट रहते हैं, जो घोर उपसर्गोंको जीतनेवाले हैं, समतारूपी अमृतके समुद्र हैं, संसारके समस्त संतापोंको दूर करनेवाले हैं, अपने आत्मामें लीन रहते हैं, संसारसे पार कर देनेवाले हैं, सब जीवोंको सुख देनेवाले हैं, परम उत्कृष्ट हैं, अत्यंत पवित्र हैं और अपने आत्माके शुद्ध-भावोंमें सदाकाल लीन रहनेवाले हैं ऐसे अपने आनंदमें तृप्त रहनेवाले मुनिराज सिंह व्याघ्र सर्प आदि दुष्ट पशुओंके द्वारा वा दुष्ट धूर्तोंके द्वारा ताडन किये जानेपर भी वा अत्यन्त दुःख देनेपर भी न तो

अपने ध्यानसे चलायमान होते हैं, न शांतिरूप सुखसे चलायमान होते हैं और न अपने आत्मधर्मसे चलायमान होते हैं।

भावार्थ—यदि हम लोग किसी विशेष काममें लग जाते हैं वा हमारा मन किसी विशेष काममें लग जाता है तो उस समय सामनेसे निकलते हुए लोगोंको भी हम लोग नहीं देख सकते वा समीपमें ही बजते हुए बाजोंको नहीं सुन सकते। इसी प्रकार जब किसी विचारमें मग्न हो जाते हैं तो उस समय भोजन करते हुए भी नमक मिरचका स्वाद नहीं जान सकते। इसका कारण यही है कि उस समय हमारा मन किसी और काममें लगा है तथा सेनी जीवोंकी इंद्रियां विना मनके सहयोगके अपना अनुभव नहीं कर सकतीं यही कारण है कि मन जब दूसरे काममें लग जाता है तब वे इंद्रियां अपने विषयोंका संपर्क होनेपर भी उसका अनुभव नहीं कर सकती। इसी प्रकार मुनि लोग भी सदाकाल अपने आत्मकार्यमें लगे रहते हैं। कभी तो वे आत्माके गुणोंका अनुभव करते हुए परम संतोष धारण करते हैं, कभी आत्माकी परम शांतिका अनुभव किया करते हैं, कभी रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें स्थिर हो जाते हैं, कभी स्याद्वाद-सिद्धांतकी अपेक्षाओंका वा नयोंका अनुभव किया करते हैं, कभी प्रमाणरूप अखंड-सिद्धांतका अनुभव करते हैं, कभी आत्माकी पारमार्थिक अवस्था वा शुद्ध अवस्थाका अनुभव करते हैं, कभी समतारूपी महासागरमें डूब जाते हैं, कभी संसारी जीवोंका उद्धार करनेरूप अपायविचय नामके धर्मध्यानका चिंतवन करने लग जाते हैं, कभी आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करने लगते हैं, कभी आत्माकी पवित्रता और उत्कृष्टताका चिंतवन करते हैं कभी अपने आत्मजन्य अत्यंत सुखका स्वाद लेते हैं और कभी शुद्धोपयोगमें लीन हो जाते हैं। इस प्रकार वे मुनि सदाकाल अपने आत्मकार्यमें लगे रहते हैं। उनके पास न तो परिग्रह है और न उनके विषयोंकी लालसा है। यदि उनके पास परिग्रह हो तो भी उनका मन उस परिग्रहकी रक्षा करनेमें वा बदलनेमें वा

सिं
८८

नवीन उपार्जन करनेमें लग सकता है। यदि उस परिग्रहकी रक्षा आदिमें कोई बाधा डालता है तो फिर उनका मन उसके विरोध करनेमें लग सकता है। इसी प्रकार विषयोंकी लालसासे भी अनेक कामोंमें मन लग जाता है, परंतु आत्मकल्याणमें तत्पर रहनेवाले उन मुनिराजोंके ये दोनों नहीं होते। न तो उनके परिग्रह होता है और न विषयोंकी लालसा होती है, इसलिए उनका मन सिवाय आत्मचिंतवनके वा स्वाध्यायादिक अन्य आत्मकार्योंके अन्यत्र कहीं नहीं जाता, सदाकाल आत्मकार्यमें ही लगा रहता है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई दुष्ट पुरुष वा कोई दुष्ट पशु अथवा कोई दुष्ट भूत प्रेत आदि व्यंतर देव उनपर कोई उपसर्ग करता है या उनको मारता है, ताडन करता है अथवा अन्य किसी प्रकारसे दुःख देता है तो वे मुनिराज अपने उसी आत्मकार्यमें लगे रहते हैं। उनका मन आत्मकार्यमें लगे रहनेके कारण अथवा आत्मामें लीन होनेके कारण उन्हें उस दुःखका किंचितमात्र भी अनुभव नहीं होता है। यही कारण है कि वे मुनिराज अपने ही ध्यानमें लगे रहते हैं वा अपने शांतिसुखमें निमग्न बने रहते हैं अथवा रत्नत्रयरूप आत्मधर्ममें मग्न रहते हैं। महा विपत्ति आनेपर भी वे मुनिराज उस अपने ध्यानसे चलायमान नहीं होते। पहले अनेक मुनियोंको घानीमें पेल दिया, मुनिराज गजकुमारके मस्तकपर अग्निकी अंगीठी जलाकर रख दी, युधिष्ठिर आदि पाचों पांडव मुनियोंको लोहेके आभूषण गर्म करके पहना दिए, मुनिराज सुकुमारके शरीरको तीन स्यालिनियोंने मिलकर खा डाला, मुनिराज सुकोशल स्वामीको शेरनीने खा डाला, कितने ही मुनि नदियोंमें बहकर चले गए परन्तु कोई भी मुनि अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए। पहलेकी बात यदि छोड दी जाय तो इस समयमें भी आचार्य श्रीशांतिसागरजीके शरीरपर भयंकर पर्वती सर्प बहुत देर तक फिरता रहा परन्तु वे भी अपने ध्यानसे चलायमान नहीं हुए। आचार्य सुधर्मसागरजीको क्षय रोग हो गया तो भी वे अपने ध्यान अध्ययन वा ग्रन्थ निर्माण-कार्यसे चलायमान नहीं हुए। इससे सिद्ध होता है कि मुनियोंके

समस्त कर्त्तव्य अलौकिक होते हैं और इसीलिए वे शीघ्र ही अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं।

प्रश्न–ध्याता ध्यानं तथा ध्येयः ध्यानाङ्गाश्च त्रयोप्यमी ।
स्वात्मनः सन्ति भिन्ना वाऽभिन्ना मे वद सन्मुने ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि ध्याता ध्येय और ध्यान ये जो ध्यानके तीन अंग हैं वे आत्मासे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ?

उत्तर–वाच्यवाचकभेदेन शब्दाद्वा व्यवहारतः
ध्यातादित्रिविधस्यापि सम्यग्भेदा यथास्थिताः ॥१२४॥
ध्यातादिभेदबुद्धिर्न तत्त्वतस्तत्त्वनाशिनी ।
यो ध्याता शर्मदो ध्यानं तदेव शान्तिसौख्यदम् ॥१२५॥
स्वात्मैव ध्येयरूपोस्ति निर्दोषो निर्मदोतुलः ।
प्रोक्तः स्वानन्दतुष्टेण सूरिणा कुंथुसिंधुना ॥१२६॥

अर्थ–ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनोंमें वाच्य वाचक भेदसे भेद है, शब्द भेदसे भेद है और व्यवहारसे भेद है। अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए ये तीनों भेद विद्यमान हैं परन्तु यदि यथार्थ रीतिसे देखा जाय तो यह ध्याता ध्येय और ध्यानरूप भेद-बुद्धि आत्मतत्त्वको नाश करनेवाली है। निश्चयनयसे जो कल्याण करनेवाला ध्याता है वही शांति और सुख देनेवाला ध्यान है और वही अपना समस्त दोषोंसे रहित, मद मत्सर आदि विकारोंसे रहित और सर्वोत्कृष्ट आत्मा ध्येयरूप है। ऐसा अपने आत्मजन्य आनन्दमें सन्तुष्ट रहनेवाले आचार्य कुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ—किसी भी पदार्थका चिंतवन करना ध्यान है तथा उस चिंतवनको करनेवाला ध्याता

कहलाता है और जिस पदार्थका चिंतवन किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं। इसप्रकार इन तीनोंमें वाच्यवाचकभेदसे भेद है। ध्याताका वाच्य ध्यान करनेवाला है, ध्येयका वाच्य ध्यान करने योग्य पदार्थ है और ध्यानका वाच्य चिंतवन करना है। इसी प्रकार शब्द भेदसे भी अर्थ भेद हो जाता है। यदि एक ही पदार्थके वाचक अनेक शब्द होते हैं तो भी उनके अर्थमें कुछ-न कुछ भेद अवश्य रहता है। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों शब्दोंका अर्थ इन्द्र है, परन्तु यदि शब्द भेदसे अर्थ भेद लिया जाय तो जो ऐश्वर्यशाली हो उसको इन्द्र कहते हैं, जो अत्यन्त समर्थ हो उसको शक्र कहते हैं और जो पुर वा नगरको जलानेवाला हो उसको पुरन्दर कहते हैं। इन्द्रमें ये तीनों अर्थ संघटित होते हैं इसलिए ये तीनों शब्द इन्द्रके वाचक कहलाते हैं। इसी प्रकार ध्याताका अर्थ ध्यान करनेवाला है, ध्यानका अर्थ ध्यान वा चिंतवन करना है और ध्येय शब्दका अर्थ ध्यान करने योग्य पदार्थ है। परंतु जब यह शुद्ध आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका ध्यान करता है उस समय वही आत्मा ध्याता होता है, वही ध्येय होता है और वही आत्मा चिंतवनरूप होता है। उस समय वह शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपमें इस प्रकार लीन हो जाता है और इस प्रकार उसमें निश्चल हो जाता है कि फिर उसमें किसी प्रकारकी भेद बुद्धि नहीं रहती। मैं ध्याता हूं ध्यान कर रहा हूं इस प्रकारकी भेद-बुद्धि भी नहीं रहती। इसलिए उस निश्चल ध्यानमें ध्याता ध्येय वा ध्यानका कोई भेद सिद्ध नहीं होता। जो ध्याता है वही ध्यान है और वही ध्येय है तथा ध्येय ध्याताका संकल्प विकल्प भी नहीं है, निर्विकल्पक अवस्था है इसलिए वहांपर किसी भी प्रकारसे भेद सिद्ध नहीं होता है। यही ध्याता ध्यान और ध्येयकी अभेद अवस्था मोक्षका साधन है। इस प्रकार आचार्य श्री कुंथुसागरने निरूपण किया है।

प्रश्न—देवशास्त्रगुरुं दृष्ट्वा के नमन्ति न के वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि देव शास्त्र गुरुको देखकर उनके लिये कौन नमस्कार करते हैं और कौन नहीं करते ?

उत्तर–शुद्धं बुद्धं जिनं स्तुत्यं शास्त्रं स्याद्वादशोभितम् ।
स्वानन्दस्वादकं साधुं जैनधर्मशिरोमणिम् ॥१२७॥
पूर्वोक्तदेवगुर्वादीन् संसारबंधभेदकान् ।
काष्ठवृक्षशिलाभित्तिमूर्खाश्चेते नमान्ति न ॥१२८॥
शेषा दृष्ट्वा नमन्त्येव पूजयन्ति च भक्तितः ।
मन्यन्ते सफलं जन्म लौकान्तिका यथा जिनम् ॥१२९॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव अत्यंत शुद्ध हैं, अनन्त ज्ञानी हैं और तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं। उन्हीं भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र स्याद्वादरूपी अटल सिद्धांतसे सुशोभित हैं तथा वीतराग निर्ग्रंथ गुरु अपने आत्मजन्य सुखका अनुभव करनेवाले हैं। इस पवित्र जैनधर्ममें ये तीनों ही सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। ये देव शास्त्र गुरु तीनों ही संसारके बंधनोंको नाश करनेवाले हैं। ऐसे इन देव शास्त्र गुरुको देखकर, बडे-बडे लकड, वृक्ष, शिला दीवाल और मूर्ख लोग कभी नम्रीभूत नहीं होते, इनको छोडकर बाकीके जितने जीव हैं वे सब इन देव शास्त्र गुरुओंको नमस्कार करते हैं, भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं और जिस प्रकार लौकांतिक देव भगवान तीर्थंकर परमदेवको दीक्षाके समय देखकर अपना जन्म सफल मानते हैं उसी प्रकार वे जीव भी देवशास्त्र-गुरुकी पूजा भक्ति कर अपना जन्म सफल मानते हैं।

भावार्थ–नम्रता एक आत्माका गुण है। जिन जीवोंके मोहनीय कर्मका, वा मानकषायका तीव्र

उदय होता है उन जीवोंके नम्रता कभी नहीं हो सकती। इसलिये जो पुरुष देव शास्त्र गुरुको देखकर भी उनको नमस्कार नहीं करते हैं वे अपने तीव्र मान कषायके उदयके वशीभूत होकर बडे लकडके समान अथवा बडे वृक्षके समान अथवा दीवालके समान जडरूप वा अत्यंत मूर्ख हो गये हैं। जिस प्रकार लकड दीवाल आदि कभी नम्रीभूत नहीं होते उसी प्रकार जड वा मूर्ख मनुष्य भी सर्वोत्कृष्ट देव शास्त्र गुरुको देखकर भी कभी नम्रीभूत नहीं होते। यह कर्मोंका तीव्र उदय उनको जडके समान बना देता है। परन्तु जिन जीवोंके कर्मोंका उदय मंद होता है और इसीलिए जिनमें नम्रता गुण विद्यमान रहता है वे जीव देव शास्त्र गुरुको देखकर तुरंत ही उनको नमस्कार करते हैं, भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं और इस प्रकार भक्ति पूजा कर अपना जन्म सफल मानते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो अनादिकालसे पडे हुए इस संसारमें इस जीवको यथार्थ देव शास्त्र गुरुकी प्राप्ति होना वा उनके दर्शन होना अत्यन्त कठिन है, अत्यन्त दुर्लभ है। जिन जीवोंके संसारका अन्त निकट होता है ऐसे भव्य जीवोंको ही देव शास्त्र गुरुकी प्राप्ति होती है। ऐसे देव शास्त्र गुरुको पाकर भी जो उनको नमस्कार नहीं करते, उनकी पूजा भक्ति नहीं करते वे जीव इस संसारमें अत्यन्त मूर्ख वा अज्ञानी समझे जाते हैं।

प्रश्न—संक्षेपाद् बंधमोक्षस्य स्वरूपं वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि बंध और मोक्षका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सर्ववस्तुसदा मेऽस्तीत्येकाक्षरेण जन्तवः।
बद्धा भवंति मूढाश्च स्वात्मसौख्यपराङ्मुखाः ॥१३०॥
सर्ववस्तु न मेऽस्तीह द्व्यक्षरेणेति शीघ्रतः।
मुच्यते कर्मणा भव्याः भवंति मोक्षभागिनः ॥१३१॥

ज्ञात्वेति मोक्षसिद्ध्यै मेऽक्षरं त्यक्त्वा भवप्रदम् ।
न मेऽक्षरद्वयं सारं ग्राह्यं शांतिर्भवेद् यतः ॥१३२॥

अर्थ—इस संसारमें जो जीव अपने आत्मसुखसे पराङ्मुख होते हैं और इसीलिए जो मूर्ख कहलाते हैं वे जीव "इस संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे हैं" इस प्रकारके "मे" इस एक अक्षरसे ही कर्म बंधनोंसे बंध जाते हैं तथा जो भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं वे "इस संसारमें कोई भी पदार्थ 'मेरा नहीं है' इस प्रकारके 'न मे' इन दो अक्षरोंसे शीघ्र ही कर्मोंसे छूट जाते हैं। यही समझकर भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए जन्ममरणरूप संसारको वढानेवाले इस 'मे' अक्षरका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और 'न मे' इन सारभूत दो अक्षरोंको ग्रहण करना चाहिए जिससे कि आत्माको शांति प्राप्त हो।

भावार्थ—मे शब्दका अर्थ मेरा है। यह भी मेरा है, वह भी मेरा है, इस प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंको मेरा मेरा कहना ममत्व वा मोह कहलाता है। वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें एक आत्मा ही अपना है। आत्माके सिवाय अन्य शरीरादिक समस्त पदार्थ पर हैं। यह जीव अपनी अज्ञानताके कारण उन परपदार्थोंको भी अपना मानकर "यह शरीर मेरा है, यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह घर मेरा है, यह सब विभूति मेरी है" इस प्रकार मेरा मेरा करता रहता है। परपदार्थका अपना मानना अपराध है और इसी अपराधसे वह कर्मोंके बंधनोंसे बंध जाता है। परंतु जब इस जीवको आत्मज्ञान प्रगट हो जाता है और उस सम्यग्दर्शनरूप आत्मजन्य अमूर्त प्रकाशसे स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् अपने परायेका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है तब यह जीव परपदार्थोंको पर ही समझने लगता है और फिर 'इमे न मे सन्ति' अर्थात् "ये पदार्थ मेरे नहीं हैं" इस प्रकार कहने लगता है। इसीको मोहका त्याग कहते हैं। जब यह भव्य जीव इस प्रकार मोहका त्याग कर देता है और आत्माके

सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंमें "न मे" अर्थात् "ये मेरे नहीं हैं" इस प्रकारकी भावनाका चिंतवन करने लगता है उस समय इस आत्मासे समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मामें अत्यन्त शुद्धता प्राप्त हो जाती है। उस शुद्धताके बलसे यह जीव समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि "मे" इस एक अक्षरसे यह जीव कर्मोंके बंधनोंसे बँध जाता है और 'न मे' इन दो अक्षरोंसे यह जीव कर्मोंसे छूट जाता है। इसलिए भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए 'मे' वा ममत्वका त्याग कर देना चाहिए और 'न मे' इन दों अक्षरोंको ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। इस संसारमें यही सार है और सब असार है।

प्रश्न–स्यात्स्वात्मबंधकं स्वामिन् परवस्तु न मे वद ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइए कि शरीरादिक परपदार्थ आत्माको कर्मबंधनमें डालनेवाले हैं वा नहीं ?

उत्तर–न वर्गो वर्गणाकर्म न नोकर्म न जन्तवः ।
प्रियाप्रियपदार्था न न बन्धुर्न च भाक्तिकः ॥१३३॥
न निर्जन्तुप्रदेशादिर्न स जन्तुर्वपुश्च कौ ।
किंतु स्वात्मविभावाश्च भवंति स्वात्मबंधकाः ॥१३४॥
केवलं परवस्तु स्यान्निमित्तमात्रकं सदा ।
ज्ञात्वेत्यात्मविभावानां शुद्धिः कार्या विशेषतः ॥१३५॥
यतः स्यात्स्वात्मराज्यं च समीपं सर्ववस्तुतः ।
षड्रिपुजयिनो राज्ञो यथा विश्वं समीपगम् ॥१३६॥

अर्थ—इस संसारमें इस जीवको कर्मबन्धनमें डालनेवाले न तो कर्मपरमाणु हैं, न कर्मपरमाणुओंका समूह है, न कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न अन्य जीव हैं, न प्रिय वा अप्रिय पदार्थ हैं, न भाई बंधु हैं, न भक्ति करनेवाले भक्तजन हैं, न निर्जीव प्रदेश हैं, न जीव हैं और न यह शरीर है किंतु अपने आत्माके विभाव परिणाम ही अपने आत्माको बन्धनमें डालनेवाले हैं। आत्माको बन्धनमें डालनेके लिये पर पदार्थ तो केवल निमित्तमात्र होते हैं। यही समझकर आत्माके विभाव परिणामोंको विशेष रीतिसे शुद्ध कर लेना चाहिये। जिस प्रकार क्रोधादिक अन्तरंग छहों शत्रुओंको जीतनेवाले राजाके समीप समस्त संसार आ जाता है उसी प्रकार विभाव परिणामोंको जीत लेनेसे समस्त पदार्थोंसे अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्य प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ विभाव-परिणाम अनादिकालसे लगे हुए हैं। उन्हीं विभाव-परिणामोंसे कर्मोंका बन्ध होता है तथा वे विभाव-परिणाम कर्मोंके उदयसे होते हैं। इस प्रकार कर्मोंके उदयसे विभाव-परिणाम और विभाव-परिणामोंसे कर्मोंका बंध होता रहता है। इस प्रकार अनादिकालसे विभाव-परिणाम और कर्मोंका सम्बन्ध इस जीवके साथ लगा हुआ है। वे विभाव परिणाम कभी तीव्ररूप होते हैं और कभी मन्दरूप होते हैं। जब मन्दरूप होते हैं तब यह जीव अपने आत्माका स्वरूप भी चिंतवन कर सकता है और उन विभाव परिणामोंको रोक सकता है। विभाव परिणामोंके रुक जानेसे फिर कर्मोंका बन्ध नहीं होता और कर्मोंका बन्ध न होनेसे तथा पिछले कर्म नष्ट हो जानेसे अपने आप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है इसलिये भव्य जीवोंको अपने विभाव परिणामोंको स्वभावरूपमें बदलनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये क्योंकि मोक्ष अवस्थामें स्वभाव परिणाम होते हैं तथा इस आत्माके साथ जो वैभाविकशक्ति है वही वैभाविकशक्ति बदलकर स्वाभाविकरूप हो जाती है।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि कर्मोंके बन्ध होनेमें मुख्य कारण विभाव परिणाम है

और परपदार्थ सब निमित्त कारण है। जैसे कोई मनुष्य अपने किसी शत्रुको देखकर क्रोध करने लगता है और उस क्रोधके निमित्तसे अशुभ कर्मोंका बन्ध करता है। उस अशुभ कर्मके बन्धमें क्रोध ही मुख्य कारण है। वह शत्रु तो निमित्त कारण है। शत्रुको देखकर क्रोध करना और न करना दोनों अपने आधीन हैं। राजा श्रेणिकने एक मुनिको दुःख दिया था परन्तु रानीके समझानेपर जब उनका उपसर्ग दूर किया और राजा श्रेणिकने भी उन मुनिमहाराजको नमस्कार किया तो मुनिराजने राजा श्रेणिकको धर्मवृद्धिरूप आशीर्वाद ही दिया था तथा धर्मोपदेश देकर उसका कल्याण ही किया था। इससे सिद्ध होता है कि शत्रुको देखकर क्रोध करना अथवा उस दुःखको अपने कर्मोंका फल मानकर शांत रहना दोनों अपने आधीन हैं इसलिए कर्मबन्धमें विभावपरिणाम ही कारण हैं, परपदार्थ केवल निमित्तमात्र हैं इसलिए मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको अपने विभाव परिणामोंका त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न—कौ कर्म कीदृशो जीवो बध्नाति वद मे प्रभो?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें कैसा जीव कर्मोंका बन्ध करता है?

उत्तर—राग्येव कर्मनिचयानि भयंकराणि,

संसारतापपरिवृद्धिकराणि मूर्खः।

निंद्यानि चात्मसुखशांतिविनाशकानि,

स्वमोक्षमार्गपरिरोधनतत्पराणि ॥१३७॥

षट्खण्डराज्यविभवादिविघातकानि,

स्वात्मप्रदेशगमनप्रतिबन्धकानि।

सिद्ध ९७

वध्नाति शत्रुसमदुःखकराणि नित्यं,
स्निग्धो घटोहि विपुलानि रजःकणानि ॥१३८॥

अंथ—जिस प्रकार चिकने घडेपर बहुतसे धूलिके कण आकर जम जाते हैं उसी प्रकार राग वा द्वेषको धारण करनेवाला अज्ञानी पुरुष बहुतसे कर्मोंका बन्ध करता रहता है। ये कर्म अत्यन्त भयंकर हैं, संसारके समस्त संतापोंको बढानेवाले हैं, अत्यन्त निन्द्य हैं, आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनन्त सुख और शांतिको नाश करनेवाले हैं, स्वर्ग वा मोक्षके मार्गको रोकनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं, इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको नाश करनेवाले हैं, अपने ही आत्माको अपने ही आत्माके प्रदेशोंमें लीन होनेमें रुकावट डालनेवाले हैं और शत्रुके समान सदा दुःख देनेवाले हैं। ऐसे इन कर्मोंको रागी पुरुष ही बांधता है।

भावार्थ—अग्निमें पके हुए मिट्टीके घडेपर धूलि कभी जमती नहीं। चाहे जितनी धूलि उसपर डाली जाय तथापि वह जमती नहीं यदि उसी घडेपर तेल या घी लगा दिया जाय और उसको चिकना कर दिया जाय तो फिर रक्खे रक्खे ही उस घडेपर धूलि जम जाती है। बिना चिकनाईके धूलि जम नहीं सकती। इसी प्रकार जो आत्मा राग द्वेष धारण करता है वही आत्मा कर्मोंका बंध करता है। बिना राग द्वेषके कर्मोंका बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए जो पुरुष कर्मोंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है उसको सबसे पहले राग द्वेषका त्याग कर देना चाहिए। राग द्वेषका त्याग कर देनेसे नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता तथा पिछले कर्मोंकी निर्जरा होनेसे किसी न किसी दिन वे समस्त कर्म अवश्य नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—बध्यते कर्मणा यो न स जीवः कीदृशः प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कैसा जीव कर्मोंका बंध नहीं करता ?

उत्तर—स्थूलादिसूक्ष्मतनुधारणकारणेषु,
शुष्केषु तापजनकेषु सुशीतकेषु ।
पूर्वोक्तवस्तुषु सदैव नरः स्थितोपि,
नो बध्यते स्फटिकवद् विमलो विरागी ॥१३६॥

अर्थ—यह मनुष्य चाहे तो स्थूल वा सूक्ष्म शरीरको धारण करनेके कारणोंमें रहे, चाहे संताप उत्पन्न करनेवाले उष्ण पदार्थोंमें रहे अथवा शुष्क वा सूखे पदार्थोंमें रहे और चाहे शीत पदार्थोंमें रहे परन्तु यदि वह रागद्वेषसे रहित वीतराग है और स्फटिकके समान निर्मल आत्माको धारण करनेवाला है तो उस मनुष्यके कर्मोंका बंध कभी नहीं होता ।

भावार्थ—कर्मोंका बंध रागद्वेषसे होता है केवल संसारमें रहनेमात्रसे कर्मोंका बंध नहीं होता। यदि यह जीव रागद्वेष धारण करता है तो सिद्ध शिलापर पहुंचने पर भी कर्मोंका बंध अवश्य होता है और यदि उसके रागद्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है तो संसारमें किसी स्थानपर रहनेपर भी कर्मोंका बंध नहीं कर सकता । यह निश्चित सिद्धान्त है कि कर्मोंका बंध रागद्वेष आदि विकारोंसे ही होता है । जिसका आत्मा रागद्वेषका अभाव होनेसे स्फटिकके समान निर्मल हो जाता है उसके कर्मोंका बंध कभी नहीं हो सकता ।

प्रश्न—आकिंचन्यपदारूढः कोस्तिभूमण्डले प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस पृथ्वीमंडलपर आकिंचन्य पदपर कौन महापुरुष विराजमान होता है ?

उत्तर—पुत्रश्च पौत्रोऽखिलबन्धुवर्गो निजात्मवाह्यः सकलः पदार्थः ।
स्याल्लोकवार्ता विषमा व्यथादा संगोपि निंद्यो भवमग्नजन्तोः ॥१४०॥
ततश्च तेभ्योस्मि सदैव भिन्नः शुद्धः प्रबुद्धः परमार्थतोहम् ।
एवं विचारो हृदि यस्य पूज्यः स एव चाकिंचनधर्मधारी ॥१४१॥

अर्थ—जो महापुरुष सदाकाल यह विचार करता रहता है कि मैं इस जन्म मरणरूप संसारमें अनादिकालसे निमग्न हो रहा हूं मेरे ये पुत्र पौत्र वा समस्त भाई बंधु आदि जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे आत्मासे भिन्न हैं तथा इस संसारमें जितनी लौकिक बातें हैं वे भी सब विषम हैं और महादुःख देनेवाली हैं और वस्त्र आभूषण धन मकान आदि जितना परिग्रह है वह सब निंदनीय है। इसलिये मेरा यह आत्मा इन सब पुत्र पौत्रादिकोंसे वा भाई-बंधुओंसे अथवा परिग्रहसे सर्वथा भिन्न है। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो यह मेरा आत्मा अत्यंत शुद्ध है और अनंत ज्ञानमय है। इसप्रकारके विचार जिसके हृदयमें सदा काल विद्यमान रहते हैं वही पूज्य महापुरुष आकिंचन्य धर्मको धारण करनेवाला कहलाता है।

भावार्थ—किंचन शब्दका अर्थ 'कुछ' है, अकिंचन शब्दका अर्थ 'कुछ भी नहीं' है। उस अकिंचनके भावको आकिंचन्य कहते हैं। यह आकिंचन्य धर्म आत्माका निज स्वभाव है और यही आकिंचन्य धर्म मोक्षका कारण है। जबतक यह मनुष्य आकिंचन्य धर्मको धारण नहीं करता तबतक वह मोक्षका पात्र कभी नहीं हो सकता। अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देना ही आकिंचन्य धर्म है। अंतरंग परिग्रहोंका त्याग करनेसे कर्मोंका बंध नहीं होता तथा बाह्य परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे किसी प्रकारकी आकुलता नहीं होती। इसप्रकार दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर देनेसे यह जीव

अत्यंत शुद्ध और सर्वथा निराकुल हो जाता है और कर्मोंको नष्ट कर अनंतसुखी बन जाता है। इस लिये प्रत्येक भव्य जीवोंको इस आकिंचन्य धर्मका चिंतवन करते हुए रागद्वेष वा ममत्वका त्याग कर देना चाहिये और इसप्रकार निराकुल होकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये। यही मनुष्य जन्मका सार है।

प्रश्न—किं भेदज्ञानिनश्चिह्नं वद मे विद्यते प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि भेदज्ञानियोंके क्या क्या चिह्न होते हैं ?

उत्तर—भिन्नोहं कर्मणो मत्तो भिन्नं कर्मापि सर्वथा।
नैवाहं कर्मणः कर्ता भोक्तापि परवस्तुनः ॥१४२॥
नाहं त्यागी तथा भोगी साध्यश्च साधकोपि न।
ध्याता ध्यानं न च ध्येयं वस्तुतोहं निरंजनः ॥१४३॥
ज्ञाता द्रष्टा जगत्साक्षी शुद्धचिद्रूपचिन्मयः।
प्रतिभातीव मोक्षस्थो ज्ञान्येवं चिंतयन् सदा ॥१४४॥

अर्थ—जिन जीवोंके स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है वे सदाकाल यही चिन्तवन किया करते हैं कि मैं इन कर्मोंसे सर्वथा भिन्न हूं, ये कर्म भी मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, मैं न तो इन कर्मोंका कर्त्ता हूं, न परपदार्थोंका भोक्ता हूं, मैं न त्यागी हूं, न भोग करनेवाला हूं, न साधक हूं, न सिद्ध करने योग्य साध्य हूं, न ध्याता हूं, न ध्येय हूं और न ध्यान हूं। वास्तवमें देखा जाय तो मैं निरंजन हूं, ज्ञाता हूं, द्रष्टा हूं, जगतको प्रत्यक्ष देखनेवाला हूं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं और मोक्षमें विराजमान होनेके समान प्रतिभासित हो रहा हूं।

सिद्धु
१०१

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और कर्म जड हैं पौद्गलिक हैं। इसलिए यह मानना ही पडता है कि कर्म भिन्न हैं और आत्मा भिन्न अथवा कर्मोंसे आत्मा भिन्न है और आत्मासे कर्म भिन्न हैं। इसी प्रकार रागद्वेषको धारण करनेवाले जीव ही कर्मोंका बंध करते हैं और वे ही उन कर्मोंके उदयसे होनेवाले फलको भोगते हैं। जो आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह न तो कर्मोंका बंध कर सकता है और न उन कर्मोंके फलको भोग सकता है। इसलिए यह आत्मा न तो कर्त्ता है और न भोक्ता है। इसी प्रकार जो आत्मा परिग्रहको धारण करता है वा रागद्वेषको धारण करता है वही आत्मा उस परिग्रहका वा रागद्वेषका त्याग कर सकता है अथवा वही पुरुष उस परिग्रहादिकको भोगनेवाला कहा जा सकता है। जो आत्मा परिग्रहादिकसे वा रागद्वेषसे सर्वथा रहित है वह न तो त्यागी बन सकता है और न भोगनेवाला कहा जा सकता है। त्याग परपदार्थका होता है। शुद्ध आत्मा किसी भी परपदार्थको ग्रहण नहीं करता इसलिए वह किसीका त्याग भी नहीं कर सकता और भोग भी नहीं कर सकता। इस प्रकार त्याग और भोगसे भी यह आत्मा सर्वथा रहित है तथा यह आत्मा साध्यसाधक भी नहीं है। जो आत्मा अशुद्ध होता है वही आत्मा शुद्ध होनेके लिए साध्य वा सिद्ध करने योग्य गिना जाता है तथा ऐसा ही आत्मा अपने आत्माको सिद्ध करनेवाला साधक कहलाता है परंतु यह आत्मा शुद्ध है शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इसलिए यह आत्मा न तो साध्य है और न साधक है। इसी प्रकार जो आत्मा कर्मसहित होता है वही आत्मा ध्यान कर सकता है अथवा अपने आत्माके स्वरूपको भी चिंतवन कर सकता है। इस प्रकार कर्मविशिष्ट आत्मा ही ध्याता वा ध्येयरूप अथवा ध्यानरूप हो सकता है। शुद्ध निरंजन आत्मामें ध्याता ध्येय वा ध्यानकी कल्पना कभी हो ही नहीं सकती है। इसलिए यह आत्मा न ध्याता है न ध्येय है और न ध्यानरूप है। इस प्रकार यह आत्मा समस्त संकल्प विकल्पोंसे सर्वथा रहित है। केवल ज्ञाता दृष्टा हैं ज्ञाता दृष्टा होनेपर भी राग द्वेषके न होनेसे यह आत्मा किसी भी परपदार्थसे किसी प्रकारका सम्बन्ध

नहीं रखता। न तो उनमें ममत्वबुद्धि करता है, न इष्ट अनिष्टकी कल्पना करता है, न कर्ता, भोक्ता, ध्याता, ध्यान, ध्येय आदिकी कल्पना करता है। बिना किसी प्रकारके संकल्प विकल्पके केवल ज्ञाता दृष्टा बना रहता है। यह जीव जब तक परपदार्थोंके साथ अभेदबुद्धि रखता है तब तक ही सब प्रकारके संकल्प-विकल्प कर सकता है। जब इस आत्माको भेदज्ञान प्रगट हो जाता और उस भेदज्ञानसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको समस्त परपदार्थोंसे, सर्वथा भिन्न मान लेता है उस समय यह आत्मा अपने शुद्ध आत्माको सब संकल्प-विकल्पोंसे रहित, ज्ञाता, दृष्टा, अत्यन्त शुद्ध और साक्षात् सिद्धोंके समान मान लेता है। यही भेद ज्ञानीका चिन्ह है। ऐसा ही भेद ज्ञान प्रगट करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—भो कुटुम्बादिसंयोगादात्महानिर्भवेन्न वा ?

हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस कुटुम्ब आदिके संयोगसे आत्माकी कुछ हानि होती है वा नहीं ?

उत्तर—संयोगतः पुत्रकलत्रबन्धोः, क्रोधादिकालुष्यविवर्द्धकस्य ।
चित्ते विकारो विषयाभिलाषा, स्वानन्दहर्त्री विविधापि चिंता ॥१४५॥
संजायते वैरविरोधभावो, ज्ञात्वेति संयोगभवं च दोषं ।
त्यक्त्वान्यसंगं मदकारकं वा, भव्या भवेयुर्विमला विसंगाः ॥१४६॥

अर्थ—इस संसारमें जितने स्त्री पुत्र मित्र भाई आदि सगे सम्बन्धी हैं वे सब क्रोधादिक कषायोंको बढानेवाले हैं और हृदयमें कलुषता उत्पन्न करनेवाले हैं इसीलिए इनके संयोगसे हृदयमें विकार उत्पन्न होता है, अपने आत्मजन्य आनन्दको हरण करनेवाली विषयोंकी अभिलाषा बढती है

अनेक प्रकारकी चिन्ताएं बढती हैं और अनेक जीवोंके साथ वैर विरोध बढता है। इस प्रकार पुत्र मित्रादिकके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको समझकर भव्य जीवोंको मद उत्पन्न करनेवाले समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिए और समस्त परिग्रहसे रहित होकर अपने आत्माको निर्मल बना लेना चाहिए।

भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी लोगोंके सम्बन्धमे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। प्रथम तो उनके लिए कमाना पडता है जिसमें अनेक प्रकारके बहुतसे जीवोंकी हिंसा होती है, परन्तु उस हिंसाजन्य पापका फल स्वयं भोगना पडता है। नरक निगोदादिक दुर्गतियोंमें ले जानेवाले पाप इस कुटुम्बके लिए ही करने पडते हैं। यदि कुटुम्बका ममत्व छूट जाय तो यह आत्मा बहुत शीघ्र अपना कल्याण कर सकता है। इस कुटुम्बके ही निमित्तसे यह जीव क्रोध करता है, मान करता है, मायाचारी करता है, लोभ करता है, हृदयमें कलुषता उत्पन्न करता है और अनेक प्रकारके कामादिक विकार उत्पन्न करता है। इस कुटुम्बके ही लिए अनेक प्रकारकी चिन्ताएं करता है और अनेक जीवोंके साथ वैर-विरोध करता है। कहां तक कहा जाय इस संसारमें जितने पाप हैं वे सब इस कुटुम्बके ही लिए किये जाते हैं और जितने दुःख हैं वे सब इस कुटुम्बके ही लिए भोगे जाते हैं। इस प्रकार यह कुटुम्बका सम्बन्ध सब प्रकारसे दुःख देनेवाला है। यही समझकर भव्य जीवोंको कुटुम्बके मोहका त्याग कर देना चाहिये और फिर इसका सर्वथा त्याग कर तथा भगवती जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण कर लेना चाहिये। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—संसारकार्यकर्ता यस्तस्य सिद्धिर्भवेन्न वा?

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि जो मनुष्य संसारके कार्य करनेमें लगा रहता है उसको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है वा नहीं?

उत्तर-कर्तापि भोक्ता परवस्तुनोस्मि, हर्ता ज्वरादेर्जनबान्धवानाम् ।
स्वामी प्रजानां सुखदुःखदाता, ममोपरीहाखिलविश्वभारः ॥१४७॥
एवं विचारो हृदि यस्य तस्य, संसारवृद्धिः शिवमार्गहानिः ।
तद्भावमुक्तस्य नरोत्तमस्य, संसारनाशः सुखशांतिलाभः ॥१४८॥

अर्थ—मैं परपदार्थोंका कर्त्ता हूं, भोक्ता हूं, अपने भाई बंधुओंके ज्वरादिकको दूर करनेवाला हूं, प्रजाका स्वामी हूं और प्रजाको सुख वा दुःख देनेवाला हूं। इस संसारमें मेरे ही ऊपर समस्त संसारका भार आ पडा है। इस प्रकारके विचार जिसके हृदयमें सदा बने रहते हैं वह मनुष्य जन्म मरणरूप संसारकी वृद्धि ही करता रहता है तथा मोक्षमार्गकी हानि करता रहता है। परन्तु जो मनुष्य ऐसे विचारोंको छोड देता है उस उत्तम पुरुषका जन्म-मरणरूप संसार नष्ट हो जाता है और अनंत सुख तथा अनंत शांतिकी प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—इस संसारमें परपदार्थोंका ममत्व ही संसारको बढानेवाला है। जिस जीवके परपदार्थोंका ममत्व होता है, वही जीव परपदार्थोंका कर्त्ता वा भोक्तारूप बुद्धि रखता है। वह यही समझता है कि यह मकान मैंने ही बनाया है, यह वस्त्र मैंने ही बनाया है, यह भोजन मैंने ही बनाया है, मैं इस मकानका मालिक हूं, यह भोजन मेरे लिये है, मैं ऐसे उत्तम वस्त्र धारण करता हूं, यह रोग मैंने खो दिया, मैं चक्रवर्ती सम्राट् हूं, मेरे आधीन इतनी प्रजा है और यह काम मैंने किया है। इस प्रकारके विचार वा इस प्रकारकी समझ संसारी जीवोंकी ही होती है। इसको पररूप बुद्धि कहते हैं। यह पररूप बुद्धि तीव्र कर्मोंका बंध करती है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह आत्मा अमूर्त्त है इसलिये वह न तो [म]कान बना सकता है न भोजन बना सकता है और न अन्य पौद्गलिक पदार्थोंको बना सकता है।

पौद्गलिक पदार्थोंको पौद्गलिक शरीर ही बनाता है। यदि यह अमूर्त्त आत्मा कुछ कर सकता है तो अपने शुद्ध भावोंको ही उत्पन्न कर सकता है इसके सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। यही कारण है कि जबतक यह आत्मा परपदार्थोंको अपनाता रहता है, अपने आत्माको उन परपदार्थोंका कर्त्ता वा भोक्ता मानता रहता है तबतक पंच परावर्त्तनरूप संसारमें ही परिभ्रमण किया करता है तथा मोक्ष-मार्गसे दूर हटता जाता है। परन्तु जब यह आत्मा परपदार्थोंसे अपने ममत्वका त्याग कर देता है और अपने आत्माको किसीका कर्त्ता भोक्ता न मानकर केवल अपने आत्माके शुद्ध-भावोंका ही कर्त्ता भोक्ता मान लेता है और फिर उन्हीं भावोंमें लीन बना रहता है तभी यह आत्मा संसारको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिये परपदार्थोंसे ममत्वका त्याग कर देना प्रत्येक भव्य-जीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—कर्त्ताकर्मक्रियादिः क तत्त्वाद् घटते मे वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि यथार्थ रीतिसे कर्त्ता कर्म और क्रियाएं कहां संघटित होती हैं ?

उत्तर—कर्त्ताकर्मक्रियादिः कौ स्वद्रव्ये घटते सदा।
स्वात्मबाह्ये परे नैवाधाराधेयादिवार्जिते ॥१४९॥
वस्तुतो विद्यते चैवं तथापि व्यवहारतः।
कर्त्ताकर्मक्रियादिश्च घटते परवस्तुनि ॥१५०॥
किन्तु तेनात्मसिद्धिर्न ज्ञात्वेति निजवस्तुनि।
कर्त्ताकर्मक्रियादिश्च मन्यन्ते मुनिसत्तमाः॥१५१॥

अर्थ—कर्त्ता कर्म और क्रिया ये तीनों ही अपने निज द्रव्यमें संघटित होती हैं, अपन निज द्रव्यके

सिवाय अन्य किसी पदार्थमें संघटित नहीं हो सकतीं। इसका भी कारण यह है कि किसी एक द्रव्यकी किसी दूसरे द्रव्यके साथ आधाराधेय कल्पना नहीं हो सकती। यद्यपि वस्तुका स्वभाव यही है तथापि व्यवहार नयसे कर्त्ता कर्म क्रिया ये तीनों ही परपदार्थोंमें संघटित होती हैं। परन्तु परपदार्थोंमें कर्त्ता कर्म क्रियाके होनेसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। यही समझकर उत्तम मुनिराज अपने पदार्थमें ही कर्त्ता कर्म और क्रियाओंका होना मानते हैं।

भावार्थ–'मैं घट बनाता हूं' इस वाक्यमें मैं कर्त्ता है, घट कर्म है और बनाना क्रिया है। बनाना क्रियाका आधार घट है। यहांपर मैं शब्दसे रागादि विशिष्ट अशुद्ध आत्मा लिया जाता है, अथवा शरीर विशिष्ट आत्मा लिया जाता है। मैं घट बनाता हूं इसमें शरीर विशिष्ट आत्मा ही बनानेरूप क्रिया को करता है। इस प्रकार पुद्गलरूप घटको बनानेवाला कर्त्ता शरीर विशिष्ट आत्मा कहलाता है। यह सब व्यवहारनय है। व्यवहारसे ही ऐसा कहा जाता है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यहांपर भी पुद्गलरूप घटका कर्त्ता आत्मविशिष्ट शरीर है। शरीर पौद्गलिक है इस बातको सब कोइ जानता है। इसप्रकार घटरूप पुद्गलका कर्त्ता शरीररूप पुद्गल ही पडता है और इस वाक्यमें कर्त्ता कर्म क्रिया तीनों ही पुद्गलमें सिद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार यथार्थ रीतिसे कर्त्ता कर्म क्रिया तीनों एक अपने ही द्रव्यमें सिद्ध होते हैं यदि आत्मद्रव्यको कर्त्ता मान लिया जाय तो आत्मा अपने ही भावोंका कर्त्ता होता है। वह परभावोंका कर्त्ता कभी नहीं हो सकता। यदि वह आत्मा शुद्ध है तो अपने शुद्ध भावोंका कर्त्ता होता है आर जो आत्मा अशुद्ध होता है वह अपने रागादिक अशुद्ध भावोंका कर्त्ता होता है। आत्मा चाहे शुद्ध हो और चाहे अशुद्ध हो वह घटपटादिकका कर्त्ता तो कभी नहीं हो सकता। घटपटादिकका कर्त्ता तो शरीर ही होसकता है। घटपटादिकका इस प्रकारसे भी कर्त्ता कर्म क्रिया तीनों ही अपने द्रव्यमें ही सिद्ध होते हैं। पर द्रव्यमें कभी नहीं हो सकते।

इस प्रकार कर्ता कर्म क्रियाकी सिद्धि अपने निज द्रव्यमें सिद्ध होनेपर भी उससे आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिस समय यह शुद्ध आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मामें अपने ही शुद्ध आत्माके द्वारा अपने ही शुद्ध भावोंको उत्पन्न करता है उस समय वह शुद्ध आत्मा कर्ता कहलाता है, शुद्ध भावकर्म कहलाते हैं और शुद्ध भावोंका प्रगट होना क्रिया कहलाती है। यद्यपि इस प्रकार शुद्ध भावोंके उत्पन्न होनेमें कर्ता कर्म क्रियाकी कल्पना की जाती है, परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उस कर्ता कर्म क्रियामें कोई अन्तर नहीं होता और न कर्ता कर्म क्रियाकी कल्पना होती है। वहांपर तो शुद्ध आत्मा है उसका परिणमन स्वयं शुद्ध भावरूप होता रहता है और वह भी तद्रूप ही होता है इसलिए वह शुद्ध आत्मा ही कर्ता है, वही शुद्ध आत्मा कर्म है और वही शुद्ध आत्मा क्रियारूप परिणत होता है। इस प्रकार कर्ता कर्म क्रिया इन तीनोंमें अभेद सिद्ध हो जाता है तथा अभेद सिद्ध होनेसे निर्विकल्पक अवस्था माननी पडती है। इस प्रकार समस्त संकल्प-विकल्पसे रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप जो आत्मा है वही कर्ता है, वही कर्म है और वही क्रिया है तथा आत्मसिद्धिका वा मोक्ष प्राप्तिका साक्षात् कारण है। इस प्रकार आत्मा द्रव्यमें ही कर्ता कर्म क्रिया माननेसे आत्माकी सिद्धि होती है। अन्यथा नहीं।

प्रश्न—वद स्वद्रव्यचिन्हं किं कर्ताकर्माद्यभेदकम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जिसमें कर्त्ता कर्म क्रिया तीनोंमें अभेद सिद्ध होता हो ऐसे स्वद्रव्यका चिन्ह क्या है ?

उत्तर—व्याप्यव्यापकभावेन विना कर्तादिकारकम् ।
घटते न परद्रव्ये क्वचिद्वा घटते यदि ॥१५२॥

सत्यार्थे स्वपदार्थे हि तादात्म्यवशातः सदा ।
ज्ञात्वेति प्राप्य वस्तुत्वं स्थातव्यं परमात्मनि ॥१५३॥

अर्थ—कर्ता कर्म क्रिया इन तीनोंका सद्भाव वहीं होता है जहां परस्पर एक दूसरेके साथ व्याप्य व्यापक भाव होता है। व्याप्य व्यापक भाव एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ नहीं होता, इसलिए व्याप्य व्यापक भावके बिना कर्ता कर्म क्रिया ये तीनों ही परद्रव्यमें कभी संघटित नहीं हो सकती। यदि कर्ता कर्म क्रिया ये तीनों ही संघटित होते हैं तो यथार्थ स्वद्रव्यमें ही संघटित होते हैं क्योंकि स्वद्रव्यमें ही तादात्म्य संबंधसे व्याप्य व्यापक भाव बनता है और कर्ता कर्म क्रिया तीनों ही संघटित हो जाती हैं। इस प्रकार वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझकर और उस यथार्थ निज द्रव्यको प्राप्त होकर परमात्मामें स्थिर हो जाना चाहिए।

भावार्थ—जहां व्याप्य व्यापक संबंध होता है वहीं कर्ता कर्म क्रिया संघटित होती है। जहां व्याप्य व्यापक भाव नहीं होता वहां कर्ता कर्म क्रिया कभी संघटित नहीं हो सकते। व्याप्य व्यापक भाव निज द्रव्यमें ही होता है। दो द्रव्योंमें परस्पर व्याप्य व्यापक भाव कभी नहीं हो सकता। यही कारण है कि दो द्रव्योंमें एक दूसरेके साथ कर्ता कर्म क्रिया संघटित नहीं हो सकती। किसी एक ही द्रव्यमें व्याप्य व्यापक भाव होता है और उसी एक द्रव्यमें कर्ता कर्म क्रिया संघटित होती है। इसका भी कारण यह है कि तादात्म्य संबंध किसी एक ही द्रव्यमें होता है तथा जहां तादात्म्य संबंध होता है वहीं व्याप्य व्यापक भाव होता है और जहां व्याप्य व्यापक भाव होता है वहीं कर्ता कर्म क्रिया हो सकते हैं। अतएव ऊपरके श्लोकोंमें कहे अनुसार आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही कर्ता कर्म क्रियाका अन्वेषण करना चाहिए और अभेद दृष्टिसे शुद्ध आत्माको ही कर्ता कर्मरूप मानकर उसीमें स्थिर हो जाना चाहिए। मोक्षप्राप्तिका यही उपाय है।

प्रश्न—तत्त्वतः कीदृशोहं कौ वद मे शान्तये प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अपनी आत्माको शान्ति प्राप्त करनेके लिए मुझे यह बतलाइये कि वास्तवमें मेरा स्वरूप कैसा है अथवा मैं कैसा हूं ?

उत्तर—बालो न वृद्धस्तरुणी युवा न वेषी न रागी कृपणो न दानी।
स्वामी न भृत्यः सुजनो न पापी वर्णो न वर्णी न पशुर्मनुष्यः ॥१५४॥
व्याधिस्ततो मे जननं न मृत्युः कुकर्मणो भ्रान्तिकरः सदैव।
सर्वोपि पर्यायचयोस्ति तत्त्वात् स्वराज्यकर्तास्मि निरंजनोहम् ॥१५५॥

अर्थ—वास्तवमें देखा जाय तो मैं न तो बालक हूं, न वृद्ध हूं, न तरुण स्त्री हूं, न युवा पुरुष हूं, न किसी वेषको धारण करनेवाला हूं, न रागी हूं, न कृपण हूं, न दानी हूं, न स्वामी हूं, न सेवक हूं, न सज्जन हूं, न पापी हूं, न किसी वर्णका हूं, न किसी वर्णमें रहनेवाला हूं, न पशु हूं, न मनुष्य हूं, न मुझे कोई व्याधि होती है, न मेरा जन्म होता है, और न मेरी मृत्यु होती है। यह सब निंदनीय कर्मोंके उदयसे होनेवाला और सदाकाल बाल वृद्ध आदिकी भ्रांति उत्पन्न करनेवाला पर्यायोंका समूह है। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यका वा मोक्षरूप स्वराज्यका मैं कर्त्ता हूं और समस्त कर्म वा दोषोंसे रहित निरंजन हूं।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा कर्मोंके निमित्तसे चारों गतियोंमें अनेक प्रकारकी पर्यायें धारण करता रहता है। कभी मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होकर अनेक प्रकारके शरीर धारण करता है। कभी पशु पर्यायमें उत्पन्न होकर गाय, भैंस, घोडा, हाथी, भौंरा, मक्खी, लट आदि अनेक प्रकारके शरीर धारण करता है कभी नरकमें उत्पन्न होता है, कभी स्वर्गमें देव होता है वा देवी होता है, कभी

बालक कहलाता है, कभी वृद्ध कहलाता है, कभी स्त्री कहलाता है, कभी स्वामी कहलाता है, कभी सेवक कहलाता है, कभी पापी कहलाता है, कभी धर्मात्मा कहलाता है, कभी रोगी, कभी शोक करनेवाला और कभी जीने मरनेवाला कहलाता है। ये सब इस संसारी जीवकी वैभाविक पर्यायें हैं और कर्मोंके उदयसे हुआ करती हैं। यदि इस जीवके साथ कर्मोंका उदय न हो तो ये पर्यायें कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि ये पर्यायें यथार्थमें शुद्ध जीवकी नहीं हैं तथा मेरे आत्माका यथार्थ स्वरूप शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और इसीलिए वह मेरा आत्मा रागद्वेषादिक समस्त विकारोंसे रहित है, समस्त कर्मोंसे रहित है और सिद्धोंके समान अत्यंत शुद्ध है। इसीलिए वह मेरा आत्मा मोक्षरूप स्वराज्यका कर्ता है और तज्जन्य अनंत सुखका भोक्ता है। अतएव हे आत्मन्! यदि तू अपने वास्तविक स्वरूपको देखना चाहता है और अनन्त सुखी होना चाहता है तो रागद्वेषादिक विकारोंका सर्वथा त्याग कर, आत्माकी शुद्ध अवस्था प्रगट कर और मोक्षकी प्राप्ति कर।

प्रश्न—केन स्वात्मपदं शुद्धं प्राप्यतेऽन्विष्यते भुवि ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें अपने आत्माके शुद्ध पदको कौन प्राप्त कर लेता है वा कौन तलाश कर लेता है।

उत्तर—अज्ञानतश्चान्यपदेऽतिनिंद्ये, दुःखप्रदे वै वसता मया हि।
अनन्तकालो गमितो भवाब्धौ, दुःखं च भोक्त्रा कुकृतिं प्रकर्त्रा ॥१५६॥
अद्यापि चानन्दपदं न लब्धं, हा कर्मचौरेण हतः प्रणष्टः।
एवं विचारः क्रियते च येन, ह्यन्विष्यते स्वात्मपदं च तेन ॥१५७॥

अर्थ—इस संसाररूपी महासागरमें मैं अपनी अज्ञानताके कारण अत्यंत दुःख देनेवाले और महा

निंद्य ऐसे नरक निगोद आदि अन्य स्थानोंमें ही निवास करता रहा। वहांपर रहते हुए मैंने अनंतकाल व्यतीत कर दिया और वहींपर अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहा और अनेक प्रकारके कुकर्म करता रहा तथा इसीलिए मैंने आज तक अपने आत्मजन्य आनन्दको प्राप्त नहीं किया। इस प्रकार इन कर्म-रूपी चोरोंने मेरा सब कुछ छीन लिया और मुझे सब प्रकारसे नष्ट कर दिया। जो महापुरुष सदाकाल इस प्रकारके विचार करता रहता है वह पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको अवश्य तलाश कर लेता है।

भावार्थ—अज्ञान वा आत्मज्ञानके विना यह जीव संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण करता रहता है और अनंत दुःख भोगता रहता है अनादिकालसे लेकर आज तक इस जीवको आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। वह आत्मज्ञान सम्यग्दर्शनरूपी आत्मजन्य अमूर्त प्रकाशके प्रगट होनेपर होता है। जिस समय यह आत्मज्ञान प्रगट हो जाता है उसी समय स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है। स्वपरभेदविज्ञान प्रगट होनेसे यह आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप निज स्वभावको ग्रहण करने लगता है और रागद्वेषादिक परपदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देता है तथा ममत्वका सर्वथा त्याग कर देता है। उस समय यह जीव कर्मजन्य समस्त विकारोंको हेय समझता है और आत्माके शुद्ध परिणामोंको उपादेय वा ग्रहण करने योग्य समझता है। इस प्रकार हेय उपादेयका ज्ञान होनेपर यह जीव आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रगट करनेका प्रयत्न करता है और धीरे-धीरे चारित्रको धारण कर ध्यान व तपश्चरणके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसलिए भव्य जीवोंको सदाकाल आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते रहना चाहिए तथा परपदार्थोंका त्याग कर आत्म-स्वरूपमें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मनुष्य जन्मकी सफलता है।

प्रश्न—भो परग्रहणत्यागः कतिवारं कृतं मया ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि इन परपदार्थोंका ग्रहण और त्याग मैंने कितनी बार किया है ?

उत्तर—प्रियोपि पुत्रः सुखदश्च बंधुः, श्रेष्ठापि भार्या च सखा दयार्द्रः ।
मातापि मान्या चतुरः पितापि, स्वसा सुशीला प्रियबांधवोपि ॥१५८॥
त्यक्तो गृहीतो बहुबारमेव, निजात्मबाह्यः सकलः पदार्थः ।
किन्तु स्वभावो विमलो न यस्माज्जातोस्मि दीनो भवदुःखपात्रम् ॥१५९॥

अर्थ—प्रिय पुत्र, सुख देनेवाला भाई, श्रेष्ठ स्त्री, चतुर पिता, माननीया माता, दयालु मित्र, सुशील बहिन और प्यारे कुटंबी लोग तथा इसी प्रकारके आत्मासे भिन्न रहनेवाले संसारके समस्त पदार्थ अनेक बार ग्रहण किये हैं और अनेक बार इनका त्याग किया है । परन्तु अपने आत्माका निर्मल स्वभाव आज तक ग्रहण नहीं किया है । इसीलिए मैं अब तक दीन और संसारके समस्त दुःखोंका पात्र बना रहा हूं ।

भावार्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए मुझे अनंतानंत काल व्यतीत हो गया है । इस अनंतानंत कालमें अनंत ही पुत्र प्राप्त किये, अनंत ही स्त्रियां प्राप्त कीं, अनंत ही भाई प्राप्त किये, अनंत ही माता प्राप्त कीं, अनंत ही पिता प्राप्त किये, अनंत ही मित्र बनाये, अनंत ही बहिनें हुई और अनंत ही कुटंबी मिले । इसके सिवाय अनंत बार देवोंकी विभूति प्राप्त की अनंत बार राज्य वा साम्राज्य प्राप्त किये, अनंतानंत विशाल भवन बनवाये और अनंतानंत बार ही संसारके समस्त पदार्थ प्राप्त किये । मैं अब तक इन समस्त बाह्य पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि करता रहा और इन सबको अपना मानता रहा और उनको देख-देख कर प्रसन्न होता रहा तथा इसी प्रकार मैंने अनंत बार ही इन सबका वियोग सहन

किया, अनंतबार ही उनके लिये आंसू बहाये और अनंत बार ही उनके लिये न जाने कैसे-कैसे दुःख सहे। यदि मैं इस अनंतानंत कालमें एक बार भी अपने आत्माके निर्मल स्वभावको ग्रहण कर लेता तो मैं अवश्य ही इस संसारके विषम बन्धनोंसे छूट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता और सदाके लिये अनंत सुखी हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि आत्म स्वभावका चिंतवन करना और उसको प्राप्त करना प्रत्येक भव्य जीवोंका कर्त्तव्य है। यही मोक्षका कारण है।

प्रश्न—स्वार्थी यथार्थो वद कोस्ति लोके ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें वास्तविक रीतिसे स्वार्थी कौन है ?

उत्तर—स्वर्मोक्षमार्गादिविनाशकं हि चित्ताक्षवेगं च कषायकाण्डम् ।
निरुध्य मायामलिनस्वभावं त्यक्त्वा व्यथादं च कुटुम्बमोहम् ॥१६०॥
क्षमाकृपाशान्तिदयादिहेतोः स्वानन्दसाम्राज्यपदप्रसिद्धचै ।
यः कोपि जीवो यतते सदैव स्वार्थी यथार्थोस्ति स एव लोके ॥१६१॥

अर्थ—जो महापुरुष स्वर्ग और मोक्षके मार्गको नाश करनेवाले इंद्रिय और मनके वेगको रोक लेता है, समस्त कषायोंके समूहको रोक लेता है, मायाचारीसे उत्पन्न होनेवाले मलिन स्वभावको रोक लेता है और महादुःख देनेवाले कुटंबके मोहको सर्वथा छोड देता है। इन सबका त्यागकर जो महात्मा क्षमा, कृपा, शान्ति, दया आदि आत्माक गुणोंकी वृद्धिके लिए तथा शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनन्त सुखरूपी साम्राज्यपदको प्रगट करनेके लिये सदाकाल प्रयत्न करता रहता है वही महात्मा इस संसारमें यथार्थरूपसे स्वार्थी है।

भावार्थ—अपने स्वार्थको सिद्ध करनेवाला पुरुष स्वार्थी कहलाता है। स्वार्थी पुरुष अपने काममें विघ्न करनेवालोंका त्याग कर देते हैं और जिस प्रकार बनता है उसी प्रकार अपने कार्यकी सिद्धिमें लगे रहते हैं। यह स्वार्थ शब्द दो शब्दोंसे मिलकर बना है स्व और अर्थ शब्द मिलकर स्वार्थ बनता है। स्व शब्दका अर्थ अपना है। अपना वा स्व शब्दसे यहांपर आत्मा ग्रहण करना चाहिये और अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है। जिससे स्व अर्थात् आत्माका अर्थ अर्थात् प्रयोजन सिद्ध होता हो उसको स्वार्थ कहते हैं। आत्माका प्रयोजन वा हित मोक्ष प्राप्त करनेमें है इसलिए मोक्ष प्राप्त कर लेना ही आत्माका यथार्थ स्वार्थ है। उस मोक्षकी प्राप्तिमें मन और इन्द्रियोंके विषय विघ्न करनेवाले हैं, कषायोंका समूह विघ्न करनेवाला है, मायाचारीसे उत्पन्न होनेवाले मलिन परिणाम विघ्न करनेवाले हैं और कुटुम्बका मोह विघ्न करनेवाला है इसलिए आत्माका हित करनेवाला यथार्थ स्वार्थी पुरुष सबसे पहले इन्द्रिय और मनके विषयोंका त्याग करता है, क्रोधादिक समस्त कषायोंका त्याग करता है, मायाचारीका त्याग कर आत्माको निर्मल बनाता है और कुटुम्बके मोहका त्यागकर आत्माको अत्यन्त शान्त बना लेता है। इस प्रकार इन सबका त्याग कर देनेसे क्षमा कृपा शांति दया आदि आत्माके गुण अपने आप प्रगट हो जाते हैं। इन गुणोंके प्रगट होनेसे उसे आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है, अपने आत्मामें रहनेवाले अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्यका ज्ञान हो जाता है और फिर उस अनन्त ज्ञान वा अनन्त सुखको प्राप्त करनेके लिए ध्यान वा तपश्चरण करने लगता है। धीरे धीरे उस तपश्चरण और ध्यानसे समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है और मोक्षरूप अपने आत्माकी निधिको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अपनी निजकी निधिको प्राप्त कर लेना ही सबसे बढकर और यथार्थ स्वार्थ है। संसारी जीव जो क्षणभरके स्वार्थके लिए महा पाप उत्पन्न कर नरक निगोदादिकके दुःख भोगते हैं इसको स्वार्थ नहीं कहते हैं। वास्तविक स्वार्थ वही है जिससे यह आत्मा

सदाकालके लिए अनन्त सुखी हो जाय। इसलिए भव्य जीवोंको अपना ऐसा ही यथार्थ स्वार्थ सिद्ध कर लेना चाहिए वा उसके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—अखण्डं वस्तु खण्डं किं कृत्वेति कल्प्यते वद?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें अखंड पदार्थोंमें भी खंड रूप कल्पना क्यों करते हैं?

उत्तर—ज्ञानं व्याप्यमिति स्वात्मा व्यापकस्तत्त्ववेदिभिः।
क्रियतेऽपि तयोर्भेदोऽबोधानां बोधहेतवे ॥१६२॥
यथाऽग्न्युष्णादिभेदोपि संज्ञासंख्याप्रयोजनात्।
क्रियते न तयोः पश्चाच्छुद्धचिद्रूपवस्तुनः ॥१६३॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि और उष्णता दोनों ही अखंड पदार्थ हैं तथापि अज्ञानी जीवोंको वा बालकोंको समझानेके लिये संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिके भेदसे उस अग्नि और उष्णतामें अनेक भेद सिद्ध किये जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि ज्ञान और आत्मा दोनों एक हैं अखंड पदार्थ हैं तथापि अज्ञानी वा बालकोंको समझानेके लिये व्याप्य व्यापकके भेदसे वा गुण गुणीके भेदसे उसके अनेक भेद सिद्ध किये जाते हैं। परंतु जब वह समझनेवाला आत्माका यथार्थ स्वरूप समझ लेता है और उस आत्माको शुद्ध चैतन्यमय मान लेता है तब फिर वह उसमें भेद कल्पना नहीं करता।

भावार्थ—यद्यपि अग्नि और उष्णता दोनों एक ही अखंड पदार्थ हैं। न तो उष्णता अग्निसे कभी भिन्न हो सकती है और न अग्नि ही उष्णतासे भिन्न हो सकती है। जहां अग्नि है वहां उष्णता

है और जहां उष्णता है वहां अग्नि है तथापि समझानेके लिये उसमें भिन्न-भिन्न कल्पना करते हैं। अग्नि एक पौद्गलिक पदार्थ है और उष्णता उसका गुण है। दोनोंकी अलग-अलग संज्ञा बतलाकर समझाते हैं। अग्निकी संख्या भी भिन्न-भिन्न बतलाते हैं। यह बबूलकी लकडीकी अग्नि है, यह आमकी लकडीकी अग्नि है, यह कंडोंकी अग्नि है और यह फूंसकी अग्नि है। इस प्रकार अग्निमें भी अनेक भेदोंकी कल्पना करते हैं। यद्यपि सब अग्नि एक समान है तथापि उनमें उष्णताके भेदसे भेद हो जाता है। बबूलकी लकडीकी अग्निमें उष्णता तीव्र होती है, आमकी लकडीकी अग्निमें उससे कम होती है, कंडेकी अग्निमें उससे कम होती है और फूंसकी अग्निमें उससे कम होती है। इस प्रकार संख्याके भेदसे भेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार कंडेकी अग्निसे जो काम होता है वह फूंसकी अग्निसे नहीं हो सकता है तथा बबूल वा आमकी लकडीसे भी नहीं हो सकता और जो काम बबूल वा आमकी लकडीसे होता है वह कंडा वा फूंसकी अग्निसे नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रयोजनके भेदसे भी इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार यह संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिसे अग्निमें भेद सिद्ध होता है उसी प्रकार आत्मामें भी संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिके भेदसे भेद सिद्ध हो जाता है। यद्यपि ज्ञान और आत्मा दोनों अभिन्न हैं तथापि आत्मा गुणी है। ज्ञान उसका गुण है। गुणी होनेसे आत्मा व्यापक है और ज्ञान गुण होनेके कारण व्याप्य है। आत्मामें जिस प्रकार ज्ञान गुण है उसी प्रकार दर्शन वीर्य सुख आदि अनेक गुण आत्मामें रहते हैं। इसीलिए आत्मा व्यापक कहलाता है तथा उसके गुण व्याप्य कहलाते हैं। इस प्रकार संज्ञाके भेदसे अखंड आत्मामें भी भेद सिद्ध किया जाता है अथवा यद्यपि ज्ञान गुण एक ही अखंड गुण है। तथापि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान आदिके भेदसे ज्ञानके भी बहुतसे भेद सिद्ध हो जाते हैं। यह भी संज्ञाके भेदसे भेद सिद्ध हो जाता है। यद्यपि आत्मा एक अखंड है तथापि कभी बालक होता है, कभी युवा होता है, कभी वृद्ध होता है, कभी मुनि अवस्था धारण करता है, कभी

पशु होता है, कभी नरकमें जाता है, कभी देव होता है, इस प्रकार अनेक प्रकारके शरीर धारण करता रहता है। उन शरीरोंके भेदसे उसके ज्ञानगुणमें भी भेद सिद्ध होता है। देवपर्यायमें अवधिज्ञान वा मिथ्या अवधिज्ञान अवश्य होता है परंतु मनुष्य वा पशु शरीरमें यह अवधिज्ञान वा मिथ्या अवधिज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी होता। इस प्रकार इस जीवके कभी दो ज्ञान होते हैं और कभी तीन ज्ञान होते हैं। इस प्रकार संख्याके भेदसे उनमें भेद सिद्ध होता है। मोक्षकी प्राप्ति मनुष्य शरीरसे ही होती है। स्त्रीके शरीरसे न तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और न सातवें नरककी प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस जीवकी भिन्न भिन्न पर्यायोंसे भिन्न-भिन्न अनेक प्रयोजन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनके भेदसे भी इनमें भेद सिद्ध होता है। इस प्रकार संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिके भेदसे इस अखंड आत्मामें अनेक भेद सिद्ध होते हैं तथा ये सब भेद अज्ञानी वा बालकोंको समझानेके लिए कहे जाते हैं। यहांपर जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता उसे ही बालक वा अज्ञानी समझना चाहिए। जो पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माके स्वरूपको समझ लेता है फिर वह अखंडरूपसे ही उसको ग्रहण कर लेता है। उसके लिए फिर किसी भी भेदकी आवश्यकता नहीं होती।

प्रश्न—कस्तीव्रपापनिचयं भुवि संचिनोति ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें तीव्र पापोंका संचय कौन करता है ?

उत्तर—यस्तीव्रकर्मवशगो नितरामभागी,
स्वर्मोक्षदं त्यजति धर्मविधिं स एव।
भ्रान्तिप्रदं नरकदं विषमं व्यथादं,
पापं करोति सततं भुवि बोधशून्यः ॥ १६४ ॥

११८

अर्थ—जो जीव आत्मज्ञानसे रहित होता है तथा जो तीव्र कर्मोंके वशीभूत होता है और इसी लिए जो भाग्यहीन कहलाता है, ऐसा जो जीव स्वर्ग मोक्षके कारणभूत धार्मिक विधियोंका त्याग कर देता है वही जीव भ्रांति उत्पन्न करनेवाले, नरकमें पहुंचानेवाले, अत्यन्त विषम और महा दुःख देनेवाले पापोंको निरन्तर उत्पन्न करता रहता है।

भावार्थ—जो जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझता है, अर्थात् जिसके सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया है और इसीलिए जिसके तीव्र कर्मका उदय नहीं है ऐसा जीव धार्मिक विधियोंको कभी नहीं छोड सकता। वह समझता है कि दान पूजा आदि धार्मिक कार्य पुण्य कर्मोंको बढानेवाले हैं और पाप-कर्मोंको नाश करनेवाले हैं। इस प्रकार विचार करनेवाला जीव धार्मिक क्रियाओंमें वृद्धि करता जाता है और पाप कर्मोंका नाश करता जाता है। इस प्रकार वह पाप कर्मोंसे सदा बचता रहता है परन्तु जो जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझता अर्थात् जो सम्यग्दृष्टी नहीं है मिथ्यादृष्टी वा तीव्रमिथ्यादृष्टी है वह अपने तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे सदा दीन, दरिद्री, दुःखी और भाग्यहीन बना रहता है। तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे वह पुरुष देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति छोड देता है, दान, पूजा आदि पुण्यके कार्योंको छोड देता है और व्रत उपवास आदि क्रियाओंका भी त्याग कर देता है। ऐसा पुरुष इन धार्मिक क्रियाओंका त्याग कर देनेसे पुण्य कर्मोंका बंध नहीं कर सकता किंतु मिथ्यात्वमें लीन रहनेके कारण सदाकाल तीव्र पापोंका बंध करता रहता है। इस संसारमें यह निश्चित सिद्धांत है कि सम्यग्दर्शनके समान अन्य कोई भी परिणाम पुण्यकर्मोंका बंध करनेवाले नहीं हैं और मिथ्यात्वके समान अन्य कोई भी परिणाम पापोंका बंध करनेवाला नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मज्ञानसे रहित मिथ्या दृष्टि पुरुष ही सबसे अधिक पाप कर्मोंका बंध करता रहता है।

प्रश्न—कृत्यं करोति शिवदं क्रमतः स कोऽस्ति ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि ऐसा कौन मनुष्य है जो अनुक्रमसे मोक्ष देनेवाले कार्यको सदाकाल करता रहता है ?

उत्तर—यस्तीव्रकर्मरिपुणा ह्यशुभेन मुक्तः,चित्ताक्षतृप्तिकरपुण्यशतेन युक्तः ।
भव्यात्मभावपरिपूरणदत्तचित्तः कृत्यं स च प्रतिभवं सुखदं करोति ॥१६५॥

अर्थ—जो मनुष्य तीव्र अशुभ कर्मोंसे रहित होता है, इंद्रिय और मनको तृप्त करनेवाले सैकडों पुण्यकर्मोंसे सुशोभित होता है और सदाकाल अपने मनको भव्य जीवोंके होनेवाले शुभ वा शुद्ध भावोंके पूर्ण करनेमें लगाता रहता है ऐसा मनुष्य प्रत्येक भवमें सुख देनेवाले पात्रदान जिनपूजन व्रत उपवास आदि कार्य ही किया करता है ।

भावार्थ—इस संसारमें इस जीवको तीव्र मोहनीयकर्म मोक्षमार्गमें लगनेसे रोकता है । मोहनीयकर्ममें भी सबसे तीव्र मोहनीयकर्म दर्शन मोहनीयकर्म है । दर्शन मोहनीयकर्म सम्यग्दर्शनको प्रगट नहीं होने देता । सम्यग्दर्शनके प्रगट न होनेसे इस जीवको स्वपरभेदविज्ञान नहीं होता और स्वपर भेदविज्ञान न होनेसे यह जीव अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाता है और राग द्वेषादिक वा बाह्य विभूति आदि परपदार्थोंको अपना मान लेता है । परपदार्थोंको अपना मान लेना तीव्र अपराध है और इसी अपराधके कारण यह जीव तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करता रहता है । ऐसा जीव मोक्षके मार्गमें कभी नहीं लग सकता । जो जीव इस संसारके कारणभूत मोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेता है तथा उस सम्यग्दर्शनसे स्वपरभेदविज्ञान होनेके कारण आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझने लगता है और इसीलिए जो परपदार्थोंमें मोहित नहीं होता, परपदार्थोंके मोहको सर्वथा त्याग कर देता है और उस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अनंत पुण्य संपादन करता रहता है तथा अपने आत्माकी

निर्मलताको वा शुद्धताको प्राप्त करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करता रहता है। इसके लिए जो चारित्रको धारण करता है, ध्यान वा तपश्चरण करता है वा गुप्ति समितियोंको पालन करता है ऐसा जीव प्रत्येक भवमें मोक्षके साधनभूत तथा आत्माको अनंतसुख प्राप्त करनेवाले कार्य करता रहता है और इस प्रकार बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतएव भव्य जीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेनेका प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय।

प्रश्न—स्वयमात्मा विकारी स्याद्वा कस्यापि निमित्ततः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइए कि यह आत्मा स्वयं विकारोंको उत्पन्न करता रहता है अथवा किसीके निमित्तसे विकारोंको उपन्न करता है।

उत्तर—जीवप्रमोहजननेस्ति निमित्तमात्रं,
बंधुः प्रिया परिजनोऽखिलविश्ववर्गः।
जीवः स्वयं भवति मोहकषायकीर्णः,
स्याद्दर्पणोपि मणिसंगवशाद्विकारी ॥१६६॥
चक्रादिदण्डनिचयोस्ति निमित्तमात्रो,
मृद्वै स्वयं परिणता सुघटान्यरूपा।
तन्तुः स्वयं पटमयो भवति स्वभावाद्,
ज्ञेयं तथैव भुवनेऽखिलवस्तुरूपम् ॥१६७॥

अर्थ—जिस प्रकार लाल पीले नीले आदि रंगके मणि लगानेसे दर्पणमें विकार उत्पन्न हो जाता है,

समझकर भव्यजीवोंको मोह कषाय वा ईर्ष्या अभिमान आदि आत्माके विकारोंके त्याग करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इन्हींका त्याग करना आत्माके हितका कारण है।

भावार्थ—परिग्रह दो प्रकारके होते हैं, अंतरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। खेत, मकान, पशु, धान्य, धन, दासी, दास, आसन, शय्या, वस्त्र और वर्तन ये सब बाह्य परिग्रह कहलाते हैं तथा मिथ्यात्व स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। इनमेंसे बाह्य परिग्रहका त्याग करना तो सरल है परन्तु अंतरंग परिग्रहका त्याग करना अत्यंत कठिन है। इसका भी कारण यह है कि ये अंतरंग परिग्रह इस जीवके साथ अनादि कालसे लगे हुए हैं। बाह्य परिग्रह तो कभी होते हैं और कभी नहीं होते अथवा कभी अधिक होते हैं और कभी बहुत कम होते हैं। परन्तु अंतरंग परिग्रह आज तक कभी नहीं छूटे। यदि एक बार भी इन अंतरंग परिग्रहोंका त्याग हो जाता तो इस आत्माको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती। इस मोक्षकी प्राप्तिमें अंतरंग परिग्रहोंका त्याग होना ही मुख्य कारण है। अंतरंग परिग्रहोंका त्याग होनेसे आत्मामें निर्मलता प्राप्त होती है, तथा आत्मामें निर्मलता प्राप्त होनेसे रत्नत्रयादिक आत्माके गुण प्रगट होते हैं और रत्नत्रयादिक आत्माके गुण प्रगट होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार मोक्षकी प्राप्तिमें अंतरंग परिग्रहोंका त्याग ही मुख्य कारण पडता है। इसलिए भव्य जीवोंको सबसे पहले इन अंतरंग परिग्रहोंके त्याग करनेका ही प्रयत्न करना चाहिए। यही मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका फल है।

प्रश्न—कौ सुखदः स्वधर्मो वा विधर्मोस्ति गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सुख देनेवाला स्वधर्म है वा विधर्म है? १२

उत्तर—धर्मः स्वकीयः सुखदः प्रसिद्धः, विधर्मएवाखिलदुःखदोस्ति ।
ज्ञात्वेत्यधर्मं प्रविहाय निंद्यं ग्राह्यः स्वधर्मः सुखदः सदैव ॥१७०॥

अर्थ—इस संसारमें यह प्रसिद्ध है कि स्वकीय धर्म ही सुख देनेवाला है तथा स्वकीय धर्मके प्रतिकूल जो विधर्म है वह समस्त दुःखोंको देनेवाला है। यही समझ कर इस निंदनीय धर्मका त्याग कर देना चाहिए और सुख देनेवाले स्वधर्मको सदा काल ग्रहण करते रहना चाहिए।

भावार्थ—स्व शब्दका अर्थ आत्मा है। आत्माका जो निज स्वभाव है वही स्वधर्म कहलाता है तथा जो आत्माका विभाव भाव है उसको विधर्म वा अधर्म कहते हैं। आत्माका स्वभाव रत्नत्रय स्वरूप है इसलिए रत्नत्रय ही स्वधर्म है अथवा उत्तम क्षमादिक दश धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिए इन दश धर्मोंको भी स्वधर्म कहते हैं। अथवा आत्माका जो अत्यंत शुद्ध स्वभाव है वह स्वधर्म कहलाता है। यह सब स्वधर्म मोक्षका कारण है आत्म-जन्य अनंत सुखको देनेवाला है, अपने आत्मामें स्थिर रहनेसे ही इस आत्माको निराकुलता और शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसलिए यह स्वधर्म सदा काल सुख देनेवाला माना जाता है। इस स्वधर्मके विपरीत जो आत्माके विकार हैं वे सब विधर्म वा अधर्म कहलाते हैं। क्रोध मान माया लोभ आदि जितने आत्माके विकार हैं वा जितने परिग्रह हैं वे सब स्वधर्मसे विपरीत हैं कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं और नरकादिकके कारण हैं। इसलिए वे सब अधर्म वा विधर्म कहलाते हैं और नरकादिकके महा दुःख देनेवाले हैं। इसलिए भव्य जीवोंको इन अधर्मोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और दोनों लोकोंमें सुख देनेवाले स्वधर्मको ग्रहण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कोस्ति स्वधर्मो वद मे विधर्मः ?

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलाइये कि स्वधर्म किसको कहते हैं और विधर्म किसको कहते हैं?

उत्तर—यत्रास्ति मोहादिकषायकोशस्तत्रास्ति दुष्टो विषमो विधर्मः।
न दृश्यते मोहकषायकोशस्तत्रास्ति चानन्दमयः स्वधर्मः ॥१७१॥

अर्थ—जहांपर मोह वा क्रोधादिक कषायोंका समूह रहता है वहांपर दुष्ट और भयंकर विधर्म रहता है तथा जहांपर मोह वा क्रोधादिक कषाय नहीं रहते वहांपर चिदानन्द स्वरूप स्वधर्म विद्यमान रहता है।

भावार्थ—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय. जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये सब आत्माके विकार कहलाते हैं। ये सब विकार रागादिविशिष्ट अशुद्ध आत्मामें कर्मोंके उदयसे होते हैं। कर्मोंके उदयसे होनेके कारण ये सब विकार पर वा पौद्गलिक कहलाते हैं तथा पर वा पौद्गलिक होनेके कारण ही विधर्म वा अधर्म कहलाते हैं। ये सब विकार अत्यन्त तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करनेवाले हैं और इसीलिये इस जीवको नरकादिकके घोर दुःख देनेवाले हैं। यही कारण है कि ये विकार अधर्म वा विधर्म कहलाते हैं और इन्हींको दुष्ट वा भयंकर कहते हैं। ये विकार ही आत्माको संसार सागरमें डुबोनेवाले हैं और मोक्षसुखसे वंचित रखनेवाले हैं इसलिए भव्य-जीवोंको सबसे पहले इनका त्याग करना चाहिये। इनका त्याग कर देनेसे ही आनन्दमय स्वधर्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसका भी कारण यह है कि जब यह आत्मा अपने विकारोंका सर्वथा त्याग कर देता है तब यह आत्मा अत्यन्त निर्मल हो जाता है तथा निर्मल हो जानेके कारण इसका निज स्वभाव प्रगट हो जाता है और निज स्वभाव ही स्वधर्म कहलता है। यह स्वधर्म वा आत्माकी निर्मलता मोक्षका कारण है और आत्माके अनन्त सुखको प्रगट करनेवाला है। इसलिए भव्य-जीवोंको विकारोंका सर्वथा त्यागकर इस आत्माकी निर्मलता वा रत्नत्रयरूप स्वधर्मको ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—पुनःपुनर्मया किं-किं लब्धं स्वामिन् नवा वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए मैंने बार-बार क्या-क्या प्राप्त किया है और क्या प्राप्त नहीं किया है ?

उत्तर—पुनश्च लब्धं सुसखापि बंधुः पुत्रश्च पौत्रोपि पुनश्च लब्धः ।
धनं च राज्यं सचिवश्च सैन्यः पुनश्च लब्धः सुपितापि माता ॥१७२॥
पुनश्च लब्ध्वा भगिनी च भार्या पुनश्च देवादिचतुर्गतिः कौ ।
न किन्तु लब्धं स्वपदं पवित्रं ततः प्रयत्नाद्धि तदेव लभ्यम् ॥१७३॥

अर्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने बार बार मित्र प्राप्त किए, बार-बार भाई-बंधु प्राप्त किए, बार-बार पुत्र प्राप्त किए, बार बार पौत्र प्राप्त किए, बार-बार धन प्राप्त किया, बार-बार राज्य प्राप्त किया, बार बार मंत्री प्राप्त किए, बार बार सेना प्राप्त की, बार बार पिता प्राप्त किए, बार बार माताएँ प्राप्त कीं, बार-बार बहिनें प्राप्त कीं, बार-बार स्त्रियें प्राप्त कीं और बार-बार देवादिक चारों गतियां प्राप्त कीं, परंतु अत्यंत पवित्र ऐसा आत्माका शुद्ध स्वरूप आज तक प्राप्त नहीं किया । इसलिए अब प्रयत्न कर वही आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेना चाहिए ।

भावार्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवको अनंतकाल व्यतीत हो गया और इस अनंतकालमें संसारकी समस्त विभूति अनंत बार ही प्राप्त की । पुत्र, पौत्र, स्त्री, बहिन, भाई, माता, पिता, धन, राज्य, सेना आदि कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो अनंत बार प्राप्त न हुआ हो । यदि प्राप्त नहीं हुआ है तो आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है । इस जीवको इस संसारमें यदि कोई सुख देनेवाला है तो आत्माका शुद्ध स्वरूप ही है । शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेनेसे ही आत्माको अनंत

सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए भव्य जीवोंको अब इसीके लिए प्रयत्न करना चाहिए। पुत्र पौत्रादिक जो अनंत बार प्राप्त हुए हैं उनका त्याग कर देनेसे तथा अनादिकालसे आत्माके साथ लगे हुए क्रोधादिक कषायोंका त्याग कर देनेसे ही आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त होता है। इसलिए इन सब परिग्रहोंका त्याग कर आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेना प्रत्येक भव्य जीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—कृतः स्वात्महितो येन तेन परहितो न वा ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जो जीव अपने आत्माका हित कर लेता है वह अन्य जीवोंका हित कर सकता है वा नहीं ?

उत्तर—द्वेषश्च रागः खलु येन दग्धस्तेन ध्रुवं स्वात्महितः कृतः कौ।
द्वेषाद्यभावाच्च तथा परेषां हितः कृतः स्वात्मपदे धृतास्ते ॥१७४॥
द्वेषश्च बुद्ध्वेति विहाय रागं तथान्यचिन्तां कुटिलां प्रवृत्तिम्।
कार्यस्त्वया स्वात्महितः प्रयत्नात् यतो ध्रुवं स्यात्स्वपरात्मसिद्धिः॥१७५॥

अर्थ—जो पुरुष अपने रागद्वेषको नष्ट कर देता है वही पुरुष इस संसारमें अपने आत्माका हित कर लेता है तथा जो पुरुष इस प्रकार अपने आत्माका हित कर लेता है उसके द्वेषका सर्वथा अभाव होनेसे वह दूसरोंका अहित कभी नहीं कर सकता, किंतु दूसरोंका हित ही करता है और उनको अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपमें धारण करनेका प्रयत्न करता है। यही समझकर हे वत्स ! तुझे भी रागद्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, अपनी कुटिल प्रवृत्तियोंका त्याग कर देना चाहिए और अन्य सब प्रकारकी चिंताओंका त्याग कर देना चाहिए। इन सबका त्याग कर तुझे प्रयत्नपूर्वक अपने आत्माका हित कर

लेना चाहिए जिससे कि अपने आत्माकी भी सिद्धि हो जाय और अन्य जीवोंको भी अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो जाय।

भावार्थ-जैन-सिद्धांतका यह आदेश है कि "आदहिदं कादव्वं जं सक्कइ तं परहिदं च कादव्वं। आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुदठुं कादव्वं ॥" अर्थात्-सबसे पहले अपने आत्माका हित करना चाहिए। यदि आत्माका हित करते हुए पर आत्माका हित कर सकता हो तो अवश्य करना चाहिए। परंतु जहांपर आत्माका हित और परआत्माका हित दोनों एक साथ आ पडें तो सबसे पहले आत्माका हित कर लेना चाहिए। इसका भी अभिप्राय यह है कि-यहांपर आत्महितका अर्थ राग द्वेषका त्याग करना है। जो पुरुष राग द्वेषका त्याग कर देता है वही पुरुष अपने आत्माका हित करनेवाला गिना जाता है। जो पुरुष स्वयं राग द्वेषका त्याग कर देता है वही पुरुष दूसरोंके राग द्वेषके त्याग करनेका उपदेश दे सकता है और अन्य जीवोंपर उसीके उपदेशका प्रभाव पड सकता है। जिसने स्वयं राग द्वेषका त्याग नहीं किया है वह दूसरोंसे राग द्वेषका त्याग कभी नहीं करा सकता। यही कारण है कि तीर्थंकर परमदेव दीक्षा लेकर भी जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उपदेश नहीं देते हैं। केवलज्ञान प्राप्त होनेपर जब उनका आत्मा परम शुद्ध हो जाता है और वे आदर्श देव बन जाते हैं तब वे दूसरोंको उपदेश देते हैं। इससे सिद्ध होता हैकि जो जीव अपने आत्माका हित कर लेता है वही जीव दूसरोंका हित कर सकता है। इसलिए भव्य जीवोंको सबसे पहले राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, अपनी कुटिल प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और अन्य समस्त चिन्ताओंका वा विकारोंका त्यागकर आत्माको अत्यन्त शुद्ध बना लेना चाहिये। आत्माको अत्यन्त शुद्ध बना लेनेसे ही अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है तथा यही आत्माका हित है।

प्रश्न-मोक्षोपायो गुरो कोस्ति दयाब्धे वद मेऽधुना ?

अर्थ—हे दयासागर गुरो ! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइए कि मोक्षका उपाय क्या है ?

उत्तर—तपोजपक्रियायोगात्केवलं वेषमात्रतः ।
व्रतोपवासमात्राद्धि मोक्षो न निकटायते ॥१७६॥
स्वपरबोधतो मोक्षोऽन्यवस्तुत्यागतस्ततः ।
दासीवात्मानुभूतिश्च मोक्षोपि निकटायते ॥१७७॥

अर्थ—केवल तप करनेसे, वा केवल जप करनेसे, अथवा ऐसी ही और क्रियाएं करनेसे वा केवल वेष धारण कर लेनेसे अथवा केवल व्रत उपवास कर लेने मात्रसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु मोक्षकी प्राप्ति स्वपरभेदविज्ञानसे होती है तथा राग द्वेषादिक अन्य पदार्थोंके त्याग कर देनेसे होती है। स्वपर भेदविज्ञानसे और रागद्वेषादिकका त्याग कर देनेसे स्वात्मानुभूति दासीके समान अपने निकट आ जाती है और अनुक्रमसे मोक्ष भी अत्यन्त समीप आ जाती है।

भावार्थ—यहांपर मोक्षकी प्राप्ति स्वपरभेदविज्ञानसे बतलाई है तथा स्वपरभेदविज्ञानका होना सम्यग्दर्शनका कार्य है जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक स्वपरभेदविज्ञान कभी नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शनके होनेपर ही स्वपरभेदविज्ञान होता है। इसलिए बिना सम्यग्दर्शनके चाहे जितना तपश्चरण किया जाय, चाहे जितना जप किया जाय, चाहे जितना साधुका वेष धारण किया जाय और चाहे जितना व्रत उपवास किया जाय परन्तु बिना सम्यग्दर्शनके उस जप तप वा व्रत उपवाससे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसका भी कारण यह है कि आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर ही होता है। आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेसे यह आत्माके स्वरूपको ग्रहण करने लगता है और आत्मामें रहनेवाले राग द्वेषादिक कषायोंको

पौद्गलिक वा परपदार्थ समझकर त्याग करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार राग द्वेषका त्याग कर अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है और अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है, परन्तु जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक आत्मज्ञान वा स्वपरभेदविज्ञान प्रगट नहीं होता तथा विना स्वपरभेदविज्ञानके वह परपदार्थोंका वा राग द्वेष दिकका त्याग नहीं कर सकता और राग द्वेषादिकका त्याग किए बिना जप तप सब निरर्थक हो जाता है। इसीलिए विना सम्यग्दर्शनके जो तप जप वा व्रत उपवास किया जाता है वह सब मिथ्या कहलाता है। उस मिथ्या जप तपमें वा व्रत उपवासमें अन्तरंग कषायें अवश्य विद्यमान रहती हैं इसी लिए उस मिथ्या जप तपसे मिथ्या व्रत उपवाससे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती। अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिए भव्य जीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए। तदनन्तर राग द्वेषादिकका त्यागकर अपने आत्माको शुद्ध कर लेना चाहिए। यही मोक्ष प्राप्त करनेका सरल उपाय है।

प्रश्न—यत्नः कृतश्चित्तनिरोधनार्थं, तथापि चित्तं न निरुध्यते किम् ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि हम लोग इस मनको रोकनेका प्रयत्न करते हैं तथापि यह मन रुकता क्यों नहीं है ?

उत्तर—यैर्यत्नतश्चित्तनिरोधितश्च त्यक्तस्तथा स्त्रीधनपुत्रसंगः।
अनात्मविद्या भवदा प्रमुक्ता दुःखप्रदः क्रोधरिपुश्च त्यक्तः ॥१७८॥

स्वानन्दभाजां सहवाससेवा कृता न तेषां विनयोपचारः।
वा तैर्न सार्द्धं निजतत्त्वचर्चा कथं भवेच्चित्तनिरोधनं वा ॥१७९॥

सिद्धो यथा वातहतप्रदीपः प्रकम्पते वृक्षततिः किलाब्धिः।
संसर्गतः स्युर्मुनयोपि भ्रष्टाः गुरुप्रसादाच्च निजात्मनिष्ठाः ॥१८०॥

अर्थ—जो लोग बड़े प्रयत्नके साथ अपने चित्तको निरोध करनेका प्रयत्न करते हैं, जो स्त्री पुत्र धन आदि परिग्रहका भी त्याग कर देते हैं, जन्म मरण रूप संसारको बढानेवाली लौकिक विद्याओंका भी त्याग कर देते हैं और महा दुःख देनेवाले क्रोध रूप शत्रुका भी त्याग कर देते हैं परन्तु जो लोग अपने आत्म-जन्य आनन्दमें मग्न रहनेवाले गुरुओंकी संगति नहीं करते, उनकी सेवा नहीं करते, उनकी विनय नहीं करते, उनकी वैयावृत्य नहीं करते और उनके साथ आत्म-तत्वकी चर्चा भी नहीं करते। ऐसे लोगोंके चित्तका निरोध कैसे हो सकता है? संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि वायुकी संगतिसे दीपक हिलने लगता है, वायुकी संगतिसे वृक्ष भी हिलने लगते हैं और समुद्र भी क्षुब्ध हो जाता है। इसी प्रकार नीच लोगोंकी संगतिसे मुनि लोग भी भ्रष्ट हो जाते हैं और गुरुकी कृपासे वे ही मुनि अपने आत्मामें लीन हो जाते हैं।

भावार्थ—'संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्यय विवर्जितम्' अर्थात् किसी मनुष्यको चाहे जितना ज्ञान हो जाय और वह ज्ञान यथार्थ भी हो तथापि जो ज्ञान गुरु मुखसे प्राप्त नहीं किया जाता उस ज्ञानमें सदाकाल सन्देह बना रहता है। यही कारण है कि चित्तको निरोध करनेका चाहे जितना प्रयत्न किया जाय, उसके लिए समस्त परिग्रहोंका त्याग किया जाय, क्रोधादिक कषायोंका त्याग किया जाय या लौकिक विद्याओंको छोडकर अध्यात्म विद्याका अध्ययन किया जाय तथापि बिना गुरुकी सेवा किये, बिना गुरुवासमें रहे चित्तका निरोध नहीं हो सकता। चित्तका निरोध करना अभ्यास साध्य है और वह मुनि-आवासमें ही रह कर हो सकता है। इस संसारमें जैसी संगति मिलती है वैसा ही प्रभाव पडता है। यह मनुष्य अच्छी संगतिसे अच्छे मार्गपर लग सकता है और बुरी संगतिसे बुरे मार्ग-

पर लग जाता है। यहां तक कि बुरी संगतिसे मुनि भी अपने मोक्षमार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं और वे ही मुनि अपने आचार्य वा गुरुकी संगतिसे फिर मोक्षमार्गमें लग जाते हैं। अतएव चित्त निरोध करनेके लिए गुरुकी शरणमें ही रहना चाहिए, उन्हींकी सेवा करनी चाहिए, उन्हींका विनय करना चाहिए और उन्हींसे अभ्यास करना चाहिए। यह मनुष्य यदि संसारसे पार हो सकता है वा मोक्ष मार्गमें लग सकता है तो निर्ग्रंथ वीतराग गुरुकी कृपासे ही संसारसे पार हो सकता है और उन्हींकी कृपासे मोक्षमार्गमें लग सकता है। इसलिए भव्य-जीवोंको अपना चित्त निरोध करनेके लिए और इन्द्रियोंका निग्रह करनेके लिए वीतराग निर्ग्रंथ गुरुके समीप ही रहना चाहिए। चित्त निरोध करनेके लिए इससे बढकर और कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न–यैर्विना सर्वविश्वोपि शून्यस्ते प्रतिभाति के ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जिनके बिना यह समस्त संसार शून्य दिखाई पडता है ऐसे वे कौन हैं ?

उत्तर–यथार्थतत्त्वप्रविदर्शकेन, स्वानन्दमूर्त्या गुरुणा विना हि।
सम्पूर्णविश्वं प्रतिभाति शून्यं, सूर्येण हीनं च दिनं यथा कौ ॥१८१॥
निःस्वार्थबुद्धया गुरुरेव धीरो, बोधामृतं मिष्टतरं पवित्रम्।
मोक्षप्रदं पाययितुं सुभव्यान्, मेघो यथा वै यतते यथेष्टम् ॥१८२॥

अर्थ–इस संसारमें जिस प्रकार सूर्यके बिना दिन सूनासा दिखाई पडता है उसी प्रकार तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको दिखलाने वाले, और आत्म-जन्य आनन्दकी मूर्त्ति ऐसे वीतराग निर्ग्रंथ गुरुके बिना यह समस्त संसार सूनासा दिखलाई पडता है। जिस प्रकार मेघ समस्त संसारी जीवोंको पानी पिलानेका

भावार्थ—आचार्योंने जो आत्माका गुरु आत्माको ही बतलाया है वह आठवें गुणस्थानमें वा उससे ऊपर बतलाया है। आठवें गुणस्थानमें पहुंचनेपर यह आत्मा अपने ही आत्मामें स्थिर हो जाता है और आत्मसुखमें लीन हो जाता है। उस समय यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें लीन होकर कर्मोंको नष्ट करता जाता है और अपने आत्माको शुद्ध करता जाता है। ज्यों-ज्यों आत्मा शुद्ध होता जाता है त्यों त्यों यह आत्मा ऊपरके गुणस्थानोंमें चढता जाता है, यहां तक कि बारहवें गुणस्थानके अंतमें घातिया कर्मोंको नाश कर तथा केवलज्ञान प्राप्त कर जगतगुरु अरहंतदेव बन जाता है। यह सर्वोत्तम अवस्था अपने ही आत्माके द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए आठवें गुणस्थानके ऊपर यह आत्मा अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए स्वयं ही अपना गुरु होता है। इसीलिए आचार्योंने आत्माको ही आत्मा का गुरु बतलाया है। परंतु आठवें गुणस्थानसे नीचे गुरु शिष्य भाव अवश्य मानना पडता है। क्योंकि आठवें गुणस्थानसे नीचे बिना गुरुकी कृपाके यह शिष्य अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए जो मूर्ख अपने आत्माको ही शुद्ध मानता हुआ अपने गुरुको नहीं मानता अथवा अपने आत्माको महा ज्ञानी मानकर गुरुको नहीं मानता उसको धर्महीन ही समझना चाहिये ऐसा पुरुष अवश्य ही नरकगामी होता है।

प्रश्न—विनयादिगुणः क्वास्ति नास्ति क्व मे गुरो वद ?

अर्थ—गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि विनयादिक कहां कहां रहते हैं और कहां-कहां नहीं रहते ?

उत्तर—विद्याविनीतस्य वसेच्च चित्ते सम्यक्प्रवृत्तिर्विनयोपचारः ।
दयार्द्रभावः सदसद्विचारो निरन्तरं वांच्छितदः स्वधर्मः ॥१८५॥

विद्याप्रमत्तास्य वसद्धि चित्तो पूर्वोक्तधर्मेण विरुद्ध वेषः ।
विरुद्धवृत्तिश्च विरुद्धभावः ततः सुबुद्धिं जिन देहि तस्मै ॥१८६॥

अर्थ—जो पुरुष विद्या अध्ययन करनेके कारण विनीत हो रहे हैं ऐसे पुरुषोंके हृदयमें अच्छी प्रवृत्तियां बनी रहती हैं, विनय वा उपचार विनय बनी रहती है, उनके परिणाम दयासे भीगे रहते हैं, उनके हृदयमें भले-बुरेका विचार रहता है और समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला आत्माका स्वभावरूप धर्म उनके हृदयमें निरंतर बना रहता है। परंतु जो लोग विद्याध्ययन करनेमें प्रमाद करते हैं उनके हृदयमें ऊपर कही हुई भावनाओंसे विरुद्ध भावनाएं रहती हैं उनके भाव भी विरुद्ध रहते हैं और उनकी प्रवृत्ति भी विरुद्ध ही रहती हैं। इसलिये हे भगवन्! ऐसे लोगोंके लिए आप श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करें।

भावार्थ—विनय करना, अच्छी प्रवृत्ति रखना, दया धारण करना, भले बुरे कामका विचार करना और अपने धर्मको पालन करना आदि मनुष्यके धर्म कहलाते हैं। इन्हींको गुण कहते हैं। ये गुण प्रायः विद्याध्ययन करनेसे आते हैं। विद्याध्ययन करनेसे आत्मविद्याका अध्ययन ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि विनय शुभ प्रवृत्ति सत् असत्का विचार आदि आत्माके गुण हैं। वे आत्माके गुण आत्मतत्त्वका अध्ययन करनेसे ही प्राप्त हो सकते हैं। वर्तमानमें कुछ ऐसी विद्याओंका प्रचार हो रहा है जिनके अध्ययन करनेसे मायाचारी बढती है, विनयगुण सर्वथा नष्ट हो जाता है और सत् असत्का विचार सर्वथा नष्ट हो जाता है। ऐसी विद्याओंके अध्ययन करनेसे आत्माके गुण कभी प्रगट नहीं हो सकते किंतु नष्ट हो जाते हैं। इसलिए आत्माके गुण प्रगट करनेके लिए आत्मविद्याका ही अध्ययन करना चाहिए, अन्य विद्याओंका अध्ययन यदि करना हो तो पहले आत्मविद्याका अध्ययन कर लेना चाहिये फिर अन्य विद्याओंका अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न–कश्चलति स्वधर्माद्भो वद मे शर्मद प्रभो !

अर्थ–हे कल्याण करनेवाले प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौन पुरुष अपने धर्मसे चलायमान हो जाता है ?

उत्तर–यस्तत्त्ववेदी व्यवहारमार्गाद् मोक्षप्रदान्निश्चयमार्गतश्च ।
स्वानन्ददेशान्न चलेत्कदापि दृग्बोधचारित्रमयात्स्वभावात् ॥१८७॥
यस्तत्त्ववेदीव विभाति किन्तु तत्त्वात्प्रमूढो न च तत्त्ववेदी ।
ततश्चलेत्स व्यवहारमार्गात् मोक्षप्रदान्निश्चयमार्गतोऽपि ॥१८८॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मतत्त्वके स्वरूपको जानता है वह पुरुष न तो व्यवहार मार्गसे चलायमान होता है, न मोक्ष देनेवाले निश्चय मार्गसे चलायमान होता है, न अपने आत्मजन्य चिदानन्द प्रदेशसे चलायमान होता है और न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय अपने आत्माके स्वभावसे चलायमान होता है। परन्तु जो पुरुष यथार्थमें आत्मतत्त्वका जानकार नहीं है परन्तु ऊपरसे आत्मतत्त्वकी जानकारी दिखलाता है, जो वास्तवमें अज्ञानी है और आत्मतत्त्वका जानकार नहीं है, वह पुरुष व्यवहार मार्गसे भी चलायमान हो जाता है और मोक्ष प्रदान करनेवाले निश्चयमार्गसे भी चलायमान हो जाता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वकर्मका उदय आत्माको अपने स्वभावसे चलायमान करता है। मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही इस जीवका बहुत बढा हुआ ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है। कितने ही मुनि ग्यारह अंगों तकका अध्ययन कर लेते हैं परन्तु मिथ्यात्वकर्मका उदय उनके इतने बडे ज्ञानको भी विपरीतरूप परिणत कर देता है और उनके ज्ञानको मिथ्या बना देता है। वह मिथ्याज्ञान मोक्षमार्गमें नहीं लग सकता किंतु उससे विपरीत संसारको बढानेवाले कार्योंमें ही लगता है। ऐसा पुरुष निश्चय मोक्षमार्गसे

चलायमान होता है अपने चिदानन्द प्रदेशोंसे चलायमान होता है और रत्नत्रयरूप धर्मसे भी चलायमान होता है। इसके सिवाय वह व्यवहारमार्गसे भी चलायमान हो जाता है। यही कारण है कि भव्यसेन मुनि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हरी घासके ऊपरसे भी चलने लगे और अप्रासुक जलको भी काममें लाने लगे। मुनि होकर भी व्यवहारमार्गको इस प्रकार छोड देना मिथ्यात्वकर्मके ही तीव्र उदयसे हो सकता है। जिस जीवके मिथ्यात्वकर्मका अत्यन्त मंद उदय होता है वह पुरुष भी इस प्रकार व्यवहारमार्गको नहीं छोड सकता। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माको अपने आत्मामें स्थिर रखनेके लिए सबसे पहले मिथ्यात्वको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए। मिथ्यात्वकर्मको नष्ट कर लेनेसे इस आत्माका सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हो जाता है। सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होनेसे आत्मज्ञान प्रगट होता है और आत्मज्ञान प्रगट होनेसे फिर यह आत्मा मोक्षमार्गसे कभी चलायमान नहीं हो सकता जो पुरुष मोक्षमार्गसे चलायमान नहीं होता वह न तो व्यवहार मार्गसे चलायमान होता है न निश्चयधर्मसे चलायमान होता है और न रत्नत्रयसे चलायमान होता है।

प्रश्न–जनसंघः प्रभो कस्मै रोचते मेऽधुना वद ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि लोगोंका समुदाय किसको अच्छा लगता है और किसको अच्छा नहीं लगता ?

उत्तर–चित्तेप्यहंकाराररिपुश्च येषां दुःखप्रदः स्यात्ममकार एव।
तेभ्यो नृसंगः सजनः प्रदेशः सुरोचते विश्वविचित्रवार्ता ॥१८९॥
येषामहंकाररिपुर्न चित्ते भवप्रदं वा ममकारजालम्।
तेभ्योऽसुसंगः सजनप्रदेशो न रोचते स्वात्मपदं विना कौ ॥१९०॥

अर्थ–जिनके हृदयमें अहंकाररूपी शत्रु विद्यमान है और जिनके हृदयमें दुःख देनेवाला ममकार वा मोह विद्यमान है उन्हीं लोगोंको मनुष्योंका समुदाय और मनुष्योंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं यह भी एक संसारमें विचित्र बात है। परंतु जिनके हृदयमें न तो अहंकार है और न संसारको बढाने वाला ममकार वा मोह है ऐसे पुरुषोंको न तो जीवोंका समुदाय अच्छा लगता है और न जीवोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं। उनको तो केवल अपना आत्मा और अपने आत्माके प्रदेश वा आत्माके गुण ही अच्छे लगते हैं आत्माके सिवाय उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ—परपदार्थोंसे मोह करना अहंकार वा ममकारका कार्य है। जिन लोगोंके मनमें अहंकार और ममकार है वे ही पुरुष परपदार्थोंसे मोह करते हैं। ऐसे लोगोंको पुत्र मित्र स्त्री माता पिता आदि कुटुंबी लोग अच्छे लगते हैं, धन धान्य आदि बाह्य विभूति अच्छी लगती है और अपने तथा कुटुंबी लोगोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं, अहंकार और ममकार होनेके कारण वे पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाते हैं इसीलिए वे अपने मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगा सकते। मोहनीय कर्मका उदय उनके मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगने देता। परंतु जो पुरुष उस मोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं वे उस सम्यग्दर्शनरूप अमूर्त्त प्रकाशके कारण अपने आत्माके स्वरूपको पहिचानने लगते हैं और फिर उसीको अपना निधि मानकर उसकी रक्षा करनेमें तत्पर हो जाते हैं। फिर उस निधिके सामने उन्हें बाह्य समस्त विभूति तुच्छ और दुःख देनेवाली जान पडती है। इसलिए वे उसका भी त्याग कर देते हैं और अपने आत्मामें लीन होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। अतएव भव्य-जीवोंको अहंकार और ममकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा आत्माके स्वरूपको समझकर उसका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कस्य बाह्यरसे प्रीतिर्मोहमायापरे वद ?

अर्थ–जिनके हृदयमें अहंकाररूपी शत्रु विद्यमान है और जिनके हृदयमें दुःख देनेवाला ममकार वा मोह विद्यमान है उन्हीं लोगोंको मनुष्योंका समुदाय और मनुष्योंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं यह भी एक संसारमें विचित्र बात है। परंतु जिनके हृदयमें न तो अहंकार है और न संसारको बढाने वाला ममकार वा मोह है ऐसे पुरुषोंको न तो जीवोंका समुदाय अच्छा लगता है और न जीवोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं। उनको तो केवल अपना आत्मा और अपने आत्माके प्रदेश वा आत्माके गुण ही अच्छे लगते हैं आत्माके सिवाय उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ—परपदार्थोंसे मोह करना अहंकार वा ममकारका कार्य है। जिन लोगोंके मनमें अहंकार और ममकार है वे ही पुरुष परपदार्थोंसे मोह करते हैं। ऐसे लोगोंको पुत्र मित्र स्त्री माता पिता आदि कुटुंबी लोग अच्छे लगते हैं, धन धान्य आदि बाह्य विभूति अच्छी लगती है और अपने तथा कुटुंबी लोगोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं, अहंकार और ममकार होनेके कारण वे पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाते हैं इसीलिए वे अपने मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगा सकते। मोहनीय कर्मका उदय उनके मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगने देता। परंतु जो पुरुष उस मोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं वे उस सम्यग्दर्शनरूप अमूर्त्त प्रकाशके कारण अपने आत्माके स्वरूपको पहिचानने लगते हैं और फिर उसीको अपना निधि मानकर उसकी रक्षा करनेमें तत्पर हो जाते हैं। फिर उस निधिके सामने उन्हें बाह्य समस्त विभूति तुच्छ और दुःख देनेवाली जान पडती है। इसलिए वे उसका भी त्याग कर देते हैं और अपने आत्मामें लीन होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। अतएव भव्य-जीवोंको अहंकार और ममकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा आत्माके स्वरूपको समझाकर उसका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कस्य बाह्यरसे प्रीतिर्मोहमायापरे वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि कौन पुरुष बाह्यरसमें प्रेम करता है और कौन पुरुष परपदार्थोंमें मोह वा माया करता है ।

उत्तर—यावन्निजानन्दरसोतिमिष्टो न पीयते जन्मजराहरश्च ।
न त्यज्यते बाह्यरसाभिलाषा समस्तसंतापविकारदात्री ॥१९१॥
न ज्ञायते स्वात्मनिवासभूमिरन्विष्यते बाह्यमहीति तावत ।
निजान्यभेदः क्रियते न यावत् तावत्परे स्यात खलु मोहमाया ॥१९२॥
ज्ञात्वेति तत्त्यागविधेर्विधानं कार्यं यतः स्यात्स्वपदे निवासः ।
प्रीतिः सदा स्यात्स्वरसे सुमिष्टे दुःखप्रदे स्यान्न परे प्रमोहः ॥१९३॥

अर्थ—यह मनुष्य जब तक जन्म मरण और बुढापेको दूर करनेवाला तथा अत्यन्त मिष्ट ऐसे आत्मजन्य आनंदरसका पान नहीं करता है, जब तक समस्त संताप और विकारोंको उत्पन्न करनेवाली इंद्रियजन्य बाह्यरसकी अभिलाषाका त्याग नहीं करता है और जब तक अपने आत्माके निवासस्थान मोक्षको नहीं पहिचानता है तब तक ही यह जीव बाह्य भूमिकी तलाश करता रहता है। इसी प्रकार जब तक यह मनुष्य स्वपरभेदविज्ञान प्रगट नहीं कर लेता अर्थात् आत्मा और परपदार्थोंके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक ही यह जीव परपदार्थोंमें मोह और माया वा ममकार करता रहता है। यही समझकर बाह्यरसकी अभिलाषाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए जिससे कि यह जीव अपने आत्मपदमें निवास करने लग जाय, अत्यन्त सुमधुर ऐसे आत्मरसमें प्रेम उत्पन्न हो जाय और महा दुःख देनेवाले परपदार्थोंमें कभी मोह उत्पन्न न हो ।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य विषयोंकी अभिलाषाको बाह्यरसकी अभिलाषा कहते हैं। यह विषयोंकी

अभिलाषा मोहनीयकर्मके उदयसे होती है और नरकनिगोदादिकके महा दुःख देनेवाली है। जब तक मोहनीयकर्मका उदय रहता है तब तक यह जीव अपने आत्माके स्वरूपको नहीं पहिचान सकता और जब तक आत्माके स्वरूपको नहीं पहचानता है तब तक विषयोंकी अभिलाषाका त्याग नहीं कर सकता तथा जब तक विषयोंकी अभिलाषाका त्याग नहीं करता तब तक आत्मजन्य महामिष्ट अनंत सुखरूपी रसका पान नहीं कर सकता और जब तक अपने आत्मरसका पान नहीं करता तब तक अपने मोक्षरूप निवासस्थानमें नहीं पहुंच सकता। अतएव मोक्षरूप निवासस्थानको प्राप्त करनेके लिए सबसे पहले मोहनीयकर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिए जिससे कि विषयोंकी अभिलाषाका त्याग हो जाय और यह आत्मा मोह मायाका त्याग कर आत्मामें लीन हो जाय और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर ले।

प्रश्न–प्रतिक्रमणकर्तापि विषकुम्भः प्रपूर्यते।
अप्रतिक्रमणकर्ताऽमृतकुम्भः कथं वद॥

अर्थ–हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि प्रतिक्रमण करनेवाला पुरुष किस प्रकार अपने विषके घडेको भर लेता है और प्रतिक्रमण न करनेवाला भी अमृतके घडेको किस प्रकार भर लेता है?

भावार्थ–प्रतिक्रमण करनेवाला अशुभ कर्मोंका बंध किस प्रकार कर लेता है और प्रतिक्रमण न करनेवाला शुभकर्मोंका बंध किस प्रकार कर लेता है?

उत्तर–प्रतिक्रमणकं कुर्वन् मिथ्यात्वेन भ्रमेच्चिरम्।
प्रतिक्रमणहीनोपि सम्यक्त्वेन व्रजेच्छिवम्॥१९४॥

नाप्रतिक्रमणं कार्यं निंद्यं स्वप्नेपि धीमता ।
प्रतिक्रमणयोगोपि किंचित्स्यात्पुण्यदर्शकः ॥१९५॥
क्रियतेऽशुभनाशाय शुभाप्त्यै व्यवहारतः ।
निश्चयाच्छुद्धसिद्ध्यै च मोक्षार्थाय निरंतरम् ॥१९६॥
स्वभावे भूयते स्वस्थो रागद्वेषादिदूरगे ।
यतः स्यात्स्वात्मसाम्राज्यं निजाधीनं निरंतरम् ॥१९७॥

अर्थ—इस संसारमें प्रतिक्रमण करता हुआ भी यह जीव मिथ्यात्वकर्मके तीव्र उदयसे चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। तथा प्रतिक्रमण न करनेवाला मनुष्य भी सम्यग्दर्शनके निमित्तसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषोंको स्वप्नमें भी निंदनीय प्रतिक्रमणका अभाव कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रतिक्रमण करनेसे कुछ भी पुण्यकर्मका बंध अवश्य होता है। यह प्रतिक्रमण व्यवहारिक दृष्टिसे अशुभ कर्मोंको नाश करनेके लिए और शुभ कर्मोंका सञ्चय करनेके लिए किया जाता है और निश्चयनयसे आत्माको शुद्ध बनानेके लिए और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए निरन्तर किया जाता है। प्रतिक्रमण करनेसे यह आत्मा राग द्वेषसे रहित होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें लीन हो जाता है और शुद्ध स्वभावमें लीन होनसे निरन्तर अपने आत्माके आधीन रहनेवाला शुद्धात्म साम्राज्य प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—पापोंको दूर करनेके लिए वा पाप शान्त करनेके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है, परंतु वह प्रतिक्रमण आत्मज्ञानके साथ होता है। प्रतिक्रमणमें पापोंकी आलोचना की जाती है तथा आगामी कालमें ऐसे पाप न हों ऐसी भावना की जाती है। यदि प्रतिक्रमण करनेवालेको आत्मज्ञान न हो अथवा

सम्यग्दर्शन न हो तो वह पापोंकी आलोचना भी मिथ्या हो जाती है और पाप न करनेकी भावना भी मिथ्य हो जाती है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेसे वह मनुष्य फिर भी पाप कर्मोंको करता ही रहता है। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करता हुआ भी पापोंका सञ्चय करता रहता है और संसारमें परिभ्रमण किया करता है इसलिए सम्यग्दर्शनके होनेपर जो प्रतिक्रमण किया जाता है वही प्रतिक्रमण पापोंको नाश कर सकता है और पुण्यका सञ्चय कर सकता है। सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जब पूर्ण चारित्र धारण कर लिया जाता है तब निश्चय प्रतिक्रमण करनेका उद्योग किया जाता है। उस निश्चय प्रतिक्रमणसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त होती है, राग द्वेष सब दूर हो जाते हैं और यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें लीन और स्थिर हो जाता है। तदनन्तर समस्त कर्मोंको नष्ट कर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है और सदाकालके लिए अजर-अमरपद प्राप्त कर अनन्त सुखका स्वामी बन जाता है इसलिए सम्यग्दर्शनके साथ ही प्रतिक्रमण करना सार्थक है। विना सम्यग्दर्शनके प्रतिक्रमण करना निरर्थक है।

प्रश्न—केन कृत्येन सिद्धिः स्यान्नवा केन प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि किन-किन कामोंके करनेसे आत्माकी सिद्धि हो जाती है और किन-किन कामोंके करनेसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर—नाक्षाणि निंद्यानि रुणद्धि यावत् लोके कषायान्न जयेत्प्रदुष्टान्।
त्यजेत्तथा न प्रमदाप्रसंगं संसारमूलां वहिरात्मबुद्धिम् ॥१९८॥
सुदेवशास्त्रादिगुरोश्च यावदनन्यभक्त्या भवरोगहर्तुः।
श्रद्धां न कुर्याद्विनयोपचारं तावद् भवेन्नैव तवेष्टसिद्धिः॥१९९॥

अर्थ—इस संसारमें यह मनुष्य जब तक निंद्यनीय इन्द्रियोंके विषयोंको नहीं रोकता है जब तक

दुष्ट कषायोंको नहीं जीतता है, जब तक स्त्रियोंके संसर्गका त्याग नहीं करता है और जब तक जन्म-मरणरूप संसारकी मूल कारण ऐसी बहिरात्म बुद्धिका त्याग नहीं करता है तथा जब तक अनन्य भक्ति पूर्वक जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा नहीं करता है जब तक उनका विनय नहीं करता है और जब तक देव शास्त्र गुरुकी पूजा भक्ति नहीं करता है तब तक इस जीवको इष्ट सिद्धिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

भावार्थ—इस संसारमें पांचों इंद्रियोंके विषयोंके सेवन करनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती, कषायोंको धारण करनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती, स्त्रियोंका संसर्ग रखनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती और बहिरात्म बुद्धिको धारण करनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती। इसका भी कारण यह है कि इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा और कषायोंका होना मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे होता है तथा बहिरात्म बुद्धिका होना भी मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे होता है। जो बुद्धि आत्मरूप नहीं होती आत्मासे भिन्न शरीरादिक पदार्थोंमें ही आत्मारूप बुद्धि हो जाती है उसको बहिरात्म बुद्धि कहते हैं। बहिरात्म बुद्धिक होनेसे ही यह आत्मा शरीरको ही आत्मा मान लेता है अथवा शरीर और आत्माको एक ही समझ लेता है इसीलिए शरीरसे ममत्व करने लगता है तथा धन धान्यादिक अन्य पदार्थोंसे भी ममत्व वा मोह करने लगता है। इन सबसे मोह करनेके कारण वह महा पाप उत्पन्न करने लगता है और अनन्तकाल तक संसारमें परिभ्रमण करने लगता है। यही कारण है कि ऐसे आत्माको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जब यह आत्मा अपने मोहनीयकर्मको नष्ट कर देता है और बहिरात्म बुद्धिका त्याग कर विषय कषायोंका त्याग कर देता है तथा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ स्वरूप समझकर उनका श्रद्धान करने लगता है तथा उनकी पुजा भक्ति करने लगता है और इस प्रकार अपने आत्माको निर्मल बनाकर रत्नत्रयकी वृद्धि करनेमें लग जाता है तथा तपश्चरण और ध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी पूर्णता प्राप्त कर

लेता है तभी इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। फिर यह जीव सदाकालके लिए अनन्त सुखी हो जाता है। इसीको इष्ट सिद्धि कहते हैं।

प्रश्न—निन्दास्तुतिकृते कस्मिन्नपि साधुः करोति किम् ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि यदि कोई पुरुष किसी साधुकी निंदा करे अथवा स्तुति करे तो वे साधु निंदा करने पर क्या करते हैं और स्तुति करने पर क्या करते हैं ?

उत्तर—कश्चित्प्रमूढो गुणदोषशून्यः स्वात्माश्रितान् वाखिलसंगदूरान् ।
दृष्ट्वा सुसाधून् खलु निर्दयेन हन्ति प्रदुष्टं वचनं ब्रवीति ॥२००॥
रुषत्यबोधादिति निन्दतीह स्तवीति कश्चिन्नमति प्रवीणः ।
सेवादिभक्तिं च करोति कांचित् तथापि सन्तो न चलन्ति धर्मात् ॥
यादृक् मतिर्यस्य भवेद्धि जन्तोस्तादृक् क्रियां स सुखदुःखदात्रीम् ।
करोति बुद्ध्वेति निजात्मदेशे त्यक्त्वा कषायं भवतु प्रमग्नः॥२०२॥

अर्थ—गुण और दोषोंको न जाननेवाला कोई मूर्ख मनुष्य केवल अपने आत्माके आश्रय रहनेवाले और समस्त परिग्रहोंसे रहित ऐसे साधुओंको देखकर उन्हें निर्दयताके साथ मारते हैं, उनसे दुष्ट वचन कहते हैं, उनपर क्रोध करते हैं और अपनी अज्ञानताके कारण उनकी निंदा करते हैं तथा गुण दोषोंके जानकार कोई-कोई चतुर मनुष्य उन साधुओंकी स्तुति करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं, उनकी सेवा करते हैं और भक्ति करते हैं। परन्तु दोनों ही अवस्थामें वे साधु अपने धर्मसे कभी चलायमान नहीं होते। वे साधु ज्योंके त्यों निश्चल बने रहते हैं। इस संसारमें जिस जीवकी जैसी बुद्धि होती है वह पुरुष वैसी ही सुख दुःख देनेवाली क्रियाएं करता रहता है। जिसकी अच्छी बुद्धि होती है वह

अच्छी सुख देनेवाली क्रियाएं करता रहता है और जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं होती वह दुःख देनेवाली अशुभ क्रियाएं करता रहता है। यही समझ कर भव्य जीवोंको कषायोंका त्याग कर देना चाहिए और अपने आत्माके प्रदेशोंमें निमग्न हो जाना चाहिए।

भावार्थ—मुनि लोग किसीसे कुछ नहीं चाहते, वे समस्त कषायोंसे रहित समस्त लालसाओंसे रहित और समस्त परिग्रहोंसे रहित होते हैं। वे साधु सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहते हैं और सदाकाल जीवोंके कल्याणका चिंतवन करते रहते हैं। वे स्वयं मोक्षमार्गमें लगे रहते हैं और अन्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाते रहते हैं। ऐसे साधुओंको भी बहुतसे निर्दयी मूर्ख लोग बुरे वचन कहते हैं, कोई-कोई अज्ञानी उन्हें मारते हैं, कोई उनकी निंदा करते हैं और कोई उनपर क्रोध करते हैं। ऐसी अवस्थामें भी वे साधु न तो क्रोध करते हैं न दुःखी होते हैं और न अपने ध्यानसे चलायमान होते हैं। वे तो अपने आत्मामें लीन ही बने रहते हैं। यदि उनका वह उपसर्ग दूर हो जाता है तो वे उसको शुभाशीर्वाद देकर उसको मोक्षमार्गमें ही लगाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई चतुर मनुष्य उनको नमस्कार करता है, वा उनकी स्तुति करता है, वा सेवा भक्ति करता है तो भी वे प्रसन्न नहीं होते उस समय भी वे अपने आत्मामें लीन बने रहते हैं। इस प्रकार वे साधु निंदा करनेवाले और स्तुति करनेवाले दोनोंको समान दृष्टिसे देखते हैं। यह उन साधुओंका समता गुण सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। ऐसे ही साधु इस संसारमें धन्य गिने जाते हैं और अपने आत्माका यथार्थ कल्याण कर लेते हैं। परंतु जिस प्रकार शुद्ध दर्पणमें कोई सुंदर मनुष्य देखता है तो उसको उस दर्पणमें सुन्दरता दिखलाई पडती है और यदि कोई कुरूप देखता है तो उसको कुरूपता दिखाई पडती है, यह स्वभाव ही ऐसा है। इसी प्रकार जो मनुष्य उन साधुओंकी निंदा करता है वा उनको दुःख देता है वह नरक निगोदका पात्र होता है और जो उनकी स्तुति वा सेवा भक्ति करता है वह स्वर्गका पात्र होता है। यद्यपि दोनोंके लिए वे

मुनिराज समान दृष्टि रखते हैं तथापि निंदा करनेवाला पाप कर्मोंका बंध कर नरकादिकके दुःख भोगता है और स्तुति करनेवाला पुण्य कर्मोंका बंध कर स्वर्गादिकके सुन्दर सुख भोगता है। यह उनकी बुद्धिका फल है। अच्छी बुद्धि अच्छे कार्योंमें लगती है और बुरी बुद्धि पाप कर्मोंमें लगती है। यही समझ कर बुद्धिमानोंको कषायोंका त्याग कर देना चाहिए और अपने आत्मामें लीन होकर आत्माको निर्मल बना लेना चाहिए। ऐसा करनेमें बुद्धि निर्मल हो जाती है और फिर वह मोक्षमार्गमें लग कर इस आत्माको अनन्त सुख प्राप्त करा देती है। ऐसा आचार्यवर्य कुंथुसागरका उपदेश है।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे जिनागमरहस्यवर्णनो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु ग्रन्थमें 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें जिनागमके रहस्यको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

वस्तुस्वरूप वर्णन।

प्रश्न—वद रक्षकतुल्यत्वाच्चौरोस्ति को नृपः प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि चोर और राजा दोनोंके साथ रक्षक लोग चलते हैं फिर भला राजा और चोरमें क्या अन्तर है ?

उत्तर-राज्ञः समन्तादपि भृत्यवर्गः, चलत्यहो चौरसमन्ततश्च ।
कोऽस्त्यावयोर्मे वद देव भेदो, राजा यतोयं क्रियते हि चौरः ॥२०३॥
येनैव मार्गेण नृपश्च गन्तुं, वांच्छेद्यदा गच्छति तेन भृत्यः ।
वांच्छेच्च भृत्यः खलु येन नेतुं, चौरस्तदा गच्छति तेन मौनात ॥२०४॥
अक्षाणि यैः स्वात्मवशीकृतानि, यथेति चाक्षाणि वशं भवन्ति ।
अक्षाश्रितो यश्च भवेत्प्रमूढो, नयन्ति चाक्षाण्यपि यत्र तत्र ॥२०५॥

अर्थ—देखो जिस समय राजा चलता है उस समय उसके बहुतसे रक्षक वा नौकर-चाकर उसके चारों ओर चलते हैं। इसी प्रकार किसी पकडे हुए चोरके चारों ओर भी रक्षक लोग चलते हैं। हे देव! फिर इन दोनोंमें क्या भेद है जिससे कि यह राजा है और यह चोर है इस प्रकार मालूम हो। इसका सीधासा उत्तर यह है कि राजा जिस मार्गसे जानेकी इच्छा करता है, रक्षकोंको उसी मार्गसे उसके साथ चलना पडता है, परन्तु चोरके साथ यह बात नहीं होती। चोरको उसी मार्गसे चलना पडता है जिस मार्गसे कि रक्षक लोग उसे ले जाते हैं। जिस मार्गसे रक्षक लोग उस चोरको ले जाना चाहते हैं उसी मार्गसे वह चोर चुपचाप उनके साथ चला जाता है। ठीक इसी प्रकार जिन महा पुरुषोंने इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया है वे इन्द्रियां फिर उन्हीं महा पुरुषोंके वशमें रहती हैं उन्हींकी इच्छानुसार चलती हैं, परन्तु जो मूर्ख उन इन्द्रियोंके आधीन रहते हैं उनको वे इन्द्रियां यहां वहां चाहे जहां पटक देती हैं।

भावार्थ—यद्यपि राजा और चोर दोनोंके चारों ओर रक्षक लोग चलते हैं तथापि राजा और चोरमें स्वाधीन और पराधीनका अन्तर है। राजा स्वाधीन है वह अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जा सकता है

चाहे जहां ठहर सकता है और चाहे जो कर सकता है। उसको कोई रक्षक रोकनेवाला नहीं है। रक्षक लोगोंको तो सवत्र राजाकी आज्ञा माननी पडती है। जहां राजा जाता है वहां जाना पडता है और राजा जहां ठहरता है वहां ठहरना पडता है। राजा सब तरह स्वतंत्र है और रक्षक लोग उसके आधीन हैं, परन्तु चोरके लिए यह वात नहीं है। चोर पराधीन है। उसको रक्षकोंके साथ चुपचाप जाना पडता है, जहां रक्षक ले जायँगे वहीं उसे जाना पडेगा और रक्षक जहां ठहरेंगे वहां उसे ठहरना पडेगा। इस प्रकार राजा और चोरमें स्वाधीन और पराधीनताका भेद है। इसी प्रकार जो महा पुरुष इन्द्रियोंके आधीन नहीं होते इन्द्रियोंको अपनी आज्ञामें रखते हैं, ऐसे महा पुरुष राजाके समान स्वतंत्र स्वाधीन कहलाते हैं और इन्द्रियां उनके सेवकके समान उनके आधीन रहती हैं, परन्तु जो लोग इन्द्रियोंके आधीन रहते हैं, इन्द्रियोंको अपने आधीन नहीं कर सकते, इन्द्रियोंका निग्रह नहीं कर सकते वे पुरुष चोरके समान परतंत्र वा पराधीन कहलाते हैं तथा जिस प्रकार रक्षक लोग चोरको ले जाकर वन्दीगृहमें रखते हैं उसी प्रकार वे इन्द्रियां भी उस पराधीन मनुष्यको नरक वा निगोदमें ले जा कर पटक देती हैं। अतएव जो लोग राजाके समान स्वाधीन रहना चाहते हैं चोरके समान पराधीन नहीं रहना चाहते उनको अपनी इन्द्रियां अपने वशमें कर लेनी चाहिए। अर्थात् उन्हें इंद्रियोंका निग्रह कर लेना चाहिए। इंद्रियोंका निग्रह कर लेनेसे यह जीव मोह और कषायोंका त्याग कर देता है और अपने आत्माको निर्मल वा शुद्ध बनाकर सदाके लिए अनंतसुखी हो जाता है।

प्रश्न—सज्जनानां खलानां च स्वरूपं वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर सज्जन और दुर्जनोंका स्वरूप निरूपण कीजिये ?

उत्तर—निःस्वार्थबुद्ध्या यतते परार्थं स एव धीमान् भुवि भाग्यशाली।
स्वार्थाविरोधैर्यतते परार्थं सामान्य एवास्ति सतां विचारे ॥२०६॥

स्वार्थाभिवृद्ध्यै च परान् प्रहन्ति पशुर्नृशंसोस्ति स एव धूर्तः ।
निष्कारणेनैव हिनस्ति चान्यान् वक्तुं वचो नास्ति स कीदृशः कौ ।

अर्थ—जो पुरुष अपने बिना किसी स्वार्थके दूसरोंका कल्याण करते हैं वे पुरुष इस संसारमें बुद्धिमान और भाग्यशाली माने जाते हैं तथा जो पुरुष अपने स्वार्थका विरोध न करते हुए दूसरोंका कल्याण किया करते हैं वे पुरुष सज्जनोंके विचारमें सामान्य पुरुष कहलाते हैं और जो मनुष्य अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए वा स्वार्थ बढानेके लिए दूसरोंकी हिंसा तक कर देते हैं वे मनुष्य इस संसारमें पशु, धूर्त और नृशंस वा मनुष्य घातक कहलाते हैं। परन्तु जो मनुष्य बिना किसी कारणके दूसरोंकी हिंसा कर देते हैं ऐसे मनुष्य कैसे हैं इस वातको कहनेके लिए इस संसारमें कोई वचन भी नहीं हैं।

भावार्थ—दूसरोंका उपकार करना दूसरोंके आत्माका कल्याण करना, उनके पापोंका त्याग कराना धर्मोपदेश देना, धर्म धारण कराना और उनके धर्मकी रक्षा करना परोपकार कहलाता है। इस परोपकारको बहुतसे महात्मा अपने बिना किसी स्वार्थके सदाकाल करते रहते हैं। ऐसे पुरुष इस संसारमें सर्वोत्तम सज्जन कहलाते हैं। उन्हींको लोग भाग्यशाली कहते हैं और बुद्धिमान कहते हैं। जो पुरुष अपने स्वार्थका घात भी नहीं करते अर्थात् अपना स्वार्थ वा अपने आत्माका कल्याण भी करते जाते हैं और दूसरोंके आत्माका भी कल्याण करते जाते हैं। ऐसे पुरुष मध्यम पुरुष कहलाते हैं, परंतु जो लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए दूसरोंका घात कर डालते हैं ऐसे धूर्त पशुओंको मनुष्य घातक अत्यंत निकृष्ट और महा हिंसक कहते हैं। इनके सिवाय एक प्रकारके मनुष्य और हैं जो बिना ही कारण दूसरे जीवोंका घात किया करते हैं, शिकार खेला करते हैं वा अनंत जीवोंका घात करनेवाले आविष्कार निकाला करते हैं वा ऐसे अस्त्र-शस्त्र बनाया करते हैं वा और भी ऐसे कार्य किया करते हैं

ऐसे लोगोंका नाम तक रखनेके लिए इस संसारमें कोई शब्द नहीं हैं। ऐसे मनुष्य इस संसारमें सबसे निकृष्ट और महा पापी समझे जाते हैं।

प्रश्न—यस्य स्वात्मरसास्वादः स्यात्तस्यान्यरुचिर्न वा ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जो महा पुरुष अपने आत्माके अनन्त सुखरूप रसका आस्वादन करते रहते हैं उनकी रुचि किसी अन्य पदार्थके आस्वादन करनेमें वा अन्य किसी कार्यके करनेमें होती है वा नहीं ?

उत्तर—स्वानंदपूरश्च गतान्तरायश्चिदात्मके स्वात्मनि शुद्धबुद्धे ।
सदा समन्ताद् वहतीह यस्य तस्यात्मतुष्टस्य निजाश्रितस्य ॥२०८॥
सम्पूर्णविश्वं तृणवद् विभाति स्याल्लोक वार्ता विफला ह्यलोक्या ।
कचिद् वसेत्कार्य वशान्नृसंगे तथापि तत्रात्मरुचिर्न दृष्टा ॥२०९॥

अर्थ—जिस महापुरुषके शुद्ध बुद्ध और चैतन्यस्वरूप आत्मामें विना किसी अंतरायके अपने आत्मजन्य आनंदका पूर सदाकाल चारों ओरसे बहता रहता है उस अपने आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले और अपने आत्माके आधीन रहनेवाले पुरुषको यह समस्त संसार तृणके समान मालूम पडता है और उसको सांसारिक समस्त कार्य निष्फल और कभी न देखने योग्य मालूम होते हैं। कदाचित् वह मनुष्य किसी कार्यके निमित्तसे मनुष्योंके संसर्गमें भी रहे तथापि उसकी रुचि उन मनुष्योंके संसर्गमें कभी दिखाई नहीं पडती।

भावार्थ—जो पुरुष अपने आत्मजन्य अनंतसुखरूप रसका आस्वादन करता रहता है उसको फिर सांसारिक कोई भी कार्य अच्छा नहीं लगता। फिर उसे न तो इंद्रियोंके विषय अच्छे लगते हैं, न

मनुष्योंका संसर्ग अच्छा लगता है, न कुटुंबी लोग अच्छे लगते हैं और न वस्त्र आभूषण आदि अच्छे लगते हैं फिर तो वह सदाकाल आत्मामें ही लीन रहनेका प्रयत्न करता है। इसके लिए वह एकांत स्थानमें रहता है, मुनि आवासमें रहता है, ध्यान अध्ययनमें लगा रहता है, तपश्चरण करनेमें लगा रहता है, बारह भावनाओंके चिंतवन करनेमें लगा रहता है, दश धर्मोंके चिंतवनमें लगा रहता है और गुप्ति समितियोंके पालन करनेमें लगा रहता है। इस प्रकार आत्मामें लीन रहनेके कारण उसका मोह सब छूट जाता है, वह समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है और सदाकाल मोक्ष प्राप्त करनेके उपायमें लगा रहता है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—धर्मस्य शरणं याति किं किं स लभते वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जो मनुष्य सदाकाल धर्मको ही शरण मानता है, धर्मकी ही शरणमें रहता है उसको किस-किस पदार्थकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर—अत्यंतदुष्टं प्रबलप्रमोहं त्यक्त्वा प्रमादं भवबंधबीजम् ।
व्याध्यादिहर्तुः सुखशान्तिदातुर्यः कोपि धीमान् स्वगृहप्रणेतुः ॥२१०॥
धर्मस्य भक्त्या शरणं प्रयाति स एव लोके सदसद्विचारी ।
सुतत्त्ववेदी खलु विश्वनेता स्वधर्मधारी परधर्महारी ॥२११॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष अत्यंत दुष्ट ऐसे प्रबल मोहका त्याग कर देता है और संसारके कारणभूत प्रमादका सर्वथा त्याग कर देता है तथा समस्त व्याधियोंको दूर करनेवाले, सुख और शान्तिको देनेवाले और इस आत्माके मोक्षरूप घरको बना देनेवाले धर्मकी भक्तिपूर्वक शरण लेता है वही पुरुष इस संसारमें सत् और असत्का विचार करनेवाला कहलाता है, आत्मा आदि श्रेष्ठ तत्त्वोंका जानकार कह

लाता है, समस्त संसारका नेता कहलाता है, अपने आत्माके स्वभावरूप धर्मको धारण करनेवाला कहलाता है और परधर्म अर्थात् विभावभावोंका हरण करनेवाला कहलाता है।

भावार्थ—इस संसारमें ज्ञान वैराग्य आदि आत्माके गुणोंको ढक देनेवाला तीव्र कर्मोंका बंध करनेवाला मोह है। जो पुरुष इस बातको जानता है वह इस मोहका त्याग कर आत्माके गुण प्राप्त कर सकता है। परन्तु प्रमाद इस आत्माको ऐसा नहीं करने देता। वह प्रमाद इस आत्माको अपना कल्याण करनेसे रोक देता है। इसलिए जिस प्रकार मोह आत्माके गुणोंको प्रगट नहीं होने देता, उसी प्रकार प्रमाद भी आत्माके गुणोंको प्रगट नहीं होने देता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आत्माके गुण प्रगट होनेमें मोह और प्रमाद ये दो ही मुख्य कारण हैं अतएव जो भव्यजीव सबसे पहले मोह और प्रमादका त्याग कर देता है और आत्माके स्वभाव रूप धर्मको धारण कर लेता है उस पुरुषको आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति होनेसे मोक्षरूप सुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार धर्म धारण करनेसे भले बुरेका विचार उत्पन्न हो जाता है। भले बुरेका विचार उत्पन्न होनेसे यह आत्मा आत्माको दुःख पहुंचानेवाले इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर देता है, कषायोंका त्याग कर देता है और ध्यान वा तपश्चरणेक द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष सुख प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह धर्मको शरण माननेसे संसारभरका नेता सबके द्वारा पूज्य और मुनियों तकके लिए ध्यान करने योग्य ध्येय बन जाता है। अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टयरूप आत्माके स्वभावरूप धर्मको धारण कर लेता है और कषायादिक विभावभावोंको सर्वथा नष्ट कर देता है। इस प्रकार धर्म धारण करनेसे इस आत्माको सर्वोत्कृष्ट परमपद प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—सुज्ञोऽन्यवस्तुकर्ता स्यान्न वा मे वद सिद्धये ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब मेरे आत्माकी सिद्धिके लिए यह बतलाइए कि ज्ञानी मनुष्य अन्य पदार्थों का कर्ता होता है वा नहीं ?

उत्तर–येनात्मसाम्राज्यपदे प्रविष्टं स्वात्मस्वरूपं स्वसुखादि दृष्टम् ।
तेनान्यकार्यं क्रियते न किंचित् करोति किंचिद् यदि वान्यकार्यम्॥
शिष्टार्थपुष्टयै खलु केवलं च नास्त्यन्यहेतुर्भुवि कोपि तत्र ।
यावत्स्वरूपं न च येन दृष्टं तावत्प्रकर्ता परवस्तुनः स्यात् ॥२१३॥

अर्थ–जिस महा पुरुषने अपने आत्माकी शुद्धतारूप साम्राज्यपदमें प्रवेश कर लिया है, जिसने अपने आत्माका स्वरूप देख लिया है तथा आत्मजन्य अनन्त सुखका दर्शन कर लिया है वह पुरुष इस संसारमें अन्य कोई कार्य नहीं कर सकता। यदि ऐसा मनुष्य अन्य कोई कार्य करता है तो केवल भव्यजीवोंके कल्याणकी पुष्टि करनेके लिए ही करता है। उस महा पुरुषके लिए आत्मकार्यके सिवाय अन्य किसी कार्यके करनेमें जीवोंके कल्याणके सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं हो सकता। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि यह आत्मा जब तक अपने आत्माके स्वरूपको नहीं देख लेता तब तक ही यह आत्मा अपनेको परपदार्थोंका कर्त्ता मान लेता है।

भावार्थ—आत्मरसका आस्वादन करनेवाला महा पुरुष अपने आत्माको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न किया करता है। आत्मकल्याणके सिवाय वह अन्य कोई कार्य नहीं करता। यदि करता है तो अपाय-विचय धर्मध्यानका कार्य स्वरूप परजीवोंका कल्याण करता रहता है। उनके लिए वह धर्मोपदेश देता है धर्म धारण कराता है, धारण किए हुए धर्मकी रक्षा करता है वा कराता है और प्रायश्चित्तादिके द्वारा व्रतोंकी शुद्धि करता कराता रहता है। वह पुरुष आत्मज्ञान होनेके कारण तथा परपदार्थोंके यथार्थ

स्वरूपको भी जाननेके कारण परपदार्थोंका मोह सर्वथा छोड देता है तथा कषाय और इंद्रियोंके विषयोंका भी सर्वथा त्याग कर देता है। इसीलिए वह अन्य किसी भी कार्यमें नहीं लग सकता। इससे सिद्ध हो जाता है कि आत्मरसका आस्वादन करनेवाला पुरुष परपदार्थोंका कर्ता नहीं होता। जो पुरुष आत्माके स्वरूपको तथा परपदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता और इसीलिए जो इंद्रियोंके विषयोंका, कषायोंका और मोहका त्याग नहीं करता, ऐसा पुरुष ही अपने तीव्र मोहके कारण अपने आत्माको उन परपदार्थोंका कर्ता मान लेता है। यह उसकी भूल है। अतएव भव्यजीवोंको मोहका त्याग कर आत्मरसका आस्वादन करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि शीघ्र ही इस आत्माको मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय।

प्रश्न—गुरो ! सद्दृष्टिमाहात्म्यं कीदृग्मे विद्यते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइये कि इस संसारमें सम्यग्दृष्टिका माहात्म्य कैसा है ?

उत्तर—सद्दृष्टिरेव विमलःसदसद्विचारी, बाह्यादिसंगविरतः स्वपदे सुरक्तः।
पश्यन्न पश्यति विशन्विशतीति तस्मात्, गच्छन्न गच्छति नयन्नयतीह नैव॥
वादन्न चात्ति सततं स्वपिति स्वपन्न, कुर्वन् करोति न भवन् भवति ह्यहो न।
कोपि ह्यचिन्त्यमहिमा सुखदः सुदृष्टेः, लोके स्थितोपि जिन एव सदा विलेपः॥

अर्थ—इस संसारमें सम्यग्दृष्टी पुरुष अत्यन्त निर्मल होता है, अपने आत्मामें लीन रहता है, अन्तरंग और बहिरंग समस्त परिग्रहोंका त्यागी होता है और अपने आत्माके कल्याण तथा अकल्याणका विचार करनेवाला होता है। ऐसा पुरुष इन्द्रियोंसे देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, किसी नगर आदिमें प्रवेश करता हुआ भी कहीं नहीं जाता, गमन करता हुआ भी गमन नहीं करता

किसी पदार्थको ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, भोजन करता हुआ भी भोजन नहीं करता, सोता हुआ भी नहीं सोता, किसी कार्यको करता हुआ भी नहीं करता और होता हुआ भी नहीं होता। इसलिए कहना पडता है कि सम्यग्दृष्टिकी सुख देनेवाली महिमा अचिन्तनीय है। वह संसारमें रहता हुआ भी जिन कहलाता है और कर्ममल कलंकसे रहित पुरुषोंके समान माना जाता है।

भावार्थ—आत्मामें अनेक गुण हैं परन्तु उन सबमें एक सम्यग्दर्शन ही ऐसा उत्तम गुण है कि जिसके होनेपर अन्य सब गुण प्रगट हो जाते हैं और यह आत्मा इस संसार समुद्रसे पार हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है तथा स्वपरभेदविज्ञान प्रगट होनेसे आत्मा और परपदार्थोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है। आत्मा और परपदार्थोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट होनेसे यह आत्मा परपदार्थोंका मोह छोड देता है और फिर वह अन्य किसी भी पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फिर वह आत्मा अन्य समस्त पदार्थोंका त्याग कर तथा क्रोधादिक कषायोंका सर्वथा त्याग कर केवल आत्मामें लीन हो जाता है। उस समय इन्द्रियोंका व्यापार सब छूट जाता है। इसलिए वह देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता। यद्यपि वह इन्द्रियोंसे समस्त पदार्थोंको देखता वा जानता है परन्तु वह उन पदार्थोंसे कोई प्रयोजन नहीं रखता और न उन पदार्थोंसे वह कोई किसी प्रकारका मोह वा ममत्व रखता है। इसलिए वह देखता हुआ भी न देखनेके समान ही माना जाता है। इसी प्रकार वह आहारादिकके लिए नगरादिकमें आता जाता है परन्तु उस समयमें भी वह आत्म-चिन्तनमें ही लगा रहता है। भोजन करता हुआ भी आत्म-चिन्तवनमें लगा रहता है और यहां तक लगा रहता है कि भोजन करता हुआ भी सातवें गुणस्थानमें जा पहुंचता है। इसलिए वह भोजन करता हुआ भी न करनेके समान माना जाता है। इसी प्रकार सोता हुआ भी वह अन्य किसी पदार्थका चिन्तवन नहीं करता उस समय भी वह आत्माके गुणोंका चिन्तवन करता रहता है

इसलिए वह सोता हुआ भी न सोनेवालेके समान गिना जाता है। कहां तक कहा जाय सम्यग्दृष्टिकी महिमाको कोई चिन्तवन भी नहीं कर सकता। उसकी महिमा अतुल है। वह संसारमें रहता है तथापि जिन कहलाता है और भोजन पान आदि संसारके समस्त कार्य करता हुआ भी कर्मबंधनसे लिप्त नहीं होता। ऐसी यह विचित्र महिमा सिवाय सम्यग्दृष्टिके और किसीकी नहीं हो सकती। इसलिए भव्य जीवोंको सबसे पहले अपने मिथ्यात्वका त्याग कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—किं कार्यमथवा दृश्यं शर्मदं वद मे गुरो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि इस संसारमें सुख देनेवाला वा कल्याण करनेवाला कौनसा कार्य करना चाहिए और क्या देखना चाहिए?

उत्तर—निजात्मबाह्यं बहुदोषयुक्तं भ्रान्तिप्रदं शान्तिहरं कुकर्म।
कृतं त्वया कारितमेव चान्यैरनन्तवारं विषमं कुबुद्धया ॥२१६॥
तत्कर्मभिर्वत्स तथापि चात्मा तृप्तः कदाचिन्न बभूव लोके।
विचिन्त्य कार्यं सुखदं स्वकृत्यं दृश्यं तदेवं न कृतं न दृष्टम् ॥२१७॥

अर्थ—हे वत्स! अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए तूने अपनी कुबुद्धिसे अत्यन्त विषम, अनेक दोषोंसे परिपूर्ण, शान्तिको हरण करनेवाले, भ्रांतिको उत्पन्न करनेवाले और अपने आत्मासे बाह्य ऐसे अनेक कुकर्म अनन्त बार किए हैं तथा अनन्तबार ही दूसरोंसे कराये हैं तथापि यह तेरा आत्मा इस संसारमें आज तक कभी तृप्त नहीं हुआ है। यही समझकर अब तुझे सुख देनेवाला वही आत्मकार्य करना चाहिए और वही देखना चाहिए जो आजतक न किया हो और न देखा हो।

भावार्थ—यह आत्मा अनन्त कालसे इन्द्रियोंके विषयोंमें लग रहा है, तथा उन इन्द्रियोंके विषयोंके लिए अनेक प्रकारके कुकर्म करता चला आ रहा है तथापि वह आज तक कभी तृप्त नहीं हुआ। उन कुकर्मोंके कारण अनन्तबार नरकमें गया, अनन्तबार सिंहादिक क्रूर पशु हुआ और न जाने कितनी बार निगोद गया। इन इन्द्रियोंके विषयोंके कारण इस आत्माने अनन्त काल तक घोर दुःख सहन किए तथापि किसी भी इन्द्रियके विषयसे आज तक तृप्त नहीं हुआ तथा अनन्त काल और बीत जानेपर भी कभी तृप्त नहीं हो सकता। यदि यह आत्मा तृप्त हो सकता है तो आत्मजन्य अनन्त सुखसे तृप्त हो सकता है। आज तक अनन्त जीव इसीसे तृप्त हुए हैं और आगे भी इसी आत्मजन्य अनन्त सुखसे अनन्तानन्त जीव तृप्त होते रहेंगे। यह आत्मजन्य अनन्त सुख इस जीवने न तो आज तक प्राप्त किया, न प्राप्त करनेका प्रयत्न किया और न कभी आज तक देखा। इसलिए हे आत्मन्! अब तू इन इन्द्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग कर और आत्माको सुख देनेवाले आत्माके स्वभावको प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। आत्माका स्वभाव प्राप्त होनेसे ही इस जीवको अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—यदा साधुर्निजे तिष्ठेत्तदान्यं दृश्यते न वा ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जब यह साधु अपने आत्मामें लीन होता है तब अन्य पदार्थोंको देखता है वा नहीं ?

उत्तर—शुद्धचिद्रूपधाम्न्येव चित्तोन्द्रियाद्यगोचरे।
सर्वकर्मक्रियादूरे यदा साधुः प्रतिष्ठति ॥ २१८ ॥
तदातिशुद्धचिद्रूपं समन्ताद् दृश्यते यथा।
यद्ध्यानं क्रियते तद्धि स्वप्नेपि दृश्यते सदा ॥२१९॥

अर्थ—यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा इन्द्रिय और मनके अगोचर है तथा समस्त क्रिया कर्म आदिसे रहित है। ऐसे शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामें जब यह साधु लीन हो जाता है तब वह चारों ओरसे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माको ही देखता है। उस समय वह और कुछ नहीं देख सकता। जैसे कि ध्यान करनेवाला मनुष्य जिस पदार्थका ध्यान करता है उसी पदार्थको वह स्वप्नमें भी देखा करता है।

भावार्थ—इस संसारमें प्रायः यह देखा जाता है कि यह मनुष्य दिन भर जिसके ध्यानमें लगा रहता है उसीको स्वप्नमें देखता है। उसका मन उस पदार्थमें लीन हो जाता है और इसीलिए उसके मनमें उस पदार्थका संस्कार जम जाता है। उन्हीं संस्कारोंके जम जानेसे स्वप्नमें भी उसके मनमें वे ही पदार्थ चक्कर लगाया करते हैं। इसी प्रकार जब यह साधु अपने इन्द्रिय और मनके अन्य समस्त व्यापारोंका त्याग कर अपने शुद्ध आत्मामें लीन हो जाता है, उसी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है और शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है उस समय वह केवल उसी शुद्ध आत्माको देखता है। उस समय इन्द्रियोंका व्यापार बंद हो जानेसे वह न तो अन्य किसी पदार्थको देख सकता है और न अन्य किसी पदार्थको जान सकता है। उस समय उसको सिवाय अपने शुद्ध आत्माके और न कुछ दिखाई देता है और न कुछ जाना जाता है। इसीको एकाग्रचित्त निरोध वा ध्यान कहते हैं। अपने चित्तको अन्य समस्त चिंतवनोंसे हटा कर किसी एक मुख्य पदार्थमें लगा देना एकाग्रचित्त निरोध कहलाता है। इसीको ध्यान कहते हैं। जब यह आत्मा अपने मनको वा अपने आत्माको अपने ही शुद्ध आत्मामें लगा देता है तब अन्य समस्त पदार्थोंके चिंतवनका त्याग अपने आप हो जाता है, और इसीलिए वह फिर किसी भी पदार्थको देख वा जान नहीं सकता। केवल अपने ही आत्माको देखता है और अपने ही आत्माको जानता है। अतएव भव्य-जीवोंको भी मोक्ष सुख प्राप्त करनेके लिए समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर ऐसे ही ध्यान करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न–स्वभावः कीदृशो जन्तोर्गतिर्वा कीदृशी वद ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब यह बतलाइए कि इस जीवनका स्वभाव और गति कैसी है ?

उत्तर–अयमात्मा यदा यत्र चिन्तयति किमप्यहो ।
तदा तत्र प्रयात्येव तन्मयतां स्वभावतः ॥२२०॥
ततो वांच्छितदः कार्यो भक्त्या साधुसमागमः ।
यतः परतिं त्यक्त्वा स्वात्मात्मनि रतो भवेत् ॥२२१॥

अर्थ–यह आत्मा जब कभी किसी भी स्थानपर जिस किसी पदार्थका चिंतवन करता है तब वह उस समय स्वभावसे ही उस रूप हो जाता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको भक्तिपूर्वक समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला साधुओंका समागम करना चाहिए जिससे कि यह आत्मा परपदार्थोंके मोहको छोडकर अपने ही आत्मामें लीन हो जाय।

भावार्थ—इस आत्माका स्वभाव वा इसकी गति ही ऐसी है कि यह आत्मा जब जिस पदार्थका चिंतवन करता है तब वह अपने आत्माको उसीरूप मान लेता है। जो आत्मा आग्नेयी धारणाका चिंतवन करता है वह अपनी नाभिसे उठती हुई और जलती हुई अग्निकी ज्वालाका चिंतवन करता है। उस अग्निकी ज्वालासे अष्टकर्मोंको जलता हुआ चिंतवन करता है। फिर वायवीय धारणाका चिंतवन करता हुआ वायुके द्वारा उसकी भस्मको उडानेका चिंतवन करता है। तदनंतर जलीय धारणका चिंतवन करता हुआ उस जलकी वर्षाके द्वारा अपने आत्माको शांत होना चिंतवन करता है। तदनंतर कर्मोंके जल जानेसे अपने आत्माको शुद्ध होना चिंतवन करता है। इस प्रकार वह चिंतवन करता हुआ अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है। इसलिए प्रत्येक भव्य-जीवका कर्तव्य है कि

अपने शुद्ध आत्माके ध्यानका अभ्यास करनेके लिए साधुओंके निवासस्थानमें रहना चाहिए। वहीं रहकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। साधुओंके निवासस्थानमें रहनेसे अन्य समस्त पदार्थोंके मोहका त्याग हो जाता है तथा यह आत्मा ध्यानका अभ्यास करने लगता है और अनुक्रमसे शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ अपने आत्माको शुद्ध बनाकर मोक्षका अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—इष्टानिष्टपदार्थः कौ कस्य स्याद् दुःखदो वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग किसको दुःख देनेवाला होता है ?

उत्तर—स्यादिष्टानिष्टसंयोगोऽन्यहेतुः कोपि दैविकः।
दुःखदो मूर्खजन्तूनां कामान्धानां भवात्मनाम् ॥२२२॥
मुनीनां श्रावकाणां वा तथार्हद्धर्मधारिणाम्।
स्वानन्दसौख्यभाजां न स्वपरतत्त्ववेदिनाम् ॥२२३॥

अर्थ—इन संसारी जीवोंको जो इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हुआ करता है वा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग हुआ करता है वह अपने-अपने कर्मोंके उदयसे हुआ करता है तथा आत्मज्ञानसे शून्य ऐसे अज्ञानी और कामसे अंधे होनेवाले संसारी जीवोंको ही दुःख देनेवाला होता है। परंतु जो पुरुष भगवान अरहंत देवके कहे हुए धर्मको धारण करते हैं जो अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको तथा परपदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं और जो अपने आत्मजन्य अनंत सुखका अनुभव करते रहते हैं ऐसे मुनि वा उत्तम श्रावकोंको वह इष्ट वियोग वा अनिष्ट संयोगसे होनेवाला दुःख कभी नहीं होता है।

भावार्थ—इस संसारमें इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग दोनों ही अपने अशुभ कर्मके उदयसे होते हैं तथा कर्मोंका उदय अनिवार्य हुआ करता है। उन कर्मोंके उदयको इन्द्रादिक देव भी नहीं रोक सकते। इसलिए उसमें दुःख मानना अज्ञानी लोगोंका काम है। अज्ञानी जीव न तो आत्माके स्वरूपको समझते हैं और न कर्मोंके उदयको समझते हैं इसलिए वे किसी भी इष्टके वियोग होनेपर अथवा किसी अनिष्टके संयोग होनेपर दुःखी हुआ करते हैं। यह उनके प्रबल मोहका माहात्म्य है। जो मनुष्य अपने मोहका त्याग कर देता है वह अपने आत्माके स्वरूपको समझने लगता है और इसीलिए वह आत्माके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंको पर समझता है। यही कारण है कि वह किसी भी इष्टके वियोग होनेपर दुःख नहीं करता। वह तो अपने आत्माको ही अपना समझता है इसलिए वह किसी भी पदार्थमें इष्ट वा अनिष्टकी कल्पना नहीं करता। जब वह किसी भी पदार्थमें इष्ट वा अनिष्टकी ही कल्पना नहीं करता तब वह उनके संयोग वा वियोगको भी समान ही समझता है तथा इस प्रकार समताभाव धारण करनेके कारण वह कभी दुःखी नहीं होता। यही समझ कर भव्यजीवोंको सबसे पहले मोहका त्याग कर देना चाहिए, सम्यग्दर्शनको धारणकर आत्माका स्वरूप समझ लेना चाहिए और फिर समताभाव धारण कर आत्मजन्य सुखका अनुभव करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे इस जीवको कभी दुःख नहीं होता।

प्रश्न—स्ववस्तुग्रहणे स्याद्वाऽन्यवस्तुग्रहणे सुखम् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जीवको अपनी वस्तु ग्रहण करनेमें सुख होता है अथवा परपदार्थोंके ग्रहण करनेमें सुख होता है?

उत्तर—व्यथा स्याद्वचनातीताऽन्यवस्तुग्रहणेऽर्थतः ।
स्ववस्तुग्रहणे सौख्यमक्षातीतं स्वभावजम् ॥२२४॥

तथापि मोहमूढश्च त्यक्त्वा स्ववस्तु शर्मदम् ।
गृह्णाति परवस्त्वेव कष्टं दुःखशतप्रदम् ॥२२५॥

अर्थ—वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें परपदार्थोंके ग्रहण करनेमें जो दुःख होता है वह वचनोंसे भी नहीं कहा जा सकता तथा अपना पदार्थ ग्रहण करनेमें इन्द्रियोंके अगोचर और स्वभावसे उत्पन्न होनेवाला अपार सुख प्राप्त होता है। यद्यपि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है तथापि मोहसे अज्ञानी हुआ यह मनुष्य कल्याण करनेवालें अपने आत्मतत्त्वको तो छोड देता है और परपदार्थोंको ही ग्रहण करता है। यह सैकडों दुःख देनेवाली महाकष्टकी बात है।

भावार्थ—इस जीवका स्वपदार्थ शुद्ध आत्मतत्त्व है तथा अपने आत्माके सिवाय अन्य जितने पदार्थ हैं वे सब परपदार्थ हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, काम, मोह, राग, द्वेष आदि सब परपदाथ कहलाते हैं तथा शरीर, धन, धान्य, सोना, चांदी आदि भी परपदार्थ कहलाते हैं। यह जीव मोहके कारण ही परपदार्थोंको ग्रहण करता है और फिर उनमें इष्ट अनिष्ट कल्पना कर उनके संयोग-वियोगसे महा दुःखी होता है। इसी प्रकार यह जीव अनादिकालसे दुःखी होता चला आ रहा है। यह मोह आत्माके स्वरूपको जानने नहीं देता इसीलिए यह जीव अपने आत्माको भूल जाता है। जब यह आत्मा अपने मोहका त्याग कर देता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर आत्माके स्वरूपको समझ लेता हे फिर यह आत्मा परपदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करता। यदि कारण-वश ग्रहण करता भी है तो उसमें इष्ट अनिष्ट कल्पना नहीं करता। इसलिए उन पदार्थोंका संयोग वियोग होनेपर भी वह दुःखी नहीं होता। फिर तो वह अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। वह परपदार्थोंका त्याग करता जाता है और आत्माकी शुद्धता प्राप्तकर समस्त कर्मोंको

नष्ट करनेका प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार वह समस्त कर्मोंको नष्टकर अनन्तसुखी हो जाता है।

प्रश्न–परैः को निंद्यते जीवः साम्प्रतं मे गुरो वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कैसा जीव दूसरोंके द्वारा निन्दनीय माना जाता है !

उत्तर–योऽन्याभिलाषी विपरीतवेषी, स निंद्यते सर्वजनैः प्रमूढः।
तथा सदैवं नरके निगोदे, पीडामसह्यां सहतेऽन्यदत्ताम् ॥२२६॥
ज्ञात्वेति भव्यो न भवेत्कदापि, पराभिलाषी विपरीतवेषी।
विश्वं स्ववद्वीव च मन्यमानः, श्रीकुंथुसिंधुर्ह्यवदच्च सूरिः ॥२२७॥

अर्थ–इस संसारमें जो पुरुष परपदार्थोंकी अभिलाषा करता है और विपरीत भेषको धारण करता है वह मूर्ख सब लोगोंके द्वारा निंदनीय गिना जाता है। ऐसा मनुष्य सदाकाल नरक निगोदमें पडा रहता है और दूसरोंके द्वारा दिये हुए असह्य दुःखोंको सहन किया करता है। यही समझ कर भव्यजीवोंको परपदार्थोंकी अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिए और कभी विपरीत वेष धारण नहीं करना चाहिए। भव्यजीवोंको तो समस्त संसारके प्राणी मात्रको अपनी आत्माके समान समझना चाहिए ऐसा आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ–तीव्र मोह वा तीव्र लोभको धारण करनेवाला मनुष्य सदाकाल संसारके समस्त पदार्थोंकी अभिलाषा किया करता है। यद्यपि उन पदार्थोंका प्राप्त होना उनके आधीन नहीं है। पदार्थोंका प्राप्त होना लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमके आधीन है। जब तक लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम नहीं

होता तब तक किसी भी जीवको किसी भी पदार्थकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव अभिलाषा करनेवाला मनुष्य व्यर्थ ही अशुभ कर्मोंका बंध किया करता है। स्वयंभू रमण समुद्रमें एक सबसे बडा मत्स्य होता है और उसकी आंखमें एक तंदुल मत्स्य नामका छोटासा मत्स्य रहता है। जब वह बडा मत्स्य मुंह खोलता है तब हजारों छोटे-छोटे मत्स्य उसके मुखमें चले जाते हैं और वे सब पीछेके रास्तेसे निकल जाते हैं इसको देखकर वह तंदुल मत्स्य यही चिंतवन करता है कि यदि मैं होता तो इस प्रकार मुखमें आये हुए सैकडों हजारों मत्स्योंको निकलने नहीं देता सबको खा जाता। वह तंदुल मत्स्य इसी प्रकार सदाकाल चिंतवन करता रहता है और इसी परपदार्थोंकी अभिलाषाके कारण मरकर सातवें नरकमें जाता है। इसलिए भव्यजीवोंको परपदार्थोंकी अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार विपरीत वेष धारण करना भी निंदनीय है। जो वेष अपने पदस्थके योग्य होता है वही वेष उत्तम और प्रशंसनीय माना जाता है। साधुका वेष वीतराग और निर्विकार निर्ग्रंथ अवस्था है। यदि साधु होकर भी परिग्रह रखता है वा झोंपडी बना कर रहता है अथवा भीख मांगकर पेट भरता है तो वह उसका विपरीत वेष कहलाता है। यदि कोई पुरुष गृहस्थ अवस्थामें रह कर छहों खंडकी विभूति अपने पास रखता है तो भी वह निंदनीय नहीं कहलाता, परन्तु वही पुरुष यदि साधु होकर थोडासा भी परिग्रह रखता है तो अत्यन्त निंदनीय कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि समस्त पापोंका त्याग कर साधु अवस्था धारण करता है और साधु होकर शेष समस्त कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न करता है। यदि साधु होकर भी परिग्रह रख कर पाप उत्पन्न करनेका साधन बनाये रखता है तो फिर वह महा पापी कहलाता है। इसलिए साधु पुरुषोंको अपना विपरीत वेष कभी धारण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार श्रेष्ठ गृहस्थोंको वा श्रावकोंको भी अपना विपरीत वेष कभी धारण नहीं करना चाहिए। श्रावकोंको सदाकाल ऐसा वेष धारण करना चाहिए जिससे कि कोई

श्रावक वा साधु उसे श्रावक समझ ले। मुनि लोग विहार करते हुए न जाने कहांसे आते हैं तो भी वे श्रावकोंके घरोंको ही श्रावकोंका घर समझ कर उनके भीतर तक हो आते हैं। इसलिए श्रावकोंको भी अपना वेष कभी विपरीत नहीं बनाना चाहिए। जो वेष अपने योग्य है वही वेष धारण करना चाहिए। विपरीत वेष सदा निंदनीय कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि विपरीत वेष प्रायः दूसरोंको ठगनेके लिए ही धारण किया जाता है। इसलिए भव्यजीवोंको अपनी योग्यतानुसार ही वेष धारण करना चाहिए।

प्रश्न—कस्य तिष्ठति पार्श्वे भो मुक्तिमें सुखदा वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि सुख देनेवाली मुक्ति किस महा पुरुषके समीप रहती है?

उत्तर—बाह्यादिसंगप्रविमुक्तमूर्त्तेः, कृपाक्षमाशांतिसुखाश्रितस्य।
सच्छुद्धचिद्रूपपदास्थितस्य, स्वानन्दतृप्तस्य यतीश्वरस्य ॥२२८॥
मुक्तिः सदा तिष्ठति पार्श्वएव, विद्यादिदेवीव सुमंत्रमुग्धा।
ज्ञात्वेति चिद्रूपपदे पवित्रे, तिष्ठन्तु भव्याः खलु मुक्तिहेतोः ॥२२९॥

अर्थ—जिस प्रकार विद्यादेवी वा अन्य देवियां अपने-अपने वाचक मंत्रोंसे मुग्ध होकर आराधन करनेवालेके समीप अपने आप चली जाती हैं, उसी प्रकार जो मुनिराज अंतरंग बहिरंग समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देते हैं, कृपा, क्षमा, शान्ति, और आत्मजन्य आनंदके आश्रित रहते हैं, सर्वोत्तम शुद्ध चिदानन्द पदमें विराजमान रहते हैं और अपने आत्मजन्य आनन्दसे सदा काल तृप्त रहते हैं ऐसे मुनिराजोंके समीप यह मुक्ति सदाकाल विराजमान रहती है। यही समझकर भव्य

जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अत्यंत पवित्र ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने शुद्ध आत्मामें सदाकाल लीन बने रहना चाहिए।

भावार्थ—जो लोग मंत्र जपकर देवताओंका आराधन करते हैं उनके पास वे देवता उन मंत्रोंके आधीन होकर अपने आप चले आते हैं। इसी प्रकार जो मुनिराज मुक्तिकी आराधना करते हैं उनको मुक्ति भी अवश्य प्राप्त हो जाती है। मुक्तिका अर्थ छूटना है। यह जीव अनादिकालसे कर्मोंसे बंधा हुआ है। अतएव उन समस्त कर्मोंसे छूट जाना ही मुक्ति कहलाती है। वे कर्म अंतरंग बहिरंग परिग्रहोंसे ही बंधते हैं इसलिए वे मुनिराज उन कर्मोंको नाश करनेके लिए सबसे पहिले अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं। समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे फिर वे मुनिराज किसी भी पापसे लिप्त नहीं होते। इस प्रकार वे मुनिराज कर्मोंके आनेके मार्गको बंद कर देते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज समस्त कषायोंका त्याग कर तथा समस्त इंद्रियोंको निग्रह कर कृपा क्षमा शान्ति आदि आत्माके गुणोंको धारण कर लेते हैं। राग द्वेषका त्याग कर आत्मजन्य सुखसे सुखी हो जाते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज आगामी कर्मबंधको रोककर कृपा क्षमा शांति समता आदि आत्मगुणोंके द्वारा आत्माके साथ लगे हुए पिछले कर्मोंको नष्ट करते जाते हैं। वे मुनिराज इस प्रकार अपने आत्माको कषायरहित अत्यंत पवित्र निर्मल बनाकर अपने आत्मजन्य चिदानंद स्वरूपमें स्थिर और लीन हो जाते हैं तथा फिर वे उसी शुद्ध चैतन्यमय अनंत सुखसे तृप्त रहते हैं। इस प्रकार जब वे मुनि अपने आत्मध्यानके द्वारा उस मुक्तिका आराधन करते हैं तब वह मुक्ति सदाकाल उनके पास ही बनी रहती है, अर्थात् ऐसे मुनिराज शीघ्र ही उस ध्यानके द्वारा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं इसलिए आचार्य महाराज यही उपदेश देते हैं कि भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए समस्त परिग्रहादिकोंका त्याग कर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—कर्ममल्लनिरोधार्थं किं कार्यं वद मे प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो ! कृपा कर यह बतलाइए कि इस कर्मरूपी मल्लको रोकनेके लिए क्या-क्या कार्य करना चाहिए।

उत्तर—क्रोधादिमोहस्य विनाशकर्तुर्विज्ञानमल्लस्य सुखप्रदस्य ।
नित्यं निवासः सुखदोस्ति यत्र स्वप्नेपि तत्रात्मनि चित्स्वरूपे ॥२३०॥
न कर्ममल्लस्य भवेन्निवासस्ततः प्रमूढः स बहिः प्रयाति ।
ज्ञात्वेति विज्ञानभटोस्ति सेव्यः कुकर्ममल्लस्य निरोधनार्थम् ॥२३१॥

अर्थ—यह स्वपरभेदविज्ञानरूपी मल्ल क्रोधादिक कषायरूपी मल्लोंको और मोहरूपी महामल्लको नाश करनेवाला है और सदाकाल आत्माको सुख देनेवाला है। ऐसा यह स्वपरभेदविज्ञानरूपी मल्ल जिस चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मामें अपना सुख देनेवाला निवासस्थान बना लेता है उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मामें कर्मरूपी मल्लका निवास कभी नहीं हो सकता। फिर तो वह कर्मरूपी मल्ल उस विज्ञानरूपी मल्लके निवासस्थानसे बाहर होकर दूर भाग जाता है। यही समझकर भव्यजीवोंको अशुभ कर्मरूपी मल्लको रोकने वा भगानेके लिए विज्ञानरूपी मल्लकी सेवा करनी चाहिए।

भावार्थ—ये कर्म बहुत बडे मल्ल हैं। इनका उदय किसीसे नहीं रोका जा सकता। देखो! इन कर्मोंके ही उदयसे रामचन्द्र लक्ष्मण ऐसे योद्धाओंको भी वन-वनमें भटकना पडा, इन कर्मोंके ही उदयसे सती सीताको अनेक बार दुःख भोगने पडे, इन्हीं कर्मोंके उदयसे सती अंजनाको महा दुःख भोगने पडे। औरोंकी बात ही क्या है, यह कर्मोंका उदय तीर्थंकरोंको भी नहीं छोडता। इन्द्र चक्रवर्ती आदि किसीको नहीं छोडता इसीलिए इन कर्मोंको महा बलवान माना है। ये कर्म इस संसारमें किसीसे नहीं हारते।

यदि हारते हैं तो एक स्वपरभेदविज्ञानरूपी मल्लसे हारते हैं। इन कर्मरूपी मल्लोंको स्वपरभेदविज्ञानरूपी महा मल्लका इतना डर लगता है कि जिस चैतन्य स्वरूप आत्मामें स्वपरभेद विज्ञानरूपी मल्ल अपना निवासस्थान बना लेता है अर्थात् जिस आत्माको स्वपर भेद विज्ञान प्रगट हो जाता है, उस आत्मामें फिर वे कर्मरूपी मल्ल कभी नहीं रह सकते। फिर तो वे कर्म उस आत्मासे निकलकर दूर भाग जाते हैं। स्वपर भेद विज्ञानके प्रगट होनेपर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर यह आत्मा ध्यान तपश्चरण आदिके द्वारा बहुत शीघ्र उन कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिए भव्यजीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेना चाहिए और फिर चारित्र धारणकर ध्यान वा तपश्चरणके द्वारा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। आत्माके लिए यही कल्याणका सर्वोत्तम मार्ग है।

प्रश्न—सेवावृत्तिर्भवेल्लोके कीदृशी वद मे गुरो ?

अर्थ— हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सेवावृत्ति वा सेवा करना कैसा है ?

उत्तर—मौन्येव मूर्खो भयवान् क्षमावान्, वाग्मी प्रजल्पी च दमी ह्यभागी।
यः पार्श्ववासी सखलश्च धृष्टः, सुदूरवासी विनयप्रलोपी ॥२३२॥
स्यान्मन्दगामी ह्यलसः प्रमादी, सुतीव्रगामी चपलोऽविचारी।
स्वामीति भृत्यं वदति स्वमत्तः, सेवाप्रवृत्तिश्च ततो न कार्या ॥२३३॥

अर्थ—जिसकी सेवाकी जाती है उसको स्वामी कहते हैं। वह स्वामी अपने धनसे सदा मदोन्मत्त रहता है। यदि सेवक अधिक बातचीत नहीं करता मौन रहता है तो स्वामी उसे मूर्ख कहा करता है। यदि सेवक क्षमा धारण करता है तो स्वामी उसे भयभीत बतलाता है। यदि सेवक अधिक बोलता है

तो स्वामी उसे बकवादी कहता है। यदि सेवक अपनी इन्द्रियोंको दमन करता रहता है तो स्वामी उसे भाग्यहीन बतलाता है। यदि सेवक सदाकाल समीप बना रहता है तो स्वामी उसे धृष्ट और दुष्ट कहता है। यदि सेवक दूर-दूर रहता है तो स्वामी उसे अविनयी बतलाता है। यदि सेवक धीरे-धीरे चलता है तो स्वामी उसे आलसी और प्रमादी कहता है। तथा यदि सेवक शीघ्रताके साथ चलता है तो स्वामी उसे विचार न करनेवाला चंचल बतलाता है इस प्रकार वह स्वामी प्रत्येक बातमें सेवककी निन्दा करता है। इसलिए यह सेवावृत्ति कभी किसीको नहीं करनी चाहिए।

भावार्थ–वास्तवमें देखा जाय तो सेवा करना निन्दनीय कार्य है। कोई भी पुरुष निर्धन होनेके कारण दूसरोंकी सेवा करता है। परन्तु स्वामी इस बातको नहीं समझता। धनी स्वामी अपने धनमें उन्मत्त रहता है, इसलिए वह उस सेवकके गुण दोषोंको कुछ नहीं देखता। यदि सेवकमें अनेक गुण भी होते हैं तो भी वह उनको दोष ही बतलाया करता है। यदि सेवक कम बोलता है तो स्वामी उसे मूर्ख कहता है गूंगा कहता है। यदि अधिक बोलता है तो उसे बक-बक करनेवाला बकवादी कहता है। यदि सेवक क्रोध करता है तो स्वामी उसे क्रोधी हत्यारा कहता है। यदि क्षमा धारण करता है तो भयभीत वा डरपोक बतलाता है। यदि वह इन्द्रियोंको वशमें रखता है तो उसे भाग्यहीन बतलाता है। यदि सेवा करनेके लिए समीप रहता है तो उसे धृष्ट कहता है। दूर रहता है तो अविनयी कामचोर बतलाता है। धीरे चलता है तो आलसी कहता है। यदि शीघ्र चलता है तो चंचल वा बिना विचारे काम करनेवाला कहता है। कहां तक कहा जाय, सेवकके लिए कहीं किसी प्रकार भी सुख नहीं है। इसलिए धनसे उन्मत्त रहनेवाले धनी लोगोंकी सेवा कभी नहीं करनी चाहिए। यदि सेवा ही करनी हो तो भगवान अरहंत देवकी सेवा करनी चाहिए अथवा वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करनी चाहिए। इनकी सेवा करना सदाकाल प्रशंसनीय मानी जाती है तथा धनीकी सेवा करनेसे बहुतसी निंदाके

साथ-साथ थोडासा धन प्राप्त होता है, परन्तु भगवान अरहंत देवकी सेवा करनेसे तथा वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करनेसे तीनों लोकोंकी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है तीनों लोकोंके इन्द्र उसके दास हो जाते हैं और वह परम पूज्य हो जाता है। धनियोंकी सेवा करते-करते अनंतकाल बीत गया और इसके फल स्वरूप सिवाय नरकादिकके दुःखके और कुछ प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए अब धनियोंकी सेवाका त्याग कर देव और गुरुकी सेवा करनी चाहिए जिससे कि आत्माका यथार्थ कल्याण हो।

प्रश्न–राजा नियुज्यते राज्ये कीदृग्मे शान्तये वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि राज्यसिंहासनपर कैसा राजा नियुक्त करना चाहिए ?

उत्तर–उदारबुद्धिर्वरधैर्यधारी त्राता ह्यसूनां निजपुत्रवद् यः।
स्वाचारनिष्ठः कुशलः सधर्मोऽमानी सनीतिर्विनयी प्रतापी ॥२३४॥
धीरः कृपालुर्भवभीरुरेव समस्तसंसारविचारवेदी।
स्वानंदतुष्टः स्वपरात्मतोषी राजा स राज्ये सुजनैर्नियोज्यः ॥२३५॥

अर्थ–जो उदार बुद्धिको धारण करनेवाला हो, धीर-वीर हो, समस्त प्राणियोंको पुत्रके समान रक्षा करनेवाला हो, अपने आचरण और विचारोंमें श्रद्धा रखनेवाला हो, प्रत्येक कार्यमें कुशल हो, धर्मको धारण करनेवाला हो, अभिमानी न हो, न्याय और नीतिको पालन करनेवाला हो, विनयवान् हो, प्रतापी हो, धैर्यको धारण करनेवाला हो, कृपालु हो, संसारसे भयभीत हो, समस्त संसारके विचारोंको जाननेवाला हो, अपने आत्मासे उत्पन्न होने वाले आनन्दमें ही संतोष धारण करनेवाला हो और सबको संतुष्ट रखनेवाला हो। ऐसा पुरुष सज्जनोंके द्वारा राज्यसिंहासनपर नियुक्त होना चाहिए।

भावार्थ—यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा हो जाती है। यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है यदि राजा पापी होता है तो प्रजा भी पाप करने लगती है। यदि राजा साधारण होता है तो प्रजा भी साधारण ही रह जाती है। यदि राजा दान धर्म करने लगता है तो प्रजा भी दान धर्म करने लगती है। अपने राज्यमें राजा सबसे बडा माना जाता है। इसलिए सब प्रजा उसीके अनुसार चलती है। यदि राजा उन्नतिशील होता है तो उसकी प्रजा भी उन्नति करने लगती है। यदि राजा आलसी होता है तो प्रजा भी आलस करने लगती है। यदि राजा व्यापार कुशल होता है तो प्रजा भी व्यापारमें कुशल हो जाती है। यदि राजा गुरुभक्त होता है तो प्रजा भी गुरुभक्त बन जाती है। अभिप्राय यह है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा बन जाती है। इसलिए प्रजाके चतुर लोगोंको उचित है कि वे राज्य-सिंहासनपर ऐसे ही पुरुषको नियुक्त करें जिसमें राजाके पूर्ण गुण विद्यमान हों। राजाको सबसे पहले क्रोध, मान, काम, मोह आदि अन्तरंग शत्रुओंको जीत लेना चाहिए। जो राजा अन्तरंग शत्रुओंको नहीं जीत सकता वह राज्यके बाहरी शत्रुओंको भी नहीं जीत सकता। इसलिए अन्तरंग शत्रुओंको जीतना उसके लिए परम आवश्यक है। इसके सिवाय दान, मान, दंड, भेद, संधि, विग्रह आदि गुणोंको भी जान लेना चाहिए। यदि राजा इन गुणोंसे काम न लेगा तो उसका राज्य कभी नहीं टिक सकता। इन नीतियोंका जानकार राजा अपनेसे बडे राजाओंको भी वशमें कर लेता है और इन गुणोंसे काम न लेनेवाला बडा राजा भी छोटे राजाके द्वारा परास्त होकर नष्ट हो जाता है। इसलिए इन नीतियोंका जानना भी राजाके लिए परम आवश्यक है। इसी प्रकार अपनी प्रजाको सन्तुष्ट रखना भी राजाका कार्य है। यदि प्रजा असन्तुष्ट हो जायगी तो उस राजाको राज्यसिंहासनसे अलग कर सकती है। कहां तक कहा जाय? राज्यसिंहासनपर वही राजा टिक सकता है जिसमें ऊपर लिखे हुए राजाके समस्त गुण हों।

प्रश्न—कसाधुर्ब्रह्मचारी कः कदा मे कीदृशो वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस-किस समयमें कौन-कौन साधु कहलाता है और किस-किस समयमें कैसा ब्रह्मचारी कहलाता है ?

उत्तर—यो ज्ञानहीनश्च भवेत्स साधुः स ब्रह्मचारी रमया विहीनः ।
यः पुत्रहीनः स च देवभक्तः सैषा सुशीला जरयातिजीर्णा ॥२३६॥
ध्याता स मंत्रस्य धनेन हीनो यो दन्तहीनश्चणकाद्विरक्तः ।
यो धैर्यधारीति परस्य दुःखे सन्त्येदृशाः कौ बहवश्च मूर्खाः ॥२३७॥
पूर्वोक्तदोषैश्च विवर्जिता ये सन्त्यत्र लोके विरलाश्च भव्याः ।
त्यक्त्वा स्पृहादिं सुकृतिं हि कृत्वा स्वर्गापवर्गं क्रमतो लभन्ते ॥२३८॥

अर्थ—इस संसारमें बहुतसे लोग मायाचारी भी करते हैं। जो लोग आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित होते हैं वे साधु हो जाते हैं. जो लोग धनहीन वा स्त्रीहीन होते हैं वे ब्रह्मचारी कहलाते हैं, जिनके पुत्र पौत्रादिक सन्तान नहीं होती वे लोग देवोंकी भक्ति किया करते हैं और देवभक्त कहलाते हैं। जो स्त्री वृद्धावस्था होनेके कारण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाती है वह शीलवती कहलाती है। जो धनहीन होता है वह अनेक मंत्रोंका ध्यान करनेवाला ध्याता कहलाता है। जिसके दांत सब गिर जाते हैं वह चना चबनेका त्याग कर देता है। जो दूसरोंके दुःखमें भी धैर्य धारण करता रहता है वह धीर-वीर कहलाता है। इस प्रकार इस संसारमें अनेक अज्ञानी देखे जाते हैं, परन्तु जो लोग ऊपर लिखे दोषोंसे रहित हैं ऐसे भव्यपुरुष इस संसारमें बहुत थोडे हैं। ऐसे भव्य मनुष्य अपनी इच्छाओंका त्याग कर पुण्य उपार्जन कर लेते हैं और अनुक्रमसे स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके आधीन होकर अनन्त दुःख भोग रहा है। उन कर्मोंसे छूटनेके लिए सबसे पहले आत्मज्ञानकी आवश्यकता है। जो पुरुष आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है वही पुरुष राग द्वेष काम कषाय आदि समस्त विकारोंका त्याग कर तथा बाह्य परिग्रहका त्याग कर उन कर्मोंको नष्ट करनेके लिए साधु अवस्था धारण करता है। इसका भी कारण यह है कि कर्मोंका नाश ध्यान और तपश्चरणके द्वारा होता है तथा वह ध्यान और तपश्चरण गृहस्थ अवस्थामें हो नहीं सकता इसलिए वह साधु होकर रातदिन ध्यान वा तपश्चरण किया करता है। परन्तु जो लोग आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना ही साधु हो जाते हैं वे साधु अपने अशुभ ध्यानके द्वारा गृहस्थ अवस्थासे भी अधिक पाप उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसे साधु बिना आत्मज्ञानके अपनी आत्माका कल्याण कभी नहीं कर सकते। इसी प्रकार ब्रह्म शब्दका अर्थ आत्मा है। जो पुरुष अपने ब्रह्म अर्थात् आत्मामें लीन बने रहते हैं उनको ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी धन स्त्री आदिके रहते हुए भी उन सबका त्याग कर देते हैं। इसलिए ऐसा ब्रह्मचारी ही वास्तविक ब्रह्मचारी है। जिसकी लालसाएं सब नष्ट हो जाती हैं वही ब्रह्मचारी कहलाता है। जिसकी लालसाएं नष्ट नहीं होतीं वह कभी ब्रह्मचारी नहीं कहलाता। इसी प्रकार अपने-अपने स्वार्थके लिए सभी लोग देवोंकी भक्ति करते हैं वा मंत्रोंका जप करते हैं परन्तु वह भक्ति और वह जप कर्मोंको नष्ट नहीं कर सकता। उससे तो बहुतसे अशुभ कर्मोंका बन्ध ही होता है। इसलिए कर्मोंको नष्ट करनेके लिए तथा अपने आत्माको शुद्ध निर्मल बनानेके लिए जो देव भक्तिकी जाती है वा जप किया जाता है वही देव भक्ति वा जप कहलाता है। यही समझकर भव्य-जीवोंको सबसे पहले अपनी लालसाओंका त्यागकर देना चाहिए और फिर अपने आत्माके गुणोंका अनुभव करते हुए कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—कस्य त्यागेन जीवः कौ सुखी स्याद्वद मे गुरो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें यह जीव किस-किसका त्याग करनेसे सुखी होता है।

उत्तर—त्याज्यो गुरुः स्वात्मसुखेन शून्यो देवोपि चाष्टादशदोषयुक्तः।
त्याज्यश्च धर्मोपि दयाविहीनो स्नेहैर्विना बंधुसुमित्रवर्गः ॥२३९॥
श्रेष्ठश्च राजाप्यहितस्य कर्ता त्याज्यः स देशो व्रतशीलहीनः।
त्याज्या हि नारी कलहस्य कर्त्री क्रियाश्च हेया अपि भावशून्याः॥

अर्थ—इस जीवको निश्चिन्त और सुखी होनेके लिए ऐसे गुरुका त्याग कर देना चाहिए जो अपने आत्मसुखका अनुभव भी न कर सकता हो। ऐसे देवका त्याग कर देना चाहिए जिसमें अठारह दोषोंमेंसे कोई भी दोष हो, ऐसे धर्मका भी त्याग कर देना चाहिए जो दयासे रहित हो, ऐसे भाई बंधुओंका तथा मित्रवर्गोंका भी त्याग कर देना चाहिए जो स्नेह भी न रखते हों, उस श्रेष्ठ राजाका भी त्याग कर देना चाहिए जो अपना अहित करनेवाला हो, उस देशका भी त्याग कर देना चाहिए जिसमें व्रत और शीलोंका भी पालन न हो सकता हो, उस स्त्रीका भी त्याग कर देना चाहिए जो रातदिन कलह करनेवाली हो और ऐसी क्रियाओंका भी त्याग कर देना चाहिए जो भावपूर्वक न की जाती हों।

भावार्थ—आत्मसुखकी प्राप्तिके लिए गुरु किया जाता है तथा आत्मसुख उसीसे प्राप्त हो सकता है जो स्वयं आत्मसुखका अनुभव करता हो। जो गुरु स्वयं आत्मसुखका अनुभव नहीं करता, अपना समस्त जीवन इंद्रियोंके ही सुखमें व्यतीत कर देता है उसको गुरु बनानेसे कोई लाभ नहीं इसलिए ऐसे गुरुका त्याग कर देना ही सबसे अच्छा है। देवकी सेवा स्वयं निर्विकार और निर्दोष बननेके लिए की जाती है तथा निर्दोष और निर्विकार उसी देवकी सेवा करनेसे हो सकता है जो देव स्वयं निर्दोष निर्वि

कार तथा वीतराग सर्वज्ञ हो, यह निश्चित सिद्धांत है कि जो देव निर्दोष होता है वह अवश्य सर्वज्ञ होता है। इसलिए ऐसे देवकी सेवा करनेसे ही यह मनुष्य वीतराग सर्वज्ञ हो सकता है। जो देव-देव होकर भी निर्दोष न हो ऐसे देवकी सेवा करनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिए ऐसे देवकी सेवाका त्याग कर देना ही अच्छा है। इसी प्रकार धर्मका धारण जीवोंकी रक्षाके लिए किया जाता है। जो धर्म स्वयं दया पालन करनेका आदेश नहीं देता ऐसे धर्मसे सिवाय पापके और क्या लाभ हो सकता है। इसलिए ऐसे धर्मका भी त्याग कर देना अच्छा है। बंधु मित्र भी स्नेह रखनेके लिए समयपर सहायता पहुचानेके लिए और हर्ष-विषादमें साथ देनेके लिये होते हैं। जो मित्र व बंधुजन स्नेह भी नहीं रखते हों वे भला सहायता क्या पहुंचा सकेंगे। इसलिए ऐसे बंधु व मित्रोंसे कोई लाभ नहीं है। ऐसे बंधु व मित्रोंका भी त्याग कर देना चाहिए। जो राजा उत्तम भी हो परंतु अहित करनेवाला हो, प्रजाके लोगोंको दुःख पहुंचाता हो तो ऐसे राजासे भी कोई लाभ नहीं है। राजा तो प्रजाका हित करने और सुख पहुंचानेके लिए होता है। जो राजा प्रजाका हित न करे ऐसे राजासे क्या लाभ है। इसी प्रकार जिस देशमें रहनेसे अपने धर्मका साधन न होता हो, सम्यग्दर्शनका पालन न होता हो, व्रत वा शीलका पालन न होता हो तो उस देशका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। धर्म साधन करना ही इस मनुष्य जन्मका सार है। यदि इस धर्मका साधन जिस देशमें न होता हो, जिस देशमें कोई जिनालय न हो, धर्मात्मा लोग न हों, साधु वा गुरु न हों ऐसे देशमें जाना ही नहीं चाहिए। यदि किसी कारणसे पहुंच जाय तो शीघ्र ही उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार कलह करनेवाली स्त्रीसे सदा दुःख बना रहता है; इसलिए ऐसी स्त्रीसे सुख नहीं मिल सकता। स्त्री सुखके लिए होती है। यदि उससे दुःख ही पहुंचता रहे तो ऐसी स्त्रीसे क्या लाभ है। इसी प्रकार देव पूजा, गुरुकी उपासना, दान देना, धर्मग्रंथोंका पठन-पाठन करना, आदि जितनी क्रियाएं हैं वे

सिद्ध १७७

सब भावपूर्वक करनेसे ही सफल होती हैं। बिना भावोंके उन क्रियाओंसे जैसा चाहिए वैसा फल नहीं मिलता इसलिए क्रियाएं सब भावपूर्वक ही होनी चाहिए।

प्रश्न–कामखलेन योग्रस्तः स कीदृशो वद मे प्रभो ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष इस दुष्ट कामदेवके वशीभूत रहते हैं वे कैसे कहलाते हैं ?

उत्तर–ग्रस्तोस्ति यः कामखलेन जीवः स्वानन्दसाम्राज्यविनाशकेन।
दक्षः स कुण्ठश्चतुरोपि मूर्खः कोपी क्षमावान् भयवांश्च शूरः ॥२४१॥
ज्येष्ठः कनिष्ठः सुजनोपि दुष्टस्तीव्रोपि मन्दः प्रबलोप्यशक्तः।
नीचो कुलीनः विवशो वशः स्याद् बुद्ध्वेति तत्त्याग विधिर्विधेयः ॥२४२॥

अर्थ–यह दुष्ट कामदेव अपने आत्मजन्य आनन्दको नाश करनेवाला है और अत्यन्त दुष्ट है। जो पुरुष ऐसे इस कामदेवके वशीभूत हो जाता है वह चतुर होकर भी मूर्ख कहलाता है, तीव्र बुद्धि होकर भी कुंठ बुद्धिवाला कहलाता है, क्षमाको धारण करनेपर भी क्रोधी कहलाता है, शूरवीर होकर भी भयभीत कहलाता है, सबसे बडा होकर भी सबसे छोटा कहलाता है, सज्जन होकर भी दुष्ट कहलाता है, तीव्र होकर भी मंद कहलाता है, बलवान होकर भी असमर्थ कहलाता है, कुलीन होकर भी नीच कहलाता है और स्वाधीन होकर भी पराधीन कहलाता है। यही समझ कर इस कामदेवका त्याग करना ही सबसे अच्छा है।

भावार्थ–इस संसारमें यह कामदेव सबकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, सबको निर्लज्ज बना देता है, सबको महा पापी बना देता है और सबको अनेक प्रकारके महा दुःख दिया करता है। रावण बतहु

बड़ा प्रतापी राजा था, अर्द्ध चक्रवर्ती था, महा विद्वान् था और सर्व श्रेष्ठ देवभक्त था। तथापि केवल कामदेवके वशीभूत होकर ही उसने सीताको हरण करनेका महानीच कार्य किया था। ऐसे बडे कुलमें उत्पन्न होकर ऐसा नीच कार्य करना ही आजतक उसकी निंदा करा रहा है। श्रीरामचन्द्र एक आदर्श महापुरुष राजा थे अत्यन्त योद्धा थे मोक्षगामी थे और सर्व गुण संपन्न थे तथापि सीताका हरण होने पर वे विह्वल हो गये, वृक्षों तकसे सीताकी खबर पूछते फिरे, यह कामदेवकी ही पराधीनताका फल है। इस संसारमें हजारों लाखों योद्धाओंको जीतने वाले अनेक शूर-वीर हैं परन्तु यथार्थ शूर-वीर वही कहलाता है जो स्त्रियोंके कटाक्षसे कभी घायल नहीं होता अर्थात् जो कामदेवके वशीभूत कभी नहीं होता। ऐसे शूर वीर इस संसारमें बहुत थोडे होते हैं और जो होते हैं वे फिर इस संसारमें परिभ्रमण नहीं करते फिर तो वे चरित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

प्रायः यह समस्त संसार कामदेवके वशीभूत है। यह कामदेव सबको निर्लज्ज बना देता है इसीलिए यह मनुष्य अपनी लज्जा छोडकर न जाने कैसे-कैसे कुकर्म करता है। कामके वशीभूत हुआ मनुष्य न माताको देखता है, न बहिनको देखता है, न बेटीको देखता है, न पिता वा अन्य गुरुजनोंको देखता है। इन सबके रहते हुए भी वह अनेक प्रकारकी कुचेष्टाएं किया करता है, अनेक प्रकारके भंड वचन कहा करता है। वास्तवमें देखा जाय तो यह कामदेव मनुष्यकी मनुष्यताको भी खो देता है। इसीलिए वह मनुष्य नीच कृत्य करने लगता है। सब लोग उसको धिक्कार दिया करते हैं और ऐसा मनुष्य फिर कभी भी अपना आत्म-कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए भव्यजीवोंको इस कामदेवका त्याग कर आत्मगुण चिंतवन करते रहना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही आत्माका कल्याण हो।

प्रश्न—साधुसंगेन किं किं भो लभन्ते ये जना वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि साधुओंके समागमसे मनुष्योंको किन-किन गुणोंकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर—मुष्णाति दूरात्कलुषं व्यथादिं पुष्णाति पुण्यं सुखदं क्षमादिम् ।
श्रेयोनुबध्नाति शिवप्रदं च सत्यार्थतत्त्वं विशदीकरोति ॥२४३॥
भस्मीकरोत्येव भवांकुराणि पूतं स्वराज्यं प्रकटीकरोति ।
ज्ञात्वा फलं साधुसमागमस्य संगं सुकार्यं सुखदं स्वसिद्धयै ॥२४४॥

अर्थ—साधुओंका समागम करनेसे पाप सब दूर भाग जाते हैं, दुःख सब दूर भाग जाते हैं, पुण्यकी वृद्धि होती है, सुख देनेवाले क्षमा आदि गुणोंकी वृद्धि होती है, मोक्ष देनेवाले कल्याणकी वृद्धि होती है, आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है, जन्म मरणरूप संसारके अंकुर सब भस्म हो जाते हैं और आत्माकी शुद्धतारूप पवित्र स्वराज्य प्रगट हो जाता है। इस प्रकार साधुओंके समागमका फल समझकर अपने आत्माकी सिद्धिके लिए साधुओंका समागम सदाकाल करते रहना चाहिए।

भावार्थ—साधुओंका समागम करनेसे, उनके दर्शन करनेसे, उनकी सेवा करनेसे तथा उनकी भक्ति करनेसे आत्माके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, अनेक रोग दूर हो जाते हैं और महापुण्यकी प्राप्ति होती है। साधु महात्मा महा पवित्र होते हैं, वे अपने पापोंको नष्ट कर देते हैं, अशुभ कर्मोंको नष्ट कर देते हैं और अपने आत्माके स्वाभाविक गुणोंको प्रगट कर लेते हैं। जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें अपना मुंह देखनेसे अपना मुंह स्पष्ट दिखाई पडता है। उसी प्रकार निर्मल साधुओंके दर्शन करनेसे भी अपना आत्मा पवित्र हो जाता है। साधुओंके समागमसे, उनके उपदेशसे, यह आत्मा अपने समस्त पापोंका त्याग कर देता है, और चारित्र धारण कर आत्माका कल्याण कर लेता है। इसलिए भव्य जीवोंको सदाकाल साधुओंका समागम करते रहना चाहिए। प्रतिदिन साधुओंका समागम करनेसे किसी न किसी दिन मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है।

प्रश्न—केवलं व्यवहारे यो मग्नः स वद कीदृशः ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो पुरुष केवल व्यवहारमें ही लीन रहता है वह कैसा है ?

उत्तर—विपत्प्रकीर्णे भवदुःखपूर्णे द्वेषादिहेतौ व्यवहारकार्ये ।
सेव्ये सदा स्वात्मविमूढजन्तोर्जागर्ति यः स्वात्मविचारशून्यः ॥२४५॥
स एव पापी स च नेत्रहीनः स श्वभ्रगामी स च भाग्यहीनः ।
सुप्तोऽस्ति शुद्धे सुखदे स्वभावे ज्ञात्वेति तत्त्यागविधिर्विधेयः ॥२४६॥

अर्थ—यहांपर व्यवहार कार्यका अर्थ लौकिक कार्य है। ये लौकिक कार्य अनेक विपत्तियोंसे भरे हुए हैं, जन्म-मरणरूप संसारके दुःखोंसे भरे हुए हैं, राग द्वेषके कारण हैं और आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी जीव ही इनकी सेवा करते हैं। जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपका विचार भी नहीं कर सकता ऐसा अज्ञानी पुरुष ही इन व्यवहार कार्योंमें सदा काल जाग्रत रहता है। ऐसा पुरुष महा पापी कहलाता है, नेत्रहीन कहलाता है, भाग्यहीन कहलाता है, नरकगामी कहलाता है और वह सुख देनेवाले स्वभावकी प्रकृतिके लिए सदाकाल सोता-सा ही रहता है। यही समझकर इन व्यवहार-कार्योंका त्याग कर देना ही सबसे अच्छा है।

भावार्थ—खेती व्यापार आदि जीविकाके साधन और पांचों इन्द्रियोंके विषय सेवन करना व्यवहार कार्य वा लौकिक कार्य कहलाते हैं। इन जीविकाके साधन करनेमें वा इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें सदाकाल अनेक प्रकारकी विपत्तियां आती रहती हैं, कभी इष्ट-वियोग होता है, कभी अनिष्ट संयोग होता है, कभी अनेक प्रकारके रोग होते हैं, कभी निर्धनता होती है, कभी राज्यकी ओरसे अनेक प्रकार

की आपत्तियां आ जाती हैं, कभी चोर सताते हैं, कभी दुष्ट सताते हैं और कभी आकस्मिक आपत्तियां आ जाती हैं। इसी प्रकार इन कामोंमें रात-दिन महा पाप उत्पन्न होते रहते हैं जिनके कारण यह जीव नरक-निगोद आदिके महा दुःख भोगा करता है और अनन्तकाल तक इस संसारमें परिभ्रमण किया करता है। ये व्यवहार कार्य सब राग द्वेषसे उत्पन्न होते हैं राग द्वेष उत्पन्न करते रहते हैं और उन राग द्वेषके कारण महापाप उत्पन्न करते रहते हैं। इसीलिए इन व्यवहार कार्योंमें आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी लोग ही मग्न रहते हैं। जो लोग आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझते हैं वे इन दुःख देनेवाले व्यवहार कार्योंमें कभी नहीं फंसते वे तो फिर इनका सर्वथा त्याग कर आत्माके अनुपम सुखमें सदा लीन रहते हैं। जो लोग आत्मज्ञानसे सदा विमुख रहते हैं वे ही लोग इन व्यवहार कार्योंमें सावधान रहते हैं तथा आत्माके सुख देनेवाले स्वभावमें फिर वे असावधान हो जाते हैं, सो जाते हैं। उस असावधानीमें आत्माके स्वरूपको न देखनेके कारण वे नेत्रहीन कहलाते हैं। आत्माका स्वरूप अपना निजका स्वरूप है। जो मनुष्य अपने ही पदार्थको नहीं देख सकता उसे भला कौन पुरुष नेत्रहीन नहीं कह सकता। इसी प्रकार वह पुरुष इंद्रियोंके विषयोंमें लगे रहनेके कारण महापाप उत्पन्न करता रहता है, पापी होनेके कारण उसके सदाकाल पापकर्मोंका ही उदय बना रहता है शुभ कर्मोंका उदय नहीं होता इसीलिए वह भाग्यहीन कहलाता है तथा पापोंके ही कारण वह नरकगामी होता है। यही समझ कर भव्य-जीवोंको इन व्यवहार कार्योंका त्याग कर आत्माका कल्याण करनेके लिए आत्माके कार्यमें लगना चाहिए, सम्यग्दर्शन प्रगट कर चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—वदात्र पंचमे काले सम्प्रति स्यान्मुनिर्न वा ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अब इस पंचम कालमें मुनि होते हैं वा नहीं ?

उत्तर—अद्यापि धीरो जिनलिंगधारी, तत्त्वार्थवेदी भवबंधभेदी ।
निजात्मनिष्ठोऽखिलसंगमुक्तः, शुद्धोस्ति लोकेत्र मुनिः प्रवीरः॥२४७॥
स्वानदन्मूर्तेश्च यतेर्हि यस्यांघ्रिस्पर्शमात्रेण शिवप्रदेन ।
स्वर्मोक्षगामी भवतीति पूतो, भूमण्डलेस्मिन् स्थित भव्यवर्गः॥२४८॥
ज्ञात्वेति शंकां भवदां विहाय, तत्पादसेवां च सदैव कृत्वा ।
तेभ्योऽन्नदानं विधिना हि दत्त्वा, कुर्वन्तु भव्या सफलं नृजन्म ॥२४९॥

अर्थ—हे वत्स ! आज इस कलिकाल पचमकालमें भी भगवान अरहंतदेवके निर्ग्रंथ लिंगको धारण करनेवाले, आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले संसारके बन्धनोंको छिन्न भिन्न करनेवाले, अपनी आत्मामें लीन रहनेवाले, समस्त परिग्रहोंसे रहित, अत्यंत शुद्ध और धीर वीर मुनि इस लोकमें विद्यमान हैं । वे मुनि आत्मजन्य आनंदकी मूर्ति होते हैं और उनके चरणकमल मोक्ष देनेवाले होते हैं । उन चरण कमलोंका स्पर्शमात्र करनेसे इस संसारमें रहनेवाले समस्त भव्यजीव पवित्र हो जाते हैं, स्वर्गगामी हो जाते हैं और मोक्षगामी हो जाते हैं । यही समझकर भव्यजीवोंको संसारको बढानेवाली समस्त शंकाओंका त्यागकर सदाकाल उनके चरण कमलोंकी सेवा करते रहना चाहिये और विधि पूर्वक उनको आहार दान देकर अपना जन्म सफल कर लेना चाहिए ।

भावार्थ—यद्यपि यह पंचमकाल पापमय है कलुषता पूर्ण और स्वार्थ पूर्ण है तथापि परम वीतराग निर्ग्रंथ मुनि अब भी इस कालमें विहार करते हैं और आगे पंचम कालके अन्त तक विहार करते रहेंगे । वे मुनि चतुर्थ कालके मुनियोंके समान धीर वीर होते हैं समस्त तत्त्वोंके जानकार होते हैं, समस्त परिग्रहोंसे रहित होते हैं, संसारके बंधनोंको और कर्मोंके बंधनोंको नष्ट करनेवाले होते हैं, अपने

आत्मोंमें लीन रहते हैं, अत्यन्त शुद्ध होते हैं और परिग्रह वा उपसर्ग सहन करनेमें वा व्रत उपवास करनेमें अत्यन्त बलवान् वा धीर-वीर होते हैं। यद्यपि उनका संहनन उत्कृष्ट संहनन नहीं होता, इस लिए वे निर्जन वनोंमें नहीं रह सकते तथापि व्रत उपवास करनेमें वा परिषह सहन करनेमें वा उपसर्ग सहन करनेमें वे किसी प्रकारकी कमी नहीं करते। वे मुनि इन्द्रियजन्य विषयोंके सर्वथा त्यागी होते हैं और आत्मजन्य सच्चिदानन्दकी मूर्ति होते हैं। उनके चरण कमल अत्यन्त पवित्र होते हैं और उनमें भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त कराने तककी शक्ति विद्यमान रहती है। इसीलिए अनेक भव्यजीव सदाकाल उनकी सेवा-भक्ति किया करते हैं और महापुण्यका उपार्जन कर तथा सम्यग्दर्शन धारण कर मोक्षका यथार्थमार्ग धारण कर लेते हैं। वर्तमानमें बहुतसे श्रावक वर्तमानके मुनियोंमें सशंकित रहते हैं उनकी धारणा है कि वर्तमानके मुनि अट्ठाईस मूलगुण धारण नहीं कर सकते। परन्तु यह उनकी भूल है। वर्तमानमें अनेक मुनियोंके द्वारा अट्ठाईस मूलगुण निर्दोष रीतिसे पालन किए जा रहे हैं तथा साथमें उत्तरगुण भी पालन किए जा रहे हैं। वर्तमानके कितने ही आचार्य और मुनि घोर उपसर्गोंको सहन करते हैं कठिन परिषहोंको सहन करते हैं और कितने ही व्रत उपवास कर घोर तपश्चरण करते हैं। यदि उनकी भावना और अंतरंग परिणामोंकी ओर देखा जाय तो उनकी भावना सदा आत्मकल्याणमें लगी रहती है अथवा समस्त भव्यजीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिए उनकी भावना रहती है। उनके परिणाम सदाकाल आत्म-चिंतवनमें लगे रहते हैं अथवा अन्य जीवोंके कल्याण करनेमें लगे रहते हैं। यही सब देख कर बडे-बडे राजा महाराजा भी उनकी सेवा-भक्ति करते हैं और उनका उपदेश सुन कर अपने आत्माका हित करते हैं। इसलिए उन मुनियोंके विषयमें किसी प्रकारकी शंका करना अपने आत्माको बंचित करना है, अपने पुण्य कमानेके साधनको नष्ट करना है और अपने आत्मकल्याणके समयको खो देना है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपनी समस्त शंकाएं दूर कर

देनी चाहिए और उन मुनियोंकी सेवा-भक्ति कर तथा उनको आहार दान देकर, ग्रंथ दान देकर तथा जिस तरह बने उनकी वैयावृत्य कर पुण्य प्राप्त करना चाहिए और अपना मनुष्य जन्म सफल कर लेना चाहिए। यही मनुष्य जन्मका सार है।

प्रश्न–शोभा जनानां वद मे गुरो का ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि मनुष्योंकी शोभा क्या है ?

उत्तर–शोभा जनानां प्रियसत्यवाणी वाण्याश्च शोभा गुरुदेवभक्तिः ।
भक्त्यादिशोभा स्वपरात्मबोधो बोधस्य शोभा समता सुशान्तिः ॥२५०॥

अर्थ—इस संसारमें मनुष्योंकी शोभा मधुर और सत्य वाणी बोलना है, वाणीकी शोभा भगवान अरहन्त देवकी भक्ति करना और निर्ग्रंथ गुरुकी भक्ति करना है तथा देवभक्ति और गुरुभक्तिकी शोभा स्वपरभेदविज्ञान है और स्वपरभेदविज्ञानकी शोभा समता धारण करना और अपने आत्मामें शांति स्थापन करना है।

भावार्थ–बहुतसे लोग अपनी शोभा बढानेके लिए अनेक प्रकारके बहुमूल्य वस्त्र पहनते हैं, बहुमूल्य आभूषण पहनते हैं और केशर चन्दन आदि लगाकर अपनी शोभा बढाते हैं, परन्तु जब वे कडवे वचन बोलते हैं अथवा मिथ्या वचन बोलते हैं तब उनकी वह सब शोभा नष्ट हो जाती है, सब लोग उनको बुरा कहते हैं और सब लोग उनको धिक्कार देते हैं इसलिए मनुष्यकी शोभा सत्य और मधुर भाषण करनेमें ही है। सत्य और मधुर भाषण करनेवालेको सब लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और सब लोग उसका विश्वास करते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो सत्य भाषण करना ही मनुष्यकी मनुष्यता है, इसलिए प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सत्य भाषण ही करना चाहिए। इसी प्रकार उस सत्य

भाषणकी शोभा भगवान अरहन्तदेवकी भक्ति करनेसे, उनकी स्तुति करनेसे वा उनकी पूजा करनेसे होती है अथवा निर्ग्रंथ वीतराग गुरुओंकी स्तुति भक्ति करनेसे होती है। जो मनुष्य सत्य भाषण करता हुआ भी देव और गुरुओंकी स्तुति नहीं करता उसका वह सत्य भाषण भी सफल नहीं माना जाता। सत्य भाषणकी सफलता देव, गुरुकी स्तुति करनेमें ही है तथा देव, गुरुकी स्तुति वा भक्ति करनेकी शोभा अपने आत्माका तथा अन्य जीवोंके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। जो पुरुष देव, गुरु भक्ति करता हुआ भी अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझता तथा अन्य जीवोंके स्वरूपको अपने आत्माके समान नहीं समझता उसकी देव, गुरु भक्ति वा स्तुति व्यर्थ ही समझनी चाहिए। इसका भी कारण यह है कि देव भक्ति वा गुरु सेवा आत्मज्ञानके लिए ही की जाती है। देव गुरु भक्ति करते हुए भी जिसको आत्मज्ञान प्रगट न हो उसकी वह भक्ति सफल नहीं कही जा सकती इसलिए देव गुरु भक्ति करते हुए आत्मज्ञान प्रगट करना मनुष्यका कर्तव्य है तथा उस आत्मज्ञानकी शोभा समता और शांतिसे है। किसीसे मोह न करना और सुख दुःख वा हानि-लाभ सबको समान मानना वा जीवन-मरणको भी समान मानना समता है तथा क्रोधादिक कषायोंका त्याग कर देना और आत्माको अपने आत्मामें लीन रखना शांति है। यह समता और शांति आत्मज्ञानका फल है। आत्मज्ञान उसीको समझना चाहिए जिसके आत्मामें समता और शांति हो। यही समता और शांति मोक्षका कारण है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको प्राप्त कर लेना उसका कर्तव्य है।

प्रश्न—चिन्ता स्वरूपं वद मेत्र देव ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर मेरे लिए चिन्ताका स्वरूप कहिए ?

उत्तर—धनस्य चिन्ता प्रथमं हि पश्चाद् गृहस्य नार्याश्च सुसेवकस्य।
तेषां च लाभोपि भवेत्सुपुण्यात् तथाप्यलाभात्तनयस्य चिन्ता ॥२५१

भवेत्सुपुण्याद्धरपुत्रलाभस्तथापि पापाद्धि सरोगदेहः ।
नीरोगदेहोपि भवेत्सुपुण्यात् कन्याद्यलाभाद्धि पुनश्च चिन्ता ।२५२।
तासां च लाभोपि भवेत्सुपुण्याद् राज्याद्यलाभाद्धि पुनश्च चिन्ता ।
तस्यापि लाभश्च भवेत्सुपुण्यात् तारुण्यहानेश्च पुनर्हि चिन्ता ।२५३।
न स्याद्धि चिन्तान्त इतीह लोके तत्त्यागतो ह्येव भवेत्तदन्तः ।
ज्ञात्वेति तत्त्यागविधिर्विधेयो यतो भवेत्स्वात्मसुखं स्वराज्यम् ।२५४।

अर्थ—देखो इस संसारमें इस गृहस्थको सबसे पहले धनकी चिन्ता होती है यदि पुण्योदयसे धन मिल जाता है तो फिर घरकी चिन्ता होती है। यदि पुण्योदयसे घर भी बन जाय तो फिर स्त्रीके प्राप्त होनेकी चिन्ता होती है। यदि पुण्योदयसे स्त्रीकी भी प्राप्ति हो जाय तो फिर सेवक मिलनेकी चिन्ता होती है। यदि विशेष पुण्यके उदयसे इन सबकी प्राप्ति हो जाय तो फिर पुत्र न होनेकी चिन्ता बनी रहती है। यदि कदाचित् पुण्यके उदयसे पुत्र भी प्राप्त हो जाय और उसका शरीर नीरोग न हो तो उसके रोगको दूर करनेके लिए दिन रात चिन्ता बनी रहता है। यदि पुण्योदयसे उस पुत्रका शरीर भी नारोग हो जाय तो फिर कन्या आदिके न होनेकी चिन्ता बनी रहती है। यदि शुभकर्मके उदयसे कन्याएं भी हो जांय तो राज्यादिके प्राप्त न होनेकी चिन्ता लग जाती है। यदि विशेष पुण्यकर्मके उदयसे राज्यकी प्राप्ति भी हो जाती है तो फिर अपने तारुण्यके नष्ट होनेकी महा चिन्ता लग जाती है। इस प्रकार संसारमें चिन्ताका कभी अन्त नहीं होता। यदि इस संसारमें चिन्ताका अन्त होता है तो परिग्रहका त्याग कर देनेसे ही होता है। इसलिए भव्यजीवोंको समस्त परिग्रहोंका त्याग कर

चिन्ताओंका अंत कर देना चाहिए, जिससे कि आत्माका अनंत सुख और आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्य प्राप्त हो जाय।

भावार्थ—इस संसारमें अनन्त पदार्थ भरे हुए हैं और प्रत्येक जीवके साथ अनन्तानन्त पदार्थोंका मोह लगा हुआ है तथा जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है। यदि सब जीवोंका मोह इकट्ठा किया जाय और प्रत्येक जीवके मोहके लिए अलग-अलग पदार्थका बांट किया जाय तो एक-एक जीवके मोहके भागमें प्रत्येक पदार्थका एक भाग भी नहीं पडता है। फिर भला अनन्तानन्त जीवोंके मोहसे उत्पन्न हुई इच्छाओंकी पूर्ति कैसे हो सकती है? इस संसारमें किसी भी जीवकी इच्छाएं कभी पूर्ण नहीं हो सकतीं तथा इच्छाओंका पूर्ण न होना ही दुःख है। इस संसारमें सबसे अधिक विभूति चक्रवर्तीकी होती है, परन्तु यदि उसकी भी इच्छा न मिटे तो उसे भी महा दुःखी समझना चाहिए। सुभौम चक्रवर्तीने छहों खंड जीत लिए थे परन्तु उसके किसी पहले भवके शत्रु देवने एक बहुत मीठा फल लाकर दिया और चक्रवर्तीके पूछनेपर उसने किसी द्वीपका फल बतलाया। इस चक्रवर्तीकी तृष्णा और इच्छा बहुत अधिक थी इसलिए वह फल लेनेकी इच्छासे और उस देशको जीतनेकी इच्छासे उसके साथ चल पडा। जब वह बीच समुद्रमें पहुँचा तो देवने उस जहाजको डुबानेका प्रयत्न किया परन्तु चक्रवर्ती उस समय णमोकार मंत्रका स्मरण करने लगा, इसलिए वह जहाज डूब नहीं सका। जब देवने भी यह बात जान ली तब चक्रवर्तीसे कहा कि—महाराज! यदि आप णमोकार मंत्र लिखकर उसको पांवके अंगूठेसे मिटावेंगे तो उस द्वीपमें पहुँच सकेंगे, नहीं तो नहीं। चक्रवर्तीको उस फलके खानेका और उस द्वीपको जीतनेकी तीव्र इच्छा थी, इसलिए उसने यह महापाप करना भी स्वीकार कर लिया। उस चक्रवर्तीने ज्यों ही णमोकार मंत्र लिखकर पांवके अंगूठेसे मिटाया त्यों ही उस देवने वह जहाज डुबोकर अपने पहले भवकी शत्रुताका बदला ले लिया। चक्रवर्ती सुभौम उसी समय मरकर सातवें नरकमें पहुंचा।

यह उसकी तीव्र लालसाओंका ही फल है। इस संसारमें जो-जो लालसाएं पूर्ण नहीं होतीं उन्हींकी चिन्ता रात-दिन बनी रहती है। ये चिन्ताएं समस्त शरीरको सुखा देती हैं और रात-दिन संक्लेश परिणाम उत्पन्न किया करती हैं। यदि किसी पुरुषकी कोई चिन्ता मिट जाती है तो उसके लिए दो नई चिन्ताएं उत्पन्न हो जाती हैं, यदि वे दोनों पूर्ण होती हैं तो चार नई चिन्ताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार यह मनुष्य चिन्ताओंका पुतला बन जाता है और शीघ्र ही निर्बल होकर मरनेके सन्मुख हो जाता है। यदि इन चिन्ताओंके दूर करनेका कोई उपाय है तो एकमात्र मोहका त्याग है। जो मनुष्य मोहका त्याग कर समस्त पदार्थोंको समान भावसे देखता है, सबमें समता धारण करता है, धनकी प्राप्ति तथा निर्धनतामें समानता धारण करता है, दुःख सुखमें समता धारण करता है, जीवन मरणमें समता धारण करता है तथा किसीसे भी मोह वा किसी प्रकारका संबंध नहीं रखता वह पुरुष समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होकर महासुखी हो जाता है। फिर उसको आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अनुपम सुख प्राप्त हो जाता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको मोहका त्याग कर समस्त चिन्ताओंका त्याग कर देना चाहिए और इस प्रकार सुखी होकर आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—क्व नैव तिष्ठेद् वद मे गुरो कौ ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें कहां-कहां नहीं रहना चाहिए ?

उत्तर—यस्मिन् प्रदेशेऽक्षसुखप्रदेपि न शुद्धवृत्तिर्न मुनेर्निवासः।
न ह्यात्मबुद्धिर्न कृती न धर्मो न प्रेमभावो न च तत्त्वचर्चा ॥२५५॥
न मोक्षदः संयमशीललाभो न स्यात्सनीतिः सुखदश्च राजा।
स्वप्नेपि तस्मिन्न वसेत्प्रदेशे मोक्षार्थिभव्यः स्वरसं पिपासुः ॥२५६॥

अर्थ—जो प्रदेश इंद्रियोंको सुख देनेवाला हो तथापि जिस प्रदेशमें शुद्ध चारित्रका पालन न हो सकता हो, जिसमें मुनियोंका निवास न हो, जिसमें आत्माके कल्याण करनेवाली बुद्धि न हो, जिसमें आत्माका कल्याण करनेवाला कोई न रहता हो, जिसमें कोई धर्मात्मा न रहता हो, जिसमें कोई धर्मसे प्रेम न रखता हो, जिसमें तत्त्वोंकी चर्चा न की जाती हो, जिसमें मोक्ष देनेवाले संयम और शीलकी प्राप्ति न होती हो और जिसमें न्याय और नीतिको पालन करनेवाला तथा सुख देनेवाला राजा न हो, ऐसे देशमें अपने आत्मजन्य आनंदको पीनेकी इच्छा करनेवाले और मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य-जीवोंको स्वप्नमें भी कभी नहीं रहना चाहिए।

भावार्थ—यह मनुष्य जन्म मोक्ष प्राप्त करनेके लिए और उसके कारणभूत धर्मको साधन करनेके लिए है। इंद्रियोंके सुख तो पशु योनिमें भी प्राप्त होते हैं, परंतु मोक्षकी प्राप्ति और उसके कारणभूत धर्मका साधन पशु योनिमें नहीं है। देव योनिमें इंद्रियोंके सुख सबसे अधिक हैं, परंतु मोक्षकी प्राप्ति और चारित्र धारण करनेका साधन वहां भी नहीं है। एक मनुष्य पर्यायमें ही मोक्षकी प्राप्ति और उसके कारणभूत धर्मका साधन हो सकता है अन्य किसी पर्यायमें नहीं। मनुष्य पर्यायमें भी म्लेच्छखंडोंमें मोक्षका कोई साधन नहीं है, क्योंकि आर्यखंडमें ही मोक्षके साधन हैं आर्यखंडमें ही तीर्थंकरोंका विहार होता है और आर्यखंडमें ही शुद्ध चारित्र धारण किया जा सकता है। आर्यखंडमें भी शूद्रादिकोंको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है उच्च वर्णकी सज्जातिमें जन्म लेनेवाले मनुष्योंको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा वे ही लोग मोक्षके साधनभूत चारित्रको धारण कर सकते हैं। इन्द्रियसुख तो अनादिकालसे यह जीव भोगता ही आ रहा है और उसके लिए महा पाप करता हुआ परिभ्रमण करता आ रहा है इस लिए बडी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले इस मनुष्य पर्यायको पाकर इन्द्रियोंके सुखोंकी लालसाका त्याग कर देना चाहिए और धर्मको धारण करनेके लिए ऐसे स्थानमें ही रहना चाहिये जहां धर्मके सब साधन

हों, जहांपर जिनालय हों, जैन शास्त्रोंके विद्वान् हों, मुनियोंका विहार हो, संयम, शील, चारित्र, व्रत, उपवास, प्रभावना आदिके साधन अधिक रूपमें मिलते हों और राजा भी धर्मात्मा हो। जहांपर धर्मके ये साधन न हों वहांपर न तो कभी जाना चाहिए और न कभी रहना चाहिए। अधार्मिक देशसे तो बहुत दूर रहना ही अच्छा है। स्वप्नमें भी ऐसे देशमें रहनेकी लालसा नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न–कस्य समागमः स्वामिन् न कार्यो मे वद प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किसकी संगति नहीं करनी चाहिए?

उत्तर–यस्मिन् हि जीवे सुखदो न धर्मो, न न्यायनीतिः परलोकचर्चा।
न लोकलज्जा न च कर्मभीति, न त्यागभावो न कुलादिरक्षा॥२५७
शास्त्रज्ञता दीर्घविचारता न, विज्ञानता नैव गुणज्ञतास्ति।
समागमस्तस्य नराधमस्य, कार्यो न भव्यैर्निजसाधकैश्च ॥२५८॥

अर्थ–जो मनुष्य न तो सुख देनेवाले धर्मको पालन करता हो, न न्याय वो नीतिका पालन करता हो, न परलोककी चर्चा करता हो. जिसको न तो लोकलज्जा हो, न कर्मोंका डर हो, न पाप कार्योंके त्याग करनेके भाव हों, न अपने श्रेष्ठकुलकी अथवा सज्जातित्वकी रक्षा करनेके भाव हों, जो मनुष्य न तो जैन शास्त्रोंका जानकार हो, न आगे पीछेका विचार करनेवाला दूरदर्शी हो, न किसी विज्ञानको वा स्वपरभेदविज्ञानको धारण करता हो और जो गुणोंका जानकार भी न हो ऐसा मनुष्य नीच मनुष्य कहलाता है। अपने आत्माकी सिद्धि करनेवाले भव्यपुरुषोंको ऐसे नीच मनुष्योंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए।

भावार्थ–यह मनुष्य जैसे मनुष्योंकी संगति करता है वैसे ही इसके भाव हो जाते हैं। यदि यह

मनुष्य धर्मात्मा मनुष्योंकी संगतिमें रहता है तो धर्मात्मा बन जाता है, यदि जुआरियोंकी संगतिमें रहता है तो जुआ खेलना सीख जाता है, यदि चोरोंकी संगतिमें रहता है तो चोरी करना सीख जाता है, यदि मुनियोंके निवासमें रहता है तो संसारसे विरक्त होनेका प्रयत्न करता है, यदि कुटुंबमें रहता है तो उनसे मोह बढा लेता है। कहां तक कहा जाय ? यह अनुभूत निश्चित सिद्धांत है कि यह मनुष्य जैसी संगतिमें रहता है वैसा ही हो जाता है इसलिए धर्मात्मा मनुष्योंको ऐसे ही मनुष्योंकी संगतिमें रहना चाहिए जो धर्मात्मा हों। धर्मात्माओंके साथ रहनेमें दिन रात धर्मकी वृद्धि होती रहती है और पुण्यका साधन बढता रहता है। न्यायवान् और नीतिवान् लोगोंकी संगतिमें रहनेसे इस मनुष्यको कभी दुःख नहीं पहुंच सकता और न यह मनुष्य दूसरोंको दुःख देकर पाप उपार्जन कर सकता है। जो लोग रात दिन परलोककी चर्चा करते रहते हैं, परलोकके दुःखोंसे डरते रहते हैं उनकी संगति करनेसे यह मनुष्य अपना परलोक भी सुधार लेता है। इस संसारमें लोक लज्जा रखनेसे भी बहुतसे पाप छूट जाते हैं। जो मनुष्य लोक लज्जा छोड देते हैं वे निर्लज्ज होकर अनेक प्रकारके दुष्कृत्य और पाप किया करते हैं। इसलिए निर्लज्ज लोगोंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार जो मनुष्य अशुभ कर्मोंसे डरते रहते हैं उनकी संगति करनेसे यह मनुष्य भी अशुभ कर्मोंसे डरता रहता है तथा पुण्य कार्योंमें ही लग जाता है। अपने श्रेष्ठ कुल और सज्जाति की रक्षा करना प्रत्येक धर्मात्मा मनुष्यका कर्त्तव्य है। श्रेष्ठ कुलकी रक्षा और सज्जातित्वकी रक्षा सदाचार पालन करनेसे होती है। व्यभिचार सेवन करनेसे वा धरेजा, विधवा-विवाह वा विजातीय-विवाह करनेसे सज्जातित्व नष्ट हो जाता है। पश्चिमी सभ्यतासे रंगे हुए कुछ लोग इस विजातीय-विवाहको ही अन्तर्जातीय-विवाह कहते हैं, परन्तु यह मायाचारी है। ये जातियां अनादि कालसे चली आ रही हैं तथा विवाह सम्बन्ध अपनी जातिमें ही होता है। विजातिमें नहीं। विजातिकी कन्या लेनेसे वा विजातीय पुरुषको देनेसे भिन्न-भिन्न

जातियां नहीं रह सकतीं तथा भिन्न भिन्न जातियां न रहनेसे किसी भी पापके लिए जातीय दंड नहीं हो सकता। जातीय दंड न होनेसे उच्छृंखलता और दुराचारकी वृद्धि होती है। इसलिए इस मनुष्यको कुल और जातिकी रक्षा करनेके लिए ऐसे ही मनुष्योंकी संगतिमें रहना चाहिए जो सदाचार पालन कर जाति और कुलकी रक्षा करते हों। इसी प्रकार जो मनुष्य शास्त्रोंके जानकार हैं उनकी संगति करनेमे शास्त्रोंकी चर्चाका आनन्द आता है, और शास्त्रोंका ज्ञान बढता है। विचारशील मनुष्योंके पास बैठनेसे यह मनुष्य भी अपने हित अहितका विचार कर सकता है। गुणी और गुणज्ञ मनुष्योंके पास बैठनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है। ज्ञानी मनुष्योंके पास बैठनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और स्वपर-भेदविज्ञानको धारण करनेवाले मनुष्योंके पास बैठनेसे आत्माका कल्याण होता है, आत्माका ज्ञान होता है और अनेक पापोंका त्याग होता है इसलिए भव्यपुरुषोंको उत्तम धर्मात्मा मनुष्योंकी संगतिमें ही बैठना चाहिए। निर्लज्ज, अधार्मिक, निर्गुणी, मूर्ख, अविचारी और धार्मिक संस्कारोंसे रहित मनुष्योंके समीप कभी नहीं बैठना चाहिए।

प्रश्न—केषां कदा परीक्षा स्याद्वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब मुझे यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि किन-किन लोगोंकी कब-कब परीक्षा हो जाती है ?

उत्तर—प्रभोः परीक्षा गुणदोषभेदे स्मृतेः परीक्षा सदसद्विचारे।
साधोः परीक्षाद्युपसर्गकाले नारी परीक्षापि विपत्प्रकीर्णे ॥२५९॥
मुक्तेः परीक्षापि यथार्थमार्गेऽसुरक्षणे स्यान्नृपतेः परीक्षा।
शास्त्रार्थकालेऽखिलशास्त्रिणः स्यात् मुख्या परीक्षा सुलभान्यकाले॥

अर्थ—देवकी परीक्षा गुण और दोषके भेद करनेसे होती है, स्मृतिकी परीक्षा सत् और असत्के विचार करनेमें होती है, साधुकी परीक्षा उपसर्गके समय होती है, स्त्रीकी परीक्षा विपत्तिके समयमें होती है, मोक्षकी परीक्षा यथार्थ मार्गपर चलनेसे होती है, राजाकी परीक्षा प्राणियोंकी रक्षा करनेमें होती है और समस्त शास्त्री लोगोंकी परीक्षा शास्त्रार्थके समयमें होती है। यह सबकी मुख्य परीक्षाका समय बतलाया है। सरल परीक्षा किसी अन्य समयमें भी हो सकती है।

भावार्थ—जो वीतराग हों, सर्वज्ञ हों और हितोपदेशी हों उनको देव कहते हैं। जिनमें ये गुण न हों उनको देव कभी नहीं कह सकते हैं। जिनमें राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि किसी प्रकारके विकार न हों तथा स्त्री शस्त्र अस्त्र वस्त्र आभूषण आदि किसी प्रकारका परिग्रह न हो उनको वीतराग कहते हैं। जो वीतराग होता है, वही सर्वज्ञ होता है। जो वीतराग नहीं होता वह कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो वीतराग और सर्वज्ञ होता है वही हितोपदेशी होता है जो वीतराग और सर्वज्ञ नहीं होता वह कभी हितोपदेशी नहीं होता। इसलिए देवकी परीक्षा करनेके लिए वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन गुण देखने चाहिए। जिनमें ये तीन गुण हों वही देव है। जिनमें ये तीनों गुण न हों, काम, क्रोध आदि विकार हों वा स्त्री अस्त्र शस्त्र वा वस्त्राभूषण परिग्रह हों वा भूख, प्यास आदि दोष हों तो उनको देव कभी नहीं मानना चाहिए। देवकी परीक्षा इसी प्रकार हो सकती है। इसी प्रकार स्मृतिकी परीक्षा सत् और असत्के विचार करनेमें होती है। जो मनुष्य अपने हित और अहितका विचार नहीं कर सकते अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सकते उनकी स्मृति वा बुद्धि ठीक नहीं समझनी चाहिए। साधुकी परीक्षा उपसर्गके समय होती है। यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधुको गाली देता है वा मारता है तो उस समय समता धारण करना साधुका काम है। यदि किसी समय कोई आकस्मिक आपत्ति आ जावे तो उस समय भी साधुओंको समता और शांति धारण करना

चाहिए। जो साधु किसी उपसर्गके समय अथवा आकस्मिक आपत्तिके समय व्यग्र हो जाता है वा क्रोध करने लगता है वह कभी साधु नहीं हो सकता। अपने आत्माके ध्यानमें लीन रहनेवाले साधुके हृदयमें भारीसे भारी आपत्ति आनेपर भी कभी किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे यथार्थ साधुकी परीक्षा हो सकती है। इसी प्रकार स्त्रीकी परीक्षा विपत्तिके समय की जाती है। जो स्त्री विपत्तिके समयमें भी पतिकी सेवा करती है वही स्त्री पतिपरायणा कहलाती है, अन्य नहीं। मुक्तिकी परीक्षा उसके यथार्थ मार्गमें चलनेसे होती है। जो साधु कामादिक समस्त विकारोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण कर लेता है तथा अनुक्रमसे चारित्रकी पूर्णता करता हुआ वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है वही साधु मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जो पुरुष साधु होकर भी परिग्रह धारण करता है तथा आत्मज्ञानसे वंचित रहता है वह साधु साधु नहीं कहला सकता ऐसे साधुको कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्मोंका सर्वथा नाश होना मोक्ष है तथा कर्मोंके नाश करनेके ध्यान तपश्चरण आदि जितने साधन हैं वे सब उसके मार्ग हैं। ऐसे साधनोंसे ही मोक्षकी प्राप्तिका अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार राजाकी परीक्षा प्राणियोंकी रक्षा करनेसे होती है। जो राजा अपनी प्रजाको दुःखी करता है वा शिकार आदिके द्वारा निरपराध जीवोंको मारता है वह श्रेष्ठ राजा कभी नहीं कहला सकता। राजा अपनी प्रजाका पिता कहलाता है तथा प्रजा उसकी सन्तानके समान मानी जाती है। जिस प्रकार उसके राज्यमें रहनेवाले मनुष्य सब उसकी प्रजा कहलाते हैं, उसी प्रकार उसके राज्यमें रहनेवाले पशु पक्षी वा जलचर जीव भी सब उसकी प्रजा कहलाते हैं। इसलिए जिस प्रकार पिता अपनी सन्तानका पालन पोषण कर उसको सुखी रखता है उसी प्रकार राजाको भी पशु पक्षी मनुष्य आदि समस्त प्रजाको पालन पोषण करते हुए सुखी रखना चाहिए। जो राजा इस प्रकार अपनी प्रजाको सुखी रखता है वही राजा श्रेष्ठ कहलाता है। जो राजा अपनी

प्रजाको दुःखी रखता है वह राजा राजा कहलाने योग्य कभी नहीं हो सकता। यही राजाकी परीक्षाका उपाय है। इसी प्रकार शास्त्री लोगोंकी परीक्षा शास्त्रार्थमें होती है। शास्त्रार्थ करते समय जो शास्त्री दूसरेकी असत् युक्तियोंका खंडन कर दे और अपनी सत्युक्तियोंका मंडन कर पदार्थके यथार्थ स्वरूपको सिद्ध कर देवे वही श्रेष्ठ शास्त्री कहलाता है। इसके लिए अनेक शास्त्रोंके पठन-पाठन करनेकी आवश्यकता होती है। जो शास्त्री अनेक प्रकारके अनेक शास्त्रोंका पठन-पाठन कर आत्मा आदि पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जान लेता है और फिर श्रेष्ठ युक्तियोंके द्वारा पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका खंडन कर अपने यथार्थ स्वरूपका मंडन करनेमें चतुर होता है वही शास्त्री श्रेष्ठ शास्त्री कहलाता है। जो शास्त्री थोडेस खंडशास्त्रोंको पढकर अपनी असत् युक्तियोंके द्वारा पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका मंडन करता है वह श्रेष्ठ शास्त्री कभी नहीं कहला सकता। यह सब मुख्य परीक्षाका उपाय वतलाया है। अन्य सरल परीक्षाका उपाय चाहे जिस समय और चाहे जिस प्रकार किया जा सकता है।

प्रश्न—राजा पिता च पापी कः संसारे वद मे गुरो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह वतलाइए कि इस संसारमें कौनसा राजा पापी कहलाता है और कौनसा पिता पापी कहलाता है ?

उत्तर—सद्धर्मसंस्कारकलादिकैर्यैरिहान्यलोके सुखशान्तिदैश्च ।
संस्कारिता न प्रकृतिः प्रजा च येन स्वपुत्रो विमलाक्रियाभिः ॥२६१॥
स एव पापी च पितापि माता राजापि पापी प्रमुखः प्रवीरः ।
ज्ञात्वेति तद्दोषविनाशनार्थं संस्कारणीयस्तनयः प्रजापि ॥२६२॥

अर्थ—जो माता पिता इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख और शान्ति देनेवाले धार्मिक

संस्कारोंसे तथा अनेक प्रकारकी कलाओंसे और निर्मल क्रियाओंसे अपने पुत्र पौत्रोंका संस्कार नहीं करते वे माता पिता महा पापी समझने चाहिए। इसी प्रकार जो शूर-वीर और मुख्य राजा होकर भी इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख और शान्ति देनेवाले धार्मिक संस्कारों तथा अनेक प्रकारकी विद्या वा कलाओंसे और निर्मल क्रियाओंसे अपनी स्वाभाविक प्रजाका संस्कार नहीं करता वह राजा भी पापी समझना चाहिए। यही समझ कर संस्कार न होनेके दोषोंको नाश करनेके लिए माता पिताको अपने पुत्रका संस्कार करना चाहिए और राजाको प्रजाका संस्कार करना चाहिए।

भावार्थ—जिस प्रकार हीरा आदि रत्नोंका संस्कार शाणपर रख कर किया जाता है और संस्कार होनेपर उनका मूल्य बढ जाता है और चमक-दमक वा प्रभाव बढ जाता है उसी प्रकार सन्तान वा प्रजाका संस्कार करनेसे उसकी योग्यता बढ जाती है तथा जिस प्रकार अग्निके द्वारा कच्चे घडेका संस्कार किया जाता है और संस्कार करनेसे ही उसमें जलधारण आदि क्रिया हो सकती है। यदि घडेका अग्नि संस्कार नहीं किया जाय तो फिर उसमें न तो जल भरा जा सकता है और न वह किसी और काममें आ सकता है। इसी प्रकार प्रजा वा सन्तान भी संस्कारोंके होनेपर ही चारों पुरुषार्थोंका सेवन करनेमें तत्पर हो सकती है। यदि उनका संस्कार न किया जाय तो फिर उनसे कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। यह निश्चित सिद्धान्त है कि जिसके संस्कार होते हैं वही पुरुष चारों पुरुषार्थोंका वा विशेष कर मोक्ष पुरुषार्थका पात्र होता है। जिसके संस्कार नहीं होते वह किसी भी पुरुषार्थको सिद्ध नहीं कर सकता। देखो! शूद्रोंके संस्कार नहीं होते तथा स्त्रियोंके संस्कार नहीं होते, इसलिए उनसे कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। स्त्रियां मोक्ष तो जा ही नहीं सकतीं तथा कामका फल सन्तान है वह स्त्रियोंकी कहलाती नहीं, वह पुरुषकी ही कहलाती है। इसलिए काम पुरुषार्थकी मुख्यता पुरुषके ही मानी जाती है। अर्थ पुरुषार्थ स्त्रियोंसे होता नहीं वह भी मुख्यतासे पुरुषोंसे ही सिद्ध किया

जाता है और धर्म पुरुषार्थमें भी स्त्रियां सहायक मात्र हैं। दान देनेमें सहायक हैं, पूजा करनेमें सहायक हैं वा अन्य समस्त धार्मिक कार्योंमें वे पुरुषकी सहायक मानी जाती हैं। इसलिए धर्म पुरुषार्थकी मुख्यता भी पुरुषोंके ही कही जाती है। इसी प्रकार शूद्रोंके भी पुरुषार्थोंकी सिद्धि नहीं होती इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जिनके संस्कार होते हैं वे ही पुरुष चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकते हैं। चारों पुरुषार्थोंमें लौकिक कार्य भी सब आ जाते हैं और पारलौकिक कार्य भी सब आ जाते हैं। इसलिए जिसके संस्कार होते हैं वे दोनों लोकोंके कर्मोंको सिद्ध कर लेते हैं। यज्ञोपवीत आदि धर्मशास्त्रोंमें कहे हुए समस्त संस्कारोंको करा देना तथा विद्या-कला आदि सीखनेके लिए गुरुकुलमें भेज देना माता पिताका काम है। तथा लोगोंके धार्मिक कार्योंम किसी प्रकारका विघ्न न आने देना, धार्मिक कार्योंके सब सुभीते कर देना, गुरु कुलोंका यथेष्ट प्रबन्ध करना तथा पठन-पाठन कला उद्योग धंधे आदि सबके साधन मिला देना राजाका काम है। गर्भमें आते ही बालकके संस्कार प्रारम्भ हो जाते हैं। जैसे संस्कार होते हैं वैसा ही प्रभाव बालकपर पडता है यदि संस्कार धार्मिक होते हैं और पंच परमेष्ठीके वाचक यथार्थ मंत्रोंसे किये जाते हैं तो बालकपर धार्मिक प्रभाव पडता है और वह बालक धर्मात्मा ही होता है यदि संस्कार मिथ्यामंत्रोंके द्वारा किए जाते हैं तो उनका प्रभाव उस बालकपर मिथ्यारूप ही पडता है और वह बालक मिथ्यादृष्टि होता है। यदि उस बालकके कोई किसी प्रकारके संस्कार नहीं होते तो वह बालक सब संस्कारोंसे रहित अबोध होता है। यदि दुराचार आदिके द्वारा निकृष्ट और नीचतापूर्ण संस्कार किए जाते हैं तो वह बालक निकृष्ट और नीच ही होता है इसलिए प्रत्येक माता पिताको अपनी सन्तानके धार्मिक संस्कार करना चाहिए और प्रत्येक राजाको उन संस्कारोंके साधन मिला देना चाहिए। जो माता पिता अपने बालकोंका संस्कार नहीं करते वे उस सन्तानके द्वारा होनेवाले अनेक पापोंके साधक बन जाते हैं और इसीलिए महापापी कहलाते हैं।

प्रश्न–पाश्चात्य वायुना स्पृष्टः कीदृशो विद्यते नरः ।

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जिस मनुष्यको पश्चिमी वायुका स्पर्श हो जाता है वह कैसा होता है।

उत्तर–पाश्चात्यवायुना स्पृष्टाः पाश्चात्यवेषधारकाः ।
पाश्चात्यक्रमकीर्णाश्च पाश्चात्यज्ञानवंचिताः ॥ २६३॥
प्रारम्भे भान्ति मूर्खास्तेऽन्ते निस्तेजाश्च दुःखिनः ।
ज्ञात्वेति बुद्धिर्वेषादिः कार्यो धर्मानुकूलकः ॥२६४॥

अर्थ–जिन लोगोंको पश्चिमी वायुने स्पर्श कर लिया है, जिन्होंने पश्चिमी वेष धारण कर लिया है, जो पद-पदपर पश्चिमी लोगोंके अनुसार चलते हैं और जो पश्चिमी ज्ञानसे ठगे गये हैं ऐसे मूर्ख लोग प्रारम्भमें तो अच्छे जान पडते हैं परन्तु अन्तमें जाकर प्रभाव रहित और दुःखी हो जाते हैं। यही समझकर भव्य-जीवोंको अपनी बुद्धि और अपना वेष सब धर्मानुकूल ही रखना चाहिए।

भावार्थ—वर्तमानमें पश्चिमके लोग किसी धर्मपर श्रद्धा नहीं रखते। वे लोग खाना-पीना और मौज उडाना ही मनुष्यता समझते हैं। यही कारण है कि उनमें न तो किसी प्रकारका इन्द्रिय दमन है और न किसी प्रकारका विषयोंका त्याग है। वे लोग खाने-पीनेमें निरंकुश होते हैं और सदाचारकी वासना तक उनके हृदयमें नहीं रहती, विधवा-विवाह ही इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है। उनके विवाहादिक संस्कार भी धर्मानुकूल नहीं होते और ये ही सब उनके अधार्मिक होनेके कारण हैं। शौच शुद्धि, दन्तधावन, स्नान आदि कोई भी क्रियाएं वहां नियमानुकूल नहीं होतीं। इसीलिए धर्महीन देश कहलाता है। वहांका वेष वहांके शीतपूर्ण देशके योग्य भले ही हो परन्तु उस वेषसे धार्मिक क्रियाएं कोई

नहीं हो सकती। इसीलिए उस वेषको अधार्मिक कहा जाता है। उनका ज्ञान इतना मिथ्या है कि वह अपने आत्माका भी अनुभव नहीं कर सकता। यही कारण है कि वे लोग आत्मतत्त्वको भी नहीं मानते हैं। उनका लौकिकज्ञान भी इतना विपरीत है कि वे मनुष्योंको भी परम्परासे बन्दरोंकी सन्तान मानते हैं। मनुष्योंकी सन्तान मनुष्य ही होती है और बन्दरोंकी सन्तान बन्दर ही होते हैं इस अत्यंत साधारण और रात दिन देखी हुई बातको भी वे विपरीत मानते हैं। यह भारतवर्ष अनादिकालसे धर्मप्राण चला आ रहा है। इसके धार्मिकतत्त्व और धार्मिक क्रियाएं सब सर्वोत्कृष्ट और अचल हैं। पश्चिममें रहनेवाले भी कुछ विद्वान् इस बातको स्वीकार करते हैं तथापि पश्चिमी वायुमें रंगे हुए कुछ अज्ञानी लोग अपनी धार्मिक क्रियाओंको छोडकर तथा अपने धार्मिकवेष वा धार्मिकज्ञानको छोडकर उन्हीं पश्चिमी लोगोंके समान अधार्मिक क्रियाएं करने लगते हैं अधार्मिक वेष धारण कर लेते हैं और भोजन पान आदि भी सब उन्हींके समान करने लगते हैं। यद्यपि राज्यके प्रभावसे पहले ही, पहले वे कुछ प्रभावशाली दिखाई पडते हैं परन्तु अन्तमें उन्हें पछताना अवश्य पडता है और दुःखी होना पडता है इसलिए भव्यजीवोंको अपना वेष और अपने विचार सब धर्मानुकूल ही रखने चाहिए। यही आत्माके कल्याणका यथार्थ-मार्ग है।

प्रश्न—क स्नेहकरणेनैव दुःखं नश्यति मे वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किसमें अनुराग करनेसे अपना दुःख नष्ट होता है ?

उत्तर—देवे हि चाष्टादशदोषमुक्ते स्याद्वादशुद्धे सुखदे सुशास्त्रे।
स्वानन्दतुष्टे सुगुरौ ह्यसंगे स्नेहं तनोत्येव च तद्गुणार्थी ॥२६५॥

स एव तत्पुण्यभवं सुखादिं भुक्त्वा स्वराज्यं लभते स्वसद्म ।
यस्ताद्विरुद्धश्च करोति कार्यं प्राप्नोति दुःखं विषमं निगोदे ॥२६६॥

अर्थ—अठारह दोषोंसे रहित वीतराग सर्वज्ञको देव कहते हैं, स्याद्वाद सिद्धान्तसे सुशोभित होने वाले तथा सब जीवोंको सुख देनेवाले जिन प्रणीत शास्त्रोंको शास्त्र कहते हैं और समस्त परिग्रहोंसे रहित तथा अपने आत्मजन्य आनन्दमें मग्न रहनेवाले साधुको गुरु कहते हैं। जो भव्यपुरुष इन देव शास्त्र गुरुके वीतराग आदि गुणोंको धारण करनेकी इच्छा करता है वही पुरुष इन यथार्थ देव शास्त्र गुरुमें अनुराग करता है तथा ऐसा पुरुष उस देव शास्त्र गुरुके अनुरागसे उत्पन्न होने वाले पुण्यसे स्वर्गादिकोंके सुखोंको भोग कर अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यको प्राप्त हो जाता है और अन्तमें अपने मोक्षस्थानमें जा विराजमान होता है तथा जो पुरुष इसके विपरीत कार्य करता है, यथार्थ देव-शास्त्र गुरुमें अनुराग नहीं रखता वह पुरुष सदाकाल संसारमें परिभ्रमण करता हुआ नरक निगोदके विषम दुःख सहन किया करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री पुत्र आदि कुटुंबी लोगोंमें वा धन धान्यादिक बाह्य पदार्थोंमें अनुराग करनेसे अनेक प्रकारके महापाप करने पडते हैं और उन पापोंके कारण नरक निगोदके दुःख सहन करने पडते हैं उसी प्रकार भगवान अरहंत देवमें अनुराग करनेसे अनन्त पुण्यकी वृद्धि होती है। इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंत देव समस्त पापोंसे रहित हैं। घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे उनका आत्मा अत्यन्त निर्मल और शुद्ध हो जाता है। उनके अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं, चौंतीस अतिशय प्रगट हो जाते हैं और आठ प्रातिहार्य प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार वे भगवान अपने कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माका यथार्थ कल्याण कर लेते हैं। जो पुरुष इसी प्रकार अपने पाप कर्मोंको

आत्मामें प्रगट करना चाहता है वही पुरुष भगवान अरहंत देवमें भक्ति वा अनुराग करना चाहता है। भगवान अरहंत देवके गुणोंको बार-बार स्मरण करना भक्ति है और उनको प्रगट करनेकी लालसा रखना अनुराग है। जो पुरुष अपने अनन्त चतुष्टय प्रगट करनेकी लालसासे उन गुणोंको बार-बार स्मरण करता है और फिर उनको प्रगट करनेके लिए क्रोधादिक कषायोंको सर्वथा त्याग कर पूर्ण चारित्र धारण करता है वह अवश्य ही पाप कर्मोंको नष्ट कर आत्मजन्य सुखमें मग्न हो जाता है। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। इसी प्रकार उन भगवान अरहंत देवके गुणोंको प्रगट करने वाले और उन गुणोंको प्रगट करनेके उपाय बतलानेवाले उन अरहंत देवके कहे हुए शास्त्र हैं। अथवा वीतराग निर्ग्रंथ गुरु हैं। शास्त्रोंको विनयके साथ पढनेसे तथा गुरुकी सेवा करनेसे मोक्षका यथार्थ मार्ग प्राप्त हो जाता है और धीरे-धीरे वह सेवा करनेवाला भव्यजीव अपने आत्माका कल्याण कर लेता है। इसलिए देव शास्त्र गुरुकी सेवा करनेमें स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। जो पुरुष देव शास्त्र गुरुकी सेवा-भक्ति नहीं करता केवल स्त्री पुत्रादिकके मोहमें लगा रहता है वह पुरुष अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता हुआ अवश्य ही नरक निगोदके महा दुःख सहन किया करता है। इसलिए भव्यजीवोंको देव शास्त्र गुरुमें ही अनुराग रखकर उनकी सेवा-भक्ति करते रहना चाहिए। यही आत्म कल्याणका सरल उपाय है।

प्रश्न—योस्ति सत्कर्मकार्यें भो निरुद्यमी स कीदृशः ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष श्रेष्ठ कार्योंके करनेमें निरुद्यमी होता है वह कैसा गिना जाता है ?

उत्तर—निरुद्यमी स्यान्नरजन्म लब्ध्वा सत्कर्मकार्यें सुखदे सदा यः।
स एव पापी चतुरोपि मूर्खः श्रीमान् दरिद्रः सुजनोपि दुष्टः ॥२६७॥

प्रमोदसिंधोः परिलंघनार्थं सदुद्यमो वै पुरुषार्थसिद्धयै ।
ज्ञात्वेति भव्यो ह्यलसं विहाय सत्कर्मकार्ये च भवोद्यमी त्वम्॥२६८॥

अर्थ—जो पुरुष मनुष्य जन्म पाकरके भी सुख देनेवाले श्रेष्ठ कार्योंके करनेमें सदाकाल निरुद्यमी बना रहता है उसे पापी ही समझना चाहिए। वह पुरुष चतुर होकर भी मूर्ख माना जाता है, धनी होकर भी दरिद्र गिना जाता है और सज्जन होकर भी दुष्ट कहा जाता है। यही समझकर हे भव्य ! तू प्रमादरूपी समुद्रको लंघन करनेके लिए और मोक्षरूप पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिए अपने आलसका त्याग कर और दान, पूजा, व्रत, उपवास आदि श्रेष्ठ कार्योंके करनेमें सदाकाल उद्यमी बन।

भावार्थ—यह जीव इस संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण करता चला आ रहा है और चारों गतियोंके महा दुःख भोगता आ रहा है। इन चारों गतियोंके परिभ्रमणमें मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि यह मनुष्य जन्म प्राप्त होकर भी व्यर्थ चला जाता है तो फिर दूसरी बार उसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है तथा यह भी निश्चित सिद्धांत है कि इस संसारमें मोक्ष प्राप्त करनेके जितने श्रेष्ठ साधन हैं और पुण्य प्राप्त करनेके जितने श्रेष्ठ कार्य हैं वे सब इस मनुष्य-पर्यायमें ही हो सकते हैं। दूसरी कोई ऐसी पर्याय नहीं है जिसमें मोक्ष और पुण्यके पूर्ण साधन बन सकें। इसलिए मनुष्य जन्मको पाकरके व्रत, उपवास वा दान, पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमें कभी आलस नहीं करना चाहिए। जो पुरुष अत्यन्त दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्मको पाकरके भी पात्रदान वा जिनपूजा आदि कार्योंमें उद्यम नहीं करते उनके समान इस संसारमें अन्य कोई मूर्ख नहीं हो सकता। मनुष्य-जन्मका फल धन दान, पूजा आदिके द्वारा पुण्य उपार्जन करना है। जो पुरुष मनुष्य जन्म पाकरके तथा श्रेष्ठ कुल, निरोग देह आदि पाकरके भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेता वा चारित्र धारण कर महा पुण्य उपार्जन नहीं कर लेता वह धनी होकर भी आगेके जन्मके लिए निर्धन ही बना रहता है।

इसी प्रकार मनुष्य जन्म पाकरके स्वर्ग मोक्षके साधनभूत व्रत उपवास कर लेना वा ब्रह्मचर्य धारण कर चारित्र पालना ही सज्जनता है। जो पुरुष ऐसा नहीं करता वह कभी सज्जन नहीं कहला सकता। फिर तो उसे दुष्ट ही कहना चाहिए। इसलिए हे भव्य! तू आलसको सर्वथा छोड और सम्यक्चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सदाकाल उद्यम करता रह। यही मनुष्य जन्मका सार है और यही आत्मकल्याणका मार्ग है।

प्रश्न—स्वात्महितः कदा कार्यः स्वामिन् मे वद साम्प्रतम् ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस जीवको अपने आत्माका हित कब कर लेना चाहिए ?

उत्तर—कामाग्निकोपः प्रबलो न यावत पापी प्रलोभो हृदि न प्रविष्टः।
देहोस्ति यावत्सुदृढो विरोगी मृत्युस्तथा दूरतरोस्ति दुष्टः ॥२६९॥
तावत्प्रकुर्युः स्वहितं प्रयत्नात् पूर्वोक्तदुष्टाः प्रबलाश्च न स्युः।
पश्चान्न शक्ताः किमपि स्वकृत्यं कर्तुं भवन्त्येव कदापि केपि ॥२७०॥

अर्थ—जब तक यह कामदेवरूपी अग्नि और क्रोधरूपी कषाय प्रबल नहीं होता, जब तक यह तीव्र और महापापी लोभ हृदयमें प्रवेश नहीं करता, जब तक यह शरीर बलवान् और निरोग रहता है तथा जब तक यह दुष्ट मृत्यु अत्यन्त दूर बनी रहती है, इस प्रकार ये ऊपर कहे हुए दुष्ट जब तक प्रबल नहीं होते तब तक ही इस जीवको प्रयत्नपूर्वक अपने आत्माका हित कर लेना चाहिए। जब ये दुष्ट काम क्रोधादिक प्रबल हो जाते हैं वा शरीर जर्जरित हो जाता है अथवा मृत्यु समीप आ जाती है तब इस संसारमें कोई भी जीव अपना आत्मकल्याण करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता।

भावार्थ—ज्यों ज्यों विषय सेवन किए जाते हैं त्यों-त्यों उनकी तृष्णा बढती ही जाती है। यदि उनसे अपना मन हटा लिया वा उनका त्याग कर दिया जाय तो वह तृष्णा घट जाती है वा नष्ट हो जाती है इसलिए मनुष्योंको अपनी इस धारणाका त्याग कर देना चाहिए कि हम लोग थोडे दिन और गृहस्थीमें रहलें फिर इनका त्यागकर आत्माका हित कर लेंगे, क्योंकि थोडे दिन और रहलें, थोडे दिन और ठहर जांय यही विचार करते-करते दिन पूरे हो जाते हैं और यह जीव मृत्युके मुखमें पडकर परिभ्रमणमें लग जाता है इसलिए इन विषयोंका त्याग पहलेसे ही कर देना चाहिए। पहलेसे त्याग कर देनेसे इनकी प्रबलता नहीं बढ सकती। इसी प्रकार धन कमाते-कमाते लोभकी वृद्धि होती रहती है। वह लोभकी वृद्धि न हो उसके पहले ही आत्माके हितमें लग जाना चाहिए। आत्माका हित करनेके लिए वा व्रत उपवास करनेके लिए शरीरका बलवान् होना और नीरोग होना अत्यावश्यक है। निर्बल शरीरसे व्रत उपवास करना कठिन हो जाता है। इसलिए जबतक शरीर नीरोग और बलवान् रहता है तबतक ही इस जीवको अपने आत्माका हित कर लेना चाहिए। वृद्धावस्था आने पर फिर शरीर निर्बल हो जाता है और वृद्धावस्थामें अनेक रोग आकर घेर लेते हैं इसलिए वृद्धावस्थाके पहले ही अपने आत्माका हित करना अत्यावश्यक है। इस संसारमें इस जीवकी आयु कब पूर्ण होती है वा मरण कब होता है यह किसीको मालूम नहीं होता। यह शरीर अत्यन्त क्षण-भंगुर है, बैठे, बैठे, चलते, चलते, वा खडे, खडे चाहे जब यह शरीर नष्ट हो जाता है और मरण हो जाता है वा आयु पूर्ण हो जाती है यही समझ कर मृत्यु होनेके पहले ही अपने आत्माका कल्याण कर लेना श्रेयस्कर है। विषय कषायोंकी तीव्रता होनेपर वा वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर फिर यह जीव अपने आत्माका कल्याण कभी नहीं कर सकता।

प्रश्न—मूर्तिः पूज्या कियत्कालं गुरो धात्वादिनिर्मिता ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि धातु वा पाषाणकी बनी हुई भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा इस जीवको कब तक पूजनी चाहिए?

उत्तर—भ्रान्तिप्रदे क्लेशकरे व्यथादे, गृहप्रपंचे विषयेऽपि यावत्।
हर्षो विषादः क्रियते रुचिर्यैस्तैरेव तत्पापविनाशनार्थम् ॥२७१॥
तावत्प्रपूज्या प्रतिमा प्रयत्नात् सदैव वन्द्या हृदि चिन्तनीया।
वा तीर्थयात्रा यजनप्रतिष्ठा, कार्या सदा वांछितदा स्तुतिश्च ॥२७२॥
गृहप्रपंचो विषयो यदा यैर्दुःखप्रदस्त्यज्यत एव मोहः।
स्वात्मैव तत्त्वात्प्रतिमास्ति पूज्या वन्द्यातिमान्यापि तदेति नान्या ॥२७३॥

अर्थ—इस संसारमें यह जीव महा भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले, महा क्लेश उत्पन्न करनेवाले और घोर दुःख देनेवाले घरके प्रपंचोंमें जब तक हर्ष-विषाद करता रहता है वा उनमें रुचि करता रहता है अथवा इन्द्रियोंके विषयोंमें जब तक हर्ष-विषाद करता रहता है वा रुचि करता रहता है तब तक उस गृहस्थीके प्रपंचोंसे उत्पन्न होनेवाले पापोंको नाश करनेके लिए प्रयत्न पूर्वक प्रतिमाका पूजन करते रहना चाहिये तथा सदाकाल उसकी वन्दना करनी चाहिए और अपने हृदयमें चिंतवन करते रहना चाहिए अथवा तब तक तीर्थयात्रा करते रहना चाहिए वा पूजा प्रतिष्ठा करते रहना चाहिए अथवा सदाकाल इच्छानुसार फल देनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेवकी स्तुति करते रहना चाहिए। परन्तु जब यह जीव महा दुःख देनेवाले घरके प्रपंचोंका त्याग कर दे, अथवा इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर दे और मोहका सर्वथा त्याग कर दे उस समय उसका शुद्ध आत्मा ही प्रतिमाके समान पूज्य, वन्दनीय और अत्यंत मान्य माना जाता है। उस समय धातु पाषाणकी प्रतिमाकी आवश्यकता नहीं रहती है।

भावार्थ—धर्मके दो भेद हैं एक गृहस्थ धर्म और दूसरा मुनि धर्म। मुनिधर्म मोक्षका साक्षात् साधन है और गृहस्थ धर्म मोक्षका परंपरा साधन है। गृहस्थ धर्ममें जीविकाके साधनोंमें भी हिंसादिक पाप लगते रहते हैं और चक्की उखली चूलि बुहारी आदिसे महापाप उत्पन्न होते रहते हैं। उन समस्त पापोंको नाश करनेके लिए भगवान जिनन्द्रदेवने देव पुजा, गुरूपास्ति, पात्र दान आदि गृहस्थोंका धर्म बतलाया है। गृहस्थ धर्मके जितने साधन हैं उन सबमें देव पूजा मुख्य बतलाई है। देव पूजा भी दो प्रकारकी है, एक प्रत्यक्ष पूजा और दूसरी परोक्ष पूजा। समवशरणमें विराजमान भगवान अरंहत देवकी पूजा करना प्रत्यक्ष पूजा है तथा उनके अभावमें उनकी प्रतिमाकी पूजा करना परोक्षपूजा कहलाती है। प्रतिमाकी पूजा अभिषेक पूर्वक ही होती है और अभिषेक पंचामृतभिषेक सर्वोत्कृष्ट होता है। अभिषेकके अनन्तर आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजा और विसर्जनके भेदसे पूजाके पांच अंग कहलाते हैं। इनमें से पूजाके जितने अंग कम होते हैं उतनी ही फलमें कमी हो जाती है। अथवा भगवान अरहंत देवकी वा उनके शरीरकी वा उनकी प्रतिमाकी पूजा करना द्रव्य पूजा है। भगवान तीर्थंकर परमदेवके जहां-जहां कल्याणक हुए हैं वहां-वहांको पूजा करना वा उनकी वन्दना करना क्षेत्र पूजा कहलाती है तथा भगवान तीर्थंकर परमदेवके कल्याणक जिस-जिस समय हुए हैं उसकी पूजा करना वा अष्टान्हिकाके दिनोंमें नंदीश्वर द्वीपके जिनालयोंकी पूजा करना काल पूजा है। इसके सिवाय विधान करना, प्रतिष्ठा करना. स्तुति करना, प्रभावना अंगकी वृद्धिके लिए रथोत्सव करना आदि सब पूजा कहलाती है। यह सब प्रकारकी पूजा पापोंको नाश करनेवाली है और पुण्यको बढानेवाली है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थी श्रावकोंको प्रतिदिन पूजा करना अत्यावश्क है। भगवान समवशरणमें चैत्य वृक्षोंके पीठपर तथा मानस्तंभकी पीठपर तथा और भी अनेक स्थानोंपर भगवान जिनन्द्रदेवकी प्रतिमा विराजमान रहती है और भव्यजीव पहले उन प्रतिमाओंकी पूजन कर फिर गंधकुटीमें भग-

सिंधु २०७

वानके दर्शन करनेके लिए जाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि गृहस्थोंके लिए जिन प्रतिमाका पूजन अत्यावश्यक है। बिना जिन प्रतिमाका पूजन किए उनका गृहस्थ सम्बन्धी पाप कभी नष्ट नहीं हो सकता। हां! जो लोग अपने मोहका त्याग कर गृहस्थ अवस्थाका त्याग कर देते हैं और निर्ग्रंथ दीक्षा लेकर मुनिव्रत धारण कर लेते हैं वे भी भगवान अरहंत देवकी प्रतिमाको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं परन्तु अष्टद्रव्यका अभाव होनेसे द्रव्यपूजा नहीं करते किंतु भाव पूजा किया करते हैं तथा जो मुनि आत्मध्यानमें लीन रहते हैं वे मुनि अपने आत्माको ही अत्यन्त शुद्ध बनाकर उसे सिद्धोंके समान मान लेते हैं और फिर उसीका ध्यान और उसीकी स्तुति आदि किया करते हैं।

प्रश्न–मान्यतादिः कुतो देव नरपार्श्वे च तिष्ठति ?

अर्थ–हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस मनुष्यके पास मान्यता वा शान्ति आदि किस कारणसे ठहर सकती है ?

उत्तर–मान्यता वस्तुतो लोके जिनाज्ञापालनात्सदा ।
अधीता स्मरणाद्विद्या शुचिता लोभनाशतः ॥२७४॥
स्थिरताक्षसुखत्यागाच्छान्तिः स्वात्मान्यबोधतः ।
स्वरसास्वादनान्मुक्तिः पार्श्वे दासीव सा वसेत् ॥२७५॥

अर्थ–वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेसे अपनी मान्यता बढती है, अध्ययन की हुई विद्या स्मरण करनेसे ही स्थिर बनी रहती है, शुचिता वा पवित्रता लोभके नाश करनेसे ठहरती है, इन्द्रियोंके सुखोंका त्यागकर देनेसे स्थिरता वा निश्चलता

निराकुलता बनी रहती है, अपने आत्माका ज्ञान होनेसे तथा अन्य पदार्थोंका ज्ञान होनेसे आत्मामें शान्ति बनी रहती है और अपने आत्माका शुद्ध स्वरूप चिंतवन करनेसे वा उस शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेसे यह मुक्ति सदाकाल दासीके समान अपने समीप बनी रहती है।

भावार्थ—बडप्पन प्राप्त होनेको मान्यता कहते हैं। यह मान्यता पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होती है तथा पुण्यकर्मका बंध भगवान अरहन्तदेवकी आज्ञाका पालन करनेसे होता है। भगवान अरहन्त देव सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं इसलिए उनकी आज्ञा भी सर्वोत्कृष्ट और आत्माका सर्वोत्कृष्ट कल्याण करनेवाली कही जाती है। जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्र देवकी ऐसी आज्ञाका पालन करता है वह अवश्य सर्वोत्कृष्ट पुण्यका बंध करता है तथा उसी पुण्यके उदयसे वह मनुष्य जगतमान्य और उत्कृष्ट मनुष्य बन जाता है। यहां तक कि वह स्वयं वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है। इससे बढकर मान्यता और कहीं नहीं हो सकती। इसी प्रकार अध्ययन की हुई विद्या स्मरण करनेसे ही ठहरती है यदि उस विद्याका बार-बार स्मरण न किया जाय तो वह विद्या नष्ट हो जाती है इसीलिए विद्याको स्थिर रखनेके लिए बार-बार स्मरण करते रहना चाहिए तथा पवित्रता लोभके नाश होनेसे ही ठहरती है। यहांपर पवित्रताका अर्थ आत्माकी पवित्रता है। यह आत्मा लोभके कारण ही अनेक पापोंको उत्पन्न करता हुआ अपने आत्माको मलिन और अपवित्र बना लेता है। जब यह आत्मा अपने लोभको नष्ट कर देता है तब उस लोभके नाश होनेसे पापोंका अभाव हो जाता है और पापोंका अभाव होनेसे आत्मामें पवित्रता आ जाती है। इसी प्रकार इन्द्रियोंके सुखमें लीन हुआ यह मनुष्य सदा काल व्याकुल और चंचल बना रहता है। जब यह मनुष्य इन्द्रियोंके सुखका त्याग कर देता है तब उसकी व्याकुलता वा चंचलता भी नष्ट हो जाती है और फिर यह आत्मा अपने स्वभावमें स्थित हो जाता है तथा यह आत्मा अपने अज्ञानके कारण सदा उद्विग्न बना रहता है। अपनी अज्ञानताके कारण परपदार्थोंसे

मोह करने लगता है और फिर उनके संयोग-वियोग होनेपर दुःखी होता है। जब इसका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है और यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको तथा अन्य पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जान लेता है तब फिर उनसे मोहका त्यागकर निराकुल वा शान्त हो जाता है और वह शान्ति सदाकाल बनी रहती है। इसी प्रकार अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका अनुभव करनेसे मुक्ति भी दासीके समान सदाकाल पास ही बनी रहती है। जो मनुष्य अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव करता है वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यही समझकर भव्यजीवोंको भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करते रहना चाहिए, लोभका त्यागकर पवित्रता धारण करनी चाहिए, इन्द्रिय सुखोंका त्याग कर निश्चल हो जाना चाहिए, आत्मज्ञान प्रगटकर आत्माको शान्त बना लेना चाहिए और आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभवकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रश्न–विभाति कामधेन्वादिः स्वलीनाय च कीदृशः ?

हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मुनिराज अपने आत्मामें लीन रहते हैं उनको कामधेनु आदि सर्वोत्कृष्ट और अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ कैसे जान पडते हैं ?

उत्तर–स्वानन्दतृप्ताय मुनीश्वराय देवेन्द्रलक्ष्मीर्धरणेन्द्रसम्पत् ।
नरेन्द्रराज्यं वरकामधेनुश्चिन्तामणिः कल्पतरोः वनादि ॥२७६॥
सुभोगभूमिस्तृणवद्विभाति तथा मनोवांछितभोजनादिः ।
कथैव साधारणवस्तुनः का लोके मुनीनां महिमाह्यचिन्त्यः ॥२७७॥

अर्थ–जो मुनिराज सदाकाल अपने आत्मजन्य आनन्दमें तृप्त बने रहते हैं उनके लिए साधारण पदार्थोंकी तो बात ही क्या है, उनके लिए इन्द्रकी महाविभूति भी तृणके समान जान पडती है,

धरणेन्द्रकी सम्पदा भी तृणके समान जान पडती है, चक्रवर्तीका साम्राज्य भी तृणके समान जान पडता है, श्रेष्ठ कामधेनु भी तृणके समान जान पडती है, चिन्तामणि रत्न भी तृणके समान जान पडता है, कल्पवृक्षोंका वन भी तृणके समान जान पडता है, उत्तम भोगभूमि भी तृणके समान जान पडती है और मनके अनुकूल बना हुआ भोजन-पान भी तृणके समान जान पडता है। कहां तक कहा जाय, इस संसारमें मुनियोंकी महिमा अवश्य ही अचिन्तनीय है।

भावार्थ—इन्द्रकी विभूति बहुत बडी विभूति है और वह विशाल सुखकी कारण है। उस इन्द्रके अनेक देवियां, अनेक अप्सराएं और अनेक देव सदाकाल सेवामें उपस्थित रहते हैं। उसके यहां सैकडों कल्प वृक्ष होते हैं जो इच्छानुसार फल देते हैं। इसी प्रकार धरणीन्द्रकी सम्पत्ति चक्रवर्तीकी नौनिधि चौदह रत्नरूप सम्पत्ति महासुख देनेवाली है। कामधेनु चिंतामणिरत्न और कल्पवृक्षोंका वन इच्छानुसार सुख देनेवाला है। उत्तम भोगभूमिके सुख भी बहुत उत्तम है और इच्छानुसार भोजन भी सबको अच्छा लगता है। यह एक-एक सामग्री महा सुख देनेवाली है यदि ये सब सम्पत्तियां एक साथ मिल जायं तो फिर उस सुखका क्या पूछना है। वह सुख तो इस संसारमें सर्वोत्कृष्ट सुख होगा परन्तु केवल अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न हुआ सुख उस संसारके सर्वोत्कृष्ट सुखसे भी अनन्त गुणा सुख होता हैं। इन्द्र चक्रवर्ती आदिके जितने सुख हैं वे सब पराधीन हैं वे सुख पुण्य कमके आधीन हैं और बाह्य सामग्रीके आधीन हैं। यदि इन दोनोंमें से किसी एकका अभाव हो जाता है तो उस सुखका अभाव हो जाता है। इसके सिवाय वह सुख क्षणभंगुर है, अवश्य नष्ट होने वाला है परन्तु आत्मजन्य सुख न तो किसीके आधीन है और न कभी नष्ट होता है। वह सुख तो केवल अपने ही शुद्ध आत्मा से प्राप्त होता है और अनन्तकाल तक बराबर बना रहता है। इसीलिए वे मुनिराज अपने आत्मजन्य सुखके सामने इन्द्र, चक्रवर्ती, कामधेनु आदिके सुखोंको तृणके समान ही समझते हैं और वास्तवमें

वे सब सुख आत्मसुखके सामने तृणके ही समान हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि मुनियोंकी महिमाको इस संसारमें कोई भी चिंतवन तक नहीं कर सकता, उनकी महिमा अचिंत्य है।

प्रश्न–अशक्तता च लज्जा क्व दर्शनीया न वा वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस भव्यजीवको अपनी अशक्तता और अपनी लज्जा कहां दिखलानी चाहिए और कहां नहीं दिखलानी चाहिए ?

उत्तर–पापार्जने स्वान्यविघातके च निंद्ये कुकृत्ये जनवंचने च ।
स्वात्मप्रशंसान्यविनिन्दनादौ निजागुणोद्योतन एव लज्जा ॥२७८॥
वाच्छादने श्रेष्ठगुणस्य लोके प्रदर्शनीयाऽमतिता ह्यशक्तिः ।
धर्मार्जने कर्मविनाशनादौ लज्जा न कार्या स्वपरोपकारे ॥२७९॥

अर्थ–इस संसारमें इस जीवको पापोंका संग्रह करनेमें अपनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए, अपने आत्माका घात करने और अन्य जीवोंके घात करनेमें अपनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए, निंदा करने योग्य नीच कार्योंके करनेमें और अन्य जीवोंके ठगनेमें अमनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए, अपनी प्रशंसा करने और अन्य जीवोंकी निंदा करनेमें अमनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए और अपने अवगुण दिखलानेमें भी लज्जा करनी चाहिए। इसके सिवाय श्रेष्ठ गुणोंको आच्छादन करनेमें भी अपनी बुद्धि हीनता और असमर्थता दिखलानी चाहिए परन्तु धर्मका उपार्जन करनेमें कर्मोंको नाश करनेमें, अपने आत्माका हित करनेमें और अन्य जीवोंका हित करनेमें कभी लज्जा और असमर्थता नहीं दिखलानी चाहिए।

भावार्थ–संसारमें जितने पापके काम हैं उन सबमें अपनी असमर्थता और लज्जा दिखलानी

चाहिए। इस मनुष्यमें लज्जा एक ऐसा गुण है कि जिसके होनेसे बहुतसे पाप आप छूट जाते हैं। लज्जालु मनुष्य अपने गुरुजनोंके सामने वा सर्वसाधारणकी जानकारीमें कोई भी बुरा काम नहीं कर सकता इसीलिए आचार्योंने श्रेष्ठ श्रावकके लिए लज्जा एक गुण बतलाया है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पांच पाप तो हैं ही। इसके सिवाय दूसरोंको ठगना, मायाचारी करना, निंदा करना आदि भी पाप ही कहलाते हैं। इनके करनेमें भी उत्तम श्रावकोंको लज्जा और असमर्थता दिखलाते रहना चाहिए। परन्तु आत्माका हित करनेमें पात्र दान देनेमें जिन पूजन करनेमें व्रत उपवास करनेमें और समाधिमरण धारण करनेमें कभी असमर्थता नहीं दिखलानी चाहिए तथा इन कामोंके करनेमें कभी लज्जा नहीं करनी चाहिए। इन कामोंको तो बडे उत्साहके साथ करना चाहिए।

प्रश्न–कीर्त्यादिप्राप्तिहेतुः कः तद्बोधाय प्रभो वद ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कीर्ति ऐश्वर्य आदि विभूति और गुणोंका विशेष हेतु क्या है ?

उत्तर–ऐश्वर्यकीर्तेस्तपसः कृपायाः संवेगवैराग्यदयादिकस्य।
औदार्यसौजन्यगुणादिकादेः ऋद्धेश्च सिद्धेर्विनयादिकानाम् ॥२८०॥
धैर्यस्य शान्तेः सुगतेः स्थितेश्च स्वराज्यलक्ष्म्याः परतंत्रहंत्र्याः।
प्राप्तेः सुहेतुः कथितं समर्थं विज्ञानमेकं मुनिनायकेन ॥२८१॥

अर्थ—ऐश्वर्य, कीर्ति, तपश्चरण, दया, कृपा, संवेग, वैराग्य, औदार्य, सज्जनता, ऋद्धि, सिद्धि, विनय, धैर्य, शान्ति, सुगति, स्थिति और परतंत्रताको हरण करनेवाली स्वराज्यरूपी लक्ष्मीका एक समर्थ हेतु आचार्योंने एक विज्ञान अर्थात् स्वपरभेदविज्ञान ही बतलाया है।

भावार्थ—ऊपर लिखी हुई विभूति और गुण सब श्रेष्ठ पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं तथा पुण्यकर्मके कारणोंमें सबसे श्रेष्ठ कारण सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर ही स्वपरभेद-विज्ञान प्रगट होता है। स्वपरभेद-विज्ञान प्रगट होनेसे यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको जान लेता है तथा राग, द्वेष मोह, कर्म, पुद्गल आदि आत्मासे भिन्न पदार्थोंका स्वरूप भी समझने लगता है इसलिए वह परपदार्थोंका त्यागकर तथा राग, द्वेष, मोह आदिका सर्वथा त्यागकर अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार वह दया, कृपा आदि गुणोंको प्रगट कर लेता है, उदारता सज्जनता आदि गुणोंको प्रगट कर लेता है और संवेग वैराग्य गुणोंको धारण कर लेता है। संवेग वैराग्य गुणोंको धारण करनेके कारण तपश्चरण धारण करता है और तपश्चरण धारण करनेके कारण ऋद्धि सिद्धि आदि गुण प्रगट हो जाते हैं, आत्माकी निश्चलता प्रगट हो जाती है, परलोककी गति सुधर जाती है, संसार-भरमें उसकी कीर्ति फैल जाती है और आत्माकी अलौकिक विभूति प्राप्त हो जाती है। अन्तमें इसी स्वपरभेदविज्ञानके कारण परतन्त्रताको नाश करनेवाली मोक्षरूप स्वराज्य-लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है इसीलिए भव्यजीवोंको जिस प्रकार बने उसीप्रकार स्वपरभेदविज्ञान प्रगट कर लेना चाहिए। मोक्ष प्राप्त करनेका यह सबसे मुख्य कारण है।

प्रश्न—म्रियतेत्र बिना पुण्यैरमुत्र किं करोति सः ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि जो मनुष्य इस लोकमें पुण्य उपार्जन नहीं करता, बिना पुण्यके ही मर जाता है वह परलोकमें क्या करता है ?

उत्तर—पुण्यं न कृत्वात्र सुखस्य मूलं यः कोपि जीवो म्रियते ह्यमुत्र ।
स एव कौ कुक्करवत्परस्य मुखं सदा पश्यति दीनबुद्ध्या ॥२८२॥

यतः सुरक्षा भवतां भवेत्कौ ह्याचन्द्रसूर्यं खलु विघ्नहीना ॥२८३॥

अर्थ—इस संसारमें एक पुण्य ही सुखका कारण है। जो पुरुष बिना पुण्य किए मर जाता है वह परलोकमें कुत्तेके समान अत्यंत दीन होकर सदाकाल दूसरोंका मुख देखता रहता है। यही समझकर भव्यजीवोंको पापकार्योंका त्याग कर देना चाहिए और प्रत्येक स्थानपर पुण्यकार्य करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे ही जब तक इस संसारमें सूर्य चंद्रमा विद्यमान हैं तब तक बिना किसी विघ्नके भव्य जीवोंकी रक्षा हो सकती है।

भावार्थ—कर्म आठ हैं उनमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म तो सर्वथा पापकर्म हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार कर्मोंके शुभ अशुभके भेदसे दो दो भेद हैं। वेदनीय कर्ममें सातावेदनीय पुण्य है, असातावेदनीय पाप है। शुभ आयु पुण्य है अशुभ आयु पाप है। शुभ नामकर्म पुण्य है, अशुभ नामकर्म पाप है तथा ऊंच गोत्र पुण्य है और नीच गोत्र पाप है। इनमेंसे पुण्यकर्म सुख देनेवाले हैं और पापकर्म दुःख देनेवाले हैं। इस संसारमें जितने कार्य हैं वे भी सब पुण्य पाप इन दो भागोंमें ही बटे हुए हैं। यह मनुष्य प्रत्येक समयमें कुछ न कुछ करता ही रहता है। वह या तो पुण्यकार्य करता रहता है या पापकार्य करता रहता है। जिस प्रकार सेठ लोग अपने बही खातेका हिसाब ठीक रखते हैं और अपने हानि लाभका पूरा ध्यान रखते हैं, जहां तक बनता है वहां तक हानि नहीं होने देते। इसी प्रकार प्रत्येक भव्य जीवको अपने पुण्य पापका भी हिसाब रखना चाहिए और पाप अधिक न होने पावे इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिए। जीवोंकी हिंसा नहीं करना, दया पालन करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, अधिक लालसा नहीं रखना, राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंका त्याग कर देना, मद्य मांस मधुका त्याग कर देना, सप्त व्यसनोंका त्याग कर देना

किसी प्रकारका अन्याय नहीं करना, अभक्ष्य भक्षण नहीं करना आदि सब पुण्यकार्य कहलाते हैं। इनके सिवाय प्रतिदिन जिनपूजन करना, पात्रदान देना, निर्ग्रंथ गुरुकी उपासना करना, शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनी प्रवृत्ति करना आदि सब पुण्यकार्य हैं तथा इनके विपरीत सब पापकार्य है। जो मनुष्य पुण्यकार्योंसे वंचित रहता है वह पापकार्य ही करता रहता है और फिर परलोकमें वह पराधीन होकर अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहता है। इसलिए इस जीवको पापोंसे बचनेके लिए और अपने आत्माको दुखोंसे बचानेके लिए सदाकाल पुण्यकार्य करते रहना चाहिए इसीसे इस जीवके सुखमें कभी विघ्न नहीं हो सकता। फिर वह जीव सदा सुखी रहता है।

प्रश्न–हानिः स्याद्वा धनत्यागाद्धनवृद्धिर्गुरो वद ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि धनको दानादिकमें खर्च करनेसे धनकी हानि ही होती है अथवा वृद्धि भी होती है ?

उत्तर–विद्यादिबुद्धेः सरसश्च वाप्याः सुलब्धलक्ष्म्याश्च सदाऽव्ययेन।
समूलहानिश्च जिनागमस्य व्ययात्समन्तात्परिवर्द्धते कौ ॥२८४॥
ज्ञात्वेत्यवश्यं धनबुद्धिलक्ष्म्याः व्ययश्च कार्यो न च रक्षणीयः।
यतः सुबुद्धिश्च धनं सुविद्या धर्मोपि वर्द्धेत सदैव लोके ॥२८५॥

अर्थ–इस संसारमें विद्या, बुद्धि, सरोवर बावडी, और प्राप्त हुई लक्ष्मी का व्यय न करनेसे उनकी सर्वथा हानि हो जाती है। इसी प्रकार जैन सिद्धान्तके रहस्योंको न बतलाने भी जैन सिद्धान्तोंकी हानि हो जाती है। तथा इनका यदि व्यय किया जाय तो संसारमें सदाकाल इनकी वृद्धि होती रहती है। यही समझकर धन, बुद्धि, लक्ष्मी आदिका सदाकाल व्यय ही करते रहना चाहिए। इनको भूमिमें

गाढकर सुरक्षित नहीं रखना चाहिए। विद्या बुद्धि और धनका व्यय करनेसे इस संसारमें सदाकाल इनकी वृद्धि होती रहती है।

भावार्थ—विद्या और बुद्धि ये दोनों ही ज्यों-ज्यों खर्च किये जाते हैं त्यों-त्यों बढते हैं। यदि इनको खर्च न किया जाय तो ये दोनों ही मन्द पड जाते हैं वा नष्ट हो जाते हैं। विद्याका खर्च उसका दान देना है वा पढाना है। विद्या पढानेसे बढती है और न पढानेसे घट जाती है वा नष्ट हो जाती है। बुद्धिका खर्च परमार्थका विचार है। परमार्थका विचार करनेसे वा आत्माके हित अहितका विचार करनेसे बुद्धि तीव्र हो जाती है तथा परमार्थका विचार न करनेसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है वा नष्ट हो जाती है। बडी-बडी बावडियोंका जल ज्यों-ज्यों खर्च किया जाता है त्यों-त्यों बढता रहता है। यदि उनका जल खर्च न किया जाय तो वह सड जाता है इसलिए विद्या बुद्धि वा जलका खर्च करना ही अच्छा है। बडे-बडे तालावोंका जल भी खर्च करनेसे ही बढता है। यदि तालावोंका जल खर्च न किया जाय तो वह तालाब सड जाता है और बन्द कर देना पडता है। इसीलिए बडे-बडे तालावोंमेंसे नहरें निकालते हैं वा अन्य किसी रीतिसे खर्च करते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी भी कूएके जलके समान रहती है, जितना खर्च करते जाओ उतनी ही बढती रहती है। इसका भी कारण यह है कि यह लक्ष्मी पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होती है। जितना पुण्यकर्मोंका उदय होता है उतनी ही लक्ष्मी बनी रहती है। लक्ष्मीका घटना बढना पुण्यकर्मके घटने बढनेके आधीन है, खर्चके आधीन नहीं है। यदि खर्च न किया जाय तो उतनी ही बनी रहती है और यदि खर्च किया जाय तो उस पुण्यकर्मके उदयसे फिर बढ जाती है। इसलिए लक्ष्मीको खर्च करना ही चाहिए। भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा प्रतिष्ठामें खर्च करना, मुनिराजके रत्नत्रयकी वृद्धि करनेमें खर्च करना, प्रभावना अंगमें खर्च करना, चारों प्रकारके दान देनेमें खर्च करना, दीन-दुखियोंके दुःख दूर करनेमें खर्च करना, श्रावकोंके रत्नत्रयकी वृद्धि करनेमें वा

वात्सल्य अंगके पालन करनेमें खर्च करना, मोक्षमार्गको पुष्ट करनेवाली विद्याके दान देनेमें खर्च करना तथा और भी ऐसे ही पुण्य कार्योंमें खर्च करना खर्च कहलाता है। केवल भोग विलासोंमें खर्च करना लक्ष्मीका अपव्यय कहलाता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवोंको विद्या बुद्धि धनका सदुपयोग करना चाहिए, पुण्य कार्योंमें ही उनका खर्च करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही इनकी वृद्धि होती रहती है। जिनागमका पठन पाठन करनेसे वा प्रचार करनेसे जिनागमकी वृद्धि होती है। वर्तमानमें बहुतसे लोग जिनागमका प्रचार तो करते हैं परन्तु उसका अपने किसी स्वार्थके लिए वा मिथ्यात्व कर्मके तीव्र उदयसे उसका विपरीत अर्थ लगाकर प्रचार करते हैं। उससे पुण्य कर्मकी वृद्धि नहीं होती किन्तु तीव्र मिथ्यात्व कर्मोंका बंध होता है। इसलिए जिनागमका प्रचार पूर्वाचार्योंकी परम्पराके अनुसार ही करना चाहिए। उसका विपरीत अर्थ नहीं करना चाहिए। विपरीत अर्थ करनेसे महापापका बंध होता है। जिस प्रकार तीर्थंकर परमदेव यथार्थ मार्गका प्रचार करनेसे सर्व पुज्य होते हैं उसी प्रकार विपरीत अर्थ कर अयथार्थ मार्गका प्रचार करनेसे सबसे निकृष्ट अवस्था प्राप्त हो जाती है अर्थात् नरक वा निगोदके दुःख अवश्य भोगने पडते हैं। इसीलिए जिनागमका प्रचार यथार्थ रीतिसे ही करना चाहिए। अयथार्थ रीतिसे कभी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—रथारूढा व्रतिश्राद्धाः भवन्ति मे न वा वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि रथ, गाडी, मोटर, रेल आदि सबारियोंपर चलनेवाले श्रावक व्रती हो सकते हैं वा नहीं ?

उत्तर—प्रथमाद्यष्टमश्राद्धाः काले धर्मक्रियारताः ।
रथारूढाश्च सर्वत्र भ्रमन्ति कार्यसिद्धये ॥२८६॥

नवाद्येकादशश्राद्धा ध्यानस्वाध्यायतत्पराः ।
चित्तवशंकरा धीरा याचनादोषभीरवः ॥२८७॥
सर्वरथं परित्यज्य जिनाज्ञाप्रतिपालकाः ।
धर्मार्थं धीधना यान्ति पादाभ्यां पुरतः पुरम् ॥२८८॥

अर्थ—पहली प्रतिमासे लेकर आठवीं प्रतिमा तकके श्रावक अपने नियत समयपर धर्म कार्योंको किया करते हैं और इसीलिए वे अपने कार्योंकी सिद्धिके लिए किसी भी सवारीपर चढकर सर्वत्र भ्रमण किया करते हैं। परन्तु नौवीं प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तकके श्रावक सदाकाल धर्मध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं, बडे बुद्धिमान होते हैं, भगवान जिनन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन किया करते हैं और अपने चित्तको वशमें रक्खा करते हैं। इसीलिए वे महापुरुष याचना करनेके दोषसे भयभीत रहते हैं और सब प्रकारकी सवारियोंका त्याग कर धर्मकार्यके लिए पैदल ही एक गांवसे दूसरे गांवको जाया करते हैं।

भावार्थ—जहां तक गृहस्थाश्रम है वहां तक तो सवारीका त्याग नहीं होता है; क्योंकि गृहस्थ लोग अपने व्यापार आदिके लिए परदेश गमन करते ही हैं। यद्यपि उन श्रावकोंको दूर देशमें भी गमन करना पडता है तथापि वे ऐसे देशमें नहीं जाते जहां धर्मकार्य न बन सकें अथवा रत्नत्रयमें हानि पहुंचनेकी सम्भावना हो तथा ऐसी ही सवारीसे जाते हैं, जिससे धर्मकी हानि न हो। इससे ऊपरकी आठवीं प्रतिमावाले श्रावक यद्यपि आरम्भके त्यागी होते हैं तथापि परिग्रहके त्यागी न होनेके कारण वे सवारीपर चढ सकते हैं। नौवीं प्रतिमामें परिग्रहका त्याग हो जाता है इसलिए यहांसे सवारीका त्याग हो जाता है। परिग्रहका त्याग हो जानेके कारण तथा आरम्भका भी त्याग हो जानेके

शि
२१

कारण वे श्रावक अपने व्यापार आदिके लिए गमन नहीं करते, किंतु धर्मकार्यके ही लिए गमन करते हैं और पैदल ही गमन करते हैं। वे श्रावक अपने परिग्रहका त्याग कर देते हैं इसलिए यदि वे सवारी पर चढना चाहें तो उन्हें याचना ही करनी पडेगी तथा याचना करना उनके पदस्थके विरुद्ध है इसलिए वे याचना करनेसे वहुत डरते हैं। इसके सिवाय वे ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं इसलिए उन्हें चलनेका काम भी वहुत थोडा पडता है। शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार वे एक गांवमें नहीं रह सकते। इसलिए एक गांवसे दूसरे गांव तक जाते हैं फिर दो चार दिन धर्मोपदेश देकर दूसरे गांवमें चले जाते हैं। वे त्यागी श्रावक अपनी इन्द्रियोंको भी वशमें रखते हैं तथा मनको भी वशमें रखते हैं इसलिए उनके हृदयमें आने जानेकी कभी इच्छा भी नहीं होती है इसलिए वे समस्त सवारियोंका त्याग कर देते है और पैदल ही गमन करते हैं। पैदल गमन करनेसे ईर्यापथ शुद्धि ठीक रीतिसे वन सकती है और इसीलिए अहिंसाव्रत ठीक रीतिसे पल सकता है। अतएव नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावालोंको पैदल ही गमन करना चाहिए, किसी सवारीपर चढकर नहीं जाना चाहिए।

प्रश्न—जीवास्तुष्यन्ति कौ क क साम्प्रतं मे वद प्रभो?

अर्थ—हे स्वामिन्! अव कृपाकर यह वतलाइए कि इस संसारमें कौन कौन जीव किस किस काममें सन्तुष्ट होते हैं?

उत्तर—हृत्वा धनं चान्यजनस्य चौरास्तुष्यन्ति मूर्खाः कुकृतिं च कृत्वा।
क्रीडामसारां शिशवोपि कृत्वा तुष्यन्ति लब्ध्वा कृपणाः परान्नम्॥
कृत्वा हि धूर्ताः परपीडनादिं तुष्यन्ति सन्तः स्वरसेऽन्यसिद्धौ।
जातिर्विचित्रास्ति कुकर्मणः कौ जानाति तत्त्वं विरलास्ततश्च।२९०।

अर्थ–चोर लोग दूसरोंके धनको चुराकर सन्तुष्ट होते हैं, मूर्ख लोग किसी भी प्रकारके कुकर्मको करते हुए सन्तुष्ट होते हैं. बालक सब असार खेल कूदको करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं, कृपण व कंजूस लोग दूसरोंके अन्नको खाकर ही सन्तुष्ट होते हैं। धूर्त लोग अन्य जीवोंको दुःख देकर सन्तुष्ट होते हैं और सज्जन लोग या तो अपने आत्मजन्य आनन्दमें सन्तोष धारण करते हैं अथवा अन्य जीवोंके सिद्ध होनेपर वा अन्य जीवोंके किसी धर्मकार्यकी सिद्धि हो जानेपर सन्तोष धारण करते हैं। सो ठीक है इस संसारमें अशुभ कर्मोंकी गति बडी ही विचित्र है। इस संसारमें ऐसे मनुष्य बहुत ही थोडे हैं जो पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हों।

भावार्थ–चोर लोग जबतक चोरी नहीं कर लेते तबतक उन्हें कभी सन्तोष नहीं होता है। मूर्ख लोग जबतक कोई दुष्कृत्य नहीं कर लेते, जबतक किसीका काम नहीं बिगाड लेते, जबतक कोई अन्याय नहीं कर लेते, तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता है। बालक लोग जबतक खेल कूद नहीं लेते तबतक उन्हें कभी सन्तोष नहीं होता है। कंजूस लोग जबतक किसी दूसरेका अन्न नहीं खा लेते जबतक अपने संग्रहमें एक दो पैसा नहीं डाल लेते तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता है। धूर्त और नीच लोग जबतक किसीको दुःख नहीं दे लेते, जबतक कोई पाप नहीं कर लेते तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता है। इसी प्रकार सज्जन लोगोंको अपने आत्मजन्य आनन्दमें ही सन्तोष होता है अथवा अन्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगा देनेसे सन्तोष होता है अथवा दूसरोंकी कार्यसिद्धि हो जानेपर सन्तोष होता है अतएव भव्यजीवोंको इस प्रकार अपने अपने कर्मोंका उदय समझ लेना चाहिए और अशुभ कार्योंका त्याग कर पुण्य कार्योंका सम्पादन करना चाहिए अथवा आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करना चाहिए यही संसारमें सार है, और सब असार है।

प्रश्न–पंचभूतं विना जीवः क्वापि स्यान्मे न वा वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश इन पंचभूतमय शरीरके बिना यह जीव कहीं अन्यत्र रहता है वा नहीं ?

उत्तर—पुष्पे सुगंधश्च तिलेपि तैलं रसोहि चेक्षौ कनकं शिलायाम् ।
काष्ठेपि वन्हिर्घृतमेव दुग्धे निम्बे कटुत्वं च विषं च सर्पे ॥२९१॥
सजीवदेहेस्ति तथात्मरामः सुखी च दुःखी सुजनः सदाहम् ।
रोगी विरोगी ह्यहमेव दुष्टो ह्येवं ह्यबोधाद् हृदि मन्यमानः ॥२९२॥
संसारसिंधौ भ्रमतीह कोपि स एव जीवोऽस्त्यवगम्य चैवं ।
गम्यः स्वसंवेदनतः स शुद्धः स्यात्पंचभूतादिविकारबाह्यः ॥२९३॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पमें सुगंध रहती है, तिलोंमें तैल रहता है. ईखमें रस रहता है, कनक पाषाणमें सुवर्ण रहता है, लकडीमें अग्नि रहती है दूधमें घी रहता है, नीममें कडवापन रहता है और सर्पमें विष रहता है उसी प्रकार सजीव शरीरमें यह आत्मा रहता है। जो पुरुष अज्ञानी है वह अपने अज्ञानके कारण यही समझता है कि शरीर विशिष्ट मैं सुखी हूं, मैं ही दुःखी हूं, मैं ही सज्जन हूं, मैं ही रोगी हूं, मैं ही नीरोग हूं और मैं ही दुष्ट हूं। इस प्रकार अपने अज्ञानके कारण मानता हुआ यह जीव संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण किया करता है। इस प्रकार मानता हुआ जो जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता है उसीको जीव समझना चाहिए। इस जीवका शुद्ध स्वरूप पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश आदि पंचभूतोंके विकारसे सर्वथा भिन्न है अथवा पंचभूतस्वरूप शरीरसे भी सर्वथा भिन्न है और उसका ज्ञान स्वसंवेदनसे होता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ अनादिकालसे कर्मोंका सम्बन्ध लग रहा है। इन कर्मोंके निमित्तसे ही

यह जीव अनादिकालसे अशुद्ध अवस्था धारण कर रहा है और किसी न किसी शरीरमें रह रहा है। उन कर्मोंके उदयसे ही इस जीवमें राग, द्वेष, मोह आदि विकार लग रहे हैं। उन मोहादिक विकारोंके कारण ही यह जीव जिस शरीरमें रहता है उसीको अपना वा अपने आत्माका स्वरूप मान लेता है इसीलिए वह शरीरके सुखी होनेपर मैं सुखी हूं ऐसा मान लेता है, शरीरके दुःखी होनेपर मैं दुःखी हूं ऐसा मान लेता है, शरीरमें कोई रोग होनेपर मैं रोगी हूं ऐसा मान लेता है, शरीर नीरोग होनेपर मैं नीरोग हूं ऐसा मान लेता है। इस प्रकार वह शरीरकी अवस्थाको अपनी अवस्था मान लेता है। कभी कभी वह आत्माके विकारोंको भी अपनी अवस्था वा अपना स्वभाव मान लेता है तथा इसी कारण वह मैं सज्जन हूं, मैं दुष्ट हूं, मैं रागी हूं, मैं द्वेषी हूं, इस प्रकार अपने विकारोंको ही अपना स्वरूप मान लेता है, परन्तु यह सब मानना उसका अज्ञान है तथा इस अज्ञानके ही कारण यह जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता आ रहा है। जब यह जीव अपने कर्मोंके मन्द उदय होनेपर तथा किसी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुका समागम होनेपर अपने आत्माके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करता है और काल लब्धिके अनुसार दर्शन मोहनीयकर्मका क्षयोपशमादिक हो जाता है तब जिस प्रकार बादलका थोडा भाग हट जानेपर सूर्यकी एक दो किरणें ही संसारका समस्त अन्धकार दूरकर पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित कर देती हैं उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके हट जानेसे आत्मासे ही एक प्रकारका प्रकाश उत्पन्न होता है इस प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनरूप प्रकाशके प्रगट होते ही यह आत्मा अपने आत्माका दर्शन करने लगता है और उसी समय स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है और फिर यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको पहचानने लगता है। उसी समय वह पर पदार्थोंको हेय समझने लगता है तथा शरीर और राग द्वेष आदि विकारोंको भी पर पदार्थ समझकर उनका त्याग कर देता हैं। इस प्रकार विकारोंका त्याग हो जानेसे और शरीरसे ममत्व छूट जानेसे फिर यह आत्मा शरीरमें

रोगादिक हो जानेपर अपने आत्माको रोगी वा सुखी दुःखी नहीं समझता। फिर तो वह अपने आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझने लगता है और फिर आत्माके समस्त विकारोंका त्यागकर अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है। तदनन्तर तपश्चरण और ध्यानके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही आत्माका सर्वोत्कृष्ट कल्याण है।

प्रश्न—कः पवित्रोस्ति जीवः कौ वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें कौनसा जीव पवित्र है?

उत्तर—दीने दया धर्मरते च भक्तिः प्रीतिर्गुरौ निस्पृहता च सौख्ये।
सुसाम्यता सर्वतनौ विचारे कार्पण्यता कर्मविवर्धने च ॥२९४॥
सदैव वाण्यां मृदुता च सत्यं विज्ञानता बन्धविभेदने च।
स्वर्मोक्षमार्गे रुचिता च यस्य स एव चोक्तो भुवने पवित्रः ॥२९५॥

अर्थ—जो मनुष्य दीन जीवोंपर दया धारण करता है, धर्मात्मा लोगोंमें भक्ति करता है, गुरुमें प्रेम धारण करता है, इन्द्रियजन्य सुखोंमें निस्पृहता धारण करता है, समस्त प्राणियोंमें तथा समस्त विचारोंमें समानता धारण करता है, कर्म-बन्धनोंके बढानेमें कृपणता धारण करता है, वाणीमें सदा काल मीठापन और सत्यता धारण करता है, कर्मोंको नष्ट करनेमें जो विज्ञानता धारण करता है और जो स्वर्ग और मोक्षमार्गमें रुचि धारण करता है वही मनुष्य इस संसारमें पवित्र माना जाता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ अनादिकालसे जो कर्मोंका समुदाय लगा हुआ है वही इस जीवको अपवित्र बना रहा है। कर्मोंके उदय होनेसे इस जीवके परिणाम रागद्वेष वा मोहरूप परिणत हो जाते हैं और राग द्वेष वा मोह ही इस आत्माको अपवित्र बना देते हैं। जब यह आत्मा कर्मोंके मंद उदय होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेता है तथा सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे यह जीव राग द्वेष वा मोहका त्याग

कर देता है तब यह आत्मा पवित्र कहलाता है। यही कारण है कि जो सम्यग्दर्शनके चिन्ह हैं वे ही सब इस आत्माकी पवित्रताके चिन्ह हैं। समस्त जीवोंकी दया पालन करना तथा दीन दरिद्री जीवोंकी विशेषकर दया पालन करना सम्यग्दर्शनका चिन्ह है और इसीलिए यही पवित्रताका चिन्ह बतलाया है। धर्मात्मा पुरुषोंमें भक्ति व प्रेम होना सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अंगका कार्य है। अतएव यही धर्मात्माओंमें भक्ति व प्रेम होना पवित्रताका कारण आचार्योंने बतलाया है। वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंमें प्रेम होना तथा उन गुरुओंको तरणतारण मानकर उनकी सेवा सुश्रूषा करना, भक्ति करना, वैयावृत्य करना आदि सब सम्यग्दृष्टिका कार्य है। इसीलिए यह गुरुसेवा, गुरुभक्ति वा गुरुप्रेम आचार्योंने पवित्रताका चिन्ह बतलाया है। इसी प्रकार इंद्रियजन्य सुखोंमें निस्पृहता धारण करना, इंद्रियजन्य सुखोंसे उदास होना, उनका त्याग कर देना सम्यग्दर्शनका कार्य है तथा इन्हीं इंद्रियजन्य सुखोंका त्याग कर देनेसे आत्मा पवित्र हो जाता है, इसलिए यह भी आत्माकी पवित्रताका कारण है। इसी प्रकार समस्त जीवोंमें समानता धारण करना, दूसरे जीवोंके समस्त शुभ अशुभ विचारोंमें समानता धारण करना, किसीसे राग वा द्वेष नहीं करना सम्यग्दर्शनका भी कार्य है और आत्माकी पवित्रताका भी कार्य है। कर्मोंको न बढने देना, आस्रवके कारणोंको नष्ट कर देना वा अशुभ कर्मोंको नष्ट करते जाना सम्यग्दर्शनका भी कार्य है और आत्माकी पवित्रताका भी कार्य है। मधुर और सत्य भाषण करना आत्माकी पवित्रताका ही सूचक है। कर्मबंधनोंका नाश करनेके लिए स्वपरभेदविज्ञान ही प्रधान कारण है। आत्मा और अन्य पदार्थोंका यथार्थज्ञान होनेसे यह आत्मा कर्मबंधनोंके कारणभूत राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देता है और फिर समता धारण कर कर्मोंको नष्ट करता जाता है। इस प्रकार कर्मोंको नष्ट करनेमें स्वपरभेदविज्ञान कारण है और इसीलिए वह आत्माकी पवित्रताका चिन्ह है। इसी प्रकार स्वर्ग मोक्षके मार्गमें वा रत्नत्रयमें प्रेम धारण करना, रुचिपूर्वक उनका पालन करना आत्माकी पवित्रताका विशेष चिन्ह है। रत्नत्रयका पालन

विसु…
२२५

करना और आत्माकी पवित्रताका होना इन दोनोंमें परस्पर अविनाभावी संबंध है। पवित्र आत्मा ही रत्नत्रयका पालन कर सकता है और रत्नत्रयका पालन करनेसे आत्माकी पवित्रता और अधिक बढ जाती है। इस प्रकार आचार्योंने ये सब पवित्र आत्माके चिन्ह बतलाए हैं। इनको धारण करना प्रत्येक भव्य जीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—ज्ञानहीना क्रिया देव सफला विफला वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि बिना ज्ञानके जो क्रिया की जाती है वह सफल होती है वा निष्फल होती है ?

उत्तर—सुबोधहीना विफला क्रिया स्यात् निंद्यास्ति चान्धादिगतेः समाना।
प्रोक्तं ततो बोधफलं चरित्रं विश्वासयोग्यं सुखशान्तिमूलम् ॥२९६॥
ब्रूते यथा यश्च तथा करोति स्यात्तस्य पूजापि यशस्त्रिलोके।
ततः क्रिया बोधयुता भवेयुर्यतो भवेन्मोक्षरमा स्वदासी ॥२९७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई अंधा मनुष्य गमन करनेकी क्रिया करता परंतु उसकी वह क्रिया निंदनीय और निष्फल कहलाती है उसी प्रकार विना ज्ञानके जो क्रिया की जाती है वह भी निष्फल और निंदनीय ही गिनी जाती है। इसीलिए आचार्योंने सम्यग्ज्ञानका फल सम्यक्चारित्र बतलाया है। यह सम्यक्चारित्र ही आत्मकल्याणके लिए विश्वासके योग्य है और सुख तथा शांतिका मूलकारण है। जिस प्रकार जो मनुष्य जैसा कहता है वैसा ही करता है इसीलिए उसकी तीनों लोकोंमें पूजा होती है और तीनों लोकोंमें उसका यश फैल जाता है। अतएव आचार्योंका उपदेश है कि क्रियाएं सब ज्ञानसहित ही होना चाहिए जिससे कि मोक्षरूपी स्त्री अपनी दासीके समान बन जाय।

भावार्थ—यहांपर ज्ञान शब्दसे आत्मज्ञान समझना चाहिए। इस संसारमें जितनी क्रियाएं की जाती हैं उन सबसे कर्मोंका बंध होता है परंतु आत्मज्ञानके साथ-साथ जो क्रियाएं की जाती हैं वे सब शुभ वा अशुभके विचारपूर्वक की जाती हैं। आत्मज्ञानी पुरुष आत्माको दुःख देनेवाली अशुभ क्रियाओंका त्याग कर देता है और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगता है। इस प्रकार वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष पापक्रियाओंका त्याग कर देता है और पापरहित क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगता है तथा पापरहित क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है। इसीलिए आचार्य महाराजने सम्यग्ज्ञानका फल सम्यक्चारित्र बतलाया है। सम्यक्चारित्रको पालन करनेवाला मनुष्य पापकार्योंका त्याग कर देता है इसीलिए वह विश्वासपूर्वक सुख और शांति प्राप्त कर लेता है तथा अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसीलिए सम्यक्चारित्रको विश्वासके योग्य और सुख शांतिका मूलकारण बतलाया है। जो मनुष्य जैसा कहता है वैसा ही करता है उसकी जो इस संसारमें पूजा प्रशंसा होती है उसका कारण यही है कि उसकी क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है। ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेसे ही वह प्रशंसनीय माना जाता है। जब साधारण ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेवाला प्रशंसनीय माना जाता है तो फिर आत्मज्ञानी पुरुषकी क्रियाएं अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करनेवाली होती हैं इसलिए भव्य पुरुषोंको सबसे पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और फिर उस आत्मज्ञानके साथ-साथ ध्यान तपश्चरण आदि मोक्ष प्राप्त करा देनेवाली क्रियाएं करनी चाहिए आत्मकल्याणका यही एक सबसे उत्तम साधन है।

प्रश्न—विद्यादिः शोभते केन कृपाब्धे वद मे गुरो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें विद्या धन आदिकी शोभा किस किससे होती है ?

उत्तर–क्षमया शोभते विद्या कुलं शीलेन शोभते ।
गुणेन शोभते रूपं धनं त्यागेन शोभते ॥२९८॥
सौम्येन शोभते लक्ष्मीः सुखं पुण्येन शोभते ।
नीत्यैव शोभते राज्यं पाणि दानेन शोभते॥२९९॥
सत्येन शोभते कण्ठः कायो व्रतेन शोभते ।
ज्ञात्वेति पूर्वकृत्यं हि कार्यं स्वर्मोक्षहेतवे ॥३००॥

अर्थ–इस संसारमें विद्या क्षमासे सुशोभित होती है, कुल शीलसे सुशोभित होता है, रूपकी शोभा गुणोंसे होती है, धनकी शोभा त्याग वा दानसे होती है, लक्ष्मीकी शोभा शान्त परिणामोंसे होती है, सुखकी शोभा पुण्यकार्य करनेसे होती है, राज्यकी शोभा नीतिपूर्वक राज्य पालन करनेसे होती है, हाथकी शोभा दान देनेसे होती है, कंठकी शोभा सत्यभाषण करनेसे होती है और शरीरकी शोभा व्रत करनेसे होती है । यही समझ कर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए क्षमाशील आदि आत्माके गुणोंको धारण कर विद्या कुल आदिकी शोभा बढानी चाहिए ।

भावार्थ–विद्या प्राप्त करके क्रोध मान आदि कषायोंकी वृद्धि करना बुद्धिमत्ताका कार्य नहीं है । क्योंकि क्रोधादि कषायोंके उत्पन्न होनेसे विद्याका सदुपयोग नहीं होता है । कषायोंकी तीव्रताके कारण यह मनुष्य उस विद्याका दुरुपयोग कर बैठता है । उस हिंसा वा मायाचारी आदि पाप कार्योंमें लगा देता है । क्षमावान् मनुष्य शांत चित्त होकर उस विद्याका परिशीलन करता है और फिर अपने आत्माके कल्याण करनेमें लगता है । यही विद्याकी शोभा है । इससे सिद्ध होता है कि विद्याकी शोभा क्षमासे ही होती है । इसी प्रकार कुलकी शोभा शील पालन करनेसे होती है । जिस कुलमें शील पालन नहीं

होता, व्यभिचार सेवन होता है अथवा विधवाविवाह वा धरेजा होता है वा धरेजाके समान विजातीय विवाह होता है वह कुल न तो बढ सकता है और न संसारमें वह प्रशंसनीय वा उत्तम माना जाता है। व्यभिचार सेवन करनेसे, अथवा धरेजा वा विजातीय विवाह करनेसे सज्जातित्व नष्ट हो जाता है। जिन कुलोंमें परम्परापूर्वक सदाचार चला आता है, धरेजा वा विजातीय विवाह नहीं होता वा व्यभिचार सेवन नहीं होता उन कुलोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सज्जाति वाले कहलाते हैं इसका भी कारण यह है कि कुल परम्परासे व्यभिचार सेवन न होनेके कारण उनके रजोवीर्यमें शुद्धता बनी रहती है। व्यभिचार सेवन करनेसे वा धरेजा विजातीय विवाहसे रजोवीर्यमें अशुद्धता आ जाती है तथा रजोवीर्यमें अशुद्धता होनेसे सज्जातित्व अवश्य नष्ट हो जाता है। इसलिए कुलकी शोभा शील पालन करनेसे ही होती है। यह निश्चित सिद्धान्त है। इसी प्रकार रूपकी शोभा गुणोंसे होती है सुन्दर रूपवान होकर भी जो विद्या आदि गुणोंको धारण नहीं करता वह बगुलाके समान ऊपरसे अच्छा दिखलाई देनेवाला होता है। वह हंसके समान प्रशंसनीय और सुशोभित नहीं हो सकता। इसलिए रूपकी शोभा गुणोंसे ही मानी जाती है। धनकी शोभा त्यागसे ही होती है। जो पुरुष धनी होकर दान नहीं देता वह मनुष्य कृपण कहलाता है और फिर उसका मुंह देखना भी कोई पसन्द नहीं करता। दान देनेसे इस लोकमें सर्वत्र कीर्ति फैल जाती है, दान देनेसे शत्रु भी अपना दास हो जाता है। दानसे इस लोकके भी सब काम सिद्ध हो जाते हैं और परलोक भी सुधर जाता है। इसलिए धन पाकर दानमें खर्च करना ही उसकी शोभा है। इसी प्रकार लक्ष्मीकी शोभा सौम्यता वा शान्तितासे होती है। जो पुरुष लक्ष्मीको पाकरके उग्र परिणाम धारण करता है वह अनेक आपत्तियोंमें फंस जाता है तथा उसका सब धन इसीमें नष्ट हो जाता है। जो पुरुष लक्ष्मी पाकरके शांत रहता है सौम्यता धारण करता है, वह लक्ष्मीका सदुपयोग कर लेता है। फिर वह लक्ष्मीको श्रेष्ठ पुण्यकार्योंमें ही लगाता है। इसलिए लक्ष्मीकी शोभा

सौम्यता धारण करनेसे ही होती है। इसी प्रकार सुखकी शोभा पुण्यकर्म करनेसे ही होती है। सुखकी प्राप्ति पुण्यकर्मके उदयसे होती है। उस सुखकी प्राप्ति होकर भी जो आगेके लिए पुण्यकार्य नहीं करता उसका वह सुख चिरकाल तक नहीं रह सकता इसलिए सुखी जीवोंको सदाकाल सुखी रहनेके लिए जिनपूजन, पात्रदान आदि पुण्यकार्य करते रहना चाहिए इससे सुखकी शोभा है। राज्यकी शोभा न्याय और नीतिके पालन करनेसे होती है। जो राजा न्याय और नीतिका पालन नहीं करता उसका वह राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है। अन्याय और अनीतिका आश्रय लेनेसे प्रजा दुःखी हो जाती है तथा दुःखी होकर वह या तो राजाको राज-सिंहासनसे उतार देती है अथवा अन्य किसी प्रबल राजासे मिलकर उस राज्यको उसके आधीन करा देती है इसीलिए आचार्य महाराजने राज्यकी शोभा नीति और न्यायके ही आश्रय बतलाई है। हाथकी शोभा दानसे है। दान देनेसे हाथ पवित्र हो जाते हैं तथा हजारों प्राणी उन पवित्र हाथोंके दर्शन करनेके लिए सदाकाल लालायित रहते हैं। जो लोग कडे कंकणोंसे हाथोंकी शोभा मानते हैं वे भूलते हैं क्योंकि अनेक चोर लुटेरे उन कडे वा कंकणोंके ग्राहक हो जाते हैं और वे उस पहननेवालेको मारकर भी लेनेकी इच्छा कर लेते हैं इसलिए हाथकी शोभा कडे कंकणोंसे नहीं है किंतु दानसे है। जो लोग उस हाथसे दान लेते हैं वे मनुष्य वा जीव उस हाथको सदाकाल सुखी देखनेकी इच्छा करते हैं। इसी प्रकार कंठकी शोभा सत्य भाषण करनेसे होती है। सत्य भाषण करनेवाला मनुष्य सबके द्वारा विश्वसनीय और प्रशंसनीय गिना जाता है। असत्य भाषण करनेवाले मनुष्यका कोई विश्वास नहीं करता वह निन्दनीय गिना जाता है और परलोकमें भी दुःख पाता है इसलिए कंठकी शोभा सत्यभाषणसे है। हार आदि आभरणोंसे कंठकी शोभा नहीं होती। इसी प्रकार शरीरकी शोभा व्रत उपवास वा तपश्चरण करनेसे होती है। वस्त्राभूषणोंसे नहीं। व्रत उपवास वा तपश्चरण करनेसे शरीर पूज्य और देदीप्यमान हो जाता है। अतएव भव्यजीवोंको

क्षमा शील दान आदि गुणोंके द्वारा अपनी विद्या कुल वा धनकी शोभा बढानी चाहिए। यही मनुष्यका कर्तव्य है और यही स्वर्ग मोक्षका कारण है।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे वस्तुस्वरूपवर्णनो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु नामके महाग्रन्थकी 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें वस्तु स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय।

हेयोपादेय स्वरूपका वर्णन।

प्रश्न—कः स्वं सर्वत्र मन्यते ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौनसा मनुष्य अपने आपको सर्वत्र समझता है?

उत्तर—स्वानन्दतुष्टसाधुश्च नीतिनिष्ठः प्रजापतिः।
तथा विद्वान् क्षमाधारी श्रीमान् दाता रमा सती॥३०१॥
सत्यवादी स्पृहात्यागी कषायविषयोज्झितः।
यः स्वसम्बन्धहीनोपि स स्वं सर्वत्र मन्यते॥३०२॥

अर्थ—अपने आत्मजन्य आनन्दमें सन्तुष्ट रहनेवाले साधु यद्यपि किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखते तथापि वे अपनेको सर्वत्र समान समझते हैं। इसी प्रकार न्याय और नीतिमें तत्पर रहनेवाला राजा, क्षमा धारण करनेवाला विद्वान्, दान देनेवाला धनी, पतिव्रता स्त्री और कषाय विषयोंसे सर्वथा रहित तथा इच्छाओंसे सर्वथा रहित सत्य भाषण करनेवाला महापुरुष ये लोग किसीसे कुछ सम्बन्ध न रखनेपर भी अपनेको सर्वत्र समान समझते हैं।

भावार्थ—वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु यद्यपि किसीसे कोई किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखते, सबसे समानभाव धारण करते हैं तथापि वे अपनेको सर्वत्र समान समझते हैं न तो उन्हें कहीं किसी शत्रुसे डर लगता है और न किसी भक्त-पुरुषसे किसी भी प्रकारकी इच्छा रखते हैं। वे साधु तो जहां पहुंच जाते हैं वहीं अपने आत्माका चिंतवन करने लगते हैं। वे साधु सिवाय अपने आत्माके और किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते इसीलिए वे किसी गांवमें वा नगरमें अथवा वनमें सर्वत्र समता धारण करते हुए विहार करते हैं। इसी प्रकार नीति और न्यायमें तत्पर रहनेवाले राजाका कोई शत्रु नहीं होता, वह चाहे जहां आ-जा सकता है। क्षमा धारण करनेवाला विद्वान् भी सर्वत्र आदरणीय होता है इसलिए उसके आने-जानेका स्थान सर्वत्र समान रहता है। इसी प्रकार दानी धनीका भी सर्वत्र आदर होता है। दान देनेवालेको सब लोग मानते हैं, इसलिए वह भी सर्वत्र समानरूपसे गमनागमन करता है। पतिव्रता स्त्रीका महत्व सर्वत्र विदित है, वह सर्वत्र महत्वशालिनी मानी जाती है इसलिए वह भी सर्वत्र समानरूपसे आ-जा सकती है। इसी प्रकार इच्छा और कषाय विषयोंसे रहित सत्यवादी पुरुष सर्वत्र पूज्य माना जाता है इसलिए किसीसे सम्बन्ध न रखनेपर भी प्रत्येक मनुष्य उसका आदर-सत्कार करता है इसलिए वह भी सर्वत्र समानरूपसे विहार कर सकता है। अभिप्राय यह है कि साधु, राजा, विद्वान्, धनी, स्त्री आदि जितने पदस्थ मनुष्य हैं; यदि वे अपने कर्तव्य पालन करनेमें कभी नहीं

चूकते हैं तो फिर समस्त संसार उनका आदर करता है। उनका किसीके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी सब लोग उनकी पूजा प्रतिष्ठा करते हैं इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपना कर्तव्य पालन करनेमें कभी नहीं चूकना चाहिए।

प्रश्न—विज्ञानादिसमा विद्यात्रान्यास्ति मे न वा वद ?

अर्थ—हे स्वामिन ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें विज्ञान आदिके समान अन्य विद्याएं हैं वा नहीं ?

उत्तर—क्षमासमं नास्ति तपोऽपरं च दयासमो नास्त्यपरो हि धर्मः ।
चिन्ता समो नास्त्यपरश्च रोगो रसोऽपरो न स्वरसस्य तुल्यः ।३०३।
सुखं न सम्यक्त्वसमं त्रिलोके विज्ञानतुल्या ह्यपरा न विद्या ।
चारित्र तुल्येत्यपरा न शान्तिर्ज्ञात्वा तदर्थं सततं यतन्ताम् ।३०४

अर्थ—इस संसारमें क्षमाके समान अन्य कोई तपश्चरण नहीं है, दयाके समान अन्य कोई धर्म नहीं है, चिन्ताके समान अन्य कोई रोग नहीं है, अपने आत्मजन्य आनन्दरसके समान अन्य कोई रस नहीं है सम्यग्दर्शनके समान तीनों लोकोंमें अन्य कोई सुख नहीं है, स्वपरभेदविज्ञानके समान अन्य कोई विद्या नहीं है और सम्यक्चारित्रके समान अन्य कोई शान्ति नहीं है। यही समझकर स्वपरभेदविज्ञान, चारित्र और क्षमा, दया आदिके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—इच्छाओंके रोकनेको तपश्चरण कहते हैं। क्षमा धारण करनेसे भी समस्त इच्छाओंका निरोध हो जाता है इसलिए क्षमाको सबसे उत्तम तपश्चरण बतलाया है। धर्मोंमें सबसे उत्तम धर्म दया है। दया आत्माका स्वभाव है और आत्माके स्वभावको ही धर्म कहते हैं इसलिए दयाको सबसे उत्तम

धर्म बतलाया है। रोगोंमें सबसे प्रबल रोग चिंता है, अन्य रोग तो पचकर नष्ट हो जाते हैं वा उपचारसे नष्ट हो जाते हैं परंतु चिंतारूपी रोग सहज नष्ट नहीं होता। यदि किसी कारणसे एक चिंता मिट जाती है तो दूसरी दो चिंताएं खडी हो जाती हैं। रोग बाहरसे दिखाई पडते हैं परंतु चिंतारूपी रोग बाहरसे दिखाई भी नहीं पडता और भीतर ही भीतर शरीरको जला देता है। इसीलिए चिंताको सबसे प्रबल रोग बतलाया है। इसीप्रकार आत्मजन्य आनंदरस सबसे उत्तम रस कहलाता है। इस रसके प्राप्त होने पर अनंत सुख प्राप्त हो जाता है। अन्य सब रस क्षणभंगुर हैं और यह रस सदाकाल रहनेवाला है। इसी लिए इसको सबसे उत्तम रस बतलाया है। सम्यग्दर्शनको सबसे उत्तम सुख बतलाया है इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन अनंत सुखोंका मूल कारण है। मोक्ष प्राप्तिका मूलकारण सम्यग्दर्शन ही है। इसीलिए सम्यग्दर्शनको सबसे उत्तम सुख बतलाया है। इसीप्रकार स्वपरभेदविज्ञान ही सबसे उत्तम विद्या है। यह विज्ञान मोक्षका कारण है, इसके सिवाय अन्य सब विद्याएं संसारकी कारण हैं। इसलिए विद्याओंमें सबसे उत्तम विद्या स्वपरभेदविज्ञान है। इसके समान अन्य एक भी विद्या नहीं है। इसी प्रकार शांति त्यागमें है चारित्रमें है परिग्रहका त्याग कर देनेसे फिर किसी प्रकारकी चिंता ही नहीं रहती। फिर तो केवल आत्मजन्य आनंदका आस्वादन होता रहता है। इसीलिए भव्यजीवोंको चिंताका त्याग कर अन्य दया क्षमा आदि आत्माके गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—क्व तिष्ठति गुरो देवो मूर्खः क्वान्विष्यति प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपा कर यह बतलाइए कि देव कहां रहता है और मूर्ख वा अज्ञानी लोग उसे कहां ढूंढते हैं?

उत्तर—यात्रादितीर्थे यजने न देहे देवो न काष्ठे न वने शिलायाम्।
शैले श्मशाने भुवने न हर्म्ये जले स्थले खे रजते न रत्ने ॥३०५॥

यथार्थदृष्ट्या यदि तिष्ठतीह देवाधिदेवे न च देवरूपे।
देवः सदा तिष्ठति शुद्धबुद्धो मोहादिमुक्तैः प्रविलोकनीयः ॥३०६॥

अर्थ—देव न तो किसी यात्रामें है, न किसी तीर्थमें है, न किसी पूजामें है, न किसी शरीरमें है न किसी लकडीमें है, न वनमें है, न किसी पत्थरमें है, न किसी पर्वतपर है, न किसी श्मशानमें है, न किसी लोकमें है, न किसी मकानमें है, न किसी जलमें है, न किसी स्थलमें है, न आकाशमें है, न चांदीमें है और न किसी रत्नमें है। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो देव इनमें किसीमें नहीं रहता। यदि रहता है तो देवाधिदेव भगवान अरहंतदेवमें ही रहता है। अरहंतदेवके सिवाय अन्य देव कहलानेवाले किसीमें नहीं रहता। वह देव कर्ममल कलंकरहित अत्यंत शुद्ध है और बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ है। वह ऐसा देव मोह मद वा कषायोंसे रहित मनुष्योंके द्वारा ही देखा जाता है।

भावार्थ—जो अठारह दोषोंसे रहित वीतराग हो, जो समस्त पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञानमय सर्वज्ञ हो और जो समस्त जीवोंका कल्याण करनेके लिए हितमय उपदेश देता हो उसको देव कहते हैं। वह शुद्ध बुद्धमय देव अपने ही शुद्धस्वरूप आत्मामें रहता है अपने आत्माको छोडकर अन्यत्र कहीं नहीं रहता जो लोग इस बातको नहीं समझते हैं वे उस देवको वनमें ढूंढते हैं, पर्वतपर ढूंढते हैं तथा और-और अनेक स्थानोंमें ढूंढते फिरते हैं परंतु वह देव इन स्थानोंमें कहीं नहीं मिलता। यद्यपि जैसे देव पूज्य हैं वैसे ही तीर्थ भी पूज्य हैं और इसीलिए सब लोग जिस प्रकार देवकी पूजा करते हैं उसी प्रकार तीर्थोंकी पूजा करते हैं तथापि देव और तीर्थोंमें अंतर है। जिस प्रकार गुड मीठा होता है परंतु उस गुडसे बने हुए आटेके पूए उस गुडसे भी अधिक स्वादिष्ट और अधिक मीठे होते हैं। इसी प्रकार भगवान अरहंत देव तो पूज्य हैं ही, इसमें तो किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है परंतु वे परमपूज्य अरहंतदेव अपने पूज्य चरणोंको जहांपर रख देते हैं वही स्थान तीर्थ हो जाता है अथवा वे भगवान जहांसे मोक्ष जाते हैं वह

स्थान भी तीर्थ हो जाता है। अथवा भगवानके पंचकल्याणक स्थानोंको भी तीर्थ कहते हैं। ये सब तीर्थ स्थान उन भगवान अरहंतदेवके स्पर्शमात्रसे ही अत्यंत पवित्र हो जाते हैं। इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंतदेवका आतमा अत्यंत शुद्ध एवं पवित्र और समस्त दोषोंसे रहित है। उस आत्माके संबंधसे उनका शरीर भी परम पवित्र और पूज्य हो जाता है। इसीलिए उस पवित्र और पूज्य शरीरके संबंधसे स्थान भी पूज्य हो जाता है। यद्यपि वह स्थान वा तीर्थ स्वयं देव नहीं है तथापि देवके संबंधसे पूज्य और पवित्र अवश्य है।

देवका लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है उन परमदेवका दर्शन उन्हीं महापुरुषोंको होता है जो अपने मोहको नष्ट कर स्वयं पवित्र हो जाते हैं। जिनका मोहनीय कर्म नष्ट नहीं हुआ है ऐसे जीव प्रायः उन भगवानके दर्शन करनेसे वंचित रहते हैं। इसलिए भगवान अरहंतदेवके दर्शन करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको सबसे पहले अपने मोहको नष्ट कर देना चाहिए अथवा मोहनीय कर्म नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिए। यही उसका कर्तव्य है।

प्रश्न–नरोपि पशुवद् भाति कीदृक् स वद मे प्रभो ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौनसा मनुष्य मनुष्य होकर भी पशुके समान माना जाता है ?

उत्तर–यो मांससेवी मधुमद्यपायी, वाऽभक्ष्यभक्षी विषयाभिलाषी।
निंद्ये च नीचोच्चगृहेपि भोजी, विद्याविहीनश्च विवेकशून्यः॥३०७॥
दयादिहीनो जनवंचकः स, नरोपि लोके पशुतुल्यवृत्तिः।
ज्ञात्वेति मुक्त्वा पशुतुल्यवृत्तिं, कुर्वन्तु कार्यं सुखदं पवित्रम्॥३०८॥

२३६

अर्थ—जो मनुष्य मांस सेवन करता है, शहद भक्षण करता है, मद्य पीता है, अथवा अन्य समस्त अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करता है, जो विषयोंमें तीव्र लालसा रखता है, जो निंदनीय वा ऊंच, नीच सबके घरमें भोजन करता है, जो विद्या रहित है, विवेक रहित है, दया क्षमा आदि उत्तम गुणोंसे रहित है और जो लोगोंको ठगता फिरता है वह मनुष्य मनुष्य होकर भी इस संसारमें पशुओंके समान आचरणोंको धारण करनेवाला माना जाता है। यही समझकर पशुओंके समान आचरणोंका त्याग कर देना चाहिए और सुख देनेवाले पवित्र कार्य करते रहना चाहिएं।

भावार्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवको मनुष्य जन्म बडी कठिनतासे प्राप्त होता है तथा यह मनुष्यपर्याय ही एक ऐसी पर्याय है जिसमें यह प्राणी विवेकपूर्वक अपना कार्य कर सकता है, अपने आत्माका कल्याण कर सकता है और पापकर्मोंसे बच सकता है। मद्य, मांस, मधुका सेवन करना महापाप कार्य है। जो गाय आदि उत्तम पशु कहलाते हैं, वे भी इस मद्य मांसादिकका सेवन नहीं करते। फिर भला मनुष्य होकर मद्य मांसादिकका सेवन किस प्रकार करना चाहिए। मनुष्य होकर मद्य मांसादिकका सेवन करना पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय कार्य माना जाता है इसलिए मद्य मांसादिकका त्याग कर देना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार सदाकाल विषयोंकी अभिलाषा रखना पशुओंसे भी बढकर निंद्य कार्य है। पशु भी सदाकाल इसमें नहीं लगे रहते। तिसपर भी वे विवेकहीन कहलाते हैं। यह मनुष्य विवेकी कहलाता है। विवेकी होकर भी सदा काल विषयोंकी अभिलाषा करते रहना पशुवृत्तिसे भी बढकर है। इस संसारमें अभक्ष्य भक्षण पशु भी नहीं करते। पशुओंके लिए जो अभक्ष्य होता है उसे वे सूंघकर ही छोड देते, हैं परन्तु यह मनुष्य विवेकी होकर भी सब कुछ खा जाता है इससे बढकर पशुओंसे भी अधिक निंद्यपना और क्या हो सकता है। इसी प्रकार ऊंच नीच वा निन्दनीय आदि सब घरोंमें भोजन कर लेना वा सबके साथ

भोजन कर लेना पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय है। भोजन करना एकान्त कर्तव्य है। यदि किसीके साथ करना पडे तो समान वर्णका समान जाति और समान धर्मवालेके ही साथ किया जाता है। अन्यके साथ नहीं। क्या कभी किसीने किसी सिंहको गीदडके साथ खाते देखा है? फिर भला उच्च वर्ण, उच्च जाति और उच्च धर्मके होकर भी नीच जातियोंके साथ भोजन करना सिंह आदि पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय कर्तव्य है। इसी प्रकार विवेकशून्य होना, दया रहित होना, विद्या रहित होना और लोगोंको ठगना आदि सब कार्य निन्दनीय हैं और पशुओंके समान हैं। पशु कभी किसीको नहीं ठगते हैं परन्तु मनुष्य पशुओंको भी ठगता है और मनुष्योंको भी ठगता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इन पशुओंके समान वा पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय आचरणोंका त्याग कर देना चाहिए और दया, क्षमा, सदाचार आदि मनुष्योचित गुणोंको धारणकर अपने आत्माको पवित्र बना लेना चाहिए जिससे कि परलोकमें श्रेष्ठ सुखकी प्राप्ति हो।

प्रश्न—अध्यात्मविद्याया कः कः दासः स्याद्वद मे गुरो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि अध्यात्मविद्याको जानकारीसे कौन-कौन पदार्थ अपने दास हो जाते हैं?

उत्तर—चिन्तामणिः कल्पतरुः सुरेशो दासो नरेशोपि भवेत्फणीशः।
सुभोगभूमिर्वरकामधेनुः सुखप्रदो स्वर्गमही स्वदासी ॥३०९॥
अध्यात्मविद्याकृपया तथा स्यात स्वानन्दसाम्राज्यसुखं समीपम्।
ज्ञात्वेत्यविद्यां प्रविहाय भव्यैरध्यात्मविद्या हृदि धारणीया ॥३१०॥

अर्थ—इस अध्यात्म विद्याकी कृपासे चिंतामणि रत्न अपना दास बन जाता है,

बन जाता है, इन्द्र भी दास बन जाता है, राजा भी दास बन जाता है और धरणीन्द्र वा नागेन्द्र भी दास बन जाता है। इसी प्रकार उत्तम भोगभूमि और कामधेनु भी दासी हो जाती है तथा सुख देनेवाली स्वर्गकी पृथ्वी भी दासी बन जाती है और आत्मजन्य साम्राज्यका अनन्त सुख अपने समीप आ जाता है। यही समझकर भव्यजीवोंको अपनी अविद्याका त्याग कर देना चाहिए और अध्यात्मविद्या अपने हृदयमें धारण कर लेनी चाहिए।

भावार्थ—आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानको अध्यात्म विद्या कहते हैं। अथवा आत्माके शुद्ध स्वरूपके ज्ञानको अध्यात्म विद्या कहते हैं। जब यह जीव अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको समझ लेता है और उसपर निश्चल श्रद्धान कर लेता है फिर उस जीवको मोक्ष प्राप्त कर लेनेमें देर नहीं लगती। आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान होते ही वह आत्माके साथ लगे हुए राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंका त्याग कर देता है, बाह्य परिग्रहोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझ कर उनका भी सर्वथा त्याग कर देता है और फिर ध्यान तपश्चरणके द्वारा वह अपने आत्माके साथ अनादि कालसे लगे हुए कर्मोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जिस समय वह अपने ध्यान तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट करता हुआ लब्धियोंको प्राप्त होता है उस समय इन्द्र भी उसके चरणोंमें मस्तक झुकाता है। फिर भला चिंतमणि, कल्पवृक्ष, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती, कामधेनु, भोगभूमि, और स्वर्गकी तो बात ही क्या है? यह अध्यात्म विद्या केवल ज्ञानको प्राप्त करा देती है और इस प्रकार अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चारों अनन्त चतुष्टयोंको प्राप्त करा कर उस जीवको जगत वंद्य बनाकर तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान कर देती है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको सब काम छोडकर इस अध्यात्म विद्याका अध्ययन करना चाहिए। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि अध्यात्म विद्याको अध्ययन करनेवाला पुरुष ज्यों-ज्यों अध्यात्म विद्याका अध्य-

यन करता जाता हैं त्यों-त्यों व्यवहार चारित्रकी वृद्धि करता जाता है। इसका भी कारण यह है कि यह व्यवहार चारित्र अध्यात्म विद्याका ही फल है। व्यवहार चारित्र से ही गुण स्थानोंकी वृद्धि होती है और व्यवहार चारित्रसे हीं कर्मोंका नाश होता है। जहांपर इस व्यवहार चारित्रकी पूर्णता होती है वहींपर निश्चय चारित्रकी पूर्णता होकर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए जो लोग अध्यात्म विद्याका अध्ययन करते हुए व्यवहार चारित्रका त्याग कर देते हैं वे दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर केवल पापोंका ही उपार्जन किया करते हैं। अतएव जिस विद्याके पढनेसे व्यवहार चारित्र छूट जाय उसको अध्यात्म विद्या कभी नहीं कह सकते। जिस विद्याके अध्ययन करनेसे यह आत्मा व्यवहार चारित्र छोडकर अपने आतमकल्याणसे ठगा जाय उसे अध्यात्म विद्या कैसे कह सकते हैं उसे तो फिर ठग विद्या कहना चाहिए। इसलिए जिस विद्याके अध्ययन करनेसे व्यवहार चारित्रकी वृद्धि और शुद्धि होती रहे उसीको अध्यात्म विद्या कहते हैं और ऐसी अध्यात्म विद्यासे ही सुखकी समस्त सामग्री दासीके समान सदाकाल सामने खडी रहती है।

प्रश्न–कौमूर्तकर्मणाऽमूर्तो जीवः सः बध्यते कथम् ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जब यह जीव अमूर्त है तब यह मूर्त कर्मोंसे किस प्रकार बंध जाता है ?

उत्तर–जीवो न सर्वथाऽमूर्तो रागद्वेषयुतो भुवि।
यद्यमूर्तो भवेत्तर्हि बंधमोक्षविधिर्वृथा ॥३११॥
साधुश्रावकभेदोपि तथा दानार्चनादिकम्।
पुण्यपापादिभेदश्च न स्यात्तत्त्वादिचिन्तनम् ॥३१२॥

तद्विना घटते नैव कर्ताकर्मादिकारकम् ॥३१३॥
ततश्च मन्यते यावद् वद्धो जीवोस्ति कर्मणा ।
तावन्मूर्तो भवेत्पश्चादमूर्तश्च निरंजनः ॥३१४॥

अर्थ—इस संसारमें जो रागद्वेष आदि विकारोंको धारण करनेवाला जीव है वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। यदि राग द्वेष विशिष्ट जीवको अमूर्त माना जायगा तो फिर बंध और मोक्षकी व्यवस्था व्यर्थ माननी पडेगी, मुनि और श्रावकका भेद भी व्यर्थ मानना पडेगा, दान पूजा व्रत उपवास आदि भी सब व्यर्थ मानने पडेंगे, पुण्य पापका भेद भी व्यर्थ मानना पडेगा और तत्त्वोंका चिंतवन भी व्यर्थ मानना पडेगा। यह आत्मा स्वयं कर्मोंको करता है और तन्मय होकर उनके फलोंको भोगता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो कर्ता कर्म आदि क्रिया कारकोंका सम्बन्ध भी कभी नहीं बन सकेगा। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जबतक यह जीव कर्मोंसे बंधा हुआ है तबतक यह जीव मूर्त माना जाता है और जब यह जीव अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है तब यह जीव अमूर्त कहलाता है और तभी यह जीव समस्त कर्मोंसे रहित निरंजन हो जाता है और फिर वह कभी भी कर्मोंसे नहीं बंध सकता।

भावार्थ—यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका यथार्थ स्वरूप अमूर्त है, परंतु यह संसारी आत्मा अनादिकालसे सुवर्ण पाषाणके समान कर्मबंधन विशिष्ट ही चला आ रहा है। जो आत्मा कर्म-बंधनविशिष्ट होता है वह व्यवहारनयमें मूर्त माना जाता है। जिस प्रकार सुवर्ण पाषाणमें शुद्ध सुवर्ण होता है परंतु वह खानिमें अनादिकालसे पाषाण सहित चला आ रहा है। जिस प्रकार उस सुवर्ण पाषाणको अग्निमें तपाकर शुद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार वह अनादिकालसे कर्मसहित चला आ रहा आत्मा ध्यान

तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर शुद्ध अमूर्त बन जाता है तथा शुद्ध अमूर्त होनेपर वह फिर कभी भी कर्मबंधनमें नहीं पडता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जो आत्मा अमूर्त और शुद्ध होता है वह फिर कभी भी कर्मबंधनोंसे बद्ध नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि कर्मोंका बंधन राग द्वेष मोह काम आदि विकारोंसे होता है तथा राग द्वेष आदि विकार कर्मोंके उदयसे होते हैं। जब यह आत्मा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है तब न तो उसके कर्मोंका उदय हो सकता है, न राग द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं और न कर्मोंका बंधन हो सकता है। इसलिए अमूर्त आत्मा कभी भी कर्मबंधनबद्ध नहीं होता। यह निश्चित सिद्धांत है परंतु यह संसारी आत्मा अनादिकालसे कर्मबंधनबद्ध चला आ रहा है और इसीलिये व्यवहारनयसे मूर्त कहलाता है ऐसा यह कथंचित् मूर्त आत्मा कर्मोंके बंधनोंसे बंधता रहता है। जो लोग इस आत्माको सर्वथा अमूर्त मानते हैं वे भूलते हैं। क्योंकि यदि संसारी आत्माको भी अमूर्त माना जायगा तो फिर उसे मुक्त जीवके समान शुद्ध और राग द्वेष रहित मानना पडेगा क्योंकि यह भी निश्चित सिद्धांत है कि जो-जो आत्मा सर्वथा अमूर्त होता है वह शुद्ध और निर्दोष वा वीतराग ही होता है और ऐसा आत्मा फिर कर्मोंसे कभी नहीं बंध सकता। इसी प्रकार वह वीतराग निर्दोष और अत्यंत शुद्ध होता है और मुक्त आत्मा भी ऐसा ही होता है इसलिए वह सर्वथा अमूर्त आत्मा मुक्त ही होता है तथा मुक्त आत्माको फिर मुक्त होनेकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि बंधा हुआ आत्मा ही मुक्त हो सकता है, जो बंधा हुआ नहीं है वह तो मुक्त ही है। इस प्रकार विचार करनेसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि यदि संसारी आत्माको सर्वथा अमूर्त मान लिया जायगा तो न तो कर्म-बंधनकी व्यवस्था ठीक बन सकती है और न मोक्ष होनेकी व्यवस्था ठीक बन सकती है तथा जब बंध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती तो फिर मुनि और श्रावकोंका भेद भी नहीं बन सकता न सामायिक, ध्यान, तपश्चरण वा दान, पूजन आदिकी व्यवस्था बन सकती है, न पुण्य पापका भेद बन

सकता है और न तत्त्वोंका चिंतवन बन सकता है, क्योंकि कर्मबंधन और शरीर विशिष्ट आत्मा ही कर्मोंका बंध कर सकता है, वही मोक्षप्राप्तिके लिए अणुव्रत महाव्रत धारण कर सकता है, वही आत्मा तत्त्वोंका चिंतवन कर सकता है और वही पुण्य व पापका आस्रव वा संवर कर सकता है। कर्मोंसे बंधा हुआ शरीर विशिष्ट आत्मा ही कर्मोंको करता है और वही आत्मा उन कर्मोंके फलको भोगता है। इस प्रकार माननेसे कर्ता कर्म आदि कारकोंका सम्बन्ध भी ठीक बैठ जाता है। यदि संसारी आत्माको भी सर्वथा अमूर्त मान लिया जाता है तो फिर अमूर्त आत्मा न तो कुछ कर सकता है और न कर्मोंका फल भोग सकता है। क्योंकि शरीरके द्वारा ही कोई कार्य किया जाता है और शरीरके द्वारा कर्मोंका सुख दुःख रूप फल भोग जाता है तथा शरीर विशिष्ट आत्मा कथंचित् मूर्त ही होता है। इसलिए कथंचित् मूर्त संसारी आत्मा ही कर्मोंसे बंधता है, अमूर्त आत्मा कभी कर्मोंसे नहीं बंध सकता। यह निश्चित सिद्धांत है।

प्रश्न–मोक्षार्थिभिश्च किं कार्यं सुखार्थं वद मे गुरो ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यपुरुषोंको अनंत सुख प्राप्त करनेके लिए क्या-क्या कार्य करना चाहिए ?

उत्तर–सुखात्मकं ज्ञानमयं पवित्रं मोक्षं प्रयातुं हृदि यश्च वांच्छेत् ।
संसारमोहः प्रथमं च तेन त्याज्यस्तथा क्रोधरिपुः कुटुम्बः ॥३१५॥
पश्चात्सदा चात्मनि चात्मने चात्मानं चिदानन्दमयं सुखार्थम् ।
विलोकनं बोधनमेव कार्यं मूढक्रियां बाह्यविधिं विहाय ॥३१६॥

अर्थ–जो मनुष्य अपने हृदयमें अनन्त सुखमय तथा अनन्त ज्ञानमय और अत्यन्त पवित्र ऐसे

मोक्षस्थानमें पहुंचना चाहता है उसको सबसे पहले संसारके मोहका त्याग कर देना चाहिए, क्रोधरूपी शत्रुका त्याग कर देना चाहिए और कुटुम्बका त्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर अनन्त सुख प्राप्त करनेके लिए तथा अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने ही आत्मामें अपने चिदानन्दमय आत्माको देखना चाहिए तथा अज्ञानी जीवोंके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका त्याग कर तथा समस्त बाह्य विधियोंका त्याग कर उसी चिदानन्दमय आत्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

भावार्थ–इस संसारमें इस आत्माका मोह ही सबसे प्रबल शत्रु है। इस मोहके ही कारण इस आत्माको नरक वा निगोदमें जाना पडता है तथा मोहके ही कारण समस्त पाप करने पडते हैं। जो शेठ लोग किसी अन्यके पुत्रको दत्तक लेते हैं वे दत्तक लेनेके अनन्तर ही उससे मोह करने लगते हैं। दत्तक लेनेके पहले वे उस बालकके लिए कुछ भी करनेके लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि दत्तक लेनेके पहले वे उससे कोई किसी प्रकारका मोह नहीं करते थे। दत्तक लेने और मोह करनेके अनन्तर वे शेठ लोग उस बालकके लिए सब कुछ करनेको तैयार हो जाते हैं। उसके लिए अनेक प्रकारके दुःख सहन करते हैं, अनेक प्रकारके पाप करते हैं और अपना सब धन खर्च करनेको तैयार हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि समस्त पाप और दुःखोंका कारण एक मोह ही है। जो लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं उन्हें सबसे पहले इस मोहका त्याग कर देना चाहिए। मोहका त्याग कर देनेसे क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर, काम आदि आत्माके समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं इसीप्रकार मोहका त्याग कर देनेसे कुटुम्बका त्याग भी अपने आप हो जाता है। क्योंकि मोहके ही कारण कुटुम्बमें प्रेम होता है। मोहके छूट जानेसे कुटुम्बका प्रेम अपने आप छूट जाता है। इसप्रकार जब यह आत्मा अपने मोहका त्याग कर देता है तथा कषायादिक समस्त विकारोंका त्याग कर देता है तब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है। शुद्ध होनेके कारण अपने ही आत्माके द्वारा अपने शुद्ध आत्माका दर्शन करने लगता है

और शुद्ध आत्माका स्वरूप जानने लगता है। उस समय इसकी समस्त बाह्य क्रियाएं छूट जाती हैं और यह आत्मा अपने आत्मामें लीन होकर अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करने लगता है। इस प्रकार अपने शुद्ध आत्माके चिंतवनके द्वारा यह आत्मा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर डालता है और अनन्त सुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य इन अनन्त चतुष्टयको प्राप्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपने मोहका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—यदि जीवाः सदाकालं मोक्षं प्रयान्ति विश्वतः।
सर्वं विश्वं भवेत्तर्हि जीवशून्यं भयंकरम्।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यदि ये संसारी जीव इस संसारसे सदाकाल मोक्ष जाते रहेंगे तो फिर किसी न किसी दिन यह समस्त संसार समस्त जीवोंसे रहित होकर भयंकर हो जायगा वा नहीं?

उत्तर—यथा यथा पदार्थाः स्युर्दृष्टा ज्ञातास्तथा तथा।
जीवाः स्युश्चाक्षयानन्ताः प्रोक्ताः केवलिनेति कौ ॥३१७॥
गतास्ततोपि मोक्षं च किंतु रिक्ता मही न सा।
अकृत्रिमपदार्थानां सूक्ष्मानां दूरवर्तिनाम् ॥३१८॥
स्यादभावो न बुद्ध्वेति तत्त्वज्ञा भवभीरवः।
विश्वरिक्तभयं त्यक्त्वा कुर्वन्तु मोक्षसाधनम् ॥३१९॥

अर्थ—वीतराग केवली भगवान् अरहंतदेवने जो-जो पदार्थ जिस-जिसरूपसे देखे हैं वा जिस जिस रूपसे जाने हैं वे पदार्थ उसी-उसी रूपसे बतलाये हैं। उनमेंसे जीव पदार्थोंकी संख्या अक्षय अनन्त

बतलाई है। अनादिकालसे लेकर आजतक अनन्तानन्तकाल व्यतीत हो चुका और इस अनन्तानन्तकालमें जीव बराबर सदाकाल मोक्ष जाते रहे हैं तथापि यह पृथ्वी आज़ तक जीवोंसे खाली नहीं हुई है, इसलिए जो सूक्ष्म पदार्थ हैं वा दूरवर्ती अकृत्रिम पदार्थ हैं वा दूर कालवर्ती पदार्थ हैं उनका कभी अभाव नहीं कहा जा सकता। अतएव संसारके दुःखोंसे भयभीत रहनेवाले और तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले भव्यजीवोंको इस संसारके खाली होनेके भयका त्याग कर देना चाहिए और मोक्षके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—भगवान् अरहंतदेव राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित वीतराग होते हैं तथा चर-अचर सूक्ष्म स्थूल आदि समस्त पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञ होते हैं। जो-जो वीतराग सर्वज्ञ होते हैं वे कभी भी पदार्थोंका मिथ्या स्वरूप नहीं कह सकते। जो राग द्वेषको धारण करता है वह अपने राग द्वेषके कारण पदार्थोंका मिथ्या स्वरूप कह सकता है तथा जो सर्वज्ञ नहीं होता वह भी अल्पज्ञ होनेके कारण पदार्थोंका मिथ्यास्वरूप कह सकता है। परन्तु जो वीतराग होता हुआ सर्वज्ञ होता है वह कभी भी पदार्थोंका मिथ्यास्वरूप नहीं कह सकता, इसलिए भगवान् अरहंतदेवने जो कहा है वह सर्वथा यथार्थ है। उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड सकता। भगवान् अरहंतदेवने जीवोंकी संख्या अक्षय अनन्त बतलाई है, इसलिए वह जीवोंकी संख्या कभी समाप्त नहीं हो सकती है। मान लीजिये कि किसीके पास दस करोड रुपए हैं और इसीलिए वह करोडपति कहलाता है, यदि उसके पाससे ५) रु० प्रतिदिन निकाल लिए जांय और वह जब तक जीवित रहे तब तक निकालते जांय तो भी वह करोडपति ही बना रहेगा। यद्यपि उसके रुपयोंमेंसे दस-बीस लाख रुपये कम हो जांयगे तथापि वह करोडपति अवश्य बना रहेगा। इसीप्रकार जीवोंकी संख्या अक्षय-अनन्त है उसमेंसे बहुतसे जीव मोक्ष पहुंचते रहते हैं तथापि उसकी अक्षय अनन्त संख्यामें किसी प्रकारकी कमी नहीं

हो सकती। इसके एक दो उदाहरण और देख लीजिये। आकाश अनन्त है। यदि हम किसी एक स्थानको नियत स्थान मानलें और उस स्थानसे हवाई जहाजके द्वारा पूर्व दिशाकी ओर गमन करते जांय तो क्या पूर्व दिशाका अन्त आ सकता है? यद्यपि जितना गमन करते जाते हैं उतना भाग नियत स्थानसे पूर्व दिशाकी ओरका भाग कम-कम होता जाता है, परन्तु पूर्व दिशाका अन्त नहीं आ सकता। यदि कोई मनुष्य उस दिशाका अन्त मान ले तो आकाश अनन्त नहीं ठहरता है तथा फिर उस अंतिम भागके आगे क्या है सो बतलाना चाहिए, परन्तु ये दोनों ही बातें असम्भव हैं। न तो आकाशका अन्त आ सकता है और न आकाशका अभाव होकर दूसरा पदार्थ रह सकता है इसलिए जिस प्रकार आकाशके एक दिशाकी ओर गमन करते हुए आकाशका बहुभाग घट जाता है तथापि उसका अन्त नहीं आता उसी प्रकार उन जीवोंकी अक्षय अनन्त संख्यामेंसे जो जीव मोक्ष चले जाते हैं उतनी संख्या कम अवश्य हो जाती है तथापि वह अक्षय अनन्त संख्या ही बनी रहती है। दूसरा उदाहरण—मनुष्य अपनी मातासे ही उत्पन्न होता है तथा उसकी माता अपनी मातासे उत्पन्न होती है और उसकी माता अपनी मातासे उत्पन्न होती है। इस प्रकारकी समस्त माताएं यदि कल्पनाशक्तिके द्वारा एक स्थानपर इकट्ठी कर ली जांय और उसमेंसे फिर एक-एक घटाते जांय वा अलग करते जांय तो क्या उन माताओंका कभी अंत आ सकता है? यदि कोई मनुष्य किसी माता तक गिनकर उसको अन्तिम माता कहेगा तो फिर यह प्रश्न सहज रीतिसे उत्पन्न हो जायगा कि वह अंतिम माता किससे उत्पन्न हुई थी और फिर उसकी माता किससे उत्पन्न हुई थी? इस प्रकार विचार करनेसे उन माताओं का अन्त कभी नहीं आ सकता। उसी प्रकार मोक्ष जाते हुए भी जीवोंकी संख्या कभी समाप्त नहीं हो सकती। इस संसारमें निगोदराशि अनन्तानन्त भरी हुई है। एक सुईके अग्र भागपर वा उससे भी बहुत कम भागपर एक निगोदिया शरीर रहता है और उस शरीरमें अनन्तानन्त निगोदराशिके जीव

रहते हैं तथा इस प्रकारके जीवोंमे यह समस्त लोकाकाश भरा हुआ है। फिर भला उन जीवोंकी संख्या समाप्त कैसे हो सकती है। हां! जितने जीव मोक्ष चले जाते हैं उतने जीवोंकी संख्या संसारी जीवोंकी संख्यामेंसे कम अवश्य हो जाती है परन्तु वह कभी किसी कालमें भी समाप्त नहीं हो सकती इसलिए संसारके दुःखोंसे डरनेवाले भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस संसारमें बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जिनको हम नहीं देख सकते। राम रावण आदिको हुए बहुत काल व्यतीत हो गया, मेरु पर्वत आदि अकृत्रिम पदार्थ बहुत दूर हैं अथवा निगोदराशि बहुत सूक्ष्म है इन सबको हम देख नहीं सकते तथापि इनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यद्यपि हमने अपने दस-बीस पीढीके पहलेके लोग देखे नहीं है तथापि उनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए भगवान अरहंतदेवने जो कहा है वह मिथ्या वा विपरीत नहीं हो सकता यही समझकर उनके वचनोंपर अटल विश्वास रखना चाहिए और समस्त संकल्प-विकल्पोंका त्याग कर मोक्षमार्गके सिद्ध करनेमें लग जाना चाहिए। यही मनुष्यका कर्तव्य है।

प्रश्न—कौ वदाभव्यजीवे स्यात्स्वरुचिः शर्मदा न वा ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह वतलाइए कि इस संसारमें अभव्य जीवोंके आत्माका कल्याण करनेवाली आत्मरुचि होती है वा नहीं ?

उत्तर—लोहे सुगंधश्च खले सुनीतिरिक्षौ फलं लोभिनरे शुचित्वम् ।
स्वर्गेपि पीडा स्वसुखेपि दुःखं स्यादर्थचिन्ता वरभोगभूम्याम् ॥३२०॥
अग्नौ च शीतं गगनेपि पुष्पं मोक्षे ह्यशान्तिर्नरके च शान्तिः ।
पूर्वोक्तरीतिश्च भवेत्तथापि स्वात्मानुभूतिर्न भवेदभव्ये ॥३२१॥

अर्थ-यद्यपि लोहेमें सुगंध नहीं होती, दुष्ट पुरुष नीति और न्यायका पालन नहीं कर सकता, ईखपर कभी भी फल नहीं लग सकते, लोभी पुरुष कभी पवित्रता धारण नहीं कर सकते, स्वर्गमें कभी पीडा नहीं होती. आत्मजन्य सुखमें कभी दुःख नहीं होता, उत्तम भोगभूमिमें कभी भी धनकी चिन्ता नहीं होती, अग्निमें कभी शीतलता नहीं होती, आकाशमें कभी फूल नहीं लगता, मोक्षमें कभी अशान्ति नहीं होती और नरकमें कभी शान्ति नहीं होती तथापि यदि ये सब बातें हो जांय, लोहेमें सुगंध भी आ जाय, दुष्ट पुरुष नीति और न्यायका भी पालन करने लगे, ईखमें फल भी लग जांय, लोभी मनुष्यमें पवित्रता भी आ जाय, स्वर्गमें भी पीडा होने लगे, आत्मजन्य सुखमें भी दुःख मालूम होने लगे, उत्तम भोगभूमिमें भी धनकी चिन्ता करनी पडे, अग्निमें भी शीतलता आ जाय, आकाशमें भी पुष्प लग जांय, मोक्षमें भी अशांति हो जाय और नरकमें भी शांति हो जाय तथापि अभव्य जीवके स्वात्मानुभूति कभी किसी कालमें भी नहीं हो सकती।

भावार्थ-जिसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होनेकी योग्यता होती है उसको भव्य कहते हैं और जिसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होनेकी योग्यता न हो उसको अभव्य कहते हैं। यह भव्यत्व और अभव्यत्व जीवका स्वभाव है। जैसे उबालनेसे कोई मूग गल जाती है और कोई नहीं गलती। यद्यपि दोनों ही मूग कहलाती हैं तथापि एकका स्वभाव गल जानेका है और एकका हजार प्रयत्न करनेपर भी न गलनेका है। इसीप्रकार कारण सामग्री मिलनेपर भव्यजीवके सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वात्मानुभूति भी प्रगट हो जाती है तथा उस स्वात्मानुभूतिके होनेपर वह भव्य जीव सम्यक्चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परंतु अभव्य जीवका स्वभाव सम्यग्दर्शनको प्रगट करनेकी योग्यता नहीं रखता। यद्यपि वह सम्यग्दर्शन उस आत्माका एक गुण है और वह उस आत्मामें विद्यमान है तथापि उस सम्यग्दर्शनको ढकनेवाले दर्शनमोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेना उसके

स्वभावसे बाहर है। इस संसारमें जिस-जिस पदार्थके जो-जो स्वभाव हैं उनमें किसीका तर्क-वितर्क नहीं चल सकता। नीम कडवा क्यों है, ईख मीठी क्यों है, अग्नि गर्म क्यों है, इनका कोई कुछ उत्तर नहीं दे सकता और न इसमें कोई किसी प्रकारका तर्क-वितक कर सकता है। इसीप्रकार भव्यत्व और अभव्यत्व भी भव्य और अभव्य जीवोंके स्वभाव हैं। इनमें कोई किसीका तर्क-वितर्क नहीं चल सकता। ऊपर बता चुके हैं कि अभव्य जीवोंका स्वभाव सम्यग्दर्शनको प्रगट न होनेकी योग्यता रखना है। इसलिए न तो कभी उसके सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है और न कभी सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाली स्वात्मानुभूति ही प्रगट हो सकती है। इसलिए वह कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, यद्यपि वह अभव्य जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तथापि वह पुण्यकार्य करता हुआ सुखी रह सकता है। इसलिए पुण्य उपार्जन करना प्रत्येक जीवमात्रका कार्य है। इसमें किसीको भी नहीं चूकना चाहिए।

प्रश्न—गुरोराज्ञां विना शिष्यो यत्र कुत्रापि स्वेच्छया।
यदि स्वपेत्तथा गच्छेद् वद मे कीदृशोस्ति सः।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि जो शिष्य विना अपने गुरुकी आज्ञाके अपनी इच्छानुसार जहां कहीं सो जाता है अथवा जहां कहीं चला जाता है वह कैसा शिष्य कहलाता है।

उत्तर—गुरोराज्ञां विना शिष्यः स्वपूजाख्यातिहेतवे।
स्वेच्छया यत्र कुत्रापि स्वपिति गच्छतीति यः ॥३२२॥
स एव मार्गलोपी स्यात्स्वच्छन्दमार्गपोषकः।
जैनधर्मविरोधी स मिथ्यामतप्रचारकः ॥३२३॥

स्वयं पतेद् भवाब्धौ स तथान्यान् पातयेत्खलः ।
ज्ञात्वा गुरुविरोधीति तं त्यजेद् दूरतः सुधीः ॥३२४॥

अर्थ—जो शिष्य अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढानेके लिए बिना अपने गुरुकी आज्ञाके अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जाकर सो जाता है वा चाहे जहां चला जाता है उस शिष्यको मोक्षमार्गका लोप करनेवाला समझना चाहिए, मोक्षमार्गसे भिन्न किसी स्वतंत्र मार्गकी पुष्टि करनेवाला समझना चाहिए, जैनधर्मका विरोधी समझना चाहिए और मिथ्यामतका प्रचार करनेवाला समझना चाहिए। ऐसा दुष्ट शिष्य इस संसाररूपी महासागरमें स्वयं पडकर परिभ्रमण करता है और अन्य जीवोंको भी इसी संसार सागरमें परिभ्रमण कराता है। इस प्रकार ऐसे शिष्यको गुरुविरोधी समझकर बुद्धिमानोंको दूरसे ही त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यव्रतको पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिये गुरुके समीप ही शिष्योंको निवास करना चाहिए। गुरुके समीप रहनेसे ब्रह्मचर्यका भी पालन होता है और अन्य समस्त व्रतोंका पालन हो सकता है। दूसरी बात यह है कि गुरु स्वभावसे ही सब जीवोंके परम हितकारी हैं। फिर भला शिष्योंका कल्याण तो चाहते ही रहते हैं। यदि शिष्य गुरुके समीप रहता है और सदाकाल उनकी आज्ञानुसार चलता है तो फिर गुरु भी उसके व्रतोंमें किसी प्रकारका दोष नहीं लगने देते। गुरु शिष्यका परम उपकार करते हैं तथा शिष्यसे कुछ चाहते भी नहीं। ऐसी अवस्थामें वह शिष्य उन गुरुकी सेवा-सुश्रूषा कर सकता है और उनकी आज्ञानुसार चलकर उन्हें प्रसन्न कर सकता है। गुरु स्वयं मोक्षमार्गमें लगे रहते हैं और शिष्योंको लगाते रहते हैं। अतएव अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए भी शिष्योंको उनकी आज्ञामें रहना अत्यावश्यक है। जो शिष्य ऐसे गुरुओंकी आज्ञाको भी नहीं मानता है उसे तो फिर मोक्षमार्गका लोप करनेवाला समझना ही चाहिए, गुरुका विरोधी और उच्छृंखल

समझना ही चाहिए, तथा मिथ्यामतका प्रचार करनेवाला समझना ही चाहिए। साधारण गृहस्थोंका कोई लडका यदि माता-पिताकी आज्ञाके बिना कहीं बाहर जाकर सोता है तो वह भी अयोग्य समझा जाता है, लोग उसके सदाचारमें सन्देह करने लग जाते हैं फिर भला गुरुकुलमें रहनेवाला आचार्योंका शिष्य यदि गुरुकी आज्ञाके बिना बाहर जाकर सो जाता है वा अन्यत्र चला जाता है तो फिर उसका ब्रह्मचर्य वा उसके व्रत निर्दोष रीतिसे कैसे पल सकते हैं और वह शिष्य सुशिष्य कैसे कहला सकता है ? ऐसा कुशिष्य तो उच्छृंखल होकर मोक्षमार्गका वा जैनधर्मका लोप कर देता है। इसलिए ऐसे शिष्यका दूरसे ही त्याग कर देना अच्छा है। किसी शिष्यका न होना अच्छा परन्तु ऐसे कुशिष्य का होना कभी कल्याणकारी नहीं कहला सकता।

प्रश्न–रक्षाति केवलं बंधून् धनेन स कथं वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो पुरुष अपने धनसे केवल भाई बन्धुओंको ही रक्षा करता है वह कैसा है ?

उत्तर—धनेन धर्मस्य जिनालयस्य देवस्य शास्त्रस्य गुरोः क्षमाब्धेः।
भक्त्या सुधर्मायतनादिकानां रक्षां न कृत्वा शिवसौख्यदानाम् ।३२५।
धनेन भृत्यान् स्वकुटुंबवर्गान् यः केवलं रक्षति मोहबुद्ध्या।
प्रत्यक्षमेव प्रतिभाति कौ स पशुश्च पापी नरकप्रवासी ॥३२६॥

अर्थ—पुण्य कर्मके उदयसे इस धनको पाकरके धर्मकी रक्षा करनी चाहिए, जिनालयकी रक्षा करनी चाहिए, देवकी रक्षा करनी चाहिए, शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिए और क्षमाके सागर ऐसे निर्ग्रंथ गुरुओंकी सेवा कर रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार मोक्षके सुख देनेवाले जितने श्रेष्ठ धर्मायतन हैं

उनकी रक्षा भक्तिपूर्वक करनी चाहिए। जो पुरुष अपने धनसे इन धर्मायतनोंकी रक्षा नहीं करता और केवल मोहके वशीभूत होकर अपने सेवकोंकी वा अपने कुटुम्बकी ही रक्षा करता है वह इस संसारमें पशु, पापी और नरकगामी प्रत्यक्ष जान पडता है।

भावार्थ—यह धन पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। वह पुण्य दो प्रकारका होता है एक पुण्यानुबन्धी पुण्य और दूसरा पापानुबन्धी पुण्य। दान देना पुण्य कार्य है परन्तु रत्नत्रयको धारण करनेवाले श्रेष्ठ पात्रोंको दान देनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसको पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं। ऐसे पुण्यके उदयसे जो धन प्राप्त होता है वह पुण्य कार्यमें ही लगता हैं और आगेके लिए भी पुण्यकर्मोंका संपादन करता है। परन्तु जो दान कुपात्रोंको दिया जाता है उस दानसे होनेवाला पुण्य पापानुबन्धी पुण्यकर्म प्राप्त होता है। उस पापानुबन्धी पुण्यकर्मके उदयसे जो धन प्राप्त होता है वह पाप कार्यमें ही लगता है। इसका भी कारण यह है कि श्रेष्ठ पात्रोंको जो दान दिया जाता है वह रत्नत्रयके साधनमें ही लगता है। किसी मुनिको दिया हुआ आहारदान उनके तपश्चरण और ध्यानकी वृद्धिमें ही लगता है इसलिए उस दानसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसके उदयसे होनेवाली धनादिक सामग्री आगामी कालके लिए भी श्रेष्ठ पुण्यको बढानेवाली होती है। ऐसे पुण्यको ही पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं तथा कुपात्रको जो दान दिया जाता है उससे कषाय और विषयोंकी पुष्टि होती है। इसलिए उस दानसे जो धनादिक सामग्री प्राप्त होती है वह पाप कार्योंमें ही लगती है वा विषय कषायोंकी पुष्टिमें ही लगती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि धन प्राप्त करनेका फल धर्मायतनोंकी रक्षा करना ही है। धन पाकरके प्रभावना अंगकी वृद्धि कर स्वयं पुण्य प्राप्त करना चाहिए और अन्य हजारों मनुष्योंको पुण्य प्राप्त कराना चाहिए। भगवान् अरहंत देवकी जिन प्रतिमाका पंचामृताभिषेक कराकर वा वेदी प्रतिष्ठा बिम्ब प्रतिष्ठा अथवा रथोत्सव गजरथोत्सव कराकर स्वयं पुण्य प्राप्त करना चाहिए और अन्य हजारों मनुष्योंको पुण्य

प्राप्त कराना चाहिए। इन सब कामोंको देखकर हजारों मनुष्य जयजयकार करते हैं और और पुण्य प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य धन पाकरके भी ऐसे पुण्य कार्योंको नहीं करते हैं और अपना सब धन केवल कुटुम्बके-पालन पोषण करनेमें वा विषय कार्योंमें ही लगा देते हैं वे महापापी गिने जाते हैं, पशुओंके समान अज्ञानी कहलाते हैं और तीव्र मोहके कारण अथवा केवल पाप ही उपार्जन करनेके कारण अवश्य नरकगामी होते हैं। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपना धन केवल पुण्य कामोंमें ही खर्च करना चाहिए। जो लोग अपना सब धन पुण्य काममें खर्च करना नहीं चाहते उनको एक भाग धर्ममें खर्च करना चाहिए और दूसरा भाग कुटुम्बके पोषण आदि व्यवहार कार्योंमें खर्च करना चाहिए। साथमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो धन कमाया जाय वह न्यायपूर्वक ही कमाना चाहिए। अन्यायसे आया हुआ धन कभी भी श्रेष्ठ कामोंमें नहीं लग सकता।

प्रश्न—वसति कौ धनं पार्श्वे कस्य मे वद सिद्धये ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें यह धन किसके समीप रहता है?

उत्तर—यावद्धि येषां हृदि जैनधर्मस्तिष्ठेदलभ्यो भुवि सारभूतः।
तावद्धि तेषां सुखशान्तिदात्री तिष्ठेत्स्वपार्श्वेऽखिलराज्यलक्ष्मीः ।३२७
भार्यादिबन्धुर्निजबन्धुभावैर्दासोपि दासी तनयोपि तिष्ठेत्।
ज्ञात्वेति धर्मो हृदि धारणीयः पूर्वोक्तलक्ष्मीश्च वसेत्स्वपार्श्वे ॥३२८॥

अर्थ—इस संसारमें यह जैनधर्म अलभ्य है और सारभूत है, ऐसा यह जैनधर्म जिसके हृदयमें विराजमान रहता है और जब तक विराजमान रहता है तब तक उसके समीप सुख और शांतिको

देनेवाली समस्त भूमण्डलकी राज्यलक्ष्मी अवश्य विद्यमान रहती है। इसके सिवाय उसके भाई बन्धु भी अपने बन्धुभावको धारण करते हुए अर्थात् उसका हित करते हुए उसके समीप रहते हैं तथा दास दासी पुत्र आदि सब सुखकी सामग्री उसके समीप रहती है। यही समझकर प्रत्येक भव्यजीवको अपने हृदयमें इस पवित्र जैनधर्मको धारण करना चाहिए जिससे कि ऊपर लिखी हुई समस्त सुखकी सामग्री सदाकाल उसके समीप बनी रहे।

भावार्थ—यह बात पहले बता चुके हैं कि लक्ष्मी वा धनकी प्राप्ति पुण्य कर्मके उदयसे होती है तथा पुण्य कर्मोंमें सर्वोत्तम पुण्यकर्म सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होता है और वह सम्यग्दर्शन जैनधर्मके धारण करनेसे वा यथार्थ देव शास्त्र गुरुके श्रद्धान करनेसे ही होता है इसीलिए आचार्य महाराजने जैन धर्मके धारण करनेसे ही धनादिककी प्राप्ति बतलाई है। यह जैनधर्म अहिंसामय धर्म है और इसीलिए समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला है। इसी कारण यह पवित्र है, मोक्ष प्राप्त करनेवाला है और संसारके समस्त सुख देनेवाला है। ऐसा यह जैनधर्म बहुत बडे पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है। यह जैनधर्म वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ऐसे भगवान् अरहंतदेवका कहा हुआ है ऐसे जैनधर्मको पाकर भी जो भाग्यहीन पुरुष उसको छोड देते हैं अथवा उसमें झूठ-मूठके दोष लगाते हैं अथवा उनके उद्देशोंको बदलकर सर्व साधारणमें उपदेश देते हैं उन्हें महापापी समझना चाहिए। ऐसे लोग अकेले ही पापकर्म नहीं कमाते किंतु अन्य लोगोंको उपदेश देकर उनसे भी पापकर्म कराते रहते हैं इसीलिए ऐसे मिथ्या उपदेश देनेवाले पुरुष महापापी कहलाते हैं। जहांपर ऐसे लोग उत्पन्न हो जाते हैं वहांपर धनकी, जनकी अवश्य हानि होती है। इसलिए ऐसे अलभ्य जैनधर्मको पाकर उसकी वृद्धि करनेमें उसका यथार्थ प्रचार करनेमें कभी आलस नहीं करना चाहिए। जैनधर्म धारणकर विशेष पुण्य प्राप्त कर लेना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—सद्धर्मवृद्धिहेतोर्वै भाषा भाष्या च कीदृशी ?

अर्थ—हे स्वामिन् अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस श्रेष्ठ जैनधर्मकी वृद्धिके लिए कैसी भाषा बोलनी चाहिए ?

उत्तर—भव्येन धर्मस्थितिवृद्धिहेतोः सर्वेण सार्द्धं निजबंधु बुद्धया ।
कार्या प्रवृत्तिः सुखदा पवित्रा भाषापि भाष्या मधुरा यथार्था ।३२९।
श्रीजैनधर्मे सुखशान्तिमूले श्रद्धा यतः स्यात्परधार्मिकाणाम् ।
सत्यार्थधर्मेण विना न सिद्धिस्तत्सिद्धिहेतोः कथितं मयेति ॥३३०॥

अर्थ—प्रत्येक भव्यजीवको इस पवित्र जैनधर्मको स्थिर रखनेके लिए और इसकी वृद्धि करनेके लिए समस्त जीवोंके साथ अपने भाई-बन्धुओंके समान प्रवृत्ति रखनी चाहिए, सब जीवोंके साथ सुख देनेवाली पवित्र प्रवृत्ति रखनी चाहिए और उनके साथ भाषा मधुर और यथार्थ बोलनी चाहिए। ऐसा करनेसे ही सुख और शान्तिके मूल कारण ऐसे इस जैनधर्ममें अन्य धर्मियोंकी श्रद्धा हो सकती है। इस संसारमें बिना यथार्थ धर्मको धारण किए किसीके आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक आत्माकी सिद्धिके लिए ही मैंने यह निरूपण किया है।

भावार्थ—प्रत्येक भव्यजीवको हित मित भाषण करना चाहिए। जिस भाषणके करनेसे किसी भी जीवको बाधा न पहुंचे तथा जिस भाषणसे सब जीवोंकी आत्माओंका यथार्थ कल्याण हो, पुण्यकी प्राप्ति हो, पापोंका नाश हो ऐसे भाषणको हितरूप भाषण कहते हैं तथा जहांपर जितने भाषणकी आवश्यकता हो उतना ही भाषण करना, बिना प्रयोजनके अधिक भाषण न करना मितभाषण कहलाता है। जो मनुष्य हित-मित भाषण करता है और वह भी मीठे शब्दोंमें यथार्थ बात कहता है



उसका प्रभाव संसारके समस्त जीवोंपर पडता है। जैनधर्म वैसे ही पवित्र और यथार्थ धर्म है उसमें भी यदि मिष्ट और यथार्थ भाषण करनेवाले मनुष्य हों तो अन्य धर्मियोंपर उस भाषणका गहरा प्रभाव पडता है तथा उस प्रभावके कारण वे लोग इस पवित्र धर्मपर श्रद्धा करने लग जाते हैं। चार प्रकारके धर्मध्यानमें एक अपाय-विचय नामका धर्मध्यान बतलाया है। उसका भी अभिप्राय यही है कि जो जीव यथार्थ धर्मसे विमुख हो रहे हैं वे कब और किस प्रकार यथार्थ धर्मको धारण कर अपने आत्माका कल्याण करें। यदि यह अपाय-विचय नामके धर्मध्यानका कार्य मिष्ट और यथार्थ भाषण करनेसे ही हो जाय तो इससे बढकर और क्या बात हो सकती है, इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको मिष्ट और यथार्थ भाषण करना चाहिए जिससे कि अनेक जीव यथार्थ धर्मको धारण कर अपने आत्माका कल्याण कर सकें। यही आचार्य महाराजका आदेश है।

प्रश्न–किं किं विचारणीयं कौ वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ–हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जीवको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने हृदयमें क्या-क्या विचार करते रहना चाहिए ?

उत्तर–मृत्युः कदा स्याद् भुवि बुध्यते न धनस्य नाशोपि तथात्मजानाम् ।
भावो यथा स्याद्धि तथापि चायुः प्रबध्यते वै सुखदुःखदं च ।३३१।
ज्ञात्वेति शुद्धः सुखदः स्वभावः कार्यो यतः स्यात्सुखशान्तिलाभः ।
वायुर्न केषामपि बध्यते न न स्यात्तथा कर्मपराश्रयत्वम् ॥३३२॥

अर्थ–इस संसारमें मृत्यु कब होती है इस बातको हम लोग नहीं जान सकते। इसी प्रकार धनका नाश कब होता है वा पुत्र-पौत्रादिकोंका नाश कब होता है इस बातको भी हम लोग नहीं जान सकते।



यह जीव अपने शुभ वा अशुभ जैसे परिणामोंको धारण करते हैं वैसे ही सुख वा दुःख देनेवाले आयुकर्मका बंध करते हैं। इस प्रकार निरंतर विचार करते हुए इस जीवको सुख देनेवाले अपने शुद्ध स्वभावको धारण करना चाहिए जिससे कि सुख और शांतिकी प्राप्ति हो, आयुकर्मका कभी बंध न हो और यह जीव कर्मोंके आधीन न रहे।

भावार्थ—इस जीवको अपना कल्याण करनेके लिए बारह भावनाओंका चिंतवन करते रहना चाहिए। अपनी मृत्युको समीप जानकर संसार और विषय कषायोंका त्याग कर वैराग्य धारण करना चाहिए। परलोकके लिए आयुकर्मका बंध कब होता है यह बात किसीको मालूम नहीं हो सकती। इसलिए परलोकके लिए शुभ आयुकर्मका ही बंध हो, अशुभ आयुकर्मका बंध न हो इस बातका ध्यान रखते हुए इस जीवको सदाकाल अपने परिणामोंको शुभ वा शुद्ध ही रखना चाहिए। यदि सदाकाल शुभ परिणाम रहेंगे तो शुभ आयुका ही बंध होगा। यदि शुद्ध परिणाम होंगे तो आयुकर्मका बंध होगा ही नहीं। आयुकर्मका बंध न होनेसे यह जीव अत्यंत शुद्ध और सर्वथा स्वतंत्र हो जाता है तथा मोक्षमें विराजमान होकर सदाकाल अनंत सुखका अनुभव करता रहता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको प्रत्येक क्षणमें अपने आत्माके कल्याण करनेका चिंतवन करते रहना चाहिए। मृत्युसे बचनेके लिए वैराग्य धारण कर अपने परिणामोंको शुद्ध बनानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे फिर कभी आयुकर्मका बंध न हो तथा कभी मृत्यु न हो और यह जीव मोक्ष प्राप्त कर सदाके लिए अनंत सुखी हो जाय।

प्रश्न—सर्वकृत्यकरो जीवः स्याद्वान्यः कोपि मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि समस्त कार्योंको करनेवाला यह जीव ही है अथवा अन्य कोई है ?

उत्तर-पापं स्वयं ह्येव करोति जीवो लब्ध्वा कुसंगं च तथा प्रभुंक्ते ।
तथा स्वयं मुच्यत एव बंधाद् भक्त्या जिनं प्राप्य गुरुं पवित्रम् ॥
यथा मतिः स्याद्धि तथा गतिश्च जिनागमे रीतिरियं प्रसिद्धा ।
ज्ञात्वेति भव्यैः स्वमतिश्च शुद्धा कार्या यतः स्यात्स्वसुखस्य लाभः ॥

अर्थ-यह जीव अपनी कुसंगतिको पाकर स्वयं पापकर्मोंको करता है और स्वयं उन कर्मोंके फलको भोगता है। इसी प्रकार अपनी भक्तिके द्वारा भगवान् जिनेंद्रदेवको पाकर अथवा पवित्र निर्ग्रंथ गुरुको पाकर उन कर्मबंधनोंसे स्वयं मुक्त हो जाता है। इस जिनागममें यही रीति और यही नीति प्रसिद्ध है कि जिसको जैसी मति होती है उसको वैसी ही गति होती है। यही समझकर भव्यजीवोंको अपनी मति वा बुद्धि सदा शुद्ध रखनी चाहिए जिससे कि शीघ्र ही आत्मसुखकी प्राप्ति हो जाय।

भावार्थ-यह मनुष्य जैसी संगतिमें बैठता है वैसी ही बुद्धि बना लेता है तथा जैसी बुद्धि बना लेता है वैसे ही कार्य करता है और जैसे कार्य करता है वैसा ही उनका फल भोगता है। यदि यह जीव कुसंगतिमें बैठता है तो इसकी बुद्धि कुबुद्धि हो जाती है और उस कुबुद्धिके कारण काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष, मायाचारी आदि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न किया करता है तथा उन विकारोंके कारण अनेक प्रकारके महापाप उत्पन्न किया करता है। उन पापोंके कारण तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध किया करता है और उनके उदय होनेपर नरक निगोदके महादुःख भोगा करता है। इसीप्रकार जब यह जीव मुनि साधु वा ब्रह्मचारी अथवा धर्मात्मा श्रावकोंकी संगतिमें बैठा करता है तब इसकी बुद्धि पापोंसे डरनेवाली हो जाती है। पाप कार्योंसे डरकर वह सब विकारोंको और पापोंको छोड देता है तथा दान पूजन आदि शुभ कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करने लगता है। इसप्रकार वह अशुभ भावोंका

त्याग कर शुभ भावोंकी प्रवृत्ति करने लगता है और धीरे-धीरे शुभ भावोंकी प्रवृत्तिको हटाकर शुद्ध भावोंको धारण करने लगता है। उन शुद्ध परिणामोंके साथ ध्यान और तपश्चरण धारण करता है और फिर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अशुभ भावोंका त्याग कर शुभ भाव धारण करना चाहिए और फिर शुद्ध भावोंके धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मोक्षका साधन है और मनुष्य पर्यायका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—को ददाति सुखं दुःखं लीलेयं कस्य मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सुख वा दुःख कौन देता है तथा यह सुख वा दुःख देना किसकी लीला है ?

उत्तर—मोहोद्भवः कर्मरिपुर्हठात्कौ राजानमेवापि करोति रंकम् ।
रंकं तथा राज्यपदान्वितं च करोति मूढं चतुरं क्षणाद्धि ॥३३५॥
श्रीमन्तमेवाप्यपरं दरिद्रं करोत्ययोग्यं सुखिनं सुयोग्यम् ।
लीलास्त्यहो कर्मरिपोर्विचित्रा दृष्टान्यजन्तोश्च किलेदृशी न ॥३३६

अर्थ—मोहसे उत्पन्न हुआ मोहनीय कर्मरूपी शत्रु इस संसारमें हठ पूर्वक राजाको रंक बना देता है, किसी रंकको राज्य सिंहासनपर बिठा देता है, अत्यन्त अज्ञानी और मूर्ख मनुष्यको क्षणभरमें चतुर बना देता है, अन्य किसी अत्यन्त धनी मनुष्यको दरिद्र बना देता है और किसी अयोग्य मनुष्यको सुखी और सुयोग्य बना देता है। यह विचित्र लीला कर्मरूपी शत्रुकी ही है, अन्य किसी जीवकी ऐसी लीला कभी नहीं देखी जाती।

भावार्थ—यद्यपि सुख-दुःख देना वेदनीयकर्मका कार्य है तथापि वेदनीयकर्म मोहनीकर्मके रहते हुए

उत्तर–निर्गर्वता धनाढ्यस्य नीतिर्भूपस्य भूषणम् ।
कुलस्य नम्रता शोभा विदुषामृजुता मता ॥ ३३९ ॥
धनस्य भूषणं दानं साधोः शान्तिश्च भूषणम् ।
अन्धस्य भूषणं विद्या क्षमा वीरस्य भूषणम् ॥ ३४० ॥
भूषणं तपसोऽवांच्छाऽहिंसा धर्मस्य भूषणम् ।
सम्यक्त्वभूषणं जन्तोर्ज्ञानं सम्यक्त्वभूषणम् ॥ ३४१ ॥
ज्ञानस्य भूषणं वृत्तं मोक्षो वृत्तस्य भूषणम् ।
यतन्तां तत्त्वतो ज्ञात्वा पूर्वोक्तधर्मसिद्धये ॥ ३४२ ॥

अर्थ–धनाढ्यकी शोभा अभिमान न करना है, राजाकी शोभा नीतिसे राज्य पालन करना है, कुलकी शोभा नम्रता है, विद्वानोंकी शोभा सरलता है, धनकी शोभा दान देना है, साधुकी शोभा शान्ति है, अन्धेकी शोभा विद्या है, शूरवीरकी शोभा क्षमा धारण करना है, तपश्चरणकी शोभा किसी प्रकारकी इच्छा न करना है, धर्मकी शोभा अहिंसा है, जीवोंकी शोभा सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शनकी शोभा सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी शोभा सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्रकी शोभा मोक्षकी प्राप्ति है। यह सब समझकर भव्य पुरुषोंको अपनी शोभा बढानेके लिए ऊपर लिखे धर्मोंको धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—धन प्राप्त होनेपर अभिमान आ ही जाता है। परन्तु वह अभिमान अन्य लोगोंकी दृष्टिमें सदा खटकता रहता है तथा बहुतसे लोग उस अभिमानको गिरानेके लिए उस धनीको नीचा दिखानेका प्रयत्न करते रहते हैं जिससे उसका सब अभिमान चूर-चूर हो जाता है। यही समझकर

त्याग कर शुभ भावोंकी प्रवृत्ति करने लगता है और धीरे-धीरे शुभ भावोंकी प्रवृत्तिको हटाकर शुद्ध भावोंको धारण करने लगता है। उन शुद्ध परिणामोंके साथ ध्यान और तपश्चरण धारण करता है और फिर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अशुभ भावोंका त्याग कर शुभ भाव धारण करना चाहिए और फिर शुद्ध भावोंके धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मोक्षका साधन है और मनुष्य पर्यायका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—को ददाति सुखं दुःखं लीलेयं कस्य मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सुख वा दुःख कौन देता है तथा यह सुख वा दुःख देना किसकी लीला है ?

उत्तर—मोहोद्भवः कर्मरिपुर्हठात्को राजानमेवापि करोति रंकम् ।
रंकं तथा राज्यपदान्वितं च करोति मूढं चतुरं क्षणाद्धि ॥३३५॥
श्रीमन्तमेवाप्यपरं दरिद्रं करोत्ययोग्यं सुखिनं सुयोग्यम् ।
लीलास्त्यहो कर्मरिपोर्विचित्रा दृष्टान्यजन्तोश्च किलेदृशी न ॥३३६

अर्थ—मोहसे उत्पन्न हुआ मोहनीय कर्मरूपी शत्रु इस संसारमें हठ पूर्वक राजाको रंक बना देता है, किसी रंकको राज्य सिंहासनपर बिठा देता है, अत्यन्त अज्ञानी और मूर्ख मनुष्यको क्षणभरमें चतुर बना देता है, अन्य किसी अत्यन्त धनी मनुष्यको दरिद्र बना देता है और किसी अयोग्य मनुष्यको सुखी और सुयोग्य बना देता है। यह विचित्र लीला कर्मरूपी शत्रुकी ही है, अन्य किसी जीवकी ऐसी लीला कभी नहीं देखी जाती।

भावार्थ—यद्यपि सुख-दुःख देना वेदनीयकर्मका कार्य है तथापि वेदनीयकर्म मोहनीकर्मके रहते हुए

ही सुख दुख दे सकता है। यदि मोहनीयकर्म न हो तो वेदनीयकर्म कुछ नहीं कर सकता इसीलिए सुख दुःख देनेवाला मुख्यतया मोहनीयकर्मको ही माना है। इस संसारमें जितने अशुभ कर्म हैं उन सबमें सबसे प्रबल मोहनीयकर्म ही है इसलिए समस्त अशुभ कर्मोंका राजा मोहनीयकर्म ही है। इस मोहनीयकर्मके प्रबल उदयसे राजा भी रंक हो जाता है और यदि इसी मोहनीयकर्मका मंद उदय हो जाय तो कोई रंक भी राजसिंहासनपर विराजमान हो जाय। रामचन्द्र ऐसे पराक्रमी और त्रिखंडी राजा भी वनमें घूमते फिरे यह अशुभ कर्मकी ही प्रबलता है। इतने पराक्रमी कृष्ण अपने भाईके वाणसे निर्जन वनमें मारे गये यह अशुभ कर्मकी ही प्रबलता है। इसीप्रकार परशुरामको मारनेवाला चक्रवर्ती राजा रंकके समान भोजन करनेके लिए आया था, परन्तु शुभकर्मके प्रबल उदयसे जिस थालमें भोजन परोसा गया था वह थाल ही चक्र बन गया था। कर्मोंकी लीला बडी ही विचित्र है। इन कर्मोंकी ही कृपासे श्रीमती अंजना ऐसी सतीको भी वन-वनमें फिरना पडा और अनेक कष्ट सहने पडे। इन कर्मोंकी ही कृपासे सती सीताको अग्निकुण्डमें प्रवेश करना पडा। अन्य साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है इन कर्मोंकी ही कृपासे भगवान् पार्श्वनाथको भी अनेक प्रकारके उपसर्ग सहन करने पडे। इसीप्रकार शुभ कर्मोंके उदयसे प्रद्युम्नकुमारको अनेक विद्याएं सिद्ध हो गई, शुभ कर्मोंके उदयसे ही लक्ष्मणके अमोघ शक्ति लगनेपर विशल्यादेवी अपने आप आ गई और शुभ कर्मोंके ही उदयसे विभीषण रामचन्द्रसे आ मिला। आज जो मूर्ख कहलाता है वही पुरुष शुभ कर्मके उदय होनेपर चतुर और धनी हो जाता है और अयोग्य पुरुष भी शुभ कर्मके उदयसे सुयोग्य हो जाता है। कहां तक कहा जाय? इन कर्मोंकी लीला वडी विचित्र है। जो कार्य कर्म कर सकते हैं उसको अन्य कोई भी नहीं कर सकता। यही समझकर इन दुष्ट कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे कि मोक्षके अनंत सुखकी प्राप्ति हो जाय। यही भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—लोके कस्य रिपुः कोऽस्ति वद मे शान्तये प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइये कि इस संसारमें कौन किसका शत्रु है ?

उत्तर—मूर्खस्य शत्रुः प्रबलश्च विद्वान् लोकेस्ति भिक्षुः कृपणस्य शत्रुः ।
चौरस्य शत्रुर्नृपतिः सदैवाऽधर्मस्य शत्रुश्च निजात्मधर्मः ॥३३७॥
जारस्त्रियः शीलवती च शत्रुः दुष्टस्य शत्रुः सुजनश्च तिर्यक् ।
स्वर्गस्य मोक्षो नरकस्य शत्रुः पूर्वोक्तरीतिश्च निसर्गतोस्ति ॥३३८॥

अर्थ—इस संसारमें मूर्ख मनुष्योंका शत्रु प्रबल विद्वान् होता है, कृपण मनुष्योंका शत्रु भिक्षुक होता है, चोरोंका शत्रु राजा होता है, अधर्मका शत्रु आत्माका स्वभाव होता है, व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी शत्रु शीलवती स्त्रियां होती हैं, दुष्टोंका शत्रु सज्जन होता है, स्वर्गका शत्रु तिर्यंच है और नरकका शत्रु मोक्ष है। ये सब परस्पर एक दूसरेके स्वाभाविक शत्रु होते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें बहुतसी शत्रुता तो किसी कर्तव्यसे बन जाती है, जैसे कोई पुरुष अपने स्वार्थके लिए किसीका धन दबा लेना चाहता है वा किसीकी भूमि दबा लेना चाहता है तो उस अवस्थामें वह धनी वा उस भूमिका स्वामी उस स्वार्थीका शत्रु बन जाता है। यह कृत्रिम शत्रुता है। यदि वह स्वार्थी उस धनीका धन न दबाता वा भूमि न दबाता तो उस स्वामीको उसके साथ शत्रुता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि परस्परके मित्र भी वा भाई भी वा पिता पुत्र भी अपने अपने स्वार्थके कारण परस्पर शत्रु बन जाते हैं परंतु यह सब शत्रुता किसी विशेष कारणसे बन जाती है। स्वाभाविक नहीं है। जिस प्रकार स्वाभाविक शत्रुता चूहे बिल्लीकी होती है वा भेड भेडियाकी होती है उसी प्रकार मूर्ख और विद्वान्‌की स्वाभाविक शत्रुता होती है। मूर्ख पुरुष अज्ञानी होनेके कारण ठीक

मार्गसे नहीं चल सकता परंतु विद्वान् पुरुष ठीक मार्गको ढूंढ निकालता है और फिर उसीके अनुसार चलता है। यही उन दोनोंकी शत्रुताका कारण है। भिक्षुक अपने पेटके लिए कुछ मांगना चाहता है और कृपण पुरुष एक कौडी भी देना नहीं चाहता, बस यही दोनोंकी शत्रुताका कारण होता है। चोर चोरी करके प्रजाको दुःखी करना चाहता है और राजा प्रजाका दुःख सहन नहीं कर सकता, इसलिए वह चोरको पकडकर उसे दंड देता है। यही उन दोनोंकी शत्रुताका कारण है। संसारमें जितने पाप हैं वे सब अधर्मसे होते हैं तथा आत्माके स्वभावसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं इसीलिए धर्म और अधर्मकी शत्रुता है। व्यभिचारिणी स्त्रियां अधर्म करती हैं और शीलवती स्त्रियां अपने पातिव्रत धर्मपर दृढ रहती हैं इसी धर्म अधर्मके कारण उन दोनोंमें शत्रुता बनी रहती है। दुष्ट पुरुष सदाकाल अपनी दुष्टता करता रहता है और सज्जन पुरुष अपनी सज्जनताको सदा काल स्थिर रखते हैं। इस दुष्टता और सज्जनताके कारण ही दोनोंमें शत्रुता बनी रहती है। स्वर्गमें सुख ही सुख है और तिर्यंच योनिमें दुःख ही दुःख हैं। स्वर्गके कारण पुण्यकार्य हैं और तिर्यंच योनिके कारण पापकार्य हैं। यही इन दोनोंकी परस्पर विरुद्धताका कारण है। नरककी प्राप्ति तीव्र पापकर्मोंसे होती है और मोक्षकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके नाश होनेसे होती है। इसीलिए दोनोंमें तीव्र विरोध है। इस प्रकार इनमें जो विरोध वा शत्रुता है वह सकारण है और फिर भी स्वाभाविक है। यही समझकर मूर्खता, कृपणता आदि दोषोंका त्याग कर देना चाहिए और विद्वत्ता उदारता सज्जनता आदि श्रेष्ठ गुणोंको धारण करना चाहिए। यही भव्यजीवोंका कर्तव्य है।

प्रश्न—कस्य स्यात्कीदृशी शोभा कल्याणाय गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब मेरे कल्याणके लिए कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किसकी शोभा किस किससे होती है।

उत्तर–निर्गर्वता धनाढ्यस्य नीतिर्भूपस्य भूषणम् ।
कुलस्य नम्रता शोभा विदुषामृजुता मता ॥ ३३९ ॥
धनस्य भूषणं दानं साधोः शान्तिश्च भूषणम् ।
अन्धस्य भूषणं विद्या क्षमा वीरस्य भूषणम् ॥ ३४० ॥
भूषणं तपसोऽवांच्छाऽहिंसा धर्मस्य भूषणम् ।
सम्यक्त्वभूषणं जन्तोर्ज्ञानं सम्यक्त्वभूषणम् ॥ ३४१ ॥
ज्ञानस्य भूषणं वृत्तं मोक्षो वृत्तस्य भूषणम् ।
यतन्तां तत्त्वतो ज्ञात्वा पूर्वोक्तधर्मसिद्धये ॥ ३४२ ॥

अर्थ–धनाढ्यकी शोभा अभिमान न करना है, राजाकी शोभा नीतिसे राज्य पालन करना है, कुलकी शोभा नम्रता है, विद्वानोंकी शोभा सरलता है, धनकी शोभा दान देना है, साधुकी शोभा शान्ति है, अन्धेकी शोभा विद्या है, शूरवीरकी शोभा क्षमा धारण करना है, तपश्चरणकी शोभा किसी प्रकारकी इच्छा न करना है, धर्मकी शोभा अहिंसा है, जीवोंकी शोभा सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शनकी शोभा सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी शोभा सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्रकी शोभा मोक्षकी प्राप्ति है। यह सब समझकर भव्य पुरुषोंको अपनी शोभा बढानेके लिए ऊपर लिखे धर्मोंको धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—धन प्राप्त होनेपर अभिमान आ ही जाता है। परन्तु वह अभिमान अन्य लोगोंकी दृष्टिमें सदा खटकता रहता है तथा बहुतसे लोग उस अभिमानको गिरानेके लिए उस धनीको नीचा दिखानेका प्रयत्न करते रहते हैं जिससे उसका सब अभिमान चूर-चूर हो जाता है। यही समझकर

प्रत्येक धनी पुरुषको अपने अभिमानका त्याग कर देना चाहिए। धन पाकरके अभिमान न करना ही उस धनकी शोभा है। इसीप्रकार नीति और न्याय पूर्वक प्रजाका पालन करना राजाकी शोभा है। जो राजा नीति पूर्वक वा न्याय पूर्वक प्रजाका पालन नहीं करता, वह बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है। अन्याय और अनीतिके कारण उसकी प्रजा उससे असन्तुष्ट हो जाती है और उपद्रव मचाकर उसे राज्य सिंहासनसे उतार देता हैं। अथवा प्रजाको राजाका विरोधी समझ कर कोई शत्रु राजा उसको घेर लेता है और युद्धमें उसको मारकर वा पकडकर उस राज्यपर अपना अधिकार जमा लेता है। यही समझ कर प्रत्येक राजाको न्याय और नीतिसे ही राज्यका पालन करते रहना चाहिए। इसीमें राजाकी शोभा है। कुलकी शोभा नम्रता है, जो पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होता है वह नम्र ही होता है। जिस-प्रकार फल लगनेपर वृक्ष नम्र हो जाते हैं उसीप्रकार उत्तम कुलके मनुष्य सदा नम्र ही बने रहते हैं। इसीप्रकार विद्वानोंकी शोभा सरलतासे है। जो विद्वान् विद्वान् होकर भी मायाचारी करता है उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और इसीलिए वह यथार्थ विद्वान् नहीं कहला सकता। विद्याका फल ही सरलता है। इसीलिए विद्वान्की शोभा सरलता है। धनकी शोभा दान देनेसे होती है। दानसे कीर्ति बढता है, दान देनेसे शत्रु भी अपने आधीन हो जाता है, तथा संसारके समस्त कार्य दान देनेसे सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग धन पाकर भी दान नहीं देते उनका धन ईंट पत्थरोंके समान यों ही व्यर्थ पडा रहता है और अन्तमें वह दूसरोंका हो जाता है। इसलिए धन पाकरके दान देकर अपनी कीर्ति और शोभा अवश्य बढा लेनी चाहिए। साधु पुरुषोंकी शोभा शान्ति है। जो पुरुष साधु होकर भी अपने क्रोधादिक कषायोंको तीव्र रखता है वह पुरुष साधारण गृहस्थोंसे भी बुरा समझा जाता है। आत्माका कल्याण शान्तिसे ही हो सकता है तथा आत्माका कल्याण करनेके लिए ही साधु अवस्था धारण की जाता है। इसलिए साधु महात्माओंको क्रोधादिक कषायोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और

शान्ति धारण कर आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए। इसीमें उनकी शोभा है। अन्धा पुरुष अशोभन हो जाता है। परन्तु यदि वह विद्वान है तो वह अशोभनता भी उसका आभूषण कहलाता है। इसीप्रकार शूर-वीर पुरुषोंकी शोभा क्षमा है शूर-वीर पुरुष बिना कारण युद्ध नहीं करते। यदि कारणवश उन्हें युद्ध करना पडता है तो वे शत्रुको जीतकर उसे पकड लेते हैं और फिर उसको अपने आधीन कर उसको क्षमा कर देते हैं, उसका राज्य लौटा देते हैं और उसको उसके राज्यसिंहासनपर बिठा देते हैं, इसीमें उनकी शोभा और कीर्ति बढती है। तपश्चरणकी शोभा इच्छाओंका नाश होना है। जिन पुरुषोंकी लालसाएं नष्ट नहीं होती उनका तपश्चरण करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि इच्छाओंको रोक लेना ही तपश्चरण कहलाता है। यदि तपस्वी होकर भी इच्छाओंका अभाव न हुआ तो वह तपस्वी अनेक प्रकारके पापोंको उत्पन्न करता रहता है, परंतु तपश्चरण पापोंका नाश करनेके लिए धारण किया जाता है। इसलिए इच्छाओंका नाश कर लेना ही तपश्चरणकी शोभा है। धर्मकी शोभा अहिंसा है। इस संसारमें सबसे बडा पाप हिंसा है। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अन्य सब पाप हिंसाके अंतर्गत हैं, क्योंकि झूठ चोरी आदि सबमें हिंसा होती है। इस प्रकार हिंसा करना महापापमय कहलाती है यदि वही हिंसा किसी धर्मके नामपर की जाय तो उसके समान अन्य कोई भी घोर और वज्र पाप नहीं हो सकता। इसलिए धर्मकी शोभा अहिंसासे ही होती है। इसी प्रकार जीवकी शोभा सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन आत्माका ही एक गुण है जो अनादिकालसे कर्मोंसे ढक रहा है। उस सम्यग्दर्शनरूप गुणको ढकनेवाले मोहनीयकर्मको नष्ट कर उस गुणको प्रगट कर लेना इस जीवके लिए शोभाका परम स्थान हो जाता है। विना सम्यग्दर्शनके यह जीव अपने स्वरूपको भी नहीं जान सकता और अंधेरेमें पडे रहनेके समान चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है। इसलिए अपनी शोभा बढानेके लिए और अपना गौरव प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका

प्रयत्न करते रहना चाहिए तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर सम्यग्ज्ञानको बढानेका प्रयत्न करना चाहिए और सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि कर सम्यक्चारित्रको बढाना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं। मोक्ष प्राप्त कर लेना ही इनकी शोभा है और यही जीवका सर्वोत्कृष्ट परम कर्तव्य है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको रत्नत्रय धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेनेका सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए, यही भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न–वर्द्धते साधुतादिः कौ कस्य संगेन मे वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें साधुता वा दुष्टता आदि गुण वा अवगुण किस-किसकी संगतिसे बढते हैं ?

उत्तर–दुष्टता दुष्टसंगाद्धि नीचता नीचसंगतः।
पापिता पापिसंगाच्च क्रूरता क्रूरसंगतः॥ ३४३ ॥

साधुता साधुसंगात् स्याद्दातृत्वं दानिसंगतः।
वक्तृता वक्तृसंगाच्च ध्यानिता ध्यानिसंगतः॥ ३४४ ॥
वीरता वीरसंगाद्धि धीरता धीरसंगतः।
यथार्हन्नामसंस्काराच्छिलापि देवतायते॥ ३४५ ॥
संसर्गाज्जायते किं किं न वेद्मि भुवनत्रये।
ज्ञात्वेति योग्यसंगश्च कार्यो मोक्षार्थिभिस्ततः॥ ३४६ ॥

अर्थ–इस संसारमें दुष्टता दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें बैठनेसे आ जाती है, नीचता नीच लोगोंकी

संगतिमें बैठनेसे आ जाती है, पापीपना पापी लोगोंके संसर्गसे आ जाता है, क्रूरता क्रूर लोगोंकी संगतिसे आ जाती है, साधुपना साधुओंकी संगतिसे आता है, दानीपना दानियोंके संगसे आ जाता है, वक्तृता वक्ताओंकी संगतिसे आती है, ध्यानकी प्राप्ति ध्यान करनेवालोंकी संगतिसे होती है, वीरता वीर पुरुषोंकी संगतिसे आती है और धीरता धीर-वीर पुरुषोंकी संगतिसे आती है। जिस प्रकार किसी पाषाणकी मूर्ति बनाकर उसका नाम किसी भी अरहंतके नामपर रख दिया जाता है और फिर उसपर अरहंतदेवके सब संस्कार कर दिए जाते हैं तब वह पाषाणकी मूर्ति ही देव बन जाती है। उसी प्रकार संस्कार वा संसर्गसे समस्त गुण आ जाते हैं और समस्त अवगुण आ जाते हैं। इन तीनों लोकोंमें संसर्गके कारण क्या-क्या गुण वा अवगुण प्राप्त होते हैं इस बातको हम लोग भी नहीं जान सकते। यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यजीवोंको नीच और दुष्ट संगतियोंका त्याग कर देना चाहिए और धीर-वीर साधु पुरुषोंकी संगति करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—जो पुरुष जुआरियोंकी संगतिमें बैठता है वह जुआरी अवश्य हो जाता है, जो चोरोंकी संगतिमें बैठता है वह चोर हो जाता है, जो शिकारियोंकी संगतिमें बैठता है वह शिकारी बन जाता है, जो मायाचारियोंकी संगतिमें बैठता है वह मायाचारी हो जाता है, जो हिंसकोंकी वा घातकोंकी संगतिमें बैठता है वह हिंसक वा घातक हो जाता है। जो क्रूर बधिकोंकी संगतिमें रहता है वह क्रूर वा बधिक बन जाता है। जो पुरुष प्रति दिन साधुओंकी सेवा-सुश्रषा करता है उसके परिणाम अवश्य शान्त हो जाते हैं। साधुओंके समीप रहनेसे वह साधुओं ऐसी क्रियाएं करने लगता है, वह धीरे धीरे पापोंका त्याग कर देता है और पुण्य कार्योंको बढाता रहता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे साधु बन जाता है। इसी प्रकार दानी पुरुषके पास रहनेसे उसमें उदारता आ जाती है। दानके गुण और लाभ उसके हृदयमें समा जाते हैं और फिर वह स्वयं भी दान देनेके लिए तत्पर हो जाता है और अच्छा

दानी बन जाता है। उत्तम भाषण देनेवाले वक्ता लोगोंकी संगति करनेसे यह चतुर पुरुष भाषण देनेकी शैली, उसके नियम, उपनियम, उदाहरण, युक्तियां भाषाका चढाव, उतार, वाक्यरचना, क्रियाकारक-संबंध, वर्णन करनेकी क्षमता वा दक्षता आदि सब गुणोंको सीख लेता है तथा भाषण सुनते-सुनते वह वैसे ही शब्द कहने लगता है, वैसी ही युक्तियां देने लगता है वैसे ही उदाहरण देने लगता है और वही शैली सीख लेता है। इस प्रकार वह थोडे ही दिनोंमें एक अच्छा वक्ता बन जाता है। इसीप्रकार ध्यान करनेवाले मुनिराजोंकी सेवा सुश्रूषा करनेसे वा उनके समीप रहनेसे ध्यानके आसन समझ लेता है, शरीर किस प्रकार निश्चल रक्खा जाता है और ध्यानमें क्या-क्या क्रियाएं करनी पडती हैं यह सब जान लेता है। तदनंतर वह समयानुसार ध्यान करनेकी रीति, ध्यानके विषय, मनको एकाग्र करनेके साधन आदि ध्यानके समस्त विषयोंको पूछ-पूछकर जान लेता है। तदनंतर वह उनके साथ ध्यान करने लगता है और धीर पुरुषोंके साथ रहकर धीरता धारण कर लेता है और ध्यानी बन जाता है। इसी प्रकार यह मनुष्य वीर पुरुषोंके साथ रहकर धीरता धारण कर लेता है। यह सब संसर्ग और संस्कारोंका फल है। जिस प्रकार किसी खानिमेंसे नियमानुसार पत्थर निकालते हैं, नियमानुसार उसकी मूर्ति बनाते हैं और फिर उसमें देवमें होनेवाले सब संस्कार करते हैं। यद्यपि वह खानिसे निकला पत्थर देव नहीं था मूर्ति बननेपर भी वह देव नहीं था, किंतु उसपर देवके संस्कार हो जानेसे वह देव हो जाता है और देवके समान ही पूज्य माना जाता है। जिस प्रकार खानिमेंसे निकला हुआ हीरा अंगूठीमें जडने योग्य नहीं होता और न उतना मूल्यवान होता है किंतु शाणपर रखकर जब उसका संस्कार किया जाता है तब वह बहुत अधिक मूल्यवान हो जाता है और अंगूठीमें जडने योग्य हो जाता है। यदि मिट्टीके घडेका अग्नि संस्कार न किया जाय तो उससे जल धारण (उसमें जल भरना) आदि कोई भी क्रिया नहीं कर सकते। अग्नि संस्कारके होनेपर ही उससे जलधारण आदि क्रिया हो सकती है। इस संसारमें

संस्कारोंका वा संसर्गका अपूर्व माहात्म्य है। यही समझकर प्रत्येक भव्य जीवको अपना योग्य संसर्ग रखना चाहिए और योग्य संस्कारपूर्वक रहना चाहिए, जिससे कि यह जीव आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको धारण कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर ले।

प्रश्न–धर्मैर्बिना धनं जीवाः लभन्ते मे न वा प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि ये जीव विना धर्मके धन प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ?

उत्तर–वृष्टिर्न दृष्टास्ति विना हि मेघैर्वृक्षो न दृष्टश्च विना सुबीजैः।
छाया न दृष्टास्ति बिना सुछत्रैः पुत्रो न दृष्टो जनकैर्विना हि॥३४७॥
न जन्म दृष्टं मरणैर्विना च कीर्तिर्न दृष्टा वरविद्यया कौ।
शान्तिर्न दृष्टास्ति बिना विवेकैर्दीपो न दृष्टश्च विना सुतैलैः॥३४८॥
दिनं न दृष्टं रविणा विना हि, ज्योत्स्ना न दृष्टा शशिना विना च।
स्वात्मानुभूत्या हि विना न मोक्षः तथा धनं नैव विना सुधर्मैः॥३४९॥

अर्थ—इस संसारमें बिना बादलोंके वर्षा नहीं होती, विना अच्छे बीजके वृक्ष नहीं होता, विना छत्रके छाया नहीं होती, विना पिताके पुत्र नहीं होता, विना मरणके जन्म नहीं होता, विना श्रेष्ठ विद्याके कीर्ति नहीं होती, विना विवेकके शान्ति नहीं होती, विना तेलके दीपक नहीं जलता, विना सूर्यके दिन नहीं होता, विना चन्द्रमाके चांदनी नहीं होती और विना स्वात्मानुभवके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार विना श्रेष्ठ धर्मके धनकी प्राप्ति भी कभी नहीं होती।

भावार्थ—धनकी प्राप्ति पुण्यकर्मके उदयसे होती है। विना पुण्यकर्मके उदयके धनकी प्राप्ति कभी

नहीं होती तथा पुण्यकी प्राप्ति श्रेष्ठ धर्म धारण करनेसे होती है। बिना धर्मके आज तक कभी किसी को पुण्यकी प्राप्ति न हुई है और न कभी हो सकती है। इस बातको सब लोग जानते हैं दान देनेसे धन मिलता है अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे धनकी प्राप्ति होती है। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना और पात्र दान देना ये दोनों ही कार्य गृहस्थोंके लिए सर्वोत्तम धार्मिक कार्य हैं। ये ही पुण्यके साधन हैं और ये ही धन वा लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण, हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो पात्रदान और जिन पूजन इन दोनों ही कार्योंमें अभिरुचि होना सम्यग्दर्शनका कार्य हैं तथा सम्यक् दर्शनके समान अन्य कोई कार्य पुण्य उपार्जन करनेवाला नहीं है इसीलिए जिस प्रकार मेघोंके होनेपर ही वर्षा होती है, बीजके होनेपर ही वृक्ष होते हैं छत्रके होनेपर छाया अवश्य होती है. पिता कहलाने पर पुत्र अवश्य होता है, मरनेके अनन्तर इस जीवका जन्म अवश्य होता है, श्रेष्ठ विद्यासे कीर्ति अवश्य फैलती है, विवेक होनेपर शान्ति अवश्य होती है, तेल होनेपर दीपक अवश्य जलता है, सूर्यके होनेपर दिन अवश्य कहलाता है, चन्द्रमाके होनेपर चांदनी अवश्य होती है और स्वात्मानुभूतिके होनेपर मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है उसी प्रकार पात्रदान वा जिनपूजन आदि धर्मके धारण करनेसे धनकी प्राप्ति अवश्य होती है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको धनादिक सुखकी सामग्री प्राप्त करनेके लिए धर्मको अवश्य धारण करना चाहिए।

प्रश्न—ब्राह्मणादिचतुर्वर्णचिन्हं मे वद कीदृशम् ?

अर्थ—अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णोंके क्या-क्या चिन्ह हैं ?

उत्तर—स ब्राह्मणो ब्रह्म च यः सुवेत्ति, ब्रवीति वा धर्मविधिं जनाय।
क्षात्रः प्रजानां सुखदः स एव, यः कर्मशत्रुं जयति स्वशक्त्या॥३५०॥

स एव वैश्योपि मनःकृतिं यः, पुण्यं सदा तोलयतीति पापम् ।
धर्माय द्रव्याय सदेति निंद्यां, त्रिवर्गसेवां कुरुते स शूद्रः ॥३५१॥

अर्थ—जो पुरुष ब्रह्म वा आत्माके शुद्ध स्वरूपको अच्छी तरह जानता है उसको ब्राह्मण कहते हैं अथवा जो भव्य श्रावकोंके लिए धर्म विधिका निरूपण करता है उनको ब्राह्मण कहते हैं। जो प्रजाको सुख दे उसको क्षत्रिय कहते हैं अथवा जो अपनी आत्मशक्तिके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको जीत ले उसको क्षत्रिय कहते हैं। जो अपने मनके परिणामोंको वा पुण्य पापको सदाकाल तोलता रहे उसको वैश्य कहते हैं और जो धर्मके लिए वा द्रव्य उपार्जनके लिए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवा करता रहे उसको शूद्र कहते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें कर्मभूमिमें अनादिकालसे क्षत्रिय, वैश्य शूद्र ये तीन वर्ण चले आते हैं विदेह क्षेत्रकी कर्मभूमिमें भी सदाकाल तीन ही वर्ण रहते हैं। इस हुंडावसर्पिणी कालमें जब भोगभूमिकासा समय व्यतीत होकर कर्मभूमि प्रारंभ हुई थी तब भगवान् ऋषभदेवने विदेहक्षेत्रके समान यहां भी तीन ही वर्ण स्थापन किये थे, परंतु उनके दीक्षा ले जानेपर उनके पुत्र भरत चक्रवर्तीने जब छहों खंड जीत लिए थे तब अपने अपार धनको दान देनेकी उनकी इच्छा हुई थी। उस समय क्षत्रिय वर्णमेंसे जो व्रती श्रावक थे उनकी परीक्षा करके उनको ब्राह्मण वर्णकी दीक्षा दी थी, अर्थात् यह ब्राह्मण वर्ण महाराज भरतने बनाया था। इस संसारमें दान लेनेयोग्य सुयोग्य पात्र ही होते हैं उन पात्रोंके तीन भेद होते हैं समस्त पापोंको त्याग करनेवाले तथा पांच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति आदि पूर्ण चारित्रको पालन करनेवाले मुनिराज उत्तम पात्र कहलाते हैं। इन मुनिराजोंमें भी आचार्य उपाध्याय साधुके भेदसे तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदि श्रावकोंके व्रतोंके पालन करनेवाले व्रती श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं। इन मध्यम पात्रोंमें जो विशेष व्रती होते हैं, जिनको दान देने

योग्य समझकर भरतने ब्राह्मण संज्ञा दी थी, जो यजन याजन करनेका ही मुख्य काम करते हैं, धर्मविधि कराना जिनका मुख्य कर्तव्य है, सिवाय इसके जिनकी और कोई जीविका नहीं है उनको ब्राह्मण कहते हैं। ये ब्राह्मण मध्यम पात्र ही कहलाते हैं तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र कहलाते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणोंका लक्षण बतलाया है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्म शब्दसे बना है। ब्रह्म शब्दका अर्थ आत्मा है, जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाने उसको ब्राह्मण कहते हैं। जो अपने आत्माके स्वरूपको जान लेता है, वह अपने आत्माका कल्याण भी शीघ्र ही कर लेता है। जिस प्रकार भगवान अरहंतदेव अपने आत्माका कल्याण कर लेनेके कारण पूज्य कहलाते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण भी अपने आत्माके कल्याणमें लगे रहते हैं तथा अन्य श्रावकोंको आत्मकल्याणमें लगाते रहते हैं इसीलिए वे ब्राह्मण भी मान्य और पूज्य कहलाते हैं। इसी प्रकार जो प्रजाकी रक्षा करते रहते हैं, प्रजाको सुख पहुंचाते हैं, सब प्रकारके उपद्रवोंसे प्रजाकी रक्षा करते रहते हैं, परराष्ट्रसे प्रजाकी रक्षा करते रहते हैं और अपने प्रजाके व्यापार आदिको बढाते रहते हैं उनको क्षत्रिय कहते हैं। अथवा जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उनको भी यथार्थ क्षत्रिय कहते हैं। वास्तवमें क्षत्रियका अर्थ शूर वीर होता है और शूर वीर वही कहलाता है जो सबसे प्रबल कर्म-शत्रुओंको जीत ले अर्थात् कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर ले। योद्धाओंको जीतनेवाले तो बहुत मिलते हैं परन्तु कर्मोंको जीतनेवाले बहुत थोडे मिलते हैं इसलिए कर्मोंको जीतनेवाले ही यथार्थ क्षत्रिय कहलाते हैं। इसीप्रकार जो पुण्य पापको सदाकाल तोलता रहे कभी पापका बोझ अधिक न होने दे अथवा जो मनके परिणामोंको सदा तोलता रहे, अशुभ परिणाम न होने दे, शुभ परिणाममें ही सदाकाल अपनी प्रवृत्ति रक्खे उसको वैश्य कहते हैं। जिसप्रकार वैश्य अपना हिसाब बराबर रखता है उसमें घाटा नहीं होने देता उसीप्रकार जो अपने मन वचन कायसे पाप कार्योंको नहीं होने देता, सदा पुण्य कार्यमें ही लगा रहता है उसको वैश्य कहते हैं।

इसीप्रकार जो धर्मके लिए ब्रह्मणादिकोंकी सेवा करते हैं तथा जीविकाके लिए भी क्षत्रिय वैश्योंकी सेवा करता रहता है। सेवा करना ही जिसकी मुख्य जीविका है उसको शूद्र कहते हैं।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि ये वर्ण जीविकाके हिसाबसे निर्माण होते हैं तथा जातियां अनादि कालसे चली आती है। विवाह सम्बन्ध अपनी-अपनी जातिमें होता है और जीविका वर्णानुसार होती है। वर्णके साथ विवाहका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय महाराज भरतने क्षत्रियोंमेंसे ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की थी उससे पहले जाति व्यवस्था नियत थी। ब्राह्मण वर्णकी स्थापना करते समय व्रतित्वका ही ध्यान रक्खा गया था जो क्षत्रिय अहिंसा व्रतको धारण करनेवाले व्रती थे उनको ही ब्राह्मण संज्ञा दी थी। उसमें जातियोंका कोई ध्यान नहीं रक्खा गया था। इसलिए उन ब्राह्मणोंमें क्षत्रियोंकी कितनी ही जातियां आ गई थीं तथा उन्हीं जातियोंका शेष भाग क्षत्रिय वर्णमें ही बना रहा था। इसप्रकार एक ही जातिके लोग ब्राह्मण वर्णमें भी आ गये थे और क्षत्रियवर्णमें भी बने रहे थे तथा एक ही जाति होनेके कारण उन दोनों वर्णोंमें विवाह सम्बन्ध बना रहा था। इसीप्रकार जब भगवान वृषभदेवने वर्ण व्यवस्था नियत की थी-तब अनादि कालसे चले आये एक-एक जातिके लोगोंमेंसे कुछ भाग वैश्य वर्णमें रह गया था और कुछ भाग क्षत्रिय वर्णमें जा मिला था तथा एक ही जाति होनेके कारण उन दोनोंमें विवाह सम्बन्ध बना रहा था। इसप्रकार जाति व्यवस्था भिन्न है और वर्ण व्यवस्था भिन्न है। विवाहादिक जाति व्यवस्थाके आधीन है और जीविका वर्ण व्यवस्थाके आधीन है।

प्रश्न—अन्तर्विशुद्धिहीनाश्च जना मे वद कीदृशाः ?

अर्थ—अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो लोग अन्तरंग विशुद्धिको धारण नहीं करते वे कैसे हैं ?

उत्तर—अन्तर्विशुद्धिः खलु यस्य बाह्या शुद्धिर्भवेत् सौख्यकरा यथार्था ।
अन्तर्विशुद्धिः प्रथमं च कार्या स्याद्बाह्यशुद्धिश्च यथाक्रमेण ॥३५२॥
ये केपि मूढा गमयन्ति कालं अन्तर्विशुद्धया हि विना वराकाः ।
वृथैव तेषां च भवेद्विचारः क्रिया कलापो विफलं नृजन्म ॥३५३॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तरंग शुद्धिको धारण कर लेता है उसके सुख देनेवाली और यथार्थ बाह्य विशुद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अन्तरंग विशुद्धि धारण करनी चाहिए जिससे यथाक्रमसे बाह्य विशुद्धि भी पूर्ण हो जाय जो मूर्ख और नीच मनुष्य अपने अन्तरंगको बिना विशुद्ध किये अपना समय व्यतीत कर देते हैं उनके सब विचार व्यर्थ हो जाते हैं, उनकी सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं और उनका मनुष्य जन्म निष्फल हो जाता है।

भावार्थ—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि विकारोंका त्याग कर देना अन्तरंग शुद्धि कहलाती है तथा शरीरको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, क्षेत्रको शुद्ध रखना, द्रव्यको शुद्ध रखना आदि बाह्य शुद्धि कहलाती है। इनमेंसे अन्तरंग शुद्धिके होनेपर बाह्य शुद्धि अवश्य होती है परन्तु बाह्य शुद्धिके होते हुए अन्तरंग शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अन्तरंग शुद्धि धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। अन्तरंग शुद्धिको धारण करनेसे आत्मा पवित्र होता है, आत्माके पवित्र होनेसे अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता, केवल शुभ कर्मोंका बंध होता रहता है तथा कषायोंकी तीव्रता न होनेसे उस बंधकी स्थिति भी बहुत कम पडती है। इसप्रकार अन्तरंग शुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषके कर्मोंका समुदाय बहुत कम रह जाता है तथा उस बचे हुए कर्मोंके समुदायको भी वह पुरुष अपने ध्यान तपश्चरणके द्वारा बहुत शीघ्र नष्ट

कर देता है और इसप्रकार वह बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अन्तरंग शुद्धि धारण करनी चाहिए। काम क्रोधादिक समस्त विकारोंका त्याग कर आत्माको शुद्ध और पवित्र बना लेना चाहिए। ऐसा करनेसे ही मनुष्य जन्म सफल होता है, समस्त क्रियाएं सफल होती हैं और शुभ परिणाम भी सफल होते हैं। जो लोग अन्तरंगमें तो तीव्र कषाय रखते हैं परन्तु दूसरोंको ठगनेके लिए ऊपरसे कषायोंका अभाव दिखलाते हैं वे लोग दूसरोंको जितना ठगते हैं उससे बहुत अधिक अपने आत्माको ठगते हैं। क्योंकि तीव्र कषाय होते हुए भी अपने आत्मामें कषायोंका अभाव दिखलाना तीव्र मायाचारी है और उस तीव्र मायाचारीका फल निगोदमें जा पडना है। अतएव मायाचारीमें न पडकर यथार्थ दृष्टिसे अपने कषायोंका त्याग कर देना प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है, और यही मोक्षका साधन है।

प्रश्न–बाह्यान्तःशुद्धिचिन्हं किं वद मे शर्मद प्रभो ?

अर्थ–हे कल्याण करनेवाले भगवन्! अब कृपाकर बाह्य शुद्धि और अंतरंग शुद्धिका लक्षण बतलाइए ?

उत्तर–त्यागेन कोपादिचतुष्टयानां मिथ्यात्वहास्यादिविमोहकानाम्।
अन्तर्विशुद्धिः सुखदा सदैव क्षेत्रादिवास्तुत्यजनेन बाह्या ॥५४॥

अर्थ– क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद और मोह आदि कषाय नो कषायोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे सुख देनेवाली अंतरंग शुद्धि होती है तथा खेत, मकान, सोना, चांदी आदि बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग कर देनेसे बाह्य शुद्धि होती है।

भावार्थ—चौदह प्रकारके अंतरंग परिग्रहोंका त्याग कर देना अंतरंग शुद्धि है और दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका त्याग कर देना बाह्य शुद्धि कहलाती है। इस संसारमें जितने पाप होते हैं वे सब इन परिग्रहोंसे ही होते हैं। जो मनुष्य इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसका आत्मा भी पवित्र हो जाता है और शरीर भी पवित्र हो जाता है। दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे आगामी कालमें आनेवाले कर्म सब रुक जाते हैं और शेष कर्म ध्यानादिकके द्वारा नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अंतरंग और बाह्य शुद्धिको धारण करनेवाला पुरुष शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको दोनों प्रकारकी शुद्धियां धारणकर शीघ्र ही अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए। यही मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका मुख्य फल है।

प्रश्न—कोऽधर्मो वास्ति तद्धारी वद मे सिद्धये विभो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब मेरा कल्याण करनेके लिए अधर्मका स्वरूप कहिए और अधर्मको धारण करनेवालेका स्वरूप कहिए ?

उत्तर—त्यक्त्वा स्वधर्मं परधर्ममेव गृह्णाति यः कोपि विवेकशून्यः।
स एव लोके चतुरोपि मूर्खो धीरोपि भीरुः परमार्थदृष्ट्या ॥३५५॥
दुःखप्रदः क्रोधचतुष्टयः को प्रोक्तः प्रमोहः परधर्म एव।
समस्तसंतापविकारहेतुः ज्ञात्वेति न स्यात्परधर्मधारी ।३५६।

अर्थ—जो कोई विवेक रहित मनुष्य अपने आत्माके यथार्थ धर्म वा स्वभावको छोडकर पुद्गलादिक परपदार्थोंके धर्मको स्वीकार कर लेता है वह पुरुष इस संसारमें परमार्थ दृष्टिसे चतुर होकर भी मूर्ख कहलाता है अथवा धीर-वीर होकर भी भयभीत वा डरपोक कहलाता है। इस संसारमें सब प्रकारके

दुःख देनेवाले सब प्रकारके संताप तथा विकार उत्पन्न करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह परधम कहलाते हैं। इस प्रकार परधर्मका स्वरूप समझ कर परधर्मको कभी धारण नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—जीवके दो भेद हैं, एक संसारी और दूसरा मुक्त। जो अपने-अपने कर्मोंके उदयसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाला जीव है उसको संसारी जीव कहते हैं तथा जो जीव अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माको अत्यन्त शुद्ध बनाकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है उसको मुक्त जीव कहते हैं। मुक्त जीवका स्वभाव आत्माका निज स्वभाव निजधर्म कहलाता है और संसारी जीवोंका स्वभाव-विभाव वा आत्माका परधम कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि जो स्वभाव विना किसी दूसरेके निमित्तके केवल आत्माके शुद्ध स्वरूपसे उत्पन्न होता है उसको ही स्वभाव कहते हैं तथा जो भाव दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे आत्माके अशुद्ध स्वरूपमें उत्पन्न होता है उसको विभाव वा परधर्म कहते हैं। जैसे स्फटिककी जो सफेद आभा दिखलाई पडती है वह उसकी निजकी आभा है परन्तु यदि उस स्फटिकके पीछे लाल रंगका कोई पदार्थ रख देते हैं तो उस स्फटिककी आभा लाल दिखलाई पडती है। यदि उस स्फटिकके पीछे पीले रंगका कोई पदार्थ रख देते हैं तो उस स्फटिककी आभा पीली दिखाई देने लगती है। इस प्रकार उस स्फटिककी जो लाल व पीली आभा है वह स्फटिककी आभा नहीं है किंतु उस स्फटिकसे सर्वथा भिन्न ऐसे उस लाल वा पीले पदार्थकी आभा है इसलिए वह आभा दूसरेकी आभा कहलाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्माका स्वभाव स्वभाव वा स्वधर्म कहलाता है और अशुद्ध आत्माका स्वभाव विभाव वा परधर्म कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि अशुद्ध आत्माका स्वभाव क्रोध मान माया लोभ मोह काम आदि विकार कहलाते हैं और वे सब विकार कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं। जिस आत्मामें कर्मोंका उदय नहीं होता उस आत्मामें क्रोधादिक विकार कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। क्रोधादिक विकार जब उत्पन्न होंगे तब कर्मोंके उदयसे ही होंगे। इसलिए वे विकार आत्माके

नहीं कहला सकते। यदि वे विकार आत्माके कहलाने लगे तो शुद्ध आत्मोंमें भी उत्पन्न होने चाहिए। परंतु शुद्ध आत्मामें वा कर्मरहित आत्मामें ये विकार उत्पन्न नहीं होते। वे विकार कर्मोंके उदयसे ही होते हैं इसलिए वे विकार कर्मोंके ही कहलाते हैं। कर्म पौद्गलिक हैं इसलिए उन विकारोंको भी पौद्गलिक कहते हैं और इसीलिए उन क्रोधादिक विकारोंको परधर्म वा विभाव कहते हैं। परपदार्थको ग्रहण करना अपराध कहलाता है इसीलिए क्रोधादिक परधर्मोंको धारण करनेवाला जीव इस संसारमें अपराधी गिना जाता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहता है। इसलिए क्रोधादिक परधर्मको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। इनका सर्वथा त्याग कर आत्माके निज स्वभावमें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे कि यह आत्मा निराकुल होकर सुखी हो जाय।

प्रश्न—कस्मै जीवाय कः स्वामिन्न रोचते वदाऽशुना ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर मेरे लिए यह बतलाइए कि किस किस जीवको क्या क्या अच्छा नहीं लगता ?

उत्तर—सुरक्तपायै च पयो द्रुणाय श्वभ्रस्य वै गामिन एव वृत्तम्।

पतिः कुपत्न्यै किरये खराय न रोचते मोदक एव मिष्टः ॥३५७॥

भोगः सरोगाय खलाय नीतिः शुने न सर्पिर्वधिराय गीतम्।

न रोचतेऽर्कः किल कौशिकाय तथैव मूर्खाय निजात्मधर्मः ॥३५८॥

अर्थ—जिस प्रकार जोंक और बीछूको दूध अच्छा नहीं लगता, नरकगामी पुरुषको सम्यक्चारित्र अच्छा नहीं लगता, कुपत्नी वा व्यभिचारिणी स्त्रीको पति अच्छा नहीं लगता शूकर और गधेको मीठे लाडू अच्छे नहीं लगते, रोगी पुरुषको भोग अच्छे नहीं लगते, दुष्ट पुरुषको न्याय और नीति अच्छी

नहीं लगती, कुत्तेको घी अच्छा नहीं लगता, बहरेको गीत अच्छे नहीं लगते और उल्लूकको सूर्य अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार मूर्ख पुरुषको अपने आत्माका स्वभाव अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ—जोंकको चाहे दूधपर ही लगा दिया जाय तो भी वह दूध छोड देती है और खून ही पीती है, बीछू भी दूध छोड देता है। इसी प्रकार नरकगामी पुरुषको पाप ही अच्छे लगते हैं, पापोंका त्याग वा सम्यक्चारित्रको वह कभी धारण नहीं कर सकता। व्यभिचारिणी स्त्रीको अपना जार पुरुष ही अच्छा लगता है, यदि अपना पति सुंदर गुणवान हो तो भी अच्छा नहीं लगता। सूअर और गधेको लड्डू अच्छे नहीं लगते, उनको तो घूरेपर चरना ही अच्छा लगता है। रोगी पुरुषको भोग कभी अच्छे नहीं लग सकते। दुष्ट पुरुषोंको न्याय व नीति कभी अच्छी नहीं लगती उनको तो अन्याय और उपद्रव ही अच्छे लगते हैं। इसी प्रकार कुत्ता घीको अच्छा नहीं समझता, बहिरा पुरुष गीत वाजे आदिको अच्छा नहीं समझता और उल्लूको सूर्य अच्छा नहीं लगता, उल्लूको तो रात ही अच्छी लगती है। उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुषको आत्माका शुद्ध स्वरूप कभी अच्छा नहीं लगता। उसको तो क्रोधादिक कषाय ही अच्छे लग सकते हैं। इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको अपने आत्माके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही अपना अज्ञान नष्ट होकर आत्माका कल्याण हो।

प्रश्न—भ्रमत्ययं गुरो जीवः किमर्थं संसृतौ वद ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यह जीव इस संसारमें किस कारणसे परिभ्रमण करता है ?

उत्तर—जिह्वायोनिप्रसंगेनाष्टांगुलमानकेन च।
शूरो वीरश्च धीरोपि शक्तोपि चतुरोपि च ॥ ३५९ ॥

धर्मं स्वर्मोक्षदं त्यक्त्वा करोति भवदां कृतिम् ।
ततस्तन्मोचनार्थं भो सद्बुद्धिं हृदि धारय ॥ ३६० ॥

अर्थ—यद्यपि इस संसारमें पांचों इंद्रियोंके विषय दुःख देनेवाले और संसारमें परिभ्रमण करानेवाले हैं तथापि इन पांचों इंद्रियोंमेंसे जिह्वा इंद्रिय और योनि वा लिंग इंद्रिय ये दो इंद्रियां बहुत प्रबल हैं। यद्यपि दोनों इंद्रियां चार-चार अंगुलकी हैं तथापि इन दोनों इंद्रियोंके ही कारण शूरवीर, धीरवीर, समर्थ और चतुर मनुष्य भी स्वर्ग मोक्ष देनेवाले धर्मका त्याग कर देता है और जन्म मरणरूप संसारको बढानेवाले कार्य किया करता है। इसलिए हे भव्य! अब तू इन इन्द्रियोंके विषयोंके त्याग करनेके लिए अपने हृदयमें सद्बुद्धि धारण कर।

भावार्थ—यद्यपि पांचों इन्द्रियोंके विषय अत्यन्त प्रबल हैं और इनके विषयोंमें फंसकर यह प्राणी अपने जीवनतकको भी गंवा देता है। देखो स्पर्शनेन्द्रियके विषयके वशीभूत होकर हाथी अपनी स्वतंत्रता खो देता है, तथा भूख प्यास आदिकी वेदना सहन करता हुआ जन्मभरके लिए परतंत्र हो जाता है, रसना इन्द्रियके वशीभूत होकर मछली अपना कंठ छिदाकर मर जाती है, घ्राण इन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमर कमलमें दबकर मर जाता है, चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर पतंगा दीपकमें जल मर जाता है और कर्ण इन्द्रियके वशीभूत होकर हिरण अपना जीवन गंवा देता है। इसप्रकार एक-एक इन्द्रियके वशीभूत होकर भी अनेक प्राणी महादुःख पाते हैं, परन्तु जो लोग पांचों इन्द्रियोंके वशीभूत हो जाते हैं उनकी क्या दशा होती होगी इस बातको सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। यद्यपि यह मनुष्य पांचों इन्द्रियोंके वशीभूत होता है तथापि चार अंगुल जिह्वा इन्द्रियके कारण यह मनुष्य अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है। जिह्वा इन्द्रियके कारण यह मनुष्य अनेक प्रकारके अभक्ष्य भक्षण करता है, मद्य, मांस, मधुका सेवन करता है, बड पीपर गूलर आदि अनेक जीवोंसे भरे हुए फलोंको

भक्षण करता है, आलू, रतालू, सकरकन्द, मूली, गाजर आदि कितने ही प्रकारके कन्द मूलोंको भक्षण करता है और न जाने क्या-क्या पदार्थ व किस-किस हाथके बने हुए पदार्थ भक्षण कर जाता है। इन अभक्ष्य पदार्थोंके भक्षण करनेसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती है, उससे महापाप उत्पन्न होता है। इसके सिवाय अभक्ष्य भक्षण करनेवालोंकी लालसाएं सदाकाल बढती रहती हैं। उन लालसाओंके कारण वह तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करता रहता है और उनके उदय होनेपर महादुःख भोगा करता है। इसीप्रकार स्पर्शनेन्द्रिय वा लिंगेन्द्रियके कारण यह जीव अनेक प्रकारके अनर्थ करता रहता है। इसी इन्द्रियके वशीभूत होकर वह वेश्या सेवन करता है, परस्त्री सेवन करता है और न जाने क्या-क्या अनर्थ और अन्याय करता है। इतना सब करनेपर भी उसकी तृष्णा दिन-रात बढती रहती है और तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करती हुई महादुःख दिया करती है। वेश्या सेवन करनेवाला पुरुष अपने सूतक पातकको कभी बन्द नहीं कर सकता। वेश्या सेवन करनेवाला तथा परस्त्री सेवन करनेवाला पुरुष स्थान-स्थानपर अपमान सहन करता है, स्थान-स्थानपर मार खाता है और कभी-कभी अपना जीवन भी गंवा देता है। इसलिए ये दोनों इन्द्रियां यद्यपि बहुत छोटी हैं तथापि नरक निगोदके महादुःख देनेवाली हैं। इसलिए हे भव्य! अब तू भी इन इन्द्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग कर और अपने हृदयमें श्रेष्ठ बुद्धि धारण कर अपने आत्माका कल्याण कर। यही प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—कियत्कालं भवेत् क्रोधः कस्य जन्तोर्वद क्रमात् ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किस जीवका क्रोध कितने-कितने काल तक रहता है?

उत्तर—कार्यवशात्क्षणंक्रोधो मुनीनां दुःखदो भवेत् ।
व्रतिनां पक्षमात्रोह्यव्रतिनां मासषड्युतः ॥३६१॥
मिथ्यात्वमूढजन्तूनां चिरं तिष्ठेद् भवप्रदः ।
ज्ञात्वेति पूर्ववृत्तान्तं क्रोधः कार्यो न दुःखदः ॥३६२॥
बंधहेतुर्भवेन्मोहः क्रोध एव प्रमाणतः ।
ततो हेयः सदा निंद्यः प्राणघाती प्रतिक्षणम् ॥३६३॥

अर्थ—इस संसारमें दुःख देनेवाला यह क्रोध मुनियोंके किसी विशेष कारणसे ही होता है और वह क्षण-भर ही ठहरता है। इसी प्रकार व्रती श्रावकोंका क्रोध पन्द्रह दिन तक ठहरता है, अव्रती श्रावकोंका क्रोध छह महीने तक ठहरता है और जन्म मरणरूप संसारको बढानेवाला मिथ्या-दृष्टियोंका क्रोध चिरकाल तक ठहरता है। यही समझकर भव्यजीवोंको दुःख देनेवाला यह क्रोध कभी नहीं करना चाहिए। इस संसारमें तीव्र अशुभकर्मोंका बंध करनेवाला मोह तथा क्रोध ही है और यह मोह वा क्रोध ही प्रतिक्षणमें आत्माका घात करनेवाला है और अत्यन्त निंद्य है इसलिए इन क्रोध और मोह दोनोंका ही त्यागकर देना चाहिए।

भावार्थ—क्रोधके चार भेद हैं, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध। अनन्तानुबंधी क्रोध मिथ्यादृष्टियोंके होता है, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध अव्रती श्रावकोंके होता है, प्रत्याख्यानावरण क्रोध व्रती श्रावकोंके होता है और संज्वलन क्रोध मुनियों-के होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध पत्थरकी रेखाके समान बहुत दिन तक रहनेवाला होता है। अप्र-त्याख्यानावरण क्रोध हलकी रेखाके समान छह महीने तक रहनेवाला होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध

गाडीकी लकीरके समान पन्द्रह दिन तक रहनेवाला होता है और संज्वलन क्रोध पानीकी लकीरके समान उसी क्षणमें नष्ट हो जानेवाला होता है। मुनि लोग कभी क्रोध नहीं करते। यदि किसी विशेष कारणसे उन्हें क्रोध आ जाता है तो वह क्षणभर ही ठहरता है। क्षणभरके बाद अवश्य नष्ट हो जाता है क्योंकि वह संज्वलन क्रोध ही होता है। उसकी स्थिति भी पानीकी लकीरके समान क्षणभर है। इसीप्रकार व्रती श्रावकोंका क्रोध पन्द्रह दिन ठहरता है, अव्रती सम्यग्दृष्टीका क्रोध छह महीने तक ठहरता है और मिथ्यादृष्टीका क्रोध अनन्तकाल तक ठहरता है। यही सब समझकर क्रोधका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यह क्रोध परजीवोंका तो घात करता ही है किंतु अपने आत्माका भी घात करता है। यही समझकर इसका त्याग करना कल्याणकारी है।

प्रश्न—कस्यास्तित्वाद् गुरो ब्रूहि सर्व विश्वो वशीभवेत ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किसके होनेसे यह समस्त संसार अपने वशमें हो जाता है?

उत्तर—करुणा शान्तिदा शक्तिः भक्तिश्च भवनाशिनी।
धीरता चोद्यमः शान्तिः शौर्यं च दक्षता शुचिः ॥३६४॥
तत्त्वज्ञतात्मबुद्धिः स्यान्मिथः मैत्री सुखप्रदा।
इत्यादि भावना यत्र तत्र विश्वो वशी भवेत ॥ ३६५॥

अर्थ—करुणा, शान्ति देनेवाली शक्ति, संसारको नाश करनेवाली भक्ति, धीरता, उद्यम, शांति, शूरता, चतुरता, पवित्रता, तत्त्वज्ञता, आत्मबुद्धि, सुख देनेवाली परस्परकी मित्रता आदि भावनाएं जहां जहां रहती हैं वहांपर यह समस्त संसार अपने वशमें हो जाता है।

भावार्थ—करुणा दयाको कहते हैं। जहांपर समस्त जीवोंपर दया धारण की जाती है वहांपर समस्त जीव अपने वशमें हो जाते हैं। यह दया गुण समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला है और इसीलिए सब जीव दयाके आधीन हो जाते हैं। शक्तिके आधीन भी सब जीव हो जाते हैं यदि वह शक्ति शान्ति उत्पन्न करनेवाली हो तो फिर उसके बाहर कोई जीव हो ही नहीं सकता। भगवान् अरहंत देवमें अनन्त शक्ति होती है और वह समस्त जीवोंको शांति उत्पन्न करनेवाली होती है इसीलिए भगवान् अरहंत देवकी आज्ञाके विरुद्ध इन्द्रादिक देव भी नहीं चल सकते हैं किन्तु इन्द्रादिक देव सदाकाल उनकी भक्तिमें लगे रहते हैं। इससे सिद्ध होता है शांति उत्पन्न करनेवाली शक्ति भी समस्त संसारको वश करनेवाली होती है। देव शास्त्र गुरुकी भक्ति जन्म मरणरूप संसारको नाश करनेवाली होती है। जहां देव शास्त्र गुरुकी अचल भक्ति होती है वहांपर शत्रु अपने वशमें हो जाते हैं। इसका उदाहरण स्वामी समंतभद्रकी भक्ति है। जिस समय स्वामी समंतभद्रको भस्मव्याधि हो गई थी और वे बनारस जाकर वहांके राजा शिवकोटिके शिवमंदिरमें पुजारी वनकर शिवके लिए आया हुआ सव अन्न भक्षण कर जाते थे तब पहले पुजारियोंने किसी तरह यह बात जान ली थी और राजाको सब समाचार कह दिया था। उस समय राजाने समंतभद्रसे कहा था कि हम इस अपराधके बदले और कुछ नहीं चाहते, केवल हमारे सामने महादेवको एक बार नमस्कार कर लो। यदि तुम महादेवको नमस्कार न करोगे तो तुमको कठिन दंड दिया जायगा। उस समय स्वामी समंतभद्रने बडे आत्मगौरवके साथ कहा था कि मैं नमस्कार तो कर लूंगा परंतु तुम्हारा यह महादेव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता। मेरे नमस्कारसे वह फट जायगा। इसपर राजाने कहा था कि अच्छा महादेवको फट जाने दो परंतु तुम नमस्कार अवश्य करो। स्वामी समंतभद्रने इस बातको स्वीकार कर लिया और उस महादेवको लोहेकी मोटी जंजीरोंसे जकडवा दिया। स्वामी समंतभद्रको अपनी देवभक्तिका अटल विश्वास था और इसी-

लिए उन्होंने ऐसा किया। तदनंतर समस्त राजा प्रजाके सामने वे स्वयंभूस्तोत्रकी रचना करने लगे। स्वयंभूस्तोत्रमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति है और एक-एक तीर्थंकरकी स्तुतिमें पांच-पांच वा दस-दस श्लोक हैं। इस प्रकार स्तुति करते-करते उन्होंने सात तीर्थंकरोंकी स्तुति कर डाली परंतु इतने श्लोकोंमें नमस्कार वाचक कोई शब्द नहीं आया। जब उन्होंने भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति करना प्रारंभ किया और पहले ही श्लोकमें वंदना करनेवाला शब्द आया उसी समय वह महादेवकी मूर्ति फट गई और उसमेंसे भगवान चन्द्रप्रभकी चतुर्मुखी प्रतिमा प्रगट हो गई। यह देवभक्तिका उमडता हुआ महासागर कितना अगाध है यह ऊपर लिखी घटनासे मालूम होता है। यह देवभक्तिका अतिशय देखकर महाराज शिवकोटिके परिणाम बदल गये थे और उन्होंने जिनदीक्षा लेकर आराधनासार नामके महाग्रंथकी रचना की थी। जिस देव शास्त्र गुरुकी भक्तिसे बडे-बडे देव भी वश हो जाते हैं उस भक्तिसे समस्त संसार वश हो जाय इसमें आश्चर्य ही क्या है। इसीप्रकार धीरता, उद्यम, शांति, शौर्य, चतुरता, पवित्रता, तत्त्वज्ञता, आत्म बुद्धि, परस्परमैत्री आदि आत्माके बहुतसे ऐसे गुण हैं जिनके आधीन यह समस्त संसार हो जाता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इन गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए जिससे यह समस्त संसार भी वशमें हो जाय और मोक्ष भी अपने आप आकर प्राप्त हो जाय।

प्रश्न—ये परान् तोषणार्थं कौ यतन्ते वद कीदृशाः ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो लोग अन्य सब जीवोंको संतुष्ट करनेका प्रयत्न करते रहते हैं वे कैसे हैं ?

उत्तर—जीवो न दृष्टोऽखिलतोषकारी, हेतुस्तथा न प्रबलो ह्यसूनाम्।
तथापि ये तोषयितुं यतन्ते, ते मूर्खमुख्याः प्रतिभान्त्यनाथाः॥३६६

१ बनारसमें अब भी महादेवका एक मन्दिर फटे महादेवके नामसे प्रसिद्ध है।

भक्त्यैकजीवे सति तोषितेऽन्यः, करोति कोपं खलु निन्दतीह ।
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिं तथैव, चिन्तां च मुक्त्वाऽखिलजन्तुशान्तेः ॥३६७

निजात्मसिद्धिं परिणामशुद्धिं, कुर्वन्तु नित्यं स्वरसस्य पानम् ।
निन्दन्तु कुप्यन्तु नमन्तु कोपि, तथापि धीरा न चलन्तु धर्मात् ॥३६८

अर्थ–इस संसारमें कोई भी ऐसा जीव दिखाई नहीं पड सकता जो समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेवाला हो। क्योंकि समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेवाला कोई प्रबल हेतु नहीं है तथापि जो जीव समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं वे मूर्खोंमें मुख्य कहलाते हैं और अनाथसे जान पडते हैं। इसका भी कारण यह है कि यदि अत्यन्त भक्तिके द्वारा किसी एक जीवको संतुष्ट करता है तो अन्य जीव उसपर क्रोध करता है अथवा उसकी निंदा करता है। इसप्रकार ऊपर लिखी नीतिको समझकर समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेकी चिन्ताका त्याग कर देना चाहिए तथा अपने आत्माकी सिद्धि, अपने परिणामोंकी शुद्धि और अपने आत्मरसका वा अपने आत्म-जन्य आनन्दरसका पान सदाकाल करते रहना चाहिए। ऐसा करते हुए चाहे कोई निंदा करे, चाहे कोई क्रोध करे और चाहे कोई नमस्कार करे तथापि धीर-वीर पुरुषोंको अपने धर्मसे कभी चलायमान नहीं होना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें सभी तरहके मनुष्य हैं। कितने ही सज्जन हैं और कितने ही दुर्जन हैं। कितने ही मूर्ख हैं और कितने ही विद्वान् हैं। कितने ही धनी हैं और कितने ही निर्धन हैं। यदि कोई पुरुष सज्जनोंको संतुष्ट करता है तो दुर्जन रुष्ट हो जाते हैं। यदि कोई किसी विद्वान्‌को संतुष्ट करता है तो मूर्ख रुष्ट हो जाते हैं। यदि कोई किसी निर्धनको संतुष्ट करता है तो धनी रुष्ट हो जाते हैं तथा इस संसारमें ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे सज्जन दुर्जन दोनों संतुष्ट हो जांय, अथवा धनी निर्धनी

दोनों संतुष्ट हो जांय, अथवा विद्वान् मूर्ख दोनों संतुष्ट हो जांय। क्योंकि जिस कार्यसे विद्वान् संतुष्ट होते हैं उससे मूर्ख कभी संतुष्ट नहीं हो सकते, जिससे सज्जन संतुष्ट होते हैं उसीसे दुर्जन लोग कभी संतुष्ट नहीं हो सकते। इसप्रकार विचार करनेसे यही मालूम होता है कि इस संसारमें कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे सभी लोग संतुष्ट हो जांय। इसलिए सबको संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करना मूर्खता है। प्रत्येक भव्यजीवको सबको संतुष्ट करनेकी चिंता छोड देनी चाहिए तथा अपने आत्माके कल्याण करनेका प्रयत्न करना चाहिए। अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने परिणामोंको शुद्ध रखना चाहिए, समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिए और शुद्ध परिणामोंसे अपने शुद्ध आत्माका ध्यानकर आत्मजन्य आनन्दका स्वाद ले लेना चाहिए। यही मोक्षका उपाय है। भव्यजीवको यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कोई भी अपनी निंदा करे वा प्रशंसा करे अथवा क्रोध करे अथवा कृपा रक्खे परन्तु अपने आत्म-धर्मसे कभी चलायमान नहीं होना चाहिए। यही भव्यजीवका मुख्य कर्त्तव्य है।

प्रश्न—स्वात्मरसेन शून्यो यः स वद मेऽस्ति कीदृशः?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर मेरे लिये यह बतलाइए कि जो मनुष्य अपने आत्मजन्य आनंद-रसका स्वाद नहीं लेता वह कैसा है?

उत्तर—कौ यो यदि स्यात्स्वरसेन रिक्तः स ध्यान लीनोपि वकप्रमाणः।

मासोपवासेन युतोपि भोगी सुसत्यवक्तानृतभाषको हि ॥३६९॥

वने निवासीत्यपि हर्म्यवासी सन्तोषशीलोपि सदाभिलाषी।

स्याद्ब्रह्मचारी मिथुनाभिलाषी ज्ञात्वेति न स्यात्स्वरसेन रिक्तः ॥३७०

अर्थ—इस संसारमें जो पुरुष अपने आत्मजन्य आनन्द रसका आस्वादन नहीं करता वह यदि

ध्यानमें तत्पर रहता है तो भी बगुलाके समान समझा जाता है। यदि वह महीनें दो महीनेका उपवास धारण करता है तो भी वह भोग करनेवाला ही माना जाता है। यदि वह सत्यभाषण करता है तो भी वह मिथ्याभाषण करनेवाला ही माना जाता है, यदि वह वनमें रहता है तो भी घरमें रहनेवालेके समान गृहस्थ ही कहलाता है, यदि वह संतोष धारण करता है तो भी वह अभिलाषी ही कहलाता है, और यदि वह ब्रह्मचारी है तो भी वह मैथुन सेवन करनेकी इच्छा करनेवाला ही कहलाता है। यही समझ कर प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्मजन्य आनन्दरसका आस्वाद लेनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, आत्मजन्य आनन्द रससे शून्य कभी नहीं रहना चाहिए।

भावार्थ—ध्यान करना, तपश्चरण करना, उपवास करना, सत्य भाषण करना, बनमें निवास करना, संतोष धारण करना और ब्रह्मचर्य पालन करना आदि जितने मोक्षके साधन हैं वे सब आत्माकी सिद्धिके लिए किये जाते हैं। आत्माकी सिद्धि आत्माको शुद्ध कर लेनेसे होती है और जब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है तब ही इस जीवको आत्मजन्य आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। जो पुरुष ध्यान करता हुआ भी आत्मजन्य आनन्दका आस्वादन नहीं करता वह बगुलाके समान ही समझा जाता है। बगुला भी ध्यान करता है परन्तु उसे भी आत्माका आनन्दरस प्राप्त नहीं होता। इसीप्रकार आत्मानन्दरससे रहित ध्यानी पुरुषको समझना चाहिए। उपवास भी काय और कषायोंको नष्ट करनेके लिए किया जाता है। जब कायका ममत्व नष्ट हो जाता है और कषाय नष्ट हो जाते हैं तब चिदानन्दरसका आस्वादन आना ही चाहिए। यदि उपवास करते हुए भी चिदानन्द रसकी प्राप्ति नहीं होती है तो समझना चाहिए कि उसकी कषायें वा ममत्व भी नष्ट नहीं होता है और इसलिए वह उपवास केवल लंघन गिना जाता है। इसीप्रकार ब्रह्मचर्यका पालन. सत्य-भाषण, संतोष-धारण आदि सब कार्य चिदानन्द रसके लिए ही किए जाते हैं। इसलिए आत्मजन्य आनन्दरसका आस्वा-

३७

दन करना ही आत्माका कल्याण करना है। मोक्षमें भी यही सुख है। अतएव भव्यजीवोंको सबसे पहले इसीके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न—स्यात्केन हेतुना लोके श्रेष्ठवस्तुसमागमः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें उत्तम पदार्थोंका समागम वा प्राप्ति किस कारणसे होती है ?

उत्तर—गृहं सदा मंगल कार्ययुक्तं, पुत्रोपि विद्या रमणी सुरक्तः।
भार्या सुशीला गृहकार्यदक्षा, दानार्चनार्थं च धनं यथेष्टम् ॥३७१॥
स्वदारतुष्टः परदारमुक्तः, स्वाज्ञानुकूलोऽखिलमित्रवर्गः।
पूर्वोक्तभावस्य सुवस्तुनः कौ, समागमः स्याद् वरपुण्यभाजाम् ॥३७२॥

अर्थ—इस संसारमें सदाकाल मंगल कार्योंसे सुशोभित रहनेवाले घरकी प्राप्ति उत्तम पुण्यवान पुरुषोंको ही होती है। सदाकाल विद्यारूपी ललनामें लीन रहनेवाले पुत्रकी प्राप्ति भी उत्तम पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है। घरके कामोंमें अत्यन्त चतुर और शीलवती स्त्रीकी प्राप्ति उत्तम पुण्यवानोंको ही होती है। दान पूजा आदि धर्मके साधनोंके लिए यथेष्ट धनकी प्राप्ति भी पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है। स्वदारसंतोषव्रतको धारण करनेवाले, परस्त्रीका सर्वथा त्याग करनेवाले और अपनी आज्ञाके अनुकूल चलनेवाले मित्रवर्गकी प्राप्ति भी पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है। इसप्रकार ऊपर जितने पदार्थ बतलाये हैं अथवा इस संसारमें जो-जो उत्तम पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है।

भावार्थ—इस संसारमें गृहस्थ लोगोंके लिए पुत्र, स्त्री, धन, घर और मित्रवर्ग ही सुखकी सामग्री

गिनी जाती है। वह सुखकी सब सामग्री पुण्यकर्मके उदयसे ही होती है। जिस पुरुषके जितने पुण्य-कर्मका उदय होता है उतने ही सुखकी सामग्री उसको प्राप्त होती है। पुण्यकर्मका सबसे अधिक उदय चक्रवर्तीके होता है, इसलिए चक्रवर्तीको सबसे उत्तम संपत्तियां प्राप्त होती हैं। इस संसारमें पुत्र, स्त्री, धन आदिकी प्राप्ति होना सरल है प्रायः सबके ही होते हैं, घर भी सब गृहस्थोंके होता है। धन भी सबके होता है और पुत्र स्त्री भी प्रायः सबके होती है, परंतु पात्रदान और जिनपूजामें काम आनेवाला धन विरलोंके ही होता है। दान और जिनपुजनके काममें आनेवाला धन बीजके समान समझा जाता है। जैसे एक बीजके बोनेसे उस वृक्षपर सैकडों फल लगते हैं उसीप्रकार पात्रदान और जिनपूजनके काम आनेवाला अनन्त विभूतिका कारण होता है। वास्तवमें देखा जाय तो ऐसा ही महा पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। जो धन पापकार्योंमें लगता है वह नरक-निगोदमें डुबानेवाला होता है इसलिए उस धनका कारण श्रेष्ठ पुण्य नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार जो स्त्री सुशीला नहीं होती वह स्वयं नरकमें जाती है और घरके अन्य कितने ही लोगोंको इसी लोकमें अनेक दुःख देकर नरक ले जाती है इसलिए ऐसी स्त्रीसे स्त्रीका न होना ही अच्छा है। जो सुशील स्त्री होती है वह स्वयं पुण्य उपार्जन करती है और रानी चेलनाके समान अपने पतिको वा घरके अन्य लोगोंको भी अपने आत्माके कल्याणमें लगा देती है इसलिए ऐसी स्त्री श्रेष्ठ पुण्य कर्मके उदयसे ही प्राप्त होती है। घरमें सब गृहस्थ रहते हैं परंतु घर वही धन्य गिना जाता है जिसमें आहारके लिए मुनियोंके चरणकमल सुशोभित होते हैं अथवा जिसमें पूजा प्रतिष्ठा सदाकाल होती रहती है ऐसा घर बहुत बडे पुण्यकर्मके उदयसे ही प्राप्त होता है। इसीप्रकार पुत्र भी कुपुत्र होते हैं जो माता-पिताको दुःख पहुंचाते हुए स्वयं नरक जाते हैं और माता-पिताको भी ले जाते हैं। ऐसे पुत्रोंसे कभी सुख नहीं मिल सकता। जो पुत्र विद्वान् होते हैं और सगर चक्रवर्तीके पुत्रोंके समान आत्मकल्याणमें लग जाते हैं ऐसे पुत्र ही श्रेष्ठ पुण्यकर्मके उदयसे

प्राप्त होते हैं। तीर्थंकरके माता पिता महा पुण्यवान् गिने जाते हैं। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों ही उनकी सेवा करते हैं इसका एकमात्र कारण उनके तीर्थंकर ऐसे संसारभरको उद्धार करनेवाले पुत्रका होना है। ऐसा पुत्र महा पुण्यकर्मके उदयसे ही होता है। इसी प्रकार बहुतसे मित्रवर्ग अपने स्वार्थमें फंसकर अपने मित्रसे अनेक प्रकारके पापकार्य कराते रहते हैं। ऐसे मित्रोंको शत्रु ही समझना चाहिए। जो मित्र स्वयं सदाचारी हों और अपने मित्रको मोक्षमार्गमें ही लगाते हों ऐसे वारिषेणके समान मित्रकी प्राप्ति होना बहुत बडे पुण्यकर्मके उदयसे होती है। इसीलिए आचार्य महाराजने कहा है कि सुखकी सब सामग्री पुण्यकर्मके उदयसे ही होती है अन्य किसीसे नहीं हो सकती इसलिए सुखकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक भव्यजीवको पुण्यकर्मोंका सम्पादन करना चाहिए।

प्रश्न–शीघ्रं नश्यति जीवः कः कस्यवद् वद मे गुरो ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कौनसा जीव किसके समान अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो जाता है ?

उत्तर–धनं ददाति ह्यविचार्य चात्ति, यो वाऽसहायो च कषायकीर्णः।
स्याच्छीघ्रगामी सकलप्रदेशे, कुकार्यकर्ता विषयाभिलाषी ॥३७३॥
मिथ्याभिमानी मदनेन मत्तो, वा केवलं वैरविरोधधारी।
विरुद्धवेषी ममकारकारी, प्रध्वंसते कीटकवत् स शीघ्रम् ॥३७४॥

अर्थ– जो पुरुष विना विचार किये ही चाहे जिसको धन दे देता है, जो विना कुछ विचार किये ही भोजन कर लेता है, जिसका इस संसारमें कोई सहायक नहीं है, जो तीव्र कषायोंको धारण करता है, जो विना देखे सर्वत्र शीघ्रताके साथ चलता है, जो सदाकाल कुकर्म वा अशुभ कार्य करता रहता

है, जो सदाकाल विषय सेवनकी इच्छा करता रहता है, जो मिथ्या अभिमान धारण करता है, जो कामदेवके वशीभूत होकर सदाकाल उन्मत्त बना रहता है, जो सदाकाल वैर-विरोध धारण करता रहता है, जो अपना वेष और भूषा विरुद्ध रखता है और जो तीव्र ममत्व धारण करता है वह पुरुष कीडे मकोडोंके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रथम तो कीडे मकोडोंकी आयु ही बहुत कम होती है दूसरे उनकी मृत्युके साधन प्रति समय बने रहते हैं। मार्गमें चलते हुए किसीका पैर भी पड जाता है तो भी उनकी मृत्यु हो जाती है। इनके सिवाय मोर आदि कितने ही जीव उनके स्वाभाविक शत्रु होते हैं। इसलिए उन कीडे मकोडोंका अपनी छोटीसी आयु पर्यंत भी बचे रहना अत्यंत कठिन होता है। इसीप्रकार जो पुरुष विना विचार किये चाहे जिसको धन दे देता है वह अपनी मृत्यु ही खरीद लेता है। महाराज जीवंधरके पिताने विना कुछ विचार किये ही अपने राज्यका सब प्रबंध अपने मंत्री काष्ठांगारको दे दिया था उसका कडवा फल बहुत शीघ्र राजाको भोगना पडा था। दुष्ट काष्ठांगारने राज्यका सब प्रबंध लेकर सज्जन आदमियोंको राज्यसे अलग कर दिया था और फिर अपनी सब सेना लेकर राजभवन घेर लिया था। यद्यपि राजाने बाहर आकर युद्ध किया था परंतु ऐसे राज्यसे विरक्त होकर उसने समाधि धारण करली थी। इतना होनेपर भी उस दुष्ट काष्ठांगारने उस राजाको मार दिया था। इसलिये विना विचार किये धनका देना भी मृत्युका कारण है। इसीप्रकार विना विचार किये भोजन करना भी मृत्युका कारण है। विचार पूर्वक भोजन करनेसे स्वास्थ्य ठीक रहता है, विना विचारे भोजन करनेसे स्वास्थ्य भी बिगड जाता है और कभी-कभी विषैला कोई पदार्थ भोजनमें आ जानेसे मृत्यु भी हो जाती है। अतएव विना विचारे भोजन करना भी मृत्युका कारण है। इस संसारमें जिस पुरुषका कोई सहायक नहीं है उसकी असमयमें ही मृत्यु हो जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। न जाने कब कोई आक-

स्मिक आपत्ति आ जाती है और यह जीव मर जाता है। इसलिए सहायकका न होना भी मृत्युका कारण है। यद्यपि मुनिराज भी वनोंमें अकेले रहते हैं तथापि उनका श्रेष्ठ धर्म और तपश्चरण ही उनका प्रबल सहायक होता है। जो जीव तीव्र कषायी होता है वह दूसरे किसी तीव्र कषायीके द्वारा अवश्य मारा जाता है। अथवा तीव्र कषायके कारण कभी-कभी वह स्वयं अपना घात कर लेता है। इसलिए तीव्र कषायका होना मृत्युका कारण है। जो पुरुष ऊंचे नीचे सब स्थानोंमें शीघ्र गमन करता है वह कभी किसी गड्ढेमें गिर जाता है और कभी ठोकर खाकर गिर जाता है और मर जाता है। इसलिए शीघ्र-गमन भी मृत्युका कारण है। जो जीव कुकर्म करता रहता है उसके लिए एक दो नहीं किन्तु सैकडों मृत्युके कारण मिल जाते हैं। वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, जूआ, चोरी आदि कुकर्म करनेवालोंके परस्पर भी एक दूसरेके शत्रु हो जाते हैं और राजकर्मचारी भी शत्रु हो जाते हैं। इसीप्रकार विषयाभिलाषी पुरुष न जाने किन-किन पदार्थोंका सेवन करते हैं और विपरीत योग मिलनेसे मर जाते हैं। मिथ्या अभिमान करनेवालोंको छोटे लोग भी नीचा दिखा देते हैं अथवा मार देते हैं। कामदेवके वशीभूत हुए उन्मत्त लोग न जाने कहां मारे जाते हैं। कभी कभी तो उनका शरीरतक नहीं मिलता है। इसी-प्रकार सबके साथ वैर-विरोध रखनेवाले पुरुष भी शीघ्र मारे जाते हैं। विरुद्ध वेष धारण करनेवाले कभी-कभी धोखेमें ही मारे जाते हैं और अत्यन्त तीव्र ममत्व करनेवाले कंजूस लोग या तो चोर डाकुओंसे मारे जाते हैं अथवा किसी कारणसे वे स्वयं मारे जाते हैं। इसलिए ऊपर लिखे समस्त कार्योंका त्याग कर विचारपूर्वक आगमके अनुकूल सब काम करने चाहिए जिससे कि अपने आत्माका कल्याण हो। यही भव्यजीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—कथं भो क्रियते स्वामिन् वद मे गुणसंग्रहः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब मेरे लिए कृपाकर यह बतलाइए कि गुणोंका संग्रह किसप्रकार किया जाता है ?

उत्तर–प्रपूर्यते कौ जल विन्दुपाताद्, यथा समुद्रश्च नदी तडागः ।
त्यजन् ह्यधर्मं च भजन् स्वधर्मं, गृह्णन् गुणान् वावगुणांस्त्यजन् हि ॥
जीवस्तथायं सुगुणेन पूर्णो, भवत्यवश्यं क्रमतः प्रपूज्यः ।
ज्ञात्वेति मुक्त्वा विषमप्रदोषात्, गृह्णन्तु भव्याः सुखदान् गुणान् हि ॥

अर्थ—इस संसारमें जिसप्रकार जलकी एक-एक बून्दसे बडे-बडे समुद्र भर जाते हैं, बडी-बडी नदियां भर जाती हैं और बडे बडे सरोवर भर जाते हैं, उसीप्रकार जब यह जीव अधर्मका त्याग कर देता है तथा अपने आत्माके स्वभाव रूप दयाधर्मको धारण कर लेता है। इसीप्रकार जब यह जीव अपने समस्त अवगुणोंका त्याग कर देता है और अपने आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको धारण कर लेता है उस समय यह जीव अवश्य ही अपने समस्त श्रेष्ठ गुणोंसे परिपूर्ण हो जाता है और फिर यह जीव तीनों लोकोंके जीवोंके द्वारा पूज्य हो जाता है। यही समझ कर प्रत्येक भव्यजीवको अपने विषम दोषोंका त्याग कर देना चाहिए और सुख देनेवाले श्रेष्ठ गुणोंको ग्रहण करते रहना चाहिए।

भावार्थ—गुणोंका संग्रह एक-एक गुणके ग्रहण करनेसे होता है। जो मनुष्य सबसे पहले अवगुणोंका त्याग कर देता है और फिर एक-एक गुणको ग्रहण करता जाता है वह किसी न किसी दिन अवश्य पूर्णगुणी हो जाता है। गुणोंको ग्रहण करनेके लिए अवगुणोंका त्याग कर देना परमावश्क है। इसके साथ एक बात यह ध्यानमें रखने योग्य है कि यहां पर गुण शब्दसे आत्माके गुण ग्रहण करने चाहिए तथा आत्माके गुण और आत्माका धर्म सदा साथ रहनेवाले हैं। जहां-जहां आत्माका धर्म रहता है वहीं आत्माके गुण रहते हैं और जहां जहां आत्माके गुण रहते हैं वहां वहां आत्माका धर्म अवश्य रहता है। अतएव गुणोंका संग्रह करनेके लिए अधर्मका त्याग करना और धर्मका ग्रहण करना अनि-

वार्य है। जो मनुष्य अधर्मका त्याग नहीं कर सकता वह पुरुष अवगुणोंका त्याग भी नहीं कर सकता तथा विना अधर्म और अवगुणोंका त्याग किए धर्म वा गुणोंका संग्रह कभी नहीं हो सकता इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अधर्म और अवगुणोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये और फिर एक-एक गुणका संग्रह करते रहना चाहिए। जिस प्रकार एक-एक बूंद बरसते हुए पानीसे नदी समुद्र सरोवर आदि सब भर जाते हैं उसी प्रकार एक-एक गुण ग्रहण करनेसे ही समस्त गुण पूर्ण हो जाते हैं गुणोंको संग्रह करनेका सबसे सरल उपाय यही है।

प्रश्न–किमर्थं जीवनं स्वामिन् वद मे भुवनेऽधुना ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें यह जीवन किसलिए धारण किया जाता है ?

उत्तर–जीवन्ति ये के स्वापरात्मसिद्ध्यै, सदा यतन्ते स्वपरात्मशुद्ध्यै।
त एव जीवन्ति यथार्थदृष्ट्या, तदन्यजीवाश्च गतासुतुल्याः।३७७
मन्ये मनुष्या अपि राक्षसास्ते, सन्त्यत्र लोके पशवश्च शुद्धाः।
ज्ञात्वेति जीवन्तु सदात्मशुद्ध्यै, ततः परेषां सुखशान्तिहेतोः ॥३७८॥

अर्थ–जो जीव इस संसारमें अपने आत्माकी शुद्धि और सिद्धि करनेके लिए तथा अन्य जीवोंकी शुद्धि और सिद्धि करनेके लिये जीवित रहते हैं वे ही जीव यथार्थ दृष्टिसे जीवित रहते हैं। उनके सिवाय अन्य जो जीव हैं उनको मृतकके समान समझना चाहिए। ऐसे मनुष्योंको हम लोग राक्षसोंके समान समझते हैं। ऐसे मनुष्योंकी अपेक्षा तो बहुतसे पशु भी शुद्ध होते हैं। यही समझ कर प्रत्येक भव्य-जीवको अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए और अन्य जीवोंको सुख और शान्ति प्राप्त करानेके लिए ही जीवित रहना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें अनन्त पर्यायें धारण करनी पडती हैं परन्तु मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी पर्याय है कि जिसमें यह जीव मोक्ष प्राप्तिका उपाय कर सकता है तथा अन्य अनेक जीवोंसे मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करा सकता है। काम, क्रोध, मोह, मद, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि समस्त विकारोंका त्याग कर तथा बाह्य परिग्रहका त्याग कर जो मनुष्य अपने आत्माको शुद्ध कर लेता है वही मनुष्य दूसरे जीवोंके आत्माओंको शुद्ध कर सकता है। जो स्वयं कृतकृत्य होता है वही मनुष्य दूसरोंको कृतकृत्य होनेका उपदेश कर सकता है तथा उसीका प्रभाव पड सकता है, दूसरेका नहीं। अतएव मनुष्य जन्मकी सार्थकता अपने आत्माको शुद्ध कर लेना और फिर अन्य जीवोंको कल्याणका मार्ग बता देना ही है और ऐसे लोगोंका ही जीवन सार्थक है। जो जीव मनुष्य जन्म पाकरके भी अपने आत्माका कल्याण नहीं करते, केवल भोग-विलासमें ही अपना जीवन बिता देते हैं उनको फिर मृतकके समान ही समझना चाहिये। भोग-विलासमें लगे रहनेके कारण वे रात-दिन अनेक प्रकारके महापाप उत्पन्न करते रहते हैं और उन पापोंके कारण नरक निगोदमें जाकर पडते हैं, इसीलिए ऐसे मनुष्य राक्षसके समान कहलाते हैं राक्षस भी पाप करता है और ऐसे मनुष्य भी रात-दिन पाप करते हैं इसलिए दोनों समान माने जाते हैं। इस संसारमें बहुतसे पशु भी पापोंका त्याग कर देते हैं वा मांसादिकका सेवन नहीं करते। इसलिए रात दिन पापमें लगे रहनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा उन पशुओंको भी उत्तम समझना चाहिए। अतएव मनुष्यजन्म पाकरके समस्त पापोंका त्याग कर आत्माको शुद्ध कर लेना और फिर अन्य जीवोंको कल्याणका मार्ग बताना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है और वह प्रत्येक भव्यजीवको करना चाहिए।

प्रश्न—भोगे यथा मतिर्दक्षा धर्मे भवति किं न सा ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यह मनुष्योंकी बुद्धि जैसी भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें चतुर होती है उसी प्रकार धर्मके धारण करनेमें चतुर क्यों नहीं होती ?

उत्तर—धनार्जने बन्धुजने कलत्रे भोगोपभोगे विषवद् व्यथादे ।
यथा मतिः कार्यकरी च दक्षा मिथोविरोधे भवतीति शक्ता ॥३७९॥
तथा स्वधर्मे स्वपरोपकारे मिथ्यात्वमोहादिविनाशने हि ।
स्यात्तर्हि चानन्दपदप्रदात्री स्वर्मोक्षलक्ष्मीः सुखदा स्वदासी ॥३८०॥

अर्थ—इस मनुष्यकी बुद्धि जिस प्रकार धन संग्रह करनेमें चतुर होती है, भाई-बन्धुओंके मोहमें चतुर होती है वा स्त्रीके मोहमें चतुर होती है, अथवा विषके समान महा दुःख देनेवाले भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें चतुर होती है वा इन समस्त कार्योंके सम्पादन करनेमें चतुर होती है और एक दूसरेके साथ विरोध करनेमें समर्थ होती है उसी प्रकार यदि यह बुद्धि अपने आत्मधर्मको प्राप्त करनेमें लग जाय अथवा अपने आत्माके कल्याण करनेमें वा अन्य जीवोंके कल्याण करनेमें लग जाय अथवा मिथ्यात्व मोह आदि आत्माके विकारोंके नाश करनेमें लग जाय तो फिर सच्चिदानन्द पदको देनेवाली तथा अनन्त सुखको देनेवाली स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मी अवश्य ही अपनी दासी बन जाती है।

भावार्थ—यह जीव इस संसारमें अनादि कालसे परिभ्रमण करता चला आ रहा है। अनादि कालसे ही भोगोपभोगोंमें लगा हुआ है, अनादि कालसे ही स्त्री पुत्र वा परिग्रहके संग्रहमें लगा हुआ है और अनादि कालसे ही परस्परके वैर विरोधमें लगा हुआ है। अतएव उसे अनादि कालसे इन सब कर्मोंका अभ्यास हो रहा है। यह सब मिथ्यात्वकर्मके उदयका कार्य है। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवकी बुद्धि मिथ्या हो जाती है, और इसीलिए वह संसारके मार्गमें ही लगी रहती है। जब यह जीव

किसी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुके सदुपदेशसे अपने मोह और मिथ्यात्वको मन्द कर देता है और अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझने लगता है तब यह जीव मोह और मिथ्यात्वको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है। काल लब्धिके अनुसार जब यह जीव अपने मोह और मिथ्यात्वको नष्ट कर देता है तब आत्माके स्वरूपको प्रगट कर देनेवाला सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है। स्वपरभेदविज्ञानसे यह जीव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। उसके लिए वह समस्त विकारोंका त्याग कर देता है और ध्यान तपश्चरणके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही इस जीवकी बुद्धि धर्म धारण करनेकी ओर नहीं झुकती। मिथ्यात्व कर्मको नष्ट कर देनेपर अवश्य ही धर्मकार्यमें लग जाती है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अपने मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए और फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, मोह तथा कषायोंका सर्वथा त्याग कर तथा समस्त परिग्रहोंका त्याग कर ध्यान तपश्चरणके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही मनुष्य जीवनका यथार्थ फल है।

प्रश्न—धर्मिणोऽधर्मिणश्चिन्हं विद्यते कीदृशं वद ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि धर्मात्माका चिन्ह क्या है और अधार्मिक पुरुषका चिन्ह क्या है ?

उत्तर—यः स्वात्मशुद्ध्यै च करोति धर्मं व्रतोपवासं च जपं तपश्च।
स एव धर्मो भुवने यथार्थोऽभिमानशून्ये गुणदोषवेदी ॥३८१॥
ख्यात्यादिहेतोश्च करोति धर्मं ध्यानोपवासं खलु यश्च दानम्।
स एव नीचो जनवंचकः स्यात् पापी विधर्मी न च शंकनीयः ।३८२

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए धर्मको धारण करता है, वा व्रत उपवास करता है अथवा जप वा तप करता है वही पुरुष इस संसारमें अभिमान रहित और गुण दोषोंको जाननेवाला यथार्थ धर्मात्मा कहलाता है। परन्तु जो पुरुष अपनी प्रसिद्धिके लिए वा द्रव्य उपार्जन करनेके लिए धर्म धारण करता है वा ध्यान करता है, उपवास करता है अथवा दान देता है उस पुरुषको नीच लोगोंको ठगनेवाला, पापी और अधर्मात्मा समझना चाहिए। इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है।

भावार्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवको जो सबसे उत्तम मोक्ष स्थानमें जाकर विराजमान कर दे उसको धर्म कहते हैं। धर्मकी इस व्याख्यासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि मोक्ष प्राप्त करनेके जितने साधन हैं उन सबको धर्म कहते हैं तथा उस धर्मको अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके साधनोंको जो धारण करता है उसको धर्मात्मा कहते हैं। मोक्षकी प्राप्ति आठों कर्मोंके नाश करनेसे होती है तथा कर्मोंके उदयसे ही इस जीवके काम क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हैं। जब इस जीवके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं तब यह आत्मा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस आत्माका कर्मरहित हो जाना ही मोक्ष कहलाती है। इसीलिए आचार्य महाराज कहते हैं कि जो पुरुष अपने आत्माको अत्यंत शुद्ध करनेके लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उसके साधनभूत धर्मको धारण करता है, व्रत, उपवास करता है, तपश्चरण करता है, बारह भावनाओंका चिंतवन करता है, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका पालन करता है वा रत्नत्रयको पूर्ण करनेका प्रयत्न करता है वा ध्यान करता है उसको धर्मात्मा कहते हैं। जो पुरुष इससे विपरीत चलता है केवल अपनी प्रसिद्धिके लिए ध्यान वा उपवास करता है, वा द्रव्य उपार्जन करनेके लिए वेष बनाकर ध्यान उपवास करता है उसको नीच ठग और अधर्मात्मा समझना चाहिए। ऐसा पुरुष मायाचारी होनेके कारण अनन्तकाल तक निगोदके दुःख भोगता रहता

है। इसलिए किसी भी भव्यजीवको धार्मिक कार्योंमें कभी भी मायाचारी नहीं करनी चाहिए। धर्मका धारण तो आत्माकी शुद्धताके लिए ही है। अथवा जो आत्माकी शुद्धताके लिए किया जाता है। उसीको धर्म कहते हैं इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

प्रश्न—नरोभूत्वा नृणां कृत्यं न करोति स कीदृशः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्य होकर भी जो मनुष्योंका कर्तव्य पालन नहीं करता वह कैसा मनुष्य है ?

उत्तर—मानापमानो निजलाभपूजा त्यक्तो न मोहो मदनः प्रमादः ।
ध्याता न देवो पठिता न विद्या कृतो न धर्मोऽखिलसौख्यदाता ।३८३
तेन प्रमूढेन नृजन्मरत्नं प्राक्षिप्यते सिंधुजले ह्यपारे।
ततो नरो वापि स नारकीव प्रत्यक्षमेव प्रतिभात्यभागी ॥३८४॥

अर्थ—जिस मनुष्यने मनुष्य पर्याय पाकर भी मान अपमानके विचारका त्याग नहीं किया, अपना लाभ और अपनी प्रतिष्ठाके विचारका त्याग नहीं किया, जिसने न तो मोहका त्याग किया, न काम सेवनका त्याग किया, न प्रमादका त्याग किया, न भगवान् अरहंत देवका ध्यान किया, न अध्यात्म विद्याका पठन-पाठन किया और न समस्त सुखोंको देनेवाले धर्मको धारण किया, उस अज्ञानी मनुष्यने मनुष्यजन्म रूपी रत्नको पाकरके भी इस संसाररूपी महासागरके अगाध जलमें फेंक दिया इसलिए वह अभागी मनुष्य प्रत्यक्ष नारकीके समान जान पडता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ जब तक यह प्रबल मोह लगा रहता है तब तक उस मोहके उदयसे ही सदाकाल मान वा अपमानका ध्यान रक्खा करता है तथा उसी मोहके कारण अपने लाभ और प्रतिष्ठा

आदिका ध्यान रक्खा करता है। अमुक मनुष्य मुझसे ऊंचा न हो जाय, अमुक मनुष्यको मुझसे अधिक लाभ न हो जाय, अमुक मनुष्यकी प्रतिष्ठा क्यों अधिक हो गई, मेरी क्यों नहीं हुई इस प्रकारके मान अपमानका ध्यान वा लाभ वा प्रतिष्ठाका ध्यान तीव्र मोहकर्मके उदयसे ही होता है। यदि मोह-कर्मका नाश होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय तो यह मनुष्य अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जान लेनेके कारण मोहके समस्त विकारोंको आत्मासे भिन्न समझने लगता है और फिर उन समस्त विकारोंका त्यागकर आत्माको अत्यन्त शुद्ध बनानेका प्रयत्न करता है। उस समय वह मनुष्य पर्यायके जितने कर्तव्य हैं उन सबका पालन करता है। काम, क्रोध, मोह, प्रमाद आदि सब विकारोंका त्याग कर अध्यात्म विद्याके अध्ययन करनेमें लग जाता है और अनन्त सुखको देनेवाले आत्माके स्वभावरूप धर्मको धारण कर लेता है। यही मनुष्य जन्मका सर्वोत्तम कर्तव्य है, परन्तु जो मनुष्य ऐसा नहीं करता वह अज्ञानी कहलाता है और रत्नके समान इस बहुमूल्य बडी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य मनुष्य जन्मको भोगोपभोगोंके द्वारा संसार सागरमें डुबो देता है। ऐसा मनुष्य कभी भी योग्य मनुष्य नहीं कहलाता, किंतु भाग्यहीन और अज्ञानी कहलाता है तथा नारकीके समान महादुःखी होता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको मनुष्य पर्याय पाकरके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिए और फिर मोहादिक समस्त विकारोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही मनुष्य पर्यायका कर्तव्य है।

प्रश्न—कः कुशलोऽस्ति जीवः कौ वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब मेरे आत्माकी सिद्धिके लिए कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें सबसे अधिक कुशल मनुष्य कौनसा है ?

उत्तर—लब्ध्वा धनं झटिति यो विकृतिं न याति
लिप्तो न तत्र विषयं परिसेव्यमानः।

ताभिर्हतो न सततं ललनारतोपि
जातो न तस्य वशगः समयाश्रितोपि ॥३८५॥
ग्रस्तश्च नैव भुवने भुवनस्थितोपि
चारित्रमोहवशगोपि ततोतिदूरः ।
धर्मार्थकार्यनिरतोपि निजे निमग्नः
पूर्वोक्तकार्यकुशलो विरलोस्ति वीरः ॥३८६॥

अर्थ—जो पुरुष धन पाकरके भी अपने हृदयमें शीघ्र ही विकारभाव धारण नहीं कर लेता है, जो विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, निरन्तर स्त्रियोंके साथ क्रीडा करता हुआ भी उनसे ताडित नहीं होता अर्थात् उनके वशीभूत नहीं होता, जो समयके अनुसार कार्य करता हुआ भी उसके आधीन नहीं होता, संसारमें रहता हुआ भी जो संसारमें लीन नहीं होता, जो चारित्रमोहनीय कर्मके वशीभूत होकर भी उससे अत्यन्त दूर रहता है और जो धर्मकी वृद्धिके लिए अनेक कार्य करता हुआ भी सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहता है। इसप्रकार इन सब कामोंको करनेवाला पुरुष सबसे अधिक कुशल कहलाता है। ऐसा शूरवीर कुशल पुरुष इस संसारमें विरला ही होता है।

भावार्थ—प्रायः धन पाकरके सब पुरुष मदोन्मत्त हो जाते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो यह धन ही समस्त अनर्थोंकी जड है। प्रायः धनी पुरुष ही सब प्रकारके अन्याय और अनर्थ करते हुए देखे जाते हैं तथा अनेक प्रकारके अभक्ष्य भक्षण करते हुए देखे जाते हैं इसलिए ऐसे धनको पाकरके भी जो पुरुष अपने हृदयमें किसी प्रकारके विकार धारण नहीं करता उसी मनुष्यको अत्यन्त कुशल कहना

चाहिए। इसीप्रकार इन्द्रियोंके विषयोंको सेवन करनेवाले पुरुष उन विषयोंमें लीन हो जाते हैं और फिर अपने आत्माका स्वरूप सर्वथा भूल जाते हैं इसलिए इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन न होना ही कुशलता है, जो पुरुष सदाकाल स्त्रियोंमें क्रीडा करते रहते हैं वे पुरुष प्रायः उन्हींके वशीभूत हो जाते हैं। स्त्रियोंके वशीभूत होकर फिर वे अनेक प्रकारके अनर्थ करते हैं और अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कर नरक-निगोदके दुःख भोगते हैं इसलिए स्त्रियोंके वशीभूत न होना ही कुशलता है। जो समयके अनुसार चलते हैं वे समयके प्रवाहमें बहकर अपने आत्माका स्वरूप और अपने आत्माका कल्याण करना भूल जाते हैं। यह उनकी अज्ञानता है। जो पुरुष समयके अनुसार अन्य सब काम करते हुए भी आत्माका कल्याण करना नहीं भूलते, समयके प्रवाहमें नहीं बहते उन्हींको कुशल पुरुष समझना चाहिए। जो पुरुष संसारमें रहता हुआ भी सांसारिक कार्योंमें लीन नहीं होता, चक्रवर्ती महाराज भरतके समान जो छहों खडोंका राज्य करता हुआ भी उसमें कभी लिप्त नहीं होता, जो इतने बडे साम्राज्यका पालन करते हुए भी सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहता है वही महापुरुष कुशल गिना जाता है जो पुरुष चारित्रमोहनीयकर्मके वशीभूत होता हुआ भी चारित्रमोहनीयकर्मसे दूर रहता है, अर्थात् जो संज्वलन वा प्रत्याख्यानावरण कषायके वशीभूत होता हुआ भी अप्रत्याख्यानावरण और अनन्तानुबन्धी कषायसे अत्यन्त दूर रहता है तथा धीरे-धीरे उस प्रत्याख्यानावरण वा संज्वलनका भी त्याग कर देता है, ऐसा पुरुष सबसे अधिक कुशल गिना जाता है। इसीप्रकार जो पात्रदान, जिनपूजन आदि धार्मिक कार्योंको करता हुआ भी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है वही पुरुष कुशल कहलाता है। ऐसे-ऐसे कुशलपुरुष इस संसारमें बहुत थोडे होते हैं और ऐसे कुशलपुरुष ही अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको ऐसा ही कुशल बनकर आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कौ धर्माचरणेन स्यात्किं किं मे वद भो गुरो ?

अर्थ–हे गुरो ! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस संसारमें धर्मरूप आचरण धारण करनेसे किस किस पदार्थकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर–दूरः सदा दूरतरोस्ति यश्च, स एव सर्वोपि भवेत्समीपः ।
सुदुर्लभो यः सुलभः स एवाऽसाध्यः स साध्योऽप्यवशो वशी स्यात्॥
सुदुःखदः कौ सुखदः स एव, दुष्टोपि शिष्टो हि रिपुः सखा स्यात् ।
सर्पोपि माला हि विषं सुधा स्यात् पत्नीव धर्माचरणेन लक्ष्मीः ॥३८८॥

अर्थ–धर्मका आचरणकरनेसे जो पदार्थ दूर वा अत्यंत दूर होते हैं वे भी सब पदार्थ अपने समीप आ जाते हैं, जो पदार्थ अत्यंत दुर्लभ होते हैं वे भी सुलभ हो जाते हैं, जो पदार्थ असाध्य होते हैं वे भी साध्य हो जाते हैं, जो पदार्थ किसीके वश नहीं होते वे भी वशमें हो जाते हैं, जो पदार्थ दुःख देनेवाले होते हैं वे भी सुख देनेवाले हो जाते हैं, जो दुष्ट होते हैं वे सज्जन हो जाते हैं, शत्रु मित्र हो जाते हैं, सर्प माला बन जाता है विष अमृत हो जाता है और लक्ष्मी पत्नीके समान हो जाती है ।

भावार्थ–धर्म सेवन करनेका फल अत्यंत विचित्र होता है, उसको कोई चिन्तवन भी नहीं कर सकता । देखो ! सेठ सुदर्शनको शूलीपर चढाया था तथापि धर्मके प्रसादसे वह शूली भी सिंहासन बन गया । सती सीताने जब अग्निकुंडमें प्रवेश किया था तब सब लोग हा-हाकार करने लगे थे परन्तु धर्मके प्रसादसे वह अग्निकुंड भी कमलोंसे सुशोभित सरोवर बन गया था । सोमा सतीने जब नमस्कार मंत्र पढकर घडेमें से सर्प निकालनेके लिए हाथ डाला था तब वह सर्प धर्मके प्रसादसे ही माला बन गया था । पर्वके दिन जब राजपुत्र वारिषण श्मशानमें ध्यान धारण किए विराजमान थे तब कोइ चोर चुराया हुआ हार उनके आगे डाल गया था । चोरका पीछा करनेवाले पहरेदारने जब

वारिषेणके आगे पडा हुआ हार देखा तो उसने उसी समय राजासे कहा । राजाने उसी समय चांडालको भेजकर उसके मारनेकी आज्ञा दी । चांडालने ज्यों ही तलवार मारी त्यों ही वह तलवार पुष्पमाला बनकर वारिषेणके गलेमें पड गई । उसी समय वहींपर राजा आया और वह छिपा हुआ चोर भी सामने आया । चोरने हार चुरानेका सब अपराध स्वीकार कर लिया । तब राजाने अपने पुत्रसे क्षमा मागी । परन्तु इस कृत्यको देखकर पुत्रने पहले ही प्रतिज्ञा कर ली थी कि यदि मैं इस आपत्तिसे बच जाऊंगा तो दीक्षा धारण कर लूंगा । उस प्रतिज्ञाके अनुसार राजपुत्र वारिषेणने जिन दीक्षा धारण कर ली । यह सब धर्मका ही प्रभाव था । धर्मके ही प्रसादसे आचार्य मानतुंगके बंधन कट गये थे और धर्मके ही प्रसादसे मुनिराज श्रीवादिराजका कोढी शरीर सुवर्णमय हो गया था । कहांतक कहा जाय इस धर्मांचरणकी अद्भुत महिमा है । जो मेंडक एक फूलकी पंखडी लेकर भगवान् महावीर स्वामीकी पूजा करने चला था किन्तु मार्गमें ही हाथीके पैरके नीचे दबकर मर गया था और उसी समय उत्तम देदीप्यमान देव हुआ था वह देव उसी समय भगवान् महावीर स्वामीकी पूजा करनेके लिए समवशरणमें आया था और सब लोगोंके लिए भगवान् महावीर स्वामीकी पूजा करनेका माहात्म्य उसने प्रगट कर दिखाया था । अतएव भव्यजीवोंको सदाकाल धर्मका सेवन करते रहना चाहिए ।

प्रश्न—को नरजन्मयोग्योस्ति वद मे साम्प्रतं गुरो ?

अर्थ—हे स्वामिन् । अब कृपाकर यह बतलाइए कि मनुष्य जन्म प्राप्त करनेके योग्य कौनसा जीव समझा जाता है ?

उत्तर—कौ यः सदा परगुणस्तवनेतिदक्षः निःस्वार्थतः स्वगुणनिंदन एव धीरः ।
सिद्ध्यै निजस्य निजदोषविलोकनारिः ज्ञानी स एव परदोषविलोकने वा ॥

सत्यार्थदेवगुरुशास्त्रविधेर्विधाता सन्तोषशान्तिनिलये सततं निवासी ।
पूर्वोक्तकार्यनिरतो नरजन्मयोग्यो यस्तद्विना पशुसमः प्रतिभाति मत्तः ॥

अर्थ—जो पुरुष इस संसारमें दूसरेके गुणोंकी स्तुति करनेमें अत्यन्त चतुर होता है, जो बिना किसी स्वार्थके अपने गुणोंकी निंदा करनेमें शूर-वीर होता है, जो अपने आत्माकी सिद्धिके लिए अपने दोषोंको देखनमें भी शत्रुका काम करता है, जो दूसरोंके दोषोंको देखनेमें ज्ञानी बन जाता है, जो यथार्थ देव शास्त्र गुरुकी पूजा सेवा आदि विधियोंका विधान करता रहता है और जो संतोष तथा शांतिके स्थानमें ही सदाकाल निवास करता है । इसप्रकार जो ऊपर लिखे हुए कार्योंमें तल्लीन रहता है वही मनुष्य मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका अधिकारी माना जाता है । जो पुरुष ऊपर लिखे कार्योंमें अपनी अभिरुचि नहीं रखता वह मदोन्मत्त पुरुष पशुके समान कहलाता है ।

भावार्थ—जो पुरुष मनुष्य पर्याय पाकरके भी दूसरोंके गुणोंको प्रशंसनीय नहीं समझता वह गुणज्ञ नहीं कहलाता । फिर तो उसे दोषोंको ही ग्रहण करनेवाला ही समझना चाहिए । दोषोंको ग्रहण करना मनुष्यताकी योग्यताके बाहर है । इसलिए गुणोंकी स्तुति करना और गुणोंको ग्रहण करना मनुष्यताके योग्य है । इसीप्रकार अपने गुणोंकी प्रशंसा करना भी मनुष्यताके बाहर है । इसलिए अपने गुणोंकी प्रशंसा न करना वा अपने गुणोंकी निंदा करना मनुष्यताका योग्य कर्त्तव्य है । अपने दोषोंको देखनेके लिए जो शत्रुका काम करता है अर्थात् जिसप्रकार हमारा शत्रु हमारे दोषोंको देखा करता है उसीप्रकार जो स्वयं अपने दोषोंको देखा करता है और फिर उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है वही मनुष्य जन्मके कर्त्तव्यको पालन करता है । इसीप्रकार जो पुरुष दूसरोंके दोष देखनेमें ज्ञानी बन जाता है अर्थात् ज्ञानी पुरुष जिसप्रकार दूसरोंके दोषोंको देखता हुआ भी न देखनेके समान बन जाता है उसी-प्रकार जो मनुष्य दूसरोंके दोषोंको देखता हुआ भी नहीं देखनेके समान आचरण करता है वह मनुष्य

अवश्य ही मनुष्य जन्मके योग्य माना जाता है। इसीप्रकार जो पुरुष भगवान् अरहंतदेवकी ही पूजा करता है, उनके कहे हुए शास्त्रोंको ही आत्माका कल्याण करनेवाला समझता है और वीतराग निर्ग्रंथ गुरुको ही अपना गुरु मानकर उनकी सेवा-भक्ति करता है वही पुरुष अपने मनुष्य जन्मका कर्त्तव्य पालन करता है तथा जो पुरुष संतोष और शांतिके ही स्थानमें रहता है अन्य कलहके स्थानों-का सर्वथा त्याग कर देता है। अथवा जो आत्माके शुद्ध स्वरूपमें हो निवास करता है वही मनुष्य मनुष्य जन्मके कर्त्तव्यको पालन करता है। इसलिए ऊपर लिखे कर्त्तव्यको पालन करनेवाले मनुष्य ही मनुष्य जन्मके प्राप्त करनेके अधिकारी माने जाते हैं! अतएव भव्यजीवको इनका पालन अवश्य करते रहना चाहिए। जो पुरुष इनका पालन नहीं करता वह पशुओंके समान आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित कहलाता है।

प्रश्न—कथं स्यात्स्वात्मतृप्त्यादिः वद मे शर्मद प्रभो ?

अर्थ—हे कल्याण करनेवाले स्वामिन्! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि आत्माकी तृप्ति वा शुद्धि आदि किस प्रकार हो सकती है?

उत्तर—स्वरसपानतस्तृप्तिर्न तु दुग्धादिपानतः।
लोभत्यागेन शुद्धिः स्यान्न तु स्नानेन केवलम् ॥३९१॥
स्यात्स्वात्मध्यानतः सिद्धिस्तपसा न च केवलम्।
स्वात्मनिवासतः शान्तिर्न गृहवनवासतः ॥३९२॥
परवस्तुपरित्यागान्मुक्तिर्ज्ञानान्न केवलम्।
ज्ञात्वेति ममतां त्यक्त्वा कुर्वन्तु शर्मदं विधिम् ॥३९३॥

अर्थ—इस संसारमें अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले आनन्दके अनुपमरससे ही आत्माकी तृप्ति होती है, दूध वा शर्बत आदिके पीनेसे आत्माकी तृप्ति कभी नहीं होती। लोभके त्याग कर देनेसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, केवल स्नान कर लेने मात्रसे आत्माकी शुद्धि कभी नहीं होती। इसीप्रकार अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेसे ही आत्माकी सिद्धि होती है, केवल तपश्चरण कर लेने मात्रसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती। अपने आत्मामें निवास करनेसे वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे आत्माको अनन्तशांतिकी प्राप्ति होती है, घरमें वा वनमें रहनेसे आत्माको शांति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसीप्रकार परपदार्थोंका त्याग कर देनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती। यही समझकर सबसे पहले ममत्वका त्याग कर देना चाहिए और कल्याण करनेवाली ध्यानादिककी विधि करते रहना चाहिए।

भावार्थ—मूर्त पदार्थसे मूर्त पदार्थकी ही तृप्ति होती है मूर्त पदार्थसे अमूर्त पदार्थकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। दूध आदि जितने दिखनेवाले पदार्थ हैं वे मूर्त हैं उनसे मूर्त शरीर ही तृप्त हो सकता है दूध आदि मूर्त पदार्थोंसे अमूर्त आत्मा कभी तृप्त नहीं हो सकता। यदि अमूर्त आत्माकी तृप्ति होती है तो अमूर्त आत्माके आनन्दरससे ही आत्माकी तृप्ति होती है। दूध पीनेसे थोडी देर बाद ही फिर भूख लग जाती है परन्तु आत्मजन्य आनन्दरससे तृप्त होनेपर फिर कभी भी उसकी लालसा नहीं होती। वास्तवमें देखा जाय तो तृप्ति इसीको कहते हैं। इसीप्रकार शुद्धि उसीको कहते हैं जिसमे फिर कभी अशुद्धि न हो। आत्मामें ऐसी शुद्धि लोभादिक समस्त कषायोंका त्याग कर देनेसे ही होती है। स्नान करनेसे आत्माकी यथार्थ शुद्धि नहीं होती। इसीप्रकार आत्माकी सिद्धि [illegible] ।न्ती प्राप्ति केवल तपश्चरणसे नहीं होती किंतु अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेसे होती है। जिस तपश्चरणमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान किया जाता है उसीको तपश्चरण कहते हैं। जिस तपश्चरणमें

आत्माका चिन्तवन नहीं होता उसको तपश्चरण कभी नहीं कह सकते और न ऐसे तपश्चरणसे आत्माकी सिद्धि होती है। इसीप्रकार न तो घरमें रहनेसे शांति प्राप्त होती है और न वनमें रहनेसे शांति प्राप्त होती है, किंतु यथार्थ शांतिकी प्राप्ति अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे होती है। इसका भी कारण यह है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे निराकुलता प्राप्त होती है और निराकुलताको ही शांति कहते हैं। वह निराकुलता घर वा वनमें रहनेसे कभी नहीं होती। इसीप्रकार मोक्षकी प्राप्ति समस्त परपदार्थोंके सर्वथा त्याग कर देनेसे होती है। केवल उन पदार्थोंको जान लेने मात्रसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती। मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना है। यह जीव अनादिकालसे कर्मोंसे बंध रहा है। तथा कर्म सब आत्मासे भिन्न हैं और इसीलिए उनको पर कहते हैं उन समस्त कर्मोंका नाश हो जाना ही मोक्ष है इसीलिए आचार्य महाराजने परपदार्थोंके परित्याग करनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति बतलाई है। उन कर्मोंका स्वरूप जान लेने मात्रसे वे कर्म नष्ट नहीं होते, किंतु ध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश किया जाता है इसलिए कर्मोंका नाश होना ही मोक्ष है। केवल उनको जान लेना मोक्ष नहीं है। यही सब समझ करके प्रत्येक भव्यजीवको परपदार्थोंके ममत्वका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और समस्त कर्मोंका नाश कर आत्माका कल्याण करनेवाली मोक्षकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए। यही भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—कस्य वृद्धिः कलौ काले तथा हानिर्भवेद् वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस कलिकालमें किस-किसकी तो वृद्धि होती है और किस-किसकी हानि होती है ?

उत्तर—काले कलौ कैतवता पशुत्वं निर्लज्जता दाम्भिकता व्यथादा।
सुदुष्टता वाऽमतिता विशेषात् प्रवर्द्धते लोभकषायतापि ॥३९४॥

धर्मज्ञता स्वात्मविचारतापि कारुण्यता कोमलता नरत्वम्।
सत्साधुता दीर्घविचारतापि प्रतिक्षणं नश्यति चैव नृणाम् ॥३९५॥

अर्थ—इस कलिकालमें छल-कपट, पशुपना, निर्लज्जता, दुःख देनेवाले अनेक प्रकारके ढोंग दुष्टता, निर्बुद्धिपना और विशेषकर लोभ कषायता बढती जाती है तथा धर्मज्ञता, अपने आत्माका विचार करना, करुणा, कोमलता, मनुष्यपना, सज्जनता और दीर्घ विचार करना आदि मनुष्योंके गुण सब नष्ट होते जाते हैं।

भावार्थ—इस कलिकालमें छल-कपट बहुत बढ गया है, वर्तमान कालके मनुष्य कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। ऊपरसे बहुत अच्छी-अच्छी मीठी बातें बनाते हैं, अपने ही स्वार्थमें दूसरोंका उपकार दिखलाते हैं और अन्तमें सबका गला घोंटकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। इसीप्रकार पशुपना बढता जाता है। मनुष्योचित सदाचार छूटता जाता है और पशुओंके समान असदाचारता बढती जाती है। भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं रहा है। पशुओंके समान रात दिन खाते रहते हैं और चाहे जो खा जाते हैं। पशु तो खाने योग्य पदार्थको सूंघ लेता है। यदि वह खाने योग्य नहीं हुआ तो उसे वह छोड देता है परन्तु वर्तमानके मनुष्य कुछ नहीं देखते चाहे जहां जो कुछ मिलता है सब खा जाते हैं। यह पशुओंसे भी बढकर पशुपना है। निर्लज्जताका कुछ ठिकाना नहीं रहा है। चाहे जिस जातिकी और चाहे जिसकी स्त्री को अपनी स्त्री बना लेते हैं और फिर बहुरूपियाके समान चाहे जैसा वेष बनाकर बाजारमें भी उस स्त्रीको साथ लिए फिरते हैं। खडे होकर पेशाव करना आदि सब निर्लज्जताके ही साधन इकट्ठे हो रहे हैं और उन्हींको इस कलिकालके मनुष्य अपनाते जाते हैं। इसीप्रकार इस कलिकालमें दांभिकता वा ढोंग भी खूब बढ गये हैं। अनेक त्यागी ब्रह्मचारी अपनी लालसाएं पूर्ण करनेके लिए ही त्यागी ब्रह्मचारी बन गये हैं, अनेक ब्रह्मचारी पैसा कमानेके लिए ब्रह्मचारी बन गये

हैं। जो रातभर मद्य मांसमय औषधियां खाते रहते हैं वे भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं और विधवा-विवाह वा घरेजाके पुरोहित भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं। शास्त्री और विद्वान् कहलानेवाले भी शास्त्रोंका विपरीत अर्थ लगाकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं, जैनी कहलाकर भी जिनवाणीका खंडन कर रहे हैं। कहांतक कहा जाय ? दांभिकता और दुष्टता बहुत बढ गई है। वर्तमानमें दुष्ट लोग अपनी दुष्टताके कारण अपना आतंक जमा लेते हैं और शिष्ट लोग किसी एकांतमें पडे-पडे सडते रहते हैं। लोभ कषाय और निर्बुद्धिता इतनी बढ गई है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं है। लोभ कषायके वशीभूत होकर लोग चाहे जैसा हिंसामय व्यापार कर लेते हैं। न कुछ विचार रहा है और न संतोष रहा है। जहां देखो ! वहां दुर्गुण ही बढते जाते हैं। लोग धर्म कार्योंको छोडते जा रहे हैं। वर्तमानके लोग पैसा कमानेके लिए चाहे जितने ढोंग करते हैं परन्तु वे अपने उन ढोंगोंको ठीक ही समझते हैं और धर्म कार्योंको ढोंग बतलाते हैं मेरा आत्मा कैसा है उसका स्वरूप क्या है उसके सांसारिक दुःख कैसे दूर हो सकते हैं उसका कल्याण किस प्रकार हो सकता है इत्यादि विचार सर्वथा नष्ट हो गये हैं। इन्हीं सब विचारोंके नष्ट होनेसे करुणा और कोमलता भी नष्ट हो गई है और मनुष्यपना तथा सज्जनता भी नष्ट हो गई है। मैं जो यह काम करता हूं इसका क्या फल होगा, अच्छा फल होगा या बुरा फल होगा. इससे मुझे सुख मिलेगा वा दुःख मिलेगा, इसप्रकारका विचार सर्वथा नष्ट होता जाता है। कोई भी अयोग्य वा स्वार्थी मनुष्य जो कुछ कह देता है उसी कामको बिना कुछ सोचे विचारे करने लग जाते हैं। इसीप्रकार लोग सब दुःखी हो रहे हैं परस्पर वात्सल्यभाव नष्ट हो गया है और लोगोंके हृदयमें स्वार्थ और दुर्भावनाओंने घर कर लिया है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माका हिताहित देखकर धर्मानुकूल काम करना चाहिए, कलिकालकी वायुमें नहीं बह जाना चाहिए। वायुमें बह जाना मच्छर वा पतंगोंका काम है मनुष्योंका काम नहीं है।

प्रश्न—स्यात्केन हेतुना सिद्धिः स्वात्मनो वद मे गुरो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर मेरे लिए यह बतलाइए कि अपने आत्माकी सिद्धि किन-किन कारणोंसे होती है ?

उत्तर—वांच्छादिनाशतो नृणां वनितासंगत्यागतः ।
गृहसंसर्गदूराद्वा सन्तोषधैर्यतो ध्रुवम् ॥ ३९६ ॥
रागद्वेषविनाशाद्धि सर्वसंकल्पनाशतः ।
हेयोपादेयबोधात्स्यात्सिद्धिः स्वानन्ददर्शिनी ॥ ३९७ ॥
ज्ञात्वेति तत्त्वतस्तत्त्वं पूर्वोक्तधर्मसिद्धये ।
यतन्तां यत्नतो भव्याः संसारबंधभेदिनः ॥ ३९८ ॥

अर्थ—इस संसारमें मनुष्योंको अपने आत्माकी सिद्धि वांछा इच्छा वा लालसाओंका नाश कर देनेसे होती है, स्त्रीसमागमका त्याग कर देनेसे होती है, घरका सबका संबंध छोड देनेसे आत्माकी सिद्धि होती है, संतोष तथा धैर्य धारण करनेसे आत्माकी सिद्धि होती है, राग द्वेषका त्याग कर देनेसे आत्माकी सिद्धि होती है, सब प्रकारके संकल्प विकल्पोंका त्याग कर देनेसे आत्माकी सिद्धि होती है और हेय तथा उपादेयका ज्ञान होनेसे आत्मजन्य आनंदको प्रगट करनेवाली आत्माकी सिद्धि होती है। अतएव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर अपने आत्माकी सिद्धि करनेके लिए रागद्वेषादिकका सर्वथा त्याग कर हेयोपादेयका ज्ञान प्राप्त करनेके बंधनोंको नाश करनेवाले भव्यजीवोंको सदाकाल अपनी समस्त शक्ति लगाकर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा है तथा उस परिभ्रमणका कारण राग द्वेष है वा स्त्री घरका संबंध वा अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प हैं। यह जीव इन राग द्वेषके कारण वा अनेक प्रकारकी लालसाओंके कारण अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न किया करता है और अनेक प्रकारके अशुभ कर्मोंका बंध किया करता है तथा उस कर्मबंधके कारण फिर इस संसारमें परिभ्रमण किया करता है। घर गृहस्थीमें रहता हुआ यह मनुष्य अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है, व्यापारमें अनेक प्रकारके पाप करता है, भोगोपभोगोंकी सामग्री इकट्ठी करनेमें अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है तथा उन पापोंके ही कारण अशुभ कर्मोंका बंध करता हुआ संसारमें परिभ्रमण किया करता है। संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कभी नरकमें जाता है कभी निगोदके दुःख भोगता है कभी पशुओंमें जन्म लेता है और कभी देव वा मनुष्य होता है। इसप्रकार यह जीव सदाकाल दुःख भोगा करता है। यदि यह जीव अपने आत्माको इन दुःखोंसे बचाकर सदाके लिए सुखी बनाना चाहता है और आत्माकी सिद्धि वा मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहता है तो उसको सबसे पहले समस्त इच्छाओंका नाश कर तपश्चरण धारण कर लेना चाहिए, स्त्रीसमागम और घरके समस्त संबंधोंका त्याग कर महाव्रत धारण कर लेने चाहिए, राग द्वेषका त्याग कर वीतराग अवस्था धारण कर लेनी चाहिए और संकल्प विकल्पोंका त्याग कर मन और इंद्रियोंको अपने वशमें कर लेना चाहिए। तदनंतर संतोष और धैर्य धारण कर हेयोपादेयका विचार करना चाहिए। जो हेय अर्थात् त्याग करने योग्य हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए और जो उपादेय वा ग्रहण करने योग्य हैं उनको ग्रहण कर लेना चाहिए। आत्माका शुद्ध स्वरूप ग्रहण करने योग्य है और उसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ वा आत्माके विकार सब त्याग करने योग्य हैं। इसप्रकार तत्त्वोंका स्वरूप समझ कर आत्मजन्य अनंत आनंदको प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको प्रयत्न करते रहना चाहिए। आत्मजन्य अनंत आनंदके प्राप्त होनेपर ही इस जीवका

संसार परिभ्रमण वा कर्मोंका बंधन नष्ट हो सकता है। संसार और कर्मबंधनोंके नाशका अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न–काले कलौ मुनिः कुत्र निवसेन्मे वद प्रभो ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपा कर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस कलिकालमें मुनि लोग कहां-कहां निवास करते हैं ?

उत्तर–ग्रामे नगर्यां विपिने श्मशाने गिरौ गुहायां निलये जिनानाम्।
नदीतटेऽहं निवसामि नित्यं त्यक्त्वेति निंद्यं कुदुराग्रहादिम् ॥३९९॥
द्रव्यादिभावं स्वबलं च बुद्ध्वा यदा यथा यत्र च योग्यता स्यात्।
त्यक्त्वा प्रमोहं निवसेद्धि तत्र निःस्वार्थबुद्ध्या स्वपरात्मसिद्ध्यै ॥४००॥

अर्थ–प्रत्येक मुनिको सबसे पहले द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रभाव देख लेना चाहिए और फिर अपना बल वा अबल देख लेना चाहिए। यह सब समझ कर अपने रहनेके लिए तथा अपने आत्माका कल्याण और अन्य भव्यजीवोंका कल्याण करनेके लिए जहां योग्यता मिल जाय वहीं रह जाना चाहिए किसी भी स्थानके रहनेमें अपना काइ स्वार्थ नहीं देखना चाहिए तथा किसीप्रकारका दुराग्रह नहीं करना चाहिए। वह रहनेकी और स्वपरकल्याणकी योग्यता यदि किसी गांवमें मिल जाय तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी नगरमें मिल जाय तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी सूने मकानमें ऐसी योग्यता मिल जाय तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी श्मशानमें ऐसी योग्यता मिले तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी पर्वतपर वा किसी गुफामें ऐसी योग्गता मिले तो वहां रह जाना चाहिए और यदि किसी वनमें वा जिनालयमें ऐसी योग्यता मिले तो वहां रह जाना चाहिए। स्वपरकल्याणकी

योग्यता जहां मिलती हो वहींपर अपना स्वार्थ वा मोहका त्याग कर निवास कर लेना चाहिए।

भावार्थ—जब यह मनुष्य भोगोपभोगोंसे वा इंद्रियोंके विषयोंसे और संसारसे विरक्त हो जाता है तब यह जीव अपने सब मोह और ममत्वका त्याग कर मुनिदीक्षा धारण करता है। मुनि होनेपर यह मनुष्य अपने गुरुसे शिक्षा प्राप्त करता रहता है और उनकी आज्ञानुसार सम्यक्चारित्रका पालन करता रहता है। वह मनुष्य अपने घरकी सुख सामग्रीका त्याग कर आत्माका कल्याण करनेके लिए ही मुनि दीक्षा धारण करता है इसलिए वह अपने आत्मकल्याणका सर्वत्र ध्यान रखता है। मोहका त्याग उसके हो ही जाता है और राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देनेके कारण वह वीतराग हो ही जाता है। इसलिए वह मुनि दीक्षा लेनेके अनन्तर चाहे तो किसी नगरमें रहे वा किसी गांवमें निवास करे अथवा किसी वनमें निवास करे उसके लिए सब स्थान समान होते हैं। मुनि लोग तो अपने आत्मासे ही विशेष प्रयोजन रखते हैं फिर वे न तो राजमहलकी सुन्दरता देखते हैं और न वनकी स्वाभाविक शोभा देखते हैं। उनके लिए जैसा राजभवन वैसा पर्वत वा वन। वे मुनिराज न तो वनमें रहनेका दुराग्रह करते हैं और न गांव वा नगरमें रहनेका दुराग्रह करते हैं। जहां उनको तपश्चरण करनेकी योग्य सामग्री मिल जाती है वहीं रह जाते हैं। हां! पहलेके समयमें और कलिकालके समयमें शारीरिक शक्तिका अन्तर अवश्य है। पहलेके संहनन अच्छे सुदृढ थे अब इस कालमें संहनन सुदृढ नहीं है। इसलिए पहले अनेक मुनि एक-एक दो-दो महीनेका उपवास धारण कर वनमें ही रहते थे यह बात अब नहीं हो सकती। यद्यपि वे मुनिराज मोह व ममत्वसे रहित हैं तथापि संहननकी हीनता होनेके कारण वे मुनिराज इसप्रकार महीने दो महीनेका उपवास धारण कर वनमें नहीं रह सकते। इसलिए वर्तमान कालमें मुनिराज गांव वा नगरके निकट ही निवास करते हैं। पहलेके कितने ही मुनिराज भी किसी जिनालयमें ही वर्षायोग धारण करते थे तथा वर्षायोग पूर्ण होनेपर फिर किसी दूसरे जिना-

लयमें चले जाते थे। शास्त्रोंमें इनके अनेक उदाहरण हैं। इसलिए मोह और ममत्वका त्याग करनेवाले मुनि अपने स्वपरकल्याणकी योग्यता देख कर वनमें नगरमें गांवमें जिनालयमें वा पर्वतपर गुफामें वा वनमें चाहे जहां रह सकते हैं।

प्रश्न–केवलं जनवृद्धयै ये यतन्ते ते च कीदृशाः ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो लोग केवल जनसंख्या बढानेके लिए यत्न करते हैं वे कैसे हैं ?

उत्तर–केवलं जनवृद्धयै को यतन्ते यावदेव ये।
नाचारो नरता तेषां तावत्सिद्धिर्न कामदा ॥४०१॥
ज्ञात्वेति कुमतिं त्यक्त्वा यतन्तां धर्मवृद्धये।
सद्वस्त्वन्वेषणार्थं वा मोक्षसिद्धिर्भवेद्यतः ॥४०२॥

अर्थ—इस संसारमें जो लोग जबतक केवल जनसंख्याकी वृद्धिके लिए प्रयत्न करते रहते हैं तब-तक उनके न तो आचार विचार रहते हैं न मनुष्यता रहती है और न इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली आत्माकी सिद्धि ही होती है। यही समझ कर जनसंख्याकी वृद्धिकी कुबुद्धिका त्याग कर देना चाहिए और धर्मकी वृद्धिके लिए अथवा श्रेष्ठ पदार्थोंके अन्वेषणके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही मोक्षकी सिद्धि हो जाय।

भावार्थ—जो लोग जनसंख्याकी वृद्धि करना चाहते हैं वे वास्तवमें जनसंख्या बढाना नहीं चाहते किन्तु अपनी दुर्वासनाएं पूर्ण करना चाहते हैं। संसारमें वेकारी बढ रही है लोगोंको पेटभर अन्न कठिनतासे मिलता है, लाखों करोडों मनुष्य विना खाये सो जाते हैं और यही सब कृत्य देखकर कुछ लोग

सन्ताननिग्रहका प्रश्न खडा कर देते हैं। ऐसी अवस्थामें जनसंख्याकी वृद्धिकी बात कहना केवल दुर्वासनाको पूर्ण करनेका बहाना बनाना है। शास्त्रानुकूल विवाहके अनन्तर होनेवाली सन्तानको तो कोई रोकता ही नहीं है परन्तु शास्त्रोंकी आज्ञानुसार विधवाओंके सन्तानका होना अवश्य रुका हुआ है और जनसंख्याकी वृद्धिके बहानेसे इसीको वे लोग प्रचलित करना चाहते हैं। विधवाओंसे सन्तान उत्पन्न कराना महा निर्लज्जताका और महापापका काम है। ऐसे महापापका उपदेश देना स्वयं पतित होनेकी अपेक्षा भी महापाप है। स्वयं पतित होनेवाला मनुष्य नरक जाय वा न जाय किन्तु पतित होनेका उपदेश देनेवाला मनुष्य राजा वसुके समान अवश्य नरक जाता है। ऐसे मनुष्यके न तो कोई आचार विचार रहता है न मनुष्यपना रहता है और न वह किसी भी सांसारिक कार्यकी भी सिद्धि कर सकता है। इसलिए समझदार मनुष्योंको अपनी इस नरकके दुःख देनेवाली महा कुबुद्धिका त्याग कर देना चाहिए और धर्मकी वृद्धिके लिए वा मोक्षके समान उत्तम पदार्थोंकी खोजके लिए प्रयत्न करना चाहिए। धर्मकी वृद्धि करनेसे वा मोक्षकी वा मोक्षके कारणोंकी खोज करनेसे मोक्षकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। प्रत्येक भव्यजीवको पापोंसे डरते रहना चाहिए और ऐसा उपदेश कभी नहीं देना चाहिए जिससे पापोंकी वा महापापोंकी वृद्धि हो। प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मनुष्य पर्यायका यथार्थ फल है।

प्रश्न–यावत्साम्राज्यलोभोस्ति सिद्धिर्नृणां भवेन्नवा ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें जब तक किसी मनुष्यको साम्राज्यका लोभ विद्यमान है तब तक उसके आत्माकी सिद्धि होती है वा नहीं ?

उत्तर–साम्राज्यवादी भुवि यावदेव साम्राज्यलोभं भयदं त्यजेन्न।
तावन्न सिद्धिर्न निजात्मचर्चा स्नेहोपि न स्याद्धि मिथो जनानाम् ॥

ज्ञात्वेति भूपाः परमार्थहेतुं साम्राज्यलोभेन भवां च हानिम् ।
त्यक्त्वा यतन्तां यतिवर्गतुल्याः निःस्वार्थबुद्ध्याऽखिलविश्वसिद्ध्यै ॥

अर्थ—इस संसारमें साम्राज्यकी इच्छा करनेवाला मनुष्य जब तक महाभय उत्पन्न करनेवाले साम्राज्यके लोभका त्याग नहीं कर देता है तब तक न तो आत्माकी सिद्धि हो सकती है न आत्मतत्त्वकी चर्चा हो सकती है और न लोगोंमें परस्पर स्नेह बढ सकता हे इसलिए समस्त राजा लोगोंको परमार्थकी सिद्धिके कारणोंको समझ लेना चाहिए तथा साम्राज्यके लोभसे होनेवाली हानियोंको समझकर साम्राज्यके लोभका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और फिर मुनियोंके समुदायके समान बिना अपने किसी स्वार्थके समस्त संसारके जीवोंका कल्याण करनेके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—साम्राज्यकी इच्छा करनेसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करने पडते हैं। साम्राज्यकी इच्छा करनेसे अनेक महायुद्ध करने पडते हैं। युद्धोंमें कितनी निर्दयतापूर्वक हिंसा होती है इस बातको सब लोग जानते हैं। इसके सिवाय साम्राज्यकी इच्छा करनेसे अनेक प्रकारके छल-कपट करने पडते हैं कूटनीतिका वर्ताव करना पडता है और न जाने कितने जीवोंका विध्वंस करना पडता है। जिसप्रकार कोई एक मनुष्य वा राजा साम्राज्यकी इच्छा करता है उसी प्रकार अन्य लोग वा अन्य राजा लोग भी साम्राज्यकी इच्छा करते हैं। ऐसी अवस्थामें वे सब परस्पर एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। उनमेंसे प्रत्येक मनुष्य वा राजा दूसरोंको मारना चाहता है, दूसरोंका देश छीनना चाहता है और दूसरोंकी प्रजाको लूटना चाहता है। इस प्रकार साम्राज्यके लोभसे हानि भी बहुत अधिक होती है। कभी-कभी ऐसे राजाकी प्रजा भी बहुत दुःखी हो जाती है और फिर वह अनेक प्रकारके उपद्रव मचाती रहती है तथा कभी-कभी वह प्रजा उस राजाको सिंहासनसे उतार देती है वा मार देती है। इन सब झंझटोंसे उसके परिणाम कभी निराकुल नहीं हो सकते इसलिए वह पुरुष न तो कभी धर्म सेवन कर सकता है

न अपने आचार-विचार श्रेष्ठ रख सकता है, न कभी आत्मतत्त्वकी चर्चा कर सकता है और न अन्य कोई भी पारमार्थिक कार्य कर सकता है। इस प्रकार वह आत्माका कल्याण कभी नहीं कर सकता। अतएव इन सब बातोंको समझ कर साम्राज्यकी लिप्साका त्याग कर देना चाहिए और मुनि लोग जिस प्रकार विना अपने किसी स्वार्थके समस्त संसारका कल्याण चाहते हैं उसी प्रकार राजा लोगोंको भी विना किसी स्वार्थके समस्त संसारके कल्याणकी इच्छा करनी चाहिए। मनुष्य पर्याय पाकरके अपने आत्माका कल्याण कर लेना राजा लोगोंका परम कर्तव्य है। यह राज्यका पाप नरकका कारण है। इसलिए इसका त्याग कर देना और जिनदीक्षा लेकर ध्यान तपश्चरण कर आत्माका कल्याण कर लेना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—भ्रमन्ति के भवारण्ये वद मे सिद्धये गुरो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब मेरे आत्माकी सिद्धिके लिए कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसाररूपी महा सागरमें कौन-कौन जीव परिभ्रमण करते हैं ?

उत्तर—धर्माधर्मं न ये ज्ञात्वा वस्तुयाथात्म्यलक्षणम् ।
स्वस्वधर्मप्रचारार्थं यतन्ते केवलं शठाः ॥४०५॥
तद्दोषात्ते भवारण्ये भ्रमन्त्याचन्द्रतारकम् ।
धर्माधर्मं ततो ज्ञात्वा गृह्णन्तु सिद्धये सदा ॥४०६॥

अर्थ—जो अज्ञानी लोग धर्म अधर्मका स्वरूप तो जानते नहीं और न पदार्थोंका यथार्थ लक्षण जानते हैं। केवल अपने अपने धर्मके प्रचारके लिए ही प्रयत्न किया करते हैं। अतएव इसी महादोषके कारण वे लोग इस संसाररूपी महा सागरमें जबतक सूर्य तारा और चन्द्रमा विद्यमान रहते हैं तबतक

परिभ्रमण किया करते हैं। इसलिए भव्यजीवोंको सबसे पहले धर्म अधर्मका स्वरूप जानना चाहिए और फिर जो यथार्थ धर्म हो उसको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए धारण करना चाहिए।

भावार्थ--इस संसारमें बहुतसे लोग ऐसे हैं जो न तो धर्मका स्वरूप समझते हैं, न अधर्मका स्वरूप समझते हैं और न जीव वा अजीव आदिके यथार्थ स्वरूपको ही समझते हैं तो भी वे अपने-अपने धर्मका प्रचार करनेके लिए प्रयत्न करते हैं। संसारमें अनेक धर्म हैं, कितने ही धर्म मांसभक्षणको उचित समझते हैं, कितने ही धर्म मद्यपानको उचित समझते हैं, कितने ही धर्म मधुसेवनको भी उचित समझते हैं, कितने ही धर्म पशुओंकी बलि देना उचित बतलाते हैं, कितने ही धर्म पशुओंका होम करना ठीक समझते हैं, कितने ही धर्म मूर्तिपूजाका निषेध करते हैं, कितने ही धर्म रात्रिभक्षणको ठीक समझते हैं, कितने ही धर्म पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते हैं, कितने ही धर्म पदार्थोंको सर्वथा अनित्य मानते हैं, कितने ही धर्म इस समस्त संसारका कारणभूत एक अमूर्त ईश्वरको ही मानते हैं, कोई पंचभूतको संसारका कारण मानते हैं, कोई धर्मविज्ञानको ही संसारका कारण मानता है, कोई इस संसारको मिथ्या समझता है, कोई धर्म ज्ञानादिक गुणोंके अभाव होनेको मोक्षकी प्राप्ति मानता है और कोई मरनेके बाद ही मोक्षकी प्राप्ति मान लेता है। कहां तक कहा जाय इस संसारमें अनेक धर्म हैं और वे सब परस्पर विरुद्ध हैं। यह निश्चित सिद्धांत है कि परस्पर विरुद्धता धारण करनेवाले अनेक धर्मोंमें कोई एक ही धर्म यथार्थ धर्म हो सकता है। सब धर्म यथार्थ धर्म नहीं हो सकते, परंतु सब धर्मवाले अपने-अपने धर्मका प्रचार करते हैं, यह केवल उनकी अज्ञानता है। यदि उन्हें धर्म अधर्मकी पहिचान होती तो वे अवश्य ही यथार्थ धर्मको ग्रहण कर उसीका प्रचार करते, परंतु वे अज्ञानी हैं उन्हें आत्मा तकका ज्ञान नहीं है। इसीलिए इस संसारमें सदाकाल परिभ्रमण किया करते हैं। अतएव सबसे पहले धर्म अधर्मका स्वरूप जानना चाहिए फिर अपने आत्माको सिद्ध करनेके लिए यथार्थ धर्मको ही ग्रहण करना चाहिए। यथार्थ

धर्म धारण करनेसे ही यह जीव संसारके दुःखोंसे छूट सकता है, अन्यथा जिस प्रकार अनादि कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करता आया है उसी प्रकार अनंतकाल तक इसी संसारमें परिभ्रमण करता रहेगा और महा दुःख भोगता रहेगा।

प्रश्न—कलौ काले नरा कीदृग्भवन्ति वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब मेरे लिए यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि इस कलिकालमें मनुष्य कैसे होते हैं ?

उत्तर—प्रायः काले कलौ जीवाः नृरूपं धारयन्त्यपि।
कुर्वन्ति पशुवत्कार्यं त्यक्त्वा लज्जाभयादिकम् ॥४०७॥
ततो मूढा भवाब्धौ ते निश्चयेन पतन्त्यधः।
मतिः स्याद् यादृशी येषां तेषां स्यात्तादृशी गतिः ॥४०८॥
अस्याः रीतेः प्रसिद्धाया विशेषो न मयोच्यते।
ज्ञात्वेति स्वमतिः शुद्धा कार्या स्याच्छर्मदा गतिः ॥४०९॥

अर्थ—इस कलिकालमें बहुतसे जीव मनुष्यपर्याय धारण करके भी लज्जा और भय आदिका त्याग कर प्रायः पशुओंके समान कार्य किया करते हैं तथा इसीलिए वे अज्ञानी जीव इस संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण करनेके लिए अवश्य ही नरक निगोद आदि नीची गतियोंमें पडते हैं। सो ठीक ही है संसारमें यह रीति प्रसिद्ध ही है कि जिन जीवोंकी जैसी बुद्धि होती है वैसी ही गति होती है। इसीलिए हमने यहांपर इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। यही समझकर भव्य जीवोंको अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेनी चाहिए जिससे कि आत्माका कल्याण करनेवाली शुभगति प्राप्त हो।

भावार्थ—इस संसारमें जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। जो मनुष्योंका सा कार्य करता है वह मनुष्योंका सा फल पाता है और जो पशुओंके से काम करता है वह पशुओंका सा फल पाता है। मनुष्य पर्याय पाकरके पापोंका त्याग कर आत्माका कल्याण कर लेना मनुष्योचित कार्य है तथा मनुष्य पर्याय पाकरके पाप कार्योंमें ही लगे रहना, अनेक प्रकारके छल कपटकर जीविका करना, सदाचारका कुछ ध्यान न रखना, अपना भेष-भूषा विढंगा बनाना, खडे-खडे पेशाब करना आदि सब कार्य पशुओंके समान कार्य कहलाते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो लज्जा और पापोंका भय मनुष्यका एक भूषण है। संसारमें ऐसे बहुतसे पाप हैं जो लज्जा और भयसे छूट जाते हैं। जहां लज्जा और भय छूट जाता है वहींपर अनेक प्रकारके पाप होते हैं। इस कलिकालमें प्रायः लज्जा और भय छूट गया है तथा स्वतंत्रताकी वायुमें बह जानेके कारण लोग सब निर्लज्ज हो गये हैं। इसीलिए न तो वे धर्म करते हैं, न माता-पिता आदि गुरुजनोंके सामने नम्रता धारण करते हैं और न आर्ष संस्कारोंका कुछ ध्यान रखते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वे लोग संसारमें पडे-पडे सदाकाल महा दुःख भोगा करते हैं। यही सब समझकर प्रत्येक मनुष्यको सबसे पहले अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेनी चाहिए। शुद्ध बुद्धिके होनेपर ही यह मनुष्य धार्मिक क्रियाओंको भी करता है, आर्ष संस्कारोंका भी ध्यान रखता है और नम्रता भी धारण करता है। इन्हीं सब कारणोंसे वह अपने आत्माका कल्याण कर लेता है और स्वर्गादिक उत्तम गतियोंको प्राप्त होता है।

प्रश्न—लोके ब्रह्मा शिवो विष्णुः कोस्तीह मे प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस संसारमें कौन ब्रह्मा है कौन महादेव है और कौन विष्णु है?

उत्तर–ब्रह्मास्ति चात्मैव शुभाशुभादेः कर्तृत्वयोगाद् भुवने प्रसिद्धः ।
तन्नाशकत्वात् समयं च लब्ध्वा स्वात्मैव चोक्तो हि महेश्वरोपि ॥४१०॥
स्वात्मात्मना चात्मनि चात्मने वै ह्यनन्यभक्त्या सुखदायकत्वात् ।
स्वात्मैव विष्णुः परमार्थदृष्ट्या ततश्च वंद्योपि स एव पूज्यः ॥४११॥

अर्थ–इस संसारमें यह आत्मा ही शुभाशुभ कर्मोंको करता है इसलिए यह आत्मा ही ब्रह्माके नामसे प्रसिद्ध है तथा समय पाकर अर्थात् काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा ही उन शुभाशुभ कर्मोंको नाश करता है इसलिए यह आत्मा ही महेश्वर वा महादेव कहलाता है। इसीप्रकार यही आत्मा अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके लिए अनन्य भक्ति धारण कर सुख देता है इसलिए परमार्थ दृष्टिसे यही आत्मा विष्णु कहलाता है। इसप्रकार यही आत्मा ब्रह्मा है, यही माहेश्वर है और यही विष्णु है इसलिए यह आत्मा ही वन्दनीय और पूज्य है।

भावार्थ–इस संसारमें बहुतसे लोग ब्रह्माको इस सृष्टिका कर्ता मानते हैं, महादेवको इस सृष्टिका नाश करनेवाला वा प्रलय करनेवाला मानते हैं और विष्णुको उणकी रक्षा करनेवाला मानते हैं। परन्तु विचार करनेसे यह बात ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि उनकी सम्प्रदायके अनुसार ब्रह्मा विष्णु और महादेव तीनों ही ईश्वर हैं। इसलिए ईश्वर ही जगत्कर्ता हो जाता है, ईश्वर ही नाश करनेवाला हो जाता है और ईश्वर ही रक्षक बन जाता है। परन्तु यह बात बन नहीं सकती है। क्योंकि जो जिसको उत्पन्न करता है वह उसका नाश नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि ईश्वर निराकार हैं। जो निराकार होता है वह किसी भी क्रियाको नहीं कर सकता। क्रिया साकार पदार्थसे ही हो सकती है तथा जो कर्ता होता है उसको क्रिया अवश्य करनी पडती है। विना क्रियाके कोई भी कर्ता नहीं हो

सकता तथा निराकारके कोई क्रिया हो नहीं सकती। इसलिए निराकार ईश्वर कभी किसीका कर्ता नहीं हो सकता। जब इस सृष्टिका कर्ता ईश्वर नहीं फिर कौन है ? यही बात इस श्लोकमें दिखलाते हैं। ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिसमें क्रिया हो सकती है वही इस सृष्टिका कर्ता हो सकता है। क्रिया दो पदार्थोंमें दिखाई पडती है एक जीवमें और दूसरे पुद्गलमें। जीवमें जो क्रिया दिखाई पडती है वह संसारी सशरीर जीवमें ही दिखाई पडती है। इसलिए इस सृष्टिका कर्ता एक तो सशरीर जीव है। सशरीर जीव ही पुत्र पौत्रादिक उत्पन्न करता है, खेती व्यापार करता है मकान वा भवन बनाता है, वस्त्र बनाता है और संसारकी आवश्यकताके समस्त पदार्थ बनाता है। इसलिए यह सशरीर जीव ही इस सृष्टिका कर्ता कहा जाता है। इसके सिवाय शुभ अशुभ कर्मोंको यह सशरीर जीव ही करता है तथा यही जीव उनका फल भोगता है। इस जीवको जो शुभ अशुभ सामग्री प्राप्त होती है वह भी अपने किए हुए कर्मोंके उदयसे ही होती है। इसलिए भी यही सशरीर जीव इस सृष्टिका कर्ता माना जाता है। अतएव कहना चाहिए कि यह आत्मा ही सृष्टिका कर्ता होनेके कारण ब्रह्मा कहलाता है।

यहांपर इतनी बात और समझ लेनी चाहिए कि जिसप्रकार सक्रिय होनेके कारण सशरीर आत्मा कर्ता माना जाता है उसीप्रकार सक्रिय होनेके कारण पुद्गल भी सृष्टिका कर्ता माना जाता है। वायु पुद्गल है और वह अपने आप बहती है, विजली पुद्गल है वह भी अपने आप चलती है, शब्द पुद्गल है वह भी अपने आप चलता है। इससे सिद्ध होता है कि पुद्गलमें भी क्रिया है तथा जहां क्रिया होती है वहीं कर्तृत्व अवश्य होता है। यही कारण है कि विजली बहुत कार्य करती है, अग्नि और पानीसे उत्पन्न हुई भाफ बहुतसे कार्य करती है, और वायु भी बहुतसे कार्य करती है। सोनेकी खानिकी मिट्टी अपनी ही मिट्टीको सोनेका रूप दे देती है. चांदीकी खानिकी मिट्टी अपने ही परमाणुओंको चांदी

बना देती है, इसीप्रकार पर्वतोंकी मिट्टी वा पत्थरकी खानोंकी मिट्टी पत्थर बन जाती है। इसलिए उन सबका कर्तृत्व उस-उस स्थानकी मिट्टीको ही सिद्ध होता है। पानी मिट्टी सर्दी गर्मी सब पुद्गल है परन्तु उनसे घास वा अनेक प्रकारके कीडे मकोडे उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए उनका कर्तृत्व पानी मिट्टी सर्दी गर्मीको ही माना जाता है। इसप्रकार विचार करनेसे पुद्गलमें भी क्रिया सिद्ध होती है और इसी-लिए उस पुद्गलमें भी कथंचित् सृष्टिकर्तृत्व माना जाता है।

जिसप्रकार यह सशरीर आत्मा क्रिया विशिष्ट होनेके कारण कर्ता कहलाता है और इसीलिए ब्रह्मा कहलाता है उसीप्रकार यही सशरीर आत्मा उस सृष्टिका नाश करनेवाला महादेव कहलाता है। क्योंकि जिन शुभ वा अशुभ कर्मोंको वह करता है उन्हीं कर्मोंको वह फल भोगकर नष्ट करता है। अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उद्यम करता हुआ यह आत्मा अपने ध्यान तपश्चरणके द्वारा उन समस्त कर्मोंको नाश कर देता है इसलिए वही आत्मा अपनी कर्मरूपी सृष्टिको नाश करनेके कारण महादेव कहलाता है। इसके सिवाय जिस मकानको बनाता है उसको गिराता भी है। जिस खेतीको बोता है उसको काटता भी है। जिस द्रव्यको कमाता है उसको खर्च भी करता है इन्हीं सब कारणोंसे वह सशरीर आत्मा महादेव कहलाता है। इसप्रकार यही आत्मा ब्रह्मा सिद्ध होता है यही आत्मा महादेव सिद्ध होता है और यही आत्मा विष्णु सिद्ध होता है। क्योंकि जिसप्रकार विष्णु इस सृष्टिको सुख देनेवाला माना जाता है उसीप्रकार यह आत्मा भी अपने आत्माके सुखके लिए सदाकाल प्रयत्न करता रहता है। वह आत्मा अपने आत्माको कभी दुखी नहीं देखना चाहता। इसके सिवाय यह आत्मा अपने आत्माको मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिए वा मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त करनेके लिए अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें प्रयत्न करता रहता है और प्रयत्न करते करते उस अनन्त सुखको प्राप्त कर लेता है इसलिए भी यह आत्मा अपने आत्माको सुख देनेके कारण विष्णु कहलाता है।

अतएव परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा ही ब्रह्मा है, यही आत्मा विष्णु है और यही आत्मा महादेव है। इसलिए यह आत्मा ही वंदनीय और पूज्य माना जाता है।

प्रश्न–उपादेयो भवेत्स्वामिन् को हेयो वद मे भुवि ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस संसारमें उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य क्या है और हेय अर्थात् त्याग करने योग्य क्या है?

उत्तर–दृग्बोधचारित्रमयो ममात्मा ध्यानादिगम्यो व्यवहारतः सः।
चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थतश्चोपादेय एवास्ति ततः समन्तात् ॥४१२॥
तदन्यएवास्ति ततः पदार्थः सर्वोऽपि हेयश्चिदचित्स्वभावी।
स्वानन्दसाम्राज्यपदे स्थितस्य यथास्ति हेयश्च परप्रदेशः ॥४१३॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुशोभित होनेवाला यह मेरा आत्मा ही मेरे लिए उपादेय है। यह रत्नत्रयसे सुशोभित होनेवाला मेरा आत्मा ध्यानादिकके द्वारा जाना जाता है और व्यवहार दृष्टिसे चैतन्य स्वरूप है। ऐसा यह मेरा आत्मा परमार्थ दृष्टिसे सब ओरसे उपादेय है तथा जिसप्रकार अपने आत्मजन्य आनन्दके साम्राज्य सिंहासनपर विराजमान होनेवाले आत्माके लिए अन्य समस्त प्रदेश हेय गिने जाते हैं उसी प्रकार उस रत्नत्रयरूप मेरे आत्मासे भिन्न जितने चैतन्य वा जडरूप पदार्थ हैं वे सब हेय गिने जाते हैं।

भावार्थ–इस आत्माको यथार्थ अनन्त सुखकी प्राप्ति मोक्ष अवस्थामें होती है। मोक्ष अवस्थामें केवल रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही रहता है। रत्नत्रय स्वरूप आत्माके सिवाय जितने क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, मद, मत्सर, मोह, राग, द्वेष आदि विकार हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर नष्ट हो

जाता है, इसके सिवाय संसारके समस्त अन्य पदार्थ इस संसारमें ही रह जाते हैं। शुद्ध आत्माके साथ कोई नहीं रहता, इसलिए रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही उपादेय है और शेष चैतन्य स्वरूप वा अचेतन जितने पदार्थ हैं वे सब हेय वा त्याग करने योग्य हैं। यही समझकर प्रत्येक आत्माको अपने आत्मामें रत्नत्रय प्रगट करनेका उपाय करना चाहिए। सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए, फिर सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिए और फिर राग, द्वेष, मोह आदि समस्त विकारोंका त्याग कर पूर्ण सम्यक्‌चारित्र धारण करना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्‌चारित्रकी वृद्धि करते-करते जब पूर्ण चारित्र हो जाता है उसी समय इस आत्माको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है उसी समय यह आत्मा समस्त कर्मोंसे रहित होकर अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तथा ऐसा शुद्ध आत्मा ही उपादेय कहलाता है। ऐसे रत्नत्रय स्वरूप आत्माके सिवाय अन्य जितने भी पदार्थ हैं सब हेय वा त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि मुक्तावस्थामें सब आत्मासे भिन्न हो जाते हैं इसलिए ऐसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। अन्य सबको छोड देनेका प्रयत्न करना चाहिए। यही संसारमें सार है और सब असार है।

आगे ग्रन्थकर्ता आचार्य इस हेयोपादेयके स्वरूपको कहनेवाले इस अध्यायके निरूपण करनेका अभिप्राय बतलाते हैं।

एवमाचार्यवर्येण धीमता कुंथुसिंधुना।
नृणां चातुर्यवृद्ध्यै च स्वपरसिद्धये तथा ॥४१४॥
यथावत्सुखदं प्रोक्तं हेयोपादेयलक्षणम।
युष्मभ्यं रोचते यद् यत कुरुत तद्धि तत्सदा ॥४१५॥

अर्थ—इसप्रकार महा विद्वान् आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरने मनुष्योंका चातुर्य बढानेके लिए, अपने

आत्माका कल्याण करनेके लिए और अन्य जीवोंका कल्याण करनेके लिए यह सुख देनेवाला और यथार्थ स्वरूपको कहनेवाला यह हेयोपादेय तत्त्वको निरूपण करनेवाला चौथा अध्याय निरूपण किया है। इस अध्यायमें सब हेयोपादेय तत्त्वोंका स्वरूप बतलाया है। दुःख देनेवाले वा सुख देनेवाले पदार्थोंका निरूपण किया है तथा मनुष्योंके कर्त्तव्य बतलाए हैं। इनमेंसे जिसको जो अच्छा लगे जिससे आत्माका कल्याण हो वही काम सदाकाल करते रहना चाहिए।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे हेयोपादेयस्वरूपवर्णनो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु नामके महाग्रन्थकी 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें हेयोपादेयके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

पांचवां अध्याय।

शांतिका उपदेश

शांतिप्रदं भ्रान्तिहरं च नत्वा श्रीशान्तिनाथं क्रियतेऽथ शान्त्यै।
श्रीसूरिणा शान्त्युपदेश एव श्रीकुंथुनाम्नात्मरतेन नृभ्यः ॥४१६॥

अर्थ—संसारके समस्त जीवोंको शांति प्रदान करनेवाले और भ्रांतिको हरण करनेवाले ऐसे भगवान शांतिनाथको नमस्कार करके संसारभरमें शांति प्राप्त होनेकी कामनासे अपने आत्मामें लीन रहनेवाले आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर महाराज मनुष्योंके लिए शांतिका उपदेश देते हैं।

प्रश्न—किमर्थं क्रियते स्वामिन् वद दानार्चनादिकम् ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें पात्रदान वा जिनपूजन आदि धार्मिक कार्य किसलिए किए जाते हैं।

उत्तर—शान्त्यर्थमेवं हि जपस्तपश्च व्रतोपवासोपि समो दमादिः।
स्वाध्यायमौनार्चनदानधर्मः सुखप्रदो ध्यानविधिः पवित्रः ॥४१७॥
क्षमाकृपाधैर्यदयाप्रचारः स्वर्मोक्षदा स्वात्ममतिः स्वचर्चा।
तत्त्वोपदेशो विकृते विरागः स्वास्तिक्यबुद्धिः परलोकवार्ता ॥४१८॥
बिम्बप्रतिष्ठा गुरुदेवसेवासन्मानसत्कारनतिः स्तुतिश्च।
निजात्मशुद्धिः क्रियते च भक्तिः ज्ञात्वेति नित्यं यततां तदर्थम् ।४१९

अर्थ—इस संसारमें जो जप वा तपश्चरण किया जाता है, अथवा व्रत उपवास किये जाते हैं समता धारण की जाती है, वा इन्द्रिय दमन किया जाता है, स्वाध्याय किया जाता है, मौन धारण किया जाता है, भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा की जाती है, पात्रदान दिया जाता है वा धर्मसाधन किया जाता है, सुख देनेवाला पवित्र ध्यान किया जाता है, क्षमा, कृपा, धीरता, दया आदि आत्माके गुणोंका प्रचार किया जाता है, स्वर्गमोक्ष देनेवाली अपने आत्माकी बुद्धि अपने आत्मामें लीन की जाती है वा आत्मतत्त्वकी चर्चा की जाती, है तत्त्वोंका उपदेश दिया जाता है, राग द्वेष आदि विकारोंका त्याग किया जाता है, अपने आत्मामें आस्तिक्य बुद्धि रक्खी जाती है, परलोककी चर्चा की जाती है, बिम्बप्रतिष्ठा की जाती है वा निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा, सन्मान आदर सत्कार किया जाता है उनको नमस्कार किया

जाता है वा उनकी स्तुति की जाती है, अपने आत्माकी शुद्धि की जाती है वा भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति की जाती है वह सब अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए की जाती है। यही समझ कर शांति प्राप्त करनेके लिए जप तप आदि करनेके लिए सदा काल प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—जप करनेमें आत्माको निराकुलताकी प्राप्ति होती है, तथा निराकुलता ही शान्ति है। ध्यान और तपश्चरण करनेमें भी संसारके सब झंझट छूट जाते हैं और आत्मा निराकुल हो जाता है। व्रत करनेके दिन सांसारिक सब व्यापारोंका त्याग कर भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंमें मन लगाया जाता है वा स्वाध्यायमें मन लगाया जाता है, इसलिए व्रत करनेमें भी शांति प्राप्ति होती है। उपवासके दिन संसारके समस्त आरम्भ वा व्यापारका त्याग कर जिनालयमें निवास किया जाता है। वहांपर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शांतमुद्राके दर्शन करनेसे ही परम शांति प्राप्त होती है। समता धारण करना शांतिका विशेष कारण है क्योंकि आकुलता राग द्वेषके कार्योंमें होती है तथा समतामें राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर दिया जाता है, इसलिए समतामें सर्वथा शांति प्राप्त होती है। इन्द्रिय दमनमें भी परम शांति प्राप्त होती है। क्योंकि लालसा ही दुःखका कारण है और इन्द्रिय दमनमें लालसाका त्याग हो जाता है। इसलिए इन्द्रिय दमन करनेसे शांति अवश्य प्राप्त होती है। स्वाध्याय करनेमें मन वचन काय तीनों ही तत्त्वचर्चामें लग जाते हैं वा आत्माके स्वरूपमें लग जाते हैं। इसलिए वहां भी शांतिकी प्राप्ति अवश्य होती है। मान धारण करनेमें भी बहुत सी आकुलता मिट जाती है और शांति प्राप्त हो जाती है। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजन करनेमें सबसे अधिक निराकुलता वा आनन्द प्राप्त होता है इसलिए उतनी देर तक उत्तम शांति प्राप्त होती है। पात्र दान देनेमें निर्ग्रंथ गुरुके दर्शन होते हैं उनके दर्शनसे तथा उनकी सेवासे परम आनन्द और शांति प्राप्त होती है। धर्मसाधनमें भी सब आकुलताएं नष्ट

होकर शांति प्राप्त होती है। ध्यानमें आत्मजन्य आनन्द प्राप्त होता है और इसीलिए परम शांति प्राप्त होती है। क्षमा कृपा दया, धीरता, वीरता आदि आत्माके गुणोंमें सदा शांति प्राप्त होती है। आत्मामें लीन होनेसे मोक्ष प्राप्त होने तककी शांति प्राप्त होती है। आत्मतत्त्वकी चर्चा वा तत्त्वोंके उपदेश देनेमें वा परलोककी चर्चा करनेमें आत्माके स्वरूपका बोध होता है और आत्माके स्वरूपका बोध होनेमें परम शांति प्राप्त होती है। राग द्वेष आदि आत्माके विकारोंका त्याग कर देनेसे आत्मा आत्माके ही गुणोंमें लीन होता है इसलिए यह भी परम शांतिका कारण है। बिम्बप्रतिष्ठा वेदी प्रतिष्ठा करानेमें वा तेरह द्वीप विधान आदि अनेक प्रकारके विधान करानेमें हजारों मनुष्योंके आत्माओंमें आनन्द और शांति प्राप्त होती है तथा महापुण्य प्राप्त होता है। भगवान् वीतराग निर्ग्रंथ गुरु परम शांतिकी मूर्ति हैं इसलिए उनकी सेवा-भक्ति करनेसे उनको नमस्कार करनेसे वा उनकी स्तुति करनेसे परम शांति प्राप्त होती है। पहले अनेक राजा महाराजा वीतराग गुरुओंके दर्शन करने मात्रसे संसारसे विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर लेते थे। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इन सब गुणोंको धारण कर अपने आत्मामें शांति प्राप्त कर लेनी चाहिए और फिर उस परम शांतिके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर मोक्षकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

प्रश्न—कुर्वतोपि तपोध्यानं न स्याच्छान्तिः स कीदृशः ?

अर्थ—जो पुरुष ध्यान और तपश्चरण करता रहता है फिर भी उसको शांतिकी प्राप्ति नहीं होती, उस मनुष्यको कैसा समझना चाहिए ?

उत्तर—व्रतोपवासं च तपो जपं च स्वाध्यायमौनार्चनदानधर्मम् ।
पूजां प्रतिष्ठां विविधां सुयात्रां तत्त्वप्रचारं च परोपकारम् ॥४२०॥

नित्यं प्रकुर्वन्नपि पुण्यकार्यं यदि स्वचित्ते न दधाति शान्तिम् ।
स्यात्तर्हि तस्येति वृथेव जन्म व्यर्थं यथान्नं लवणेन हीनम् ॥४२१॥

अर्थ—जिस प्रकार विना लवणके अन्न व्यर्थसा जान पडता है उसी प्रकार जो पुरुष व्रत वा उपवास करता है, तपश्चरण वा जप करता है, स्वाध्याय करता है, मौन धारण करता है, जिनपूजन करता है, दान करता है, धर्म धारण करता है, पूजा करता है, प्रतिष्ठा करता है, अनेक प्रकारकी यात्राएं करता है, तत्त्वोंका प्रचार करता है और परोपकार करता है, इसप्रकार जो पुरुष प्रति दिन पुण्यकार्य करता रहता है, फिर भी जिसके हृदयमें शांति प्राप्त नहीं होती, समझना चाहिए कि उसका जन्म ही व्यर्थ है।

भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह बात अच्छी तरह बताई जा चुकी है कि व्रत उपवास आदि पुण्य कार्य करनेसे आत्माको अत्यंत शांति प्राप्ति होती है तथापि जो पुरुष इन सब पुण्य कार्योंको करता हुआ भी अपने हृदयमें शांति धारण नहीं करता वह पुरुष वास्तवमें इन पुण्य कार्योंको नहीं करता, अथवा उसका मन वचन काय इन पुण्यकार्योंमें नहीं लगता है। क्योंकि इन सब पुण्यकार्योंमें मनके लगनेपर शांतिका प्राप्त होना अनिवार्य है। यदि शांति प्राप्त नहीं होती है तो समझना चाहिए कि उसका मन ही उसमें नहीं लगता है। विना मन लगाए कोई काम सफल नहीं हो सकता इसीलिए विना मन लगाए ऐसे पुण्य कार्योंको करना अपने जन्मको व्यर्थ खोना है अतएव अपनी शक्तिके अनुसार जितने भी पुण्यकार्य किए जांय उन सबमें मन वचन काय तीनों ही लगाना चाहिए, क्योंकि जहांपर मन वचन काय तीनों ही किसी पुण्यकार्यमें लग जाते हैं वहांपर निराकुलता हो जाती है और निराकुलता होनेसे शांति प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न—पंचाक्षरोघहेतुः को वद मे भगवन् प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन् ! हे प्रभो ! अब कृपा कर मेरे लिए पांचों इन्द्रियोंके निरोध करनेका हेतु बतलाइए ?

उत्तर—शान्त्यर्थमेव क्रियते प्रमोदात् पंचाक्षरोधः सुखदः सदैव ।
मानापमानोपि विमुच्यते च भयंकरः क्रोधचतुष्टयादिः ॥४२२॥
एतत्प्रकुर्वन्नपि नैव शान्तिश्चेत्तस्य लोके विफलः प्रयत्नः ।
सुनीतिहीनस्य यथा नृपस्य ज्ञात्वेति शान्तिर्हृदि धारणीया ॥४२३॥

अर्थ—इस संसारमें सदा काल जो सुख देनेवाला पांचों इन्द्रियोंका निरोध किया जाता है वह आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है और हर्षपूर्वक किया जाता है। इसके सिवाय मान अपमानका त्याग कर दिया जाता है और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों भयंकर कषायोंका त्याग कर दिया जाता है। यदि इन सब कामोंको करते हुए भी शांति प्राप्त न हो तो जिसप्रकार श्रेष्ठ नीतिको पालन न करनेवाले राजाका सब प्रयत्न निष्फल हो जाता है उसी प्रकार उन इन्द्रियोंको निरोध करनेवालेका भी सब प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए।

भावार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां कहलाती हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श करना है, रसना इन्द्रियका विषय रस ग्रहण करना है, घ्राण इन्द्रियका विषय सूंघना है, नेत्र इन्द्रियका विषय देखना है और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द सुनना है। इनके सिवाय मन भी इन्द्रिय कहलाता है और वह सब इन्द्रियोंके विषय ग्रहण करनेमें सहायक होता है तथा समस्त तत्त्वोंको ग्रहण करने रूप अपने स्वतंत्र विषयको ग्रहण करता है। ये सब इन्द्रियां जब अपने-अपने विषयोंमें लीन रहती हैं तब यह आत्मा अपने स्वरूपको भूल कर इन्हींमें मोहित हो जाता है तथा इन्हीं इंद्रियोंके

विषयोंको संग्रह करनेमें लगा रहता है। उस समय वह कषायोंकी भी तीव्रता धारण करता है और मान अपमानको भी सहन करता है। यह सब मोहनीय कर्मके उदयका तीव्र फल समझना चाहिए। जब यह आत्मा उस मोहनीय कर्मको शान्त कर लेता है वा उसको नष्ट कर देता है तब यह आत्मा अपने स्वरूपको पहचानने लगता है। अपने आत्माके स्वरूपको पहचानकर यह आत्मा उन इन्द्रियोंको अपने आत्माके कल्याणका शत्रु समझने लगता है और फिर धीरे-धीरे प्रयत्न करता हुआ उन इन्द्रियोंके विषयोंको रोकता है। जब वह इन्द्रियोंके विषयोंका निरोध कर लेता है तब उसके कषायोंकी तीव्रता भी हट जाती है और मान अपमानका ध्यान भी हट जाता है। उस समय उस आत्माको पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती है। शांतिकी वाधक कषायोंकी तीव्रता है वह कषायोंकी तीव्रता इन्द्रियोंके निरोध करनेसे अपने आप हट जाती है और आत्माको शांति प्राप्त हो जाती है। यदि इन्द्रियोंका निरोध करते हुए भी शांति प्राप्त नहीं होती तो समझना चाहिए कि उस पुरुषकी लालसाएं ही नहीं घटी हैं। लालसाओंके न घटनेसे ही शांति प्राप्त नहीं होती। अतएव जो पुरुष इन्द्रियोंका निरोध करता हुआ भी लालसाओंको नहीं घटाता और शांति धारण नहीं करता उसका सब प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपनी लालसाएं घटाकर ही इंद्रियोंका निरोध करना चाहिए जिससे कि आत्मामें पूर्ण शांति प्राप्त हो।

प्रश्न—स्नेहादित्यागतः स्वामिन् को लाभो वद मे भुवि ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें स्नेहादिकका त्याग करनेसे क्या-क्या लाभ होता है?

उत्तर—स्नेहप्रसंगादिविवर्जनेन प्रीतिप्रमोदादिविसर्जनेन।
द्वेषप्रदोषादिविमोचनेन निजान्यजन्तोर्ममताद्यभावात् ॥४२४॥

निजात्मरूपा सुखदातिशुद्धा सर्वात्मदेशे शशिनि प्रभेव ।
शान्तिर्भवेत्सर्वविकारहर्त्री ज्ञात्वेति कार्यः कथितः प्रयोगः ॥४२५॥

अर्थ—जिसप्रकार बादलोंके हट जानेसे समस्त संतापोंको दूर करनेवाली चन्द्रमाकी चांदनी फैल कर चन्द्रमाकी शोभा बढाती है तथा संसारमें शांति उत्पन्न करती है उसीप्रकार समस्त स्नेहका त्याग कर देनेसे, प्रीति वा प्रमोदका त्याग कर देनेसे, राग द्वेष आदि दोषोंका त्याग कर देनेसे तथा अपने कुटुम्बी लोगोंसे तथा अन्य समस्त जीवोंसे ममत्वका त्याग कर देनेसे समस्त विकारोंको दूर करनेवाली, अत्यन्त शुद्ध महासुख देनेवाली और अपने आत्मस्वरूप शांति आत्माके समस्त प्रदेशोंमें उत्पन्न हो जाती है। अतएव समस्त भव्यजीवोंको अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए राग द्वेष मोह स्नेह आदि सब विकारोंका त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें राग द्वेष और मोह ये तीनों ही विकार आकुलता और दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। राग वा स्नेह करनेसे ये लोग कितने व्याकुल होते हैं यह बात अनुभव करनेसे स्वयं मालूम हो जाती है। जब किसीका कोई पुत्र रोगी हो जाता है तब स्नेहके कारण माता पिता कितने व्याकुल होते हैं तथा उसके मर जानेपर कितने व्याकुल होते हैं यह बात किसीसे छिपी हुई नहीं है। इसीप्रकार जब अपना कोई शत्रु अपनी हानि पहुंचाना चाहता है तब हम लोग कितने व्याकुल होते हैं तथा उससे बचनेके लिए और उसको नीचा दिखानेके लिए कितना प्रयत्न करते हैं। इन सब कामोंके लिए हजारों रुपये खर्च कर देते हैं तथा जन्मभर दुःख भोगना पडता है। ऐसी व्याकुलता और दुःखमें कभी शांति उत्पन्न नहीं हो सकती। स्नेह और मोहके कारण ज्यों-ज्यों लालसाएं बढती जाती हैं त्यों-त्यों व्याकुलता बढती जाती है तथा व्याकुलतामें दुःख होता ही है। इसलिए शांति प्राप्त करनेके लिए स्नेह राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंका त्याग कर देना चाहिए। इन विकारोंका त्याग करनेसे व्याकु-

लता नष्ट हो जाती है और व्याकुलताके नष्ट होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त हो जाती है। उस परम शांतिके प्राप्त होनेसे अन्य सब विकार नष्ट हो जाते हैं और फिर यह आत्मा अपने आत्मस्वभावके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर अविनश्वर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही आत्माके कल्याणका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

प्रश्न—आलोचनादिकानां कोऽभिप्रायो वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब मेरे लिए कृपाकर यह बतलाइए कि आलोचना आदि करनेका क्या अभिप्राय है ? आलोचनादिक किसलिए की जाती है ?

उत्तर—स्याद् यस्य दोषश्च यथा प्रमादात्तथैव भक्त्या सुगुरोः समक्षम् ।
आलोचनादिः क्रियते च भक्तिः मनोवचःकायकृतादिभेदैः ॥४२६॥
श्रद्धान्वितैः कैतवहीनबुद्धया शान्त्यर्थमेवं सुखदं विधानम् ।
तद्धीनयोगोऽपि वृथेति निंद्यो निर्जीवदेहस्य सुगंधलेपः ॥४२७॥

अर्थ—जिस मनुष्यके जिस प्रमादके कारण जैसा दोष लगा हो उसको उसी प्रकार भक्तिपूर्वक गुरुके सामने कहना तथा मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे गुरुकी भक्तिपूर्वक आलोचना करना आलोचना कहलाती है। यह आलोचना श्रद्धापूर्वक और विना किसी छल-कपटके की जाती है तथा यह सुख देनेवाली विधि केवल आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए की जाती है। जिस आलोचनामें श्रद्धा न हो वा छल-कपट पूर्वक की गई हो वह आलोचना व्यर्थ वा निन्दनीय कहलाती है और जीवरहित मृतक शरीरपर सुगंधित लेपके समान मानी जाती है।

भावार्थ—चार विकथा, चार कषाय, पांचों इन्द्रियोंके विषय, स्नेह और निद्रा ये पंद्रह प्रमाद कह-

लाते हैं। उन्हींके परस्पर गुणा करनेसे अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हीं प्रमादोंके कारण दोष लगा करते हैं। जिस जीवको जिस प्रमादके कारण दोष लगा हो वा मनसे, वचनसे, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे दोष लगा हो उस दोषको ज्योंका त्यों गुरुके समीप कहना चाहिए। दोष करते समय किसी प्रकारका छल-कपट नहीं रहना चाहिए। गुरुके ऊपर तथा आलोचनामें श्रद्धा होनी चाहिए और गुरुकी भक्तिपूर्वक आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करनेसे मन, वचन, कायकी सरलता प्रगट होती है। मन वचन कायकी सरलता प्रगट होनेसे तथा उस दोषके लिए बार-बार पश्चात्ताप करनेसे और आगामी कालके लिए उस दोषसे सावधान रहनेसे और गुरुकी आज्ञानुसार उसका प्रायश्चित्त लेनेसे वह दोष शांत हो जाता है। उस दोषके शान्त होनेसे आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होती है और आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होनेसे आत्मामें शांति प्रगट होती है। इस प्रकार आलोचनाका फल आत्मामें शांति प्रगट होना है। शास्त्रोंमें आलोचनाके दश दोष बतलाए हैं। आलोचना करते समय उन दश दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिए। जो लोग आलोचना करते समय न तो दश दोषोंका त्याग करते हैं, न छल कपटका त्याग करते हैं, न गुरुपर वा आलोचनापर श्रद्धा रखते हैं और न गुरुकी भक्ति करते हैं उनकी आलोचना करना व्यर्थ है। जिसप्रकार मृतक शरीरपर किया हुआ सुगंधित लेप प्रशंसनीय नहीं गिना जाता। उसी प्रकार दोष सहित की हुई आलोचना प्रशंसनीय नहीं गिनी जाती। अतएव चाहे गृहस्थ व्रती हो, चाहे साधु हो, चाहे त्यागी ब्रह्मचारी हो सबको अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए अपने-अपने दोषोंकी निर्दोष आलोचना करनी चाहिए। कर्मोंके भारसे हलका होनेका यह विशेष साधन है।

प्रश्न—शोकभयमदत्यागात्कस्य लाभो भवेद्गुरो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाए कि शोक, भय, जुगुप्सा, मद आदिके त्याग करनेसे किस-किसको लाभ होता है?

उत्तर—शोकभयस्पृहाद्वेषक्लेशकालुष्यनाशतः ।
हास्यारतिरतित्यागाज्जुगुप्सामानमोचनात् ॥४२८॥
सर्वजीवे भवेच्छान्तिर्नृत्वेपि मोक्षसौख्यदा ।
ताद्विना भाति न त्यागो यथा वीरः क्षमां विना ॥ ४२९ ॥

अर्थ—शोक, भय, स्पृहा, द्वेष, क्लेश, कलुषता, हास्य, अरति, रति, जुगुप्सा, मान आदि समस्त विकारोंके त्याग करनेसे समस्त जीवोंको शांति प्राप्त होती है तथा मनुष्य पर्यायमें मोक्षका अनन्त सुख देनेवाली शांति प्राप्त होती है। जिसप्रकार क्षमा गुणके विना वीर पुरुष शोभायमान नहीं होता उसीप्रकार विना शांतिके इन सब विकारोंका त्याग भी शोभायमान नहीं होता।

भावार्थ—शोक, भय, जुगुप्सा आदि विकारोंके कारण सब जीवोंको दुःख पहुंचता है। इसका कारण यह है कि संसारके समस्त जीव राग द्वेष आदि विकारोंसे भरपूर हो रहे हैं। यदि किसी एक जीवको शोक होता है और उससे वह महादुखी होता है तो उसको देखकर वा सुनकर अन्य जीव भी अवश्य दुखी होते हैं। जो जीव राग द्वेष आदि विकारोंसे रहित होते हैं उन्हींको दुःख नहीं होता। शेष सब जीवोंको दुःख होता है। यदि इन विकारोंका त्याग कर दिया जाय और यह मनुष्य सर्वथा निर्विकार हो जाय तो उस जीवको भी अपूर्व शांति प्राप्त होती है और उसको शांति प्राप्त होनेसे अन्य समस्त जीवोंको शांति प्राप्त होती है। मुनिराज निर्विकार होते हैं उनके शोक, भय, जुगुप्सा आदि कोई दोष नहीं होते इसलिए उनके दर्शन करने मात्रसे सब जीवोंको शांति प्राप्त होती है। वे मुनि स्वयं परम शांत होते हैं इसीलिए उनके दर्शनसे समस्त जीवोंको शांति प्राप्त होती है तथा वह शांति यहां तक बढती है कि सिंह व्याघ्र आदि क्रूर जीव भी उन परम शांत मुनियोंके सामने पहुंचकर अपनी

क्रूरता छोड देते हैं और शांति धारण कर लेते हैं। यदि यह जीव मनुष्य पर्याय पाकरके तथा सज्जातित्व उच्च गोत्र आदि पाकरके इन सब विकारोंका त्याग कर देता है तो उसको मोक्ष सुखकी प्राप्ति होकर सदाकालके लिए अनन्त शांति प्राप्त हो जाती है तथा ऐसे मुक्त जीवोंकी भक्ति कर तथा अनुकरण कर अनेक जीव विकारोंका त्याग कर और मोक्ष प्राप्त कर परम शांत बन जाते हैं। इसप्रकार इन विकारोंके त्यागका फल शांति है। जो पुरुष विकारोंका तो त्याग कर देते हैं परन्तु जिनके हृदयमें विकारोंका त्याग करने पर भी शांति प्राप्त नहीं होती ऐसे जीवोंका वह विकारोंका त्याग सुशोभित नहीं होता अथवा यों कहना चाहिए कि उनका वह विकारोंका त्याग मिथ्या है वा मायापूर्ण है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है कि वह अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए इन सब विकारोंका त्याग करे और परम शांति प्राप्त कर अपने आत्माका कल्याण करे।

प्रश्न—समाधिसाधनं स्वामिन् किमर्थं क्रियते वद ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइये कि समाधिमरणका साधन किस लिए किया जाता है ?

उत्तर—स्निग्धान्नं त्यज्यते चादौ पानादिः सेव्यते क्रमात्।
स्निग्धपानमपि त्यक्त्वा खरपानं हि सेव्यते ॥४३०॥
खरपानमपि त्यक्त्वोपवासः क्रियतेऽमलः।
इत्यादि साधनं शान्त्यै केवलं क्रियते सदा ॥४३१॥
तद्विना लंघनं मन्ये दरिद्राणां क्रियासमः।
निष्फलो दुःखदो चैवं प्रोक्तो विश्वहिताय हि ॥४३२॥

अर्थ—समाधि मरण धारण करनेके लिए सबसे पहले कषायोंका त्याग किया जाता है। तदनन्तर कायका त्याग करनेके लिए सबसे पहले सचिक्कण अन्नका त्याग किया जाता है और सचिक्कण पान वा दूधका सेवन किया जाता है। तदनन्तर दूधका भी त्याग करके केवल गर्म जलका सेवन किया जाता है,और फिर गर्म जलका भी त्याग कर निर्मल और निर्दोष उपवास किया जाता है। यह सब समाधिमरणका साधन केवल आत्मामें ही शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है! यदि समाधिमरणका यह सब साधन करते हुए भी आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो फिर दरिद्र पुरुषोंके लंघनके समान उस सब साधनको लंघन ही समझना चाहिए। जिसप्रकार दरिद्रोंका लंघन निष्फल और दुःख देनेवाला होता है उसीप्रकार विना शांतिके उस समाधि मरणके साधनको निष्फल और दुःख देनेवाला लंघन समझना चाहिए। ऐसा आचार्य कुंथुसागरने समस्त संसारके हितके लिए निरूपण किया है।

भावार्थ—ध्यान पूर्वक शरीरका त्याग करनेको समाधि मरण कहते हैं। यह समाधिमरण शरीरके अन्त होनेके पहले धारण किया जाता है। जब श्रावक वा साधु यह समझ लेते हैं कि अब यह शरीर टिक नहीं सकता तब वे समाधिमरण धारण करनेका प्रयत्न करते हैं। यदि कोई ऐसा समय आ जाता है कि जिसमें प्राण जानेका सन्देह रहता है तो उस समय वे समयकी मर्यादा नियत कर आहारादिकका त्याग करते हैं। जिसप्रकार किसी घरमें अग्नि लग जानेपर उस अग्निको बुझानेका प्रयत्न किया जाता है और जहांतक बनता है वह अग्नि बुझा दी जाती है। यदि वह अग्नि बुझती दिखाई नहीं देती तो फिर उसमेंसे बहुमूल्य पदार्थ निकाल लिए जाते हैं और उस घरको छोड दिया जाता है उसीप्रकार जब श्रावक वा साधु इस शरीरमें कुछ उपद्रव देखते हैं, कोई रोग देखते हैं तो उसके शमन करनेका उपाय करते हैं। रोगोंको शमन करनेके लिए श्रावक लोग प्रयत्न करते हैं और साधु लोग विशेष प्रयत्न नहीं करते। वे शरीरका ममत्व भी छोड देते हैं, इसलिए वे उसको हेय ही समझते

हैं। श्रावक लोग जब यह निश्चय कर लेते हैं वा साधु लोगोंको भी जब यह निश्चय हो जाता है कि अब यह शरीर टिक नहीं सकता तब वे अपने रत्नत्रय आदि निधियोंको लेकर उस शरीरका त्याग कर देते हैं।

समाधिमरण धारण करनेकी लालसा पहलेसे ही होनी चाहिए और पहलेसे ही इसके लिए विशेष प्रयत्न और अभ्यास करना चाहिए। विना अभ्यास किए समाधिमरण धारण करना कठिन हो जाता है। इसके लिए पहलेसे ही आहार और कषायादिकके त्याग करनेका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अन्त समयमें आहार और कषायादिकका त्याग कर देना ही समाधिमरण है। समाधिमरणमें राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति आदि सब विकारोंका त्यागकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंमें वा उनके गुणोंमें मन लगाना चाहिए अथवा शास्त्ररूपी अमृतका पानकर अपने मनको पवित्र करना चाहिए। फिर अनुक्रमसे आहारका त्याग कर दूध रखना चाहिए, और गर्म पानीका भी त्याग कर अपनी शक्तिके अनुसार उपवास धारण करना चाहिए। इस प्रकार कषायादिक समस्त विकारोंका त्याग कर और चारों प्रकारके आहारका त्याग कर जो पंच नमस्कार मंत्रका जप करते हुए शरीरका त्याग करना है उसको समाधिमरण कहते हैं। समाधिमरण धारण करते समय न तो जीवित रहनेकी आशा रखनी चाहिए, न शीघ्र मर जानेकी आशा रखनी चाहिए, न मरनेसे डरना चाहिए, न मित्रोंका स्मरण करना चाहिए और न आगामी कालके लिए भोगोंकी इच्छा करनी चाहिए। इसीको समाधिमरण कहते हैं। यह समाधिमरण केवल आत्मामें परम शान्ति प्राप्त करनेके लिए ही धारण किया जाता है, क्योंकि जहां कषायादिक विकारोंका त्याग हो जाता है वहांपर आत्मामें शांति अपने आप आ जाती है तथा आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है। यदि ऐसा उत्तम समाधिमरण धारण करते हुए भी शांति न हो तो फिर उसको व्यर्थ ही समझना

चाहिए। स्वर्गादिकके सुख देनेवाला यह समाधिमरण ही है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला भी यही समाधिमरण है इसलिए भव्यजीवको इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न–सप्तव्यसनत्यागेनालभ्यां कां लभते नरः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि सप्त व्यसनका त्याग करनेसे इस मनुष्यको कौन-कौनसे अलभ्य पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर–द्यूतादि व्यसनस्यैव त्यागाद्देहस्य त्यागवत् ।

भयसप्तकदातुश्च सप्तश्वभ्रप्रदायिनः ॥४३३॥

अलब्धाऽपूर्वशान्तिः स्यात्स्वात्मनि शाश्वती सदा ।

दुष्टपक्षपरित्यागाच्छान्तिर्विश्वेऽखिले यथा ॥४३४॥

अर्थ–जिस प्रकार दुष्ट पक्षका सर्वथा त्याग कर देनेसे समस्त संसारमें शांति हो जाती है अथवा जिस प्रकार इस शरीरका सर्वथा त्याग कर देनेसे इस शुद्ध आत्मामें निरन्तर रहनेवाली शांति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार सातों नरकोंके दुःख देनेवाले और सातों भयोंको उत्पन्न करनेवाले इन सातों व्यसनोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे इस आत्मामें परम शांति प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ—जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन कहलाते हैं। ये सातों ही व्यसन महा दुःख देनेवाले और तीव्र आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं। इनमें जूआ सब व्यसनोंका राजा है। जूआ खेलनेवाला यदि हार जाता है तो महा दुःखी होता है तथा हार जानेके कारण चोरी करता है। यदि वह जीत जाता है तो फिर और खेलनेकी तीव्र आकुलता धारण करता है और वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन, मद्यपान

आदि अन्य अनेक प्रकारके अनर्थ करता है। जुआरी लोग अपना सब धन हार जाते हैं और स्त्री पुत्र तकको हार जाते हैं। इस जूआके ही कारण पांडवोंने महा दुःख उठाया था इसलिए इस जूआके त्याग कर देनेसे आत्मामें शांति प्राप्त होती है। मांस भक्षण महा पापका कारण है। विना किसी जीवको मारे मांस उत्पन्न नहीं होता तथा जिसका मांस होता है उसमें उसी जातिके अनेक जीव प्रति समयमें उत्पन्न होते रहते हैं तथा मांसके स्पर्श करने मात्रसे वे सब मर जाते हैं। इसके सिवाय मांस भक्षण करनेसे इन्द्रियां सब उत्तेजित रहती हैं और फिर अनेक प्रकारके अनर्थ उत्पन्न करती हैं इसलिए ऐसे इस मांसका त्याग कर देनेसे आत्मामें भारी शांति उत्पन्न होती है। मद्यपान करनेसे आत्मा बेहोश हो जाता है और बेहोश होकर अनेक प्रकारके पाप और अनर्थ करता है। इसके सिवा मद्य अनेक जीवोंका कलेवर होता है और उसमें प्रतिक्षण अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए ऐसे मद्यका त्याग कर देनेसे आत्मामें महा शांति उत्पन्न होती है। वेश्या सेवन अनेक अनर्थोंकी जड है वेश्या मद्य मांसका सेवन करती है उसके मुंहसे मुंह लगाना महा पाप है। वेश्या सेवन करनेवालेका सूतक पातक कभी नष्ट नहीं हो सकता और न वेश्या सेवन करनेवालेके कोई उत्तम विचार हो सकते हैं। इसलिए ऐसे वेश्यासेवनका त्याग करना सुख और न शांति दोनोंका कारण है। शिकार खेलना संकल्पी हिंसा है। हिरण आदि वनके जीव किसीका कुछ नहीं बिगाडते, केवल घास खाकर रहते हैं, ऐसे निरपराधी जीवोंको जान बूझकर या धोखा देकर मारना सबसे बडा पाप है। ऐसे पापोंसे बचनेके लिए तथा आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए शिकारका त्याग करना आवश्यक है। चोरी करना दूसरेकी हत्या करना है, क्योंकि यह जीव जिसकी चोरी करता है वह यही कहकर सोता है कि जीतेजी तो हमारी चोरी कोई नहीं कर सकता। इससे सावित होता है कि गृहस्थ लोग अपने धनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते हैं। ऐसे धनको जो चुरा लेता है वह उसके प्राणोंको ही हर लेता है ऐसा समझना चाहिए।

चोरी करनेवाला महा पाप उत्पन्न करता है और पकडा जाता है तो महा दुःख पाता है। इसलिए इसका त्याग कर देनेसे महा शांति उत्पन्न होती है। परस्त्री सेवन करनेमें बडी आकुलता रहती है तथा उस स्त्रीके घरवाले उसके शत्रु बन जाते हैं। कभी-कभी तो परस्त्री सेवन करनेवाले उस स्त्रीके कारण ही मारे जाते हैं। इसलिए ऐसी परस्त्रीका त्याग करना महा शांतिका कारण है। इस प्रकार सातों व्यसनोंका त्याग कर देनेसे आत्मामें शांति और सुख प्राप्त होता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको इन व्यसनोंका त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न—जन्मजरादिजं दुःखं किमर्थं मुच्यते प्रभो ?

अर्थ-हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि जन्म जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका त्याग क्यों किया जाता है ?

उत्तर-गर्वजं गर्भजं दुःखं क्रोधजं मानभंगजम् ।
मायालोभादिजं घोरं भ्रान्तिजं मर्मभेदजम् ॥४३५॥
जन्ममृत्युजरादुःखमन्यद्दुःखं प्रमुच्यते ।
शान्त्यर्थमेव हर्षोऽपि ख्यातिपूजादिलाभजः ॥४३६॥
तद्विना केवलं मन्ये नटवद् वेषमोचनम् ।
ज्ञात्वेत्यात्मबहिर्भावास्त्याज्याः शांतिर्भवेद् यथा ॥४३७॥

अर्थ—इस संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं, कितने ही दुःख अभिमानसे होते हैं, कितने ही दुःख गर्भसे उत्पन्न होते हैं, कितने दुःख क्रोधसे उत्पन्न होते हैं, कितने ही दुःख मानभंग होनेसे उत्पन्न होते हैं, कितने ही दुःख मायाचारीसे होते हैं, कितने ही लोभसे होते हैं, कितने ही घोर दुःख भ्रांतिसे

सिंधु ३४

उत्पन्न होते हैं, कितने ही दुःख मर्मच्छेदनसे होते हैं, कितने ही दुःख जन्मसे होते हैं, कितने ही दुःख मरणसे होते हैं, कितने ही दुःख बुढापेसे होते हैं और कितने ही दुःख अन्य अनेक प्रकारसे उत्पन्न होते हैं। इन सब दुःखोंका त्याग केवल आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है। इसके सिवाय अपनी प्रसिद्धता तथा पूजा प्रतिष्ठा आदिसे उत्पन्न होनेवाले हर्षोंका त्याग भी शांतिके लिए किया जाता है। यदि इन समस्त दुःखोंका त्याग करनेपर भी आत्मामें शांति उत्पन्न न हो तो फिर उन सब दुःखोंके त्यागको नटके वेषके त्यागके समान समझना चाहिए। अतएव अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए अपन आत्माके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न जितने भी विभावभाव हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—संसारमें जितने दुःख हैं चाहे वे ऊपर लिखे हुए हों वा इनसे भिन्न अन्य अनेक प्रकारके दुःख हों उन सब दुःखोंसे आकुलता उत्पन्न होती है। जहां आकुलता होती है वहां कभी शांति नहीं हो सकती। शांति आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होनेमें होती है तथा आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति इन समस्त दुःखोंके त्यागसे तथा राग, द्वेष, क्रोध, काम आदि समस्त विकारोंके त्याग करनेसे होती है। अतएव समस्त भव्यजीवोंको दुःखोंका त्याग कर शांति प्राप्त करनी चाहिए। दुःखोंका त्याग समता धारण करनेसे होता है। जिसके हृदयमें सुख दुःख दोनोंमें समता होती है वह पुरुष कभी भी किसी भी दुःखमें संक्लेश परिणाम धारण नहीं करता तथा संक्लेश परिणामोंके न होनेसे शांति प्राप्त होती है। शांति प्राप्त करनेका यह सबसे उत्तम उपाय है।

प्रश्न—कीदृशं मन्यते सौख्यं धनबंधुसुतोद्भवम् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि धन भाई बंधु वा पुत्रादिकोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख कौनसा माना जाता है?

उत्तर–राज्योद्भवं नाकभवं नरोत्थं सैन्योद्भवं कामपिशाचजातम्।
आदौ प्रियं प्राणहरं फलान्ते ह्यक्षोद्भवं बंधुकलत्रजातम् ॥४३८॥
सत्यार्थशान्तेश्च विनाशकत्वात् पुत्रोद्भवं सौख्यमपीह दुःखम्।
तत्त्वार्थवेदीति सुमन्यमानः सच्छान्तिहेतोर्यतते प्रवीरः ॥४३९॥
सच्छान्तिहीनस्य पराश्रितस्य सर्वं वृथा त्यागविधेर्विधानम्।
यथा ह्यनुष्ठानमपीह सर्वं विज्ञानहीनस्य मुनेर्वृथा स्यात् ॥४४०॥

अर्थ–इस संसारमें चाहे राज्यसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे सेनासे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे कामदेवरूपी पिशाचसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे भाई बंधु वा स्त्री आदिसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों और चाहे पुत्र पौत्र आदिसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों। ये सब प्रकारके सुख पहले तो अच्छे जान पडते हैं परंतु अन्तमें ये सब सुख प्राणोंको नाश करनेवाले हैं और आत्मासे उत्पन्न होनेवाली यथार्थ शांतिको नाश करनेवाले हैं इसलिए यथार्थ तत्त्वोंको जाननेवाले यथार्थ शूर वीर महापुरुष इन सब सुखोंको दुःख ही मानते हैं और इसीलिए वे महापुरुष आत्मासे उत्पन्न होने वाली परम शांतिको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं। जिसप्रकार आत्मज्ञानसे रहित मुनियोंके लिए ध्यान तपश्चरण आदि सब अनुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार जिस पुरुषके हृदयमें परम शांति प्राप्त नहीं होती और जो इन्द्रियोंके वा घर गृहस्थीके ही सदा आधीन रहता है उसके त्याग करनेकी सब विधि व्यर्थ समझी जाती है।

भावार्थ—संसारके जितने सुख हैं वे सब पराधीन हैं और अन्तमें दुःख देनेवाले हैं। जिसप्रकार कुत्ता हड्डी चाटता है हड्डी चाटते समय उसके मुखसे जो रुधिर निकलता है उसीको वह हड्डीसे उत्पन्न होनेवाला रुधिर मानकर उसके चाटनेमें सुख मानता है। वास्तवमें देखा जाय तो वह पहले सुखसा जान पडता है परन्तु अन्तमें सब मुंह छिल जानेसे महादुखी होता है अथवा जिसप्रकार यह मनुष्य दाद खुजानेमें सुख मानता है परन्तु अन्तमें वह उस दादके खुजानेसे महादुःखी होता है। उसीप्रकार इस संसारमें जितने सुख हैं वे सब पहले सेवन करते समय तो बहुत अच्छे जान पडते हैं, परन्तु अन्तमें उन सुखोंसे सदा दुःख ही होता है। सांसारिक सुख कहनेको तो सुख हैं परन्तु समस्त सुख आत्माकी परम शांतिको नष्ट करनेवाले हैं, इसलिए आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले तथा आत्माके अनन्त सुखका स्वरूप समझनेवाले भव्यपुरुष उसे दुःख ही मानते हैं। इसके सिवाय संसारके जितने सुख हैं वे सब पाप उत्पन्न करनेवाले हैं। राज्य करनेमें महा पाप होता है, इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें महा पाप उत्पन्न होता है, काम सेवनमें महापाप होता है, पुत्र पौत्रोंके पालन पोषणमें महापाप होता है और घर गृहस्थीमें व्यापारादिकसे वा रसोई बनाने, पानी भरने आदि कार्योंसे सर्वदा पाप उत्पन्न होता रहता है। उन सब पापोंके उदयसे अनेक प्रकारके दुःख इसी जन्ममें भोगने पडते हैं और परलोकमें नरक-निगोद आदिके महा दुःख भोगने पडते हैं। इस प्रकारसे भी यदि विचार किया जाय तो भी ये सांसारिक सुख महा दुःखके कारण हैं। अतएव आत्मामें परमशांति और आत्मजन्य यथार्थसुख प्राप्त करनेके लिए इन सांसारिक समस्त सुखोंका त्याग कर देना चाहिए। जो पुरुष इन सुखोंका त्याग कर भी परम शांति प्राप्त नहीं करते उनका वह सब त्याग व्यर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित मुनिका ध्यान, तपश्चरण आदि सब व्यर्थ समझा जाता है उसी प्रकार शांतिरहित भव्य जीवका इन्द्रियादिकके विषयोंका त्याग भी व्यर्थ ही समझा जाता है। अतएव इन सांसारिक समस्त

सुखोंका त्याग कर परम शांति प्राप्त कर लेना भव्य जीवका मुख्य कर्त्तव्य है और यही आत्माके परम कल्याणका साधन है।

प्रश्न—इन्द्रादिसौख्यमेवापि किं हेयं मन्यते गुरो ?

अर्थ—हे गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इन्द्र आदिके सुख भी इस संसारमें हेय वा त्याग करने योग्य क्यों माने जाते हैं ?

उत्तर—शान्त्या विहीनं सततं सुदृष्टिश्चिन्तामणेः कल्पतरोः प्रजातम् ।
सुकामधेनोश्च सुभोगभूम्याः नरेन्द्रदेवेन्द्रफणीन्द्रजातम् ॥४४१॥
पंचाक्षसन्तोषकरं ह्यपीह सुखं च हेयं हृदि मन्यते वै ।
यथा चकोरः खलु चन्द्रहीनो ज्ञात्वेति शांतिर्हृदि धारणीया ॥४४२॥

अर्थ—जिसप्रकार चकोर पक्षी विना चन्द्रमाके अपने समस्त सुखोंको हेय वा त्याग करने योग्य समझता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष भी आत्मामें परम शांति धारण किए विना चिन्तामणि रत्नसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको, श्रेष्ठ कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको. उत्तम भोगभूमिसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको, महाराज चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणीन्द्र आदिके सुखोंको और पांचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करनेवाले सुखोंको भी अपने हृदयमें हेय वा त्याग करने योग्य समझता है। यही समझकर समस्त भव्य जीवोंको अपने हृदयमें परम शांति धारण करनी चाहिए।

भावार्थ—यदि वास्तवमें देखा जाय तो जिसमें किसी प्रकारकी आकुलता न हो उसीको सुख कहते हैं। जिस सुखके होनेमें आकुलता बनी रहे वा नवीन-नवीन आकुलताएं उत्पन्न होती रहें, उन

सुखोंको कभी उत्तम और यथार्थ सुख नहीं कह सकते। निराकुलता आत्माकी शांतिमें ही प्राप्त होती है। जहां-जहां आत्मामें शांति है वहां-वहां परम सुख प्राप्त होता है तथा जहां शांति नहीं है वहां कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए विना शांतिके चाहे कैसे ही उत्तमसे उत्तम सुख हों वे सब दुःख ही होते हैं और सम्यग्दृष्टी पुरुष सदाकाल उनको दुःख ही मानता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुषको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है तथा उसके हृदयमें स्वपरभेद विज्ञान प्रगट हो जाता है। इन्हीं सब कारणोंसे वह सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न अन्य समस्त पदार्थोंका त्याग कर देता है, समस्त विभाव भावोंका त्याग कर देता है और इंद्रियजन्य समस्त सुखोंका त्याग कर देता है। इन सबका त्याग कर वह अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेका प्रयत्न करता है। आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे उसे परम शांति प्राप्त होती है और वह उस परम शांतिसे परम सुख प्राप्त कर लेता है। अतएव समस्त भव्यजीवोंको अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर अनंत सुख प्राप्त कर लेना चाहिए। यही आत्माका परम कल्याण है।

आगे इसी विषयको विशेष रीतिसे दिखलाते हैं—

इष्टानिष्टादिसंयोगाज्जातं दुःखं सुखं सदा।
सत्यशान्तिगवेष्येव मन्यते सदृशं द्वयम् ॥४४३॥
ज्ञानचक्षुर्विनिर्मुक्तो मूढो हि सुखदुःखकम्।
यथाम्बु लभते वर्णं तत्परिणमते स्वयम् ॥४४४॥

अर्थ—इस संसारमें इष्ट पदार्थोंके वियोगसे तथा अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे महा दुःख उत्पन्न होता है तथा इष्ट पदार्थोंके संयोगसे और अनिष्ट पदार्थोंके वियोगसे सुख माना जाता है, परंतु सत्य और

शांतिको ढूंढनेवाले महापुरुष उन सुख वा दुःख दोनोंको समान मानते हैं। जिस प्रकार पानीमें सफेद वर्ण होता है परंतु उसमें लाल पीला नीला आदि जैसा वर्ण डाल दिया जाय वैसा ही वर्ण उसका हो जाता है उसी प्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानरूपी नेत्रोंसे रहित हैं ऐसे मूढ पुरुष इष्ट वियोग वा अनिष्ट संयोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको दुःख मान लेते हैं और इष्ट संयोग वा अनिष्ट वियोगसे होनेवाले सुखोंको सुख मान लेते हैं।

भावार्थ—यथार्थ शांतिकी प्राप्ति आत्माके शुद्ध स्वरूपमें होती है। जिस पुरुषको उस आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती उसको वह यथार्थ शांतिकी प्राप्ति कभी नहीं होती तथा जिस पुरुषको यथार्थ शांतिकी प्राप्ति नहीं होती अथवा आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती वह अज्ञानी जीव धनकी प्राप्ति वा पुत्र पौत्रादिककी प्राप्तिको सुख मान लेता है और रोगादिककी प्राप्तिको दुःख मान लेता है। वास्तवमें देखा जाय तो पुत्र पौत्रादिककी प्राप्ति वा रोगादिककी प्राप्ति आत्माके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न है, और इसलिए वह सुख वा दुःख क्षणिक है तथा पराधीन है, कर्मोंके उदयसे प्राप्त होते हैं। इसीलिए समता धारण करनेवाले वा आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावक वा मुनि दोनों ही उन समस्त इन्द्रिय जन्य सुखों वा दुःखोंको समान समझते हैं वे इष्ट वियोगादिकसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको दुःख नहीं समझते और इष्ट संयोगादिकसे उत्पन्न होनेवाले सुखको सुख नहीं समझते। वे जिसप्रकार सुखमें अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते हैं, उसीप्रकार दुःखमें भी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते हैं। इसप्रकार वे सुख-दुःख दोनोंको अनुभव न करते हुए परम शांति धारण करते हैं। यही मोक्षका साधन है और यही आत्माके कल्याणका उपाय है।

प्रश्न—यदि न मन्यते दुःखं सुखं तर्हि कथं भुवि ?

अर्थ-इस संसारमें यदि दुःखको न माना जाय तो न सही परन्तु सुख क्यों नहीं माना जा सकता? सुखको तो सुख मानना चाहिए?

उत्तर-इष्टवस्तुभवं कार्यं दृष्ट्वेति मन्यते सुखम् ।
तथानिष्टादिजं कार्यं दुःखं दृष्ट्वेति मन्यते ॥४४५॥
वस्तुतो दुःखदं सर्वमिष्टानिष्टादिवस्तुजम् ।
यथेह बन्धहेतुत्वाद् हेमायःशृंखले समे ॥४४६॥

अर्थ-इस संसारमें इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंको देखकर सुख मान लेते हैं, तथा अनिष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंको देखकर दुःख मान लेते हैं। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो चाहे कोई कार्य इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाला हो और चाहे अनिष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाला हो, दोनों प्रकारके कार्य दुःख देनेवाले होते हैं। जैसे बांधनेके लिए संकल चाहे सोनेकी हो और चाहे लोहेकी हो, दोनों ही संकलोंसे यह मनुष्य बांधा जाता है, बांधनेके लिए दोनों समान हैं।

भावार्थ-जिसप्रकार यह मनुष्य लोहेकी संकलोंसे बांधा जाता है, उसीप्रकार सोनेकी संकलोंसे भी बांधा जाता है। मनुष्यको बांधनेके लिए जैसी सोनेकी संकल काम देती है उसीप्रकार लोहेकी संकल काम देती है। इसीप्रकार जिसप्रकार अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले कार्य दुःख देनेवाले होते हैं, उसीप्रकार इष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले कार्य भी दुःख देनेवाले होते हैं। इसका भी कारण यह है कि जिसप्रकार अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे आकुलता उत्पन्न होती है और आत्मजन्य सुख शांतिका घात होता है उसीप्रकार इष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंसे भी आकुलता उत्पन्न होती है और आत्मजन्य सुख शांतिका घात होता है।

इसलिए जिसप्रकार दुःख दुःख देनेवाले हैं उसीप्रकार सुख भी दुःख ही देनेवाले हैं। आकुलता उत्पन्न होने और सुख शांतिका घात करनेके कारण सुख-दुःख दोनों ही समान माने जाते हैं। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको सुख-दुःख दोनोंको समान मानकर अपने हृदयमें समता तथा सुख और शांति धारण करनी चाहिए। आत्माके कल्याणका सबसे अच्छा उपाय यही है।

प्रश्न—मोहः संगस्तथा स्वामिन् किमर्थं त्यज्यते स्पृहा ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मोह परिग्रह वा स्पृहाका त्याग किस लिए किया जाता है ?

उत्तर—शान्त्यर्थमेव मोहादिस्त्यज्यते हि परिग्रहः।
यदि न त्यज्यते सर्वस्तर्हि त्याज्यः क्रमेण वै ॥४४७॥
अन्तकाले तु भव्येन त्याज्यैव च हठात्स्पृहा।
एवं नो चेद् वृथोद्योगः शरन्मेघध्वनेः समः ॥४४८॥

अर्थ—इस संसारमें आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए मोह वा परिग्रहका त्याग किया जाता है, यदि उस मोह वा परिग्रहका त्याग पूर्ण रीतिसे न हो सके तो फिर उनका त्याग अनुक्रमसे करना चाहिए तथा अन्तकालमें भव्यजीवोंको अपनी समस्त इच्छाओंका वा लालसाओंका त्याग कर देना चाहिए। यदि यह भव्यजीव इन सबका त्याग कर शांति धारण नहीं करता है तो फिर शरद ऋतुके मेघोंकी गर्जनाके समान उनका सब उद्योग व्यर्थ ही समझना चाहिए।

भावार्थ—मोह परिग्रह और लालसाएं ही इस संसारमें दुःख देनेवाली हैं। संसारमें जितने दुःख हैं वे सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं तथा जितनी आकुलताएं हैं वे सब इन्हींसे उत्पन्न होती हैं। इसलिए

इन्हीं तीनोंका त्याग करनेसे ही परम शांति प्राप्त होती है। उस परम शांतिकी प्राप्ति करनेके लिए प्रत्येक भव्यजीवको इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। जो भव्यजीव इन तीनोंका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते उनको धीरे-धीरे अनुक्रमसे त्याग करना चाहिए और इसप्रकार त्याग करते करते अन्तकालमें समाधिमरणके समय इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इन सबका त्याग करते हुए भी यदि आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर उनका वह सब त्याग व्यर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार शरद ऋतुके बादल गरजते रहते हैं परन्तु बरसते नहीं तथा विना बरसे उन बादलोंका गरजना व्यर्थ है उसीप्रकार विना परम शांति प्राप्त किए मोहादिकका त्याग करना व्यर्थ है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको मोह, परिग्रह और लालसाओंका त्याग कर परम शांति धारण करनी चाहिए। यही शांति आत्माके परम सुखका कारण है।

प्रश्न—निंदास्तवादिकान् भव्याः किं त्यजन्ति गुरो वद ?

अर्थ—हे गुरो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि भव्यजीव निन्दा वा स्तुति आदिका त्याग क्यों करते हैं?

उत्तर—स्वात्मस्तवादिकं मूलात्परनिन्दादिकं तथा ।
मृत्युकालभवं दुःखं व्याध्यादिसंभवो भयः ॥४४९॥
इहामुत्रधनेच्छादिस्त्यज्यते सत्यशान्तये ।
न भाति तद्विना कोपि दयाहीनो व्रती यथा ॥४५०॥

अर्थ—इस संसारमें यथार्थ शांति प्राप्त करनेके लिए अपनी प्रशंसा वा स्तुति करनेका सर्वथा त्याग किया जाता है, दूसरोंकी निंदा आदिका त्याग किया जाता है, मरण समयमें होनेवाले दुःखोंका

त्याग किया जाता है, रोगादिकसे उत्पन्न होनेवाले भयोंका त्याग किया जाता है और इस लोक तथा परलोकके लिए धनादिककी इच्छाका त्याग किया जाता है। जिसप्रकार बिना दयाके कोई व्रती पुरुष शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार विना यथार्थ शांतिके स्तुति वा निंदादिकका त्याग भी सुशोभित नहीं होता।

भावार्थ—तीव्र अभिमानके कारण दूसरेकी निंदा की जाती है और अपनी प्रशंसा की जाती है, मोहके कारण अन्त कालमें दुख होता है वा रोगादिकका भय होता है और लोभके कारण धनादिककी इच्छा होती है। अभिमान, लोभ वा मोह ये तीनों ही महा दुःख देनेवाले हैं, आत्मामें आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं और आत्माकी परमशांतिका घात करनेवाले हैं। धनकी इच्छा करनेसे धनकी प्राप्ति नहीं होती, धनकी प्राप्ति तो लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होती है। अतएव धनकी इच्छा करनेसे केवल आत्माकी शांति वा सुखका ही घात होता है इसलिए उस आत्माकी सुख और शांतिको स्थिर रखनेके लिए इच्छाओंका त्याग कर देना परमावश्यक है। इसी प्रकार मोह पद-पदपर दुःख पहुंचाता रहता है। यह प्राणी मोहके कारण ही चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है और नरकनिगोदादिकके दुःख भोगता रहता है इसलिए सुख और शांति प्राप्त करनेके लिए इस मोहका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है। मोहका त्याग हो जानेसे दुःख वा भय अपने आप छूट जाते हैं। दूसरोंकी निंदा अपनी प्रशंसा करनेसे भी अपना अभिमान सर्वत्र व्याप्त नहीं होता। कभी-कभी तो परनिंदा वा आत्म-प्रशंसा करनेसे बहुत नीचा देखना पडता है और बहुत दुःख होता है ऐसी अवस्थामें आत्माको सुख वा शांति कभी प्राप्त नहीं होती इसलिए आत्माको सुख और शांति प्राप्त करनेके लिए परनिंदा वा आत्म-प्रशंसाका त्याग करना ही आवश्यक है। इसप्रकार इन विकारोंका त्याग करनेसे आत्मामें सुख और शांति प्राप्त होती है। जो पुरुष इनका त्याग करके भी शांति प्राप्त नहीं करते उनके वास्तविक त्याग नहीं समझा जाता।

जिसप्रकार व्रत पालन करनेवाला पुरुष यदि निर्दयी हो तो उसका व्रत पालन करना व्यर्थ है उसी प्रकार विना शांतिके इन विकारोंका त्याग भी सर्वथा व्यर्थ है इसलिए इन विकारोंका त्याग कर परम शांति धारण करना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—पालितस्य व्रतादेः स्यात्किं फलं मे गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें व्रतोंके पालन करने आदिका क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर—ज्ञातस्य स्वात्मतत्त्वस्य त्यक्तस्य विषयस्य वा ।
पालितस्य व्रतस्यापि पठितस्य श्रुतस्य च ॥४५१॥
मृत्युकाले फलं तेषां शांतिरेव निजात्मनि ।
तद्विना केवलं मन्ये शुकपठनवद् वृथा ॥४५२॥

अर्थ—अपने आत्मतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको जानना, समस्त इंद्रियोंके विषयोंका त्याग करना, व्रतोंका पालन करना और अरहंत प्रणीत श्रुतज्ञानके अभ्यास करनेका फल समाधिमरणके समय अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करना है। यदि आत्मतत्त्वका स्वरूप जानकर भी, विषयोंका त्याग करके भी व्रतोंका पालन करके भी और जिनप्रणीत शास्त्रोंका अभ्यास करके भी यदि समाधिमरणके समय अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर वह आत्माके स्वरूपका जानना विषयोंका त्याग करना व्रतोंका पालना और जैन शास्त्रोंका अभ्यास करना आदि सब तोतेको पढानेके समान व्यर्थ ही समझना चाहिए।

भावार्थ—आत्मतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको जान करके आत्मामें शांतिका प्राप्त होना अनिवार्य है।

क्योंकि आत्माके यथार्थ स्वरूपकी जानकारीके साथ-साथ स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है तथा स्वपरभेदविज्ञानके प्रगट होते ही यह आत्मा क्रोध मान माया लोभ मोह मद काम आदि समस्त विकारोंको तथा समस्त परिग्रहको पर समझकर उनके त्याग करनेका प्रयत्न करता है और केवल आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। धीरे-धीरे वह संसारसे विरक्त होकर उन समस्त विकारोंका त्याग कर देता है और आत्मामें लीन होनेका अभ्यास कर लेता है। ऐसी अवस्थामें उस आत्मामें कमसे कम समाधिमरणके समय तो अवश्य शांति प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि ऐसे जीवको भी समाधिमरणके समय शांति प्राप्त नहीं होती तो फिर उसके आत्मतत्त्वका जानना तोतेको पढानेके समान व्यर्थ है। इसी प्रकार विषयोंका त्याग और व्रतोंका पालन भी आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए किया जाता है। विषयोंका सेवन करना और किसी प्रकारके व्रत नियम पालन न करना उच्छृंखल होकर महा पाप उत्पन्न करते रहना है। जहां इस प्रकार उच्छृंखल होकर महा पाप किए जाते हैं वहांपर सिवाय दुःख और आकुलताके कभी सुख और शांति नहीं मिल सकती। इसलिए सुख और शांतिके लिए ही विषयोंका त्याग किया जाता है और व्रतोंका पालन किया जाता है। यदि इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके भी तथा व्रतोंका पालन करके भी समाधिमरणके समयमें शांति प्राप्त नहीं हुई तो फिर वह विषयोंका त्याग और व्रतोंका पालन सब व्यर्थ और मिथ्या समझना चाहिए। मरनेके समय समाधिमरण अवश्य हो और उससे आत्माको परम शांति अवश्य प्राप्त हो इसीलिए विषयोंका कषायोंका त्याग किया जाता है और व्रतोंका पालन किया जाता है। समाधिमरणके लिए ही यह सब अभ्यास है। इस लिए व्रतोंका पालन करनेसे और विषयोंका त्याग करनेसे समाधिमरणके समय अवश्य शांति प्राप्त होती है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। इसी प्रकार भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास करना वा कराना भी आत्माकी परम शांतिका कारण है। जैनशास्त्रोंका अभ्यास करनेसे कषायादिकोंका

त्याग हो जाता है और आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है तथा इन दोनोंके होनेसे समाधिमरणके समयमें अपने आत्मामें परम शांतिका प्राप्त होना अनिवार्य है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आत्माका स्वरूप जाननेसे विषय कषायोंका त्याग करनेसे, व्रतोंका पालन करनेसे और जैनशास्त्रोंके अभ्यास करनेसे अपने आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति अवश्य होती है और समाधिमरणके समयमें तो होती ही है।

प्रश्न—किमर्थं क्रियते स्वामिन् सामायिकादिकं भुवि ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें सामायिक जिनपूजन आदि आर्ष क्रियाकांड किसलिए किया जाता है?

उत्तर—सामायिकादिकं सर्वं क्रियाकाण्डस्तमोहरः।
शान्त्यर्थं क्रियते प्रीतिः सर्वजीवेषु भक्तितः ॥४५३॥
सामायिकादिकं कुर्वन् यदि शान्तिर्न चेतासि।
क्रियाकाण्डोऽखिलस्तस्यान्धजीवगतिवद् वृथा ॥४५४॥

अर्थ—इस संसारमें जो अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेवाला सामायिक आदि समस्त क्रियाकांड किया जाता है अथवा भक्तिपूर्वक समस्त जीवोंमें प्रेम वा वात्सल्य धारण किया जाता है वह सब अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार अंधा पुरुष गमन करता है और उसका वह गमन करना सब व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार जो पुरुष सामायिक आदिक समस्त क्रियाकांडको करता हुआ भी अपने हृदयमें शांति धारण नहीं करता उसका वह समस्त क्रियाकांड व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें समस्त भव्य जीव सामायिक, स्तुति, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, वंदना, स्वाध्याय, जिनपूजन, गुरुसेवा, पात्रदान आदि श्रावकोंके करने योग्य जितने क्रियाकांड करते हैं वे सब अपने हृदयमें शांति प्राप्त करनेके लिए करते हैं। सामायिकमें समस्त पापोंका वा संकल्प विकल्पोंका त्याग हो जाता है और पंचपरमेष्ठीका वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन किया जाता है। ऐसी अवस्थामें उस आत्मामें शांति प्राप्त होना अनिवार्य हो जाता है। जिस पुरुषको सामायिकमें भी शांति नहीं मिलती समझना चाहिए कि उसको कभी किसी काममें शांति नहीं मिल सकती। अथवा जिस सामायिकमें शांति प्राप्त न हो उस सामायिकको सामायिक ही नहीं समझना चाहिए अथवा उस सामायिकको व्यर्थ समझना चाहिए। इसी प्रकार समस्त जीवोंमें प्रेम वा वात्सल्य धारण करनेसे भी अत्यंत शांति प्राप्त होती है। परस्परकी शत्रुतामें अत्यंत आकुलता प्राप्त होती है, परंतु समस्त जीवोंमें प्रेम धारण करनेसे परस्परकी शत्रुता सब नष्ट हो जाती है। परस्परकी शत्रुता मिट जानेसे आकुलता नष्ट हो जाती है और आकुलता नष्ट होनेसे शांति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकारके वात्सल्य वा प्रेममें भी आकुलता नष्ट होकर शांति प्राप्त न हो तो फिर उस प्रेम वा वात्सल्यको ही मिथ्या समझना चाहिए। अतएव आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए सामायिक आदि समस्त क्रियाकांडोंका करना प्रत्येक भव्य श्रावकके लिए अत्यावश्यक है।

प्रश्न—किं किं भो चिन्त्यते स्वामिन् सत्यशान्त्यादिहेतवे ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि यथार्थ शांति प्राप्त करनेके लिए क्या-क्या चिन्तवन करना चाहिए।

उत्तर—केनापि सार्द्धं ममता न माया द्वेषो न रागो न च मे कुबुद्धिः।
तथापि जीवाश्च मया प्रमादात् विराधितास्ते खलु मे क्षमन्ताम्॥४५५॥

सर्वान् क्षमेऽपीति विशेषशांत्यै मनोविशुद्धिः क्रियते विचारः ।
चेच्छांतिहीनश्च किलोक्तभावो भातीव नैवं मतिहीनमंत्री ॥४५६॥

अर्थ—इस संसारमें परम शांति प्राप्त करनेके लिए भव्य जीवको सदाकाल यह विचार करते रहना चाहिए कि मैं किसी जीवके साथ वा किसी पदार्थके साथ न तो ममता धारण करता हूं, न किसीके साथ माया वा राग वा द्वेष धारण करता हूं और न मैं किसीके साथ कुबुद्धि धारण करता हूं. ऐसा होते हुए भी यदि मुझसे किसी जीवकी विराधना हुई हो तो वे जीव मुझे क्षमा करें तथा अपने आत्मामें विशेष शांति प्राप्त करनेके लिए मैं भी सब जीवोंको क्षमा करता हूं। इसके सिवाय मैं इस शांति के लिए ही अपने मनको शुद्ध करता हूं और इस प्रकारके विचार सदा स्थिर रखना चाहता हूं। जिस प्रकार कोई मंत्री बुद्धिहीन हो तो वह शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार यदि ऊपर लिखे भावोंसे भी शांति प्राप्त न हो तो वे भाव कभी शोभायमान नहीं होते।

भावार्थ—इस संसारमें आत्माकी परम शांतिको घात करनेवाला ममत्व है, माया है, राग है, द्वेष है और कुबुद्धि है। ये ममत्वादिक सब विकार आत्मामें आकुलता और दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। जहां आकुलता और दुःख होता है वहांपर शांति कभी नहीं हो सकती। इसलिए शांति प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको इनका त्याग कर देना चाहिए। इन सबका त्याग करनेसे आत्मामें परम शांति अवश्य प्राप्त होती है। इन सबका त्याग करनेके अनंतर यह चिंतवन करना चाहिए कि यद्यपि मैंने राग द्वेष माया ममत्व आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है तथापि यदि किसी प्रमादके कारण मुझसे किसी जीवकी विराधना हुई हो तो मैं उससे क्षमा मांगता हूं। वह मुझे क्षमा कर दे तथा अपने हृदयमें विशेष शांति धारण करनेके लिए मैं भी समस्त जीवोंको क्षमा कर देता हूं और इस प्रकार अपने मनको शुद्ध कर लेता हूं। इस प्रकार मनको शुद्ध करनेसे तथा राग द्वेषादिकका त्याग कर देनेसे परम शांतिकी

प्राप्ति अवश्य होती है। यदि इनका त्याग करनेसे भी परम शांति प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि वह त्याग सब मिथ्या है। ऐसा त्याग कभी सुशोभित नहीं हो सकता। अतएव इन सब विकारोंका त्याग कर अपने आत्मामें परम शांति धारण कर अपने आत्माका परम कल्याण कर लेना प्रत्येक भव्य जीवका परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न–मनोवचःसुकायेषु किमर्थं ह्यैकमाप्नुयात्।

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि मन वचन कायमें जो एकता धारण की जाती है अर्थात् जो मनमें सोचा जाता है वही वचनसे कहा जाता है और वही शरीरसे किया जाता है सो क्यों किया जाता है, किसलिए किया जाता है?

उत्तर–यथैव चित्ते वचसा तथैव निगद्यते कैतवहीनकायैः।
निजान्यशान्त्यै क्रियते च कृत्यं गर्हापि निंदात्मन एव नित्यम् ॥४५७॥
परप्रशंसाखिलतोषदात्री मिथोपि चेर्ष्यादिविनाशकर्त्री।
पूर्वोक्तरीतिर्यदि चेन्न चैव नृत्वं वृथाहश्च विना सुभानुम् ॥४५८॥

अर्थ–इस संसारमें अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए तथा अन्य जीवोंमें शांति प्राप्त करनेके लिए महा पुरुष जैसा मनमें विचार करते हैं वैसा ही वचनसे कहते हैं तथा विना किसी छल कपटके शरीरसे वैसा ही कार्य करते हैं। इसके सिवाय वे पुरुष अपने आत्माकी गर्हा और निंदा करते रहते हैं और समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेवाली तथा परस्परकी इर्ष्या वा द्वेषको दूर करनेवाली अन्य जीवोंकी प्रशंसा भी किया करते हैं। यदि इन सब कार्योंको करते हुए भी आत्मामें परम शांति प्राप्त

न हो तो फिर जिसप्रकार विना सूर्यके दिन शोभायमान नहीं होता उसीप्रकार विना शांतिके मन वचन कायकी वह सरलता भी शोभायमान नहीं होती।

भावार्थ—मन वचन कायकी सरलता शांतिका सर्वोत्तम कारण है। जो पुरुष मन वचन कायकी सरलता नहीं रखता, मनमें कुछ सोचता है, वचनसे कुछ कहता है और शरीरसे कुछ करता है वह रात-दिन मायाचारी करता रहता है। कहीं वह मायाचारी प्रगट न हो जाय, इसके लिए वह सदा व्याकुल रहता है। उस व्याकुलतामें कभी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव उस व्याकुलताको दूर करनेके लिए और आत्मामें परम शांति धारण करनेके लिए मन वचन कायकी कुटिलता दूर कर मन वचन कायकी सरलता धारण करनी चाहिए। जिसका मन वचन काय सरल रहता है उसको कभी किसीका भय नहीं रहता इसीलिए वह निराकुल और शांत रहता है। इसके सिवाय जिसका मन वचन काय सरल होता है वह सदाकाल अपने आत्माकी गर्हा वा निंदा करता रहता है तथा दूसरोंकी प्रशंसा करता है। इसप्रकार अपनी गर्हा वा निंदा करनेसे तथा दूसरोंकी प्रशंसा करनेसे सब लोग संतुष्ट हो जाते हैं तथा सब लोगोंको संतुष्ट होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। यदि उत्तम मनुष्य जन्म पाकरके भी मन वचन कायकी सरलता धारण नहीं की तथा अपनी गर्हा निंदा वा परप्रशंसा नहीं की और इन कामोंके द्वारा अपने आत्मामें परम शांति धारण नहीं की तो फिर उसका मनुष्य जन्म ही व्यर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार विना सूर्यके दिनकी शोभा नहीं होती यदि सूर्य बादलोंमें छिप जाता है तो वह दिन दुर्दिन कहलाता है उसीप्रकार विना मन वचन कायकी सरलता और शांतिके मनुष्य जन्म कुजन्म कहलाता है, अथवा वह मनुष्य कुमनुष्य कहलाता है। इसलिए मनुष्य जन्म पाकरके मन वचन कायकी सरलता और शांति धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—देवादिकृतोपसर्गं किमर्थं सहते मुनिः ?

अर्थ—हे भगवन् ! कृपाकर यह बतलाइए कि मुनिराज देव वा मनुष्यादिकके द्वारा किया हुआ उपसर्ग किस लिए सहन करते हैं ?

उत्तर—देवैर्नरैर्वाथ खगैस्तिरश्चा कुटंबवर्गैश्च खलैः कुभूपैः।
दत्तं क्षणात्प्राणहरं च दुःखं कृतोपसर्गं सहते ह्यसह्यम् ॥४५९॥
मानापमानेन भवां प्रपीडां कायं कषायं स्वजनं स्वदेशम् ।
शान्त्यर्थमेव त्यजतीति साधुः मही यथा वा सहते हि सर्वम् ॥४६०॥

अर्थ—मुनिराज अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए ही देवोंके द्वारा, मनुष्योंके द्वारा, विद्याधरोंके द्वारा वा तिर्यंचोंके द्वारा अथवा कुटुंबी लोगोंके द्वारा, दुष्ट लोगोंके द्वारा वा नीच राजाओंके द्वारा दिए हुए और प्राणोंका हरण करनेवाले दुःखोंको सहन किया करते हैं तथा इन्हींके द्वारा किए हुए असह्य उपसर्गोंको सहन किया करते हैं और मान अपमानसे होनेवाली भारी पीडाको भी सहन किया करते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज शांतिके लिए ही काय कषाय स्वजन और स्वदेशका त्याग किया करते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी सब कुछ सहन किया करती है उसी प्रकार वे मुनिराज भी समस्त उपसर्गोंको सहन किया करते हैं।

भावार्थ—पृथ्वीको लोग कूटते हैं, खोदते हैं, इसपर थूकते हैं, मलमूत्र करते हैं, कूडा कचरा फेंकते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं परंतु वह पृथ्वी सब कुछ सहन करती रहती है। इसी प्रकार मुनिराजोंको भी बहुतसे लोग दुःख दिया करते हैं, बहुतसे देव अनेक प्रकारके उपसर्ग करते हैं, बहुतसे विद्याधर अनेक प्रकारके उपसर्ग करते हैं, बहुतसे सिंह व्याघ्र आदि पशु भी दुःख दिया करते हैं, बहुतसे

मनुष्य वा दुष्ट राजा वा अनेक कुटुंबी लोग उन मुनियोंको दुःख दिया करते हैं। उन सब उपसर्गोंको वा दुःखोंको वे मुनिराज सहन किया करते हैं। इसके सिवाय अनेक प्रकारके अपमानजनक वचन वा पीडाएं सहन किया करते हैं। उन मुनियोंका यह सब सहन करना केवल शांतिके लिए होता है। वे मुनिराज अपने मनमें कभी भी संक्लेशता वा आकुलता उत्पन्न होने देना नहीं चाहते, क्योंकि संक्लेश परिणाम होनेसे आत्मा:की शांति नष्ट होती है और इसीलिए उन संक्लेश परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका बंध होता है। आत्मामें शांति धारण करनेसे अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता और पहलेके संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार कषायोंका त्याग भी शांतिके लिए किया जाता है और स्वदेश वा कुटुंबवर्गका त्याग भी शांतिके लिए किया जाता है। अतएव समस्त भव्य जीवोंको शांतिका धारण करना परमावश्यक है और यही आत्माके कल्याणका कारण है।

प्रश्न–दीनतादिर्वद स्वामिन् किमर्थं त्यज्यते भुवि ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि दीनता मूर्खता आदिका त्याग इस संसारमें क्यों किया जाता है?

उत्तर–दीनता मूर्खता निंद्या नीचता धर्महीनता।
कूरता वैरताऽशान्तिर्निन्दकतातिमन्दता ॥४६१॥
परता भीरुताऽकीर्तिर्दुर्जनतातिलोभता।
शान्त्यर्थं केवलं सर्वास्त्यज्यंते लोकमूढता ॥४६२॥
वृथा स्यात्तद्विना त्यागस्त्यक्तकंचुकसर्पवत।
ज्ञात्वेति सुखदा शान्तिर्धारणीया निरन्तरम् ॥४६३॥

अर्थ-इस संसारमें जो दीनता, मूर्खता, निंदनीय नीचता, धर्महीनता, क्रूरता, वैर, विरोध, अशांति निंदा करना, अत्यंत मंद वा आलसी होना, परपदार्थोंमें लीन होना, भय, अपकीर्ति, दुर्जनता, अत्यंत लोभता और लोकमूढता आदिका जो त्याग किया जाता है वह केवल शांतिके लिए किया जाता है। जिस प्रकार सर्पके लिए कांचलीका त्याग कुछ कार्यकारी नहीं होता व्यर्थ होता है उसी प्रकार इन सबका त्याग करके भी यदि शांति प्राप्त न हो तो फिर उस सब त्यागको व्यर्थ समझना चाहिए यही समझकर प्रत्येक भव्य जीवको सदाकाल अपने हृदयमें सुख देनेवाली शांति धारण करनी चाहिए।

भावार्थ-दीनता, मूर्खता आदि जो ऊपर दिखलाये हैं वे सब मनुष्योंके अवगुण हैं। जहां अवगुण होते हैं वहांपर अनेक प्रकारकी आकुलताएं उत्पन्न होती रहती हैं तथा जहां आकुलताएं होती हैं वहां पर कभी शांति नहीं हो सकती। इसलिए इन सबका त्याग शांतिके लिए ही किया जाता है। अवगुणोंका त्याग करनेसे आत्माके गुणोंकी वृद्धि होती है तथा आत्माके गुणोंकी वृद्धि होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। यदि इन अवगुणोंका त्याग करके भी आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि वह अवगुणोंका त्याग मिथ्या और व्यर्थ है। अतएव समस्त भव्य जीवोंको अपने समस्त अवगुणोंका त्याग कर आत्मामें परम शांति धारण करनी चाहिए। यह शांति ही आत्माके कल्याणका उत्कृष्ट साधन है।

प्रश्न-लाभालाभं समानं हि किमर्थं मन्यते वद ?

अर्थ-हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मुनि लोग लाभ, अलाभ वा सुख दुःख आदिमें समता धारण क्यों करते हैं?

उत्तर-लाभे ह्यलाभे सुजनेपि दुष्टे हर्म्येऽप्यटव्यां हि सुखेपि दुःखे।
प्रियेऽप्रिये वस्तुनि चात्मवाह्ये मानापमाने रिपुबन्धुवर्गे ॥४६४॥

रोगे विरोगेपि जलस्थले खे भोगोपभोगे ध्रियते समत्वम् ।
शान्त्यर्थमेवं क्रियते प्रयोगः स तद्विना स्याद् वकवत् प्रदुष्टः ॥४६५॥

अर्थ—इस संसारमें लाभ, अलाभ, सज्जन, दुर्जन, घर, वन, सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय आदि पदार्थोंमें वा अन्य आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें वा मान अपमानमें, शत्रु वा बंधुओंमें, रोग वा नीरोगतामें, जलमें, स्थलमें, आकाशमें और भोगोपभोगोंमें जो समता धारण की जाती है वह केवल शांतिके लिए ही की जाती है। यदि इन सबमें समता धारण करके भी आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो फिर उस समताको बगुलाओंकीसी ही दुष्टता समझना चाहिए।

भावार्थ—किसी पदार्थके लाभ होनेपर हर्ष मनाया जाता है और उसकी प्राप्ति न होनेपर शोक वा दुःख मनाया जाता है। परन्तु हर्ष वा शोक दोनोंके होनेमें आकुलता होती है तथा आकुलता ही दुःख है। अतएव उस आकुलताको दूर करनेके लिए वा आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए लाभ अलाभ दोनोंमें समता धारण की जाती है। इसीप्रकार सज्जनसे मिलकर सुख होता है और दुष्टसे मिलकर दुःख होता है तथा सुख-दोनोंमें आकुलता होती है। उस आकुलताको दूर करनेके लिए और आत्माको परम शांत रखनेके लिए उन दोनोंमें समता धारण की जाती है। इसीप्रकार हर्ष वा विषादसे उत्पन्न होनेवाली आकुलताको दूर करनेके लिए घर वा वन दोनोंमें समता धारण की जाती है, सुख दुःख दोनोंमें समता धारण की जाती है, प्रिय वा अप्रिय दोनों पदार्थोंमें समता धारण की जाती है, मान-अपमानमें वा रोग और स्वास्थ्यमें वा जल-स्थलमें भोगोपभोगोंमें वा अन्य समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें समता धारण की जाती है। इस समताके धारण करनेसे आकुलता नष्ट हो जाती है और आत्मामें परम शांति प्राप्त हो जाती है। यदि इस समताके धारण करनेसे भी शांति प्राप्त न हो, सम-

झना चाहिए कि वह समता मिथ्या है और बगुलाके ध्यानके समान मायाचारीसे भरी हुई है। अतएव ऐसी मायाचारीका त्याग कर भव्यपुरुषोंको समस्त इष्टानिष्ट पदार्थोंमें समता धारण कर अपने आत्मामें परम शांति धारण करनी चाहिए। मोक्षसुख प्राप्त करनेका यही सर्वोत्तम उपाय है।

प्रश्न—स्वात्मतत्त्वविचारस्य प्रयोजनं प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मुनि लोग जो आत्मतत्त्वका विचार करते हैं वह किस लिए करते हैं ?

उत्तर—स्वात्मैव चानन्दमयं सुदृक् स्यात् स्वात्मैव शुद्धः प्रबलः प्रबोधः ।
स्वात्मैव सौख्यं परमार्थदृष्ट्या स्वात्मैव वीर्यं सुखदं च वृत्तम् ॥४६६॥
व्यक्तोपि गुप्तः कथितः प्रमाणात् सुखप्रदो वात्मन एव धर्मः ।
शान्त्यर्थमेवं क्रियते विचारः स्यात्तद्विना मूर्खनृवद् व्यथादः ॥४६७॥

अर्थ—यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो यह मेरा आत्मा ही चिदानन्दमय सम्यग्दर्शन है यही आत्मा अत्यन्त शुद्ध अनन्तज्ञान है, यही आत्मा अनन्तसुख है, यही आत्मा अनन्तवीर्य है, यही आत्मा सुख देनेवाला सम्यक् चारित्र है और यही आत्मा सुख देनेवाला आत्माका शुद्ध स्वरूप है। ऐसा यह आत्मा व्यक्त होता हुआ भी गुप्तरूपसे रहता है और प्रमाणसे उसका स्वरूप कहा जाता है। इसप्रकारके विचार केवल शांतिके लिए ही किए जाते हैं। यदि ऐसे विचार होते हुए भी शान्ति प्राप्त न हो तो फिर उन विचारोंको मूर्ख मनुष्यके समान दुःख देनेवाले ही समझने चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें आत्मतत्त्वका चिंतवन सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। यद्यपि उसका स्वरूप अत्यन्त शुद्ध और निर्विकल्पक है और इसीलिए वह अवक्तव्य है कहा नहीं जा सकता, तथापि

उसका स्वरूप किसी एक एक गुणके द्वारा कहा जाता है, तथा किसी एक गुणके द्वारा ही चिंतवन किया जाता है। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय आत्माका निज स्वरूप है। ये आत्माके चारों गुण घातिया कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे प्रगट होते हैं। दर्शनावरण कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे अनन्तदर्शन गुण प्रगट होता है, ज्ञानावरण कर्मके नाश होनेसे अनन्तज्ञान वा केवलज्ञान प्रगट होता है, मोहनीय कर्मके अत्यन्त नाश होनेसे अनन्तसुख प्रगट होता है और अन्तराय कर्मके सर्वथा नाश होनेसे अनन्तवीर्य प्रगट होता है। ये चारों गुण सिद्ध अवस्थामें भी आत्माके साथ रहते हैं इसलिए चारों गुण आत्माके स्वभाव रूप है, अथवा आत्माके निज धर्म रूप है। इनमेंसे किसी एक गुणके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करना आत्मामें परम शान्ति प्राप्त करनेवाला है। यद्यपि इन चारों गुणोंमेसे ज्ञान गुण साकार है और सविकल्पक है तथा शेष सब गुण निराकार और निर्विकल्पक हैं तथापि ज्ञानके द्वारा उनका निरूपण किया जाता है। यद्यपि अन्य समस्त पदार्थोंके चिंतवन करनेसे भी शान्ति प्राप्त होती है तथापि समस्त पदार्थ वा तत्त्वोंकी अपेक्षा आत्मतत्त्व सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। समस्त तत्त्वोंमें एक आत्मतत्त्व ही उपादेय है शेष तत्त्व हेय हैं। इसलिए आत्मतत्त्वका चिंतवन करना सर्वोत्कृष्ट चिंतवन वा ध्यान कहलाता है और इसीलिए आत्मतत्त्वक चिंतवन करनेसे परम शांति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि अपने आत्म तत्त्वका चिंतवन करनेसे यह आत्मा अन्य समस्त संकल्प विकल्पोंका त्याग कर केवल आत्मामें ही लीन हो जाता है। इसलिए उस समय उस आत्मामें सब प्रकारकी आकुलताएं नष्ट हो जाती हैं और केवल आत्मामें लीन होनेके कारण परम शांति प्राप्त हो जाती है। वह परम शांति सब प्रकारके आस्रव वा बंधको रोकनेवाली होती है और आत्माका परम कल्याण करनेवाली होती है! जो लोग इस प्रकारके आत्माका चिंतवन करते हुए भी परम शांति प्राप्त नहीं करते उनका

वह आत्म चिंतवन सर्वथा मिथ्या समझना चाहिए और इसीलिए वह चिंतवन मूर्ख मनुष्यके समान महादुःख देनेवाला समझना चाहिए।

प्रश्न—स्वपरवस्तुबोधेन कस्य सिद्धिर्भवेद्गुरु ?

अर्थ-हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि स्व और परपदार्थोंके ज्ञान होनेसे किस पदार्थकी सिद्धि होती है ?

उत्तर-एकः सदा मे विमलोऽस्ति स्वात्मा ज्ञातापि दृष्टा हि परैरभेद्यः।
स्वानन्दपूरोऽखिलदुःखदूरः सदा स्वसंवेदनतश्च गम्यः ॥४६८॥
पूर्वोक्तधर्मेण विवर्जितो यः स एव हेयश्च निजात्मनोऽन्यः।
ज्ञात्वेति सेव्यः सुखदो निजात्मा शान्त्यै यथा भव्यजनैर्जिनेन्द्रः॥४६९॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा अत्यन्त निर्मल है, एक है, ज्ञाता है, दृष्टा है, दूसरोंके द्वारा अभेद्य है, अपने आत्मजन्य आनन्दका पूर है, समस्त दुःखोंसे दूर है और सदाकाल अपने आत्माके स्वसंवेदन-ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। जो पदार्थ ऊपर लिखे हुए धर्मसे रहित है और अपने आत्मासे भिन्न है वह सदाकाल हेय वा त्याग करने योग्य समझा जाता है। यही समझकर जिसप्रकार भव्यजीव अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा सेवा करते हैं उसीप्रकार अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए सुख देनेवाले अपने आत्माकी ही सेवा करनी चाहिए अर्थात् अपने आत्माका ही ध्यान वा चिंतवन करना चाहिए।

भावार्थ-स्वपरभेदविज्ञान होनेसे आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति वा सिद्धि होती है। इसका भी कारण यह है कि मोहनीय कर्म अपने आत्माके स्वरूपको भुला देता है। मोहनीय कर्मके उदयसे यह

आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको न देख सकता है न जान सकता है। जब कभी किसी विशेष पुण्य-कर्मके उदयसे अथवा काललब्धिके निमित्तसे उस मोहनीय कर्मका उपशम वा क्षयोपशम वा क्षय हो जाता है, तब उस आत्मामें एक प्रकारका निर्मल प्रकाश प्रगट हो जाता है, उस निर्मल प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस निर्मल प्रकाशके प्रगट होनेसे यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको देखने और जानने लगता है। जब यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको देख लेता है वा जान लेता है तब यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको उपादेय समझकर ग्रहण कर लेता है और उस आत्माके शुद्ध स्वरूपके सिवाय अन्य समस्त आत्माके विकारोंका त्याग कर देता है। इस प्रकार आत्माके साथ लगे हुए परपदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे वह शुद्ध स्वरूप ज्ञाता दृष्टा चिदानंदमय निर्मल स्वात्मा अकेला ही रह जाता है। उस समय परपदार्थोंका कोई संबंध न रहनेके कारण उस आत्मामें कोई किसी प्रकारकी आकुलता प्रगट नहीं होती। आकुलताका प्रगट न होना ही आत्मामें परम शांतिका उत्पन्न होना है। इस प्रकार अपने आत्माके स्वरूपको तथा अन्य समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जान लेनेसे अपने आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति होती है तथा यही परम शांति मोक्षकी प्राप्तिका मुख्य साधन है। इसलिए भव्यजीव जिस प्रकार भगवान जिनेंद्रदेवकी सेवा वा भक्ति करके अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करते हैं उसी प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप और परम सुख देनेवाले आत्माकी सेवा करके वा उसका चिंतवन करके समस्त भव्य जीवोंको अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर लेना चाहिए। ऐसी परम शांति प्राप्त कर लेनेके अनंतर उस भव्य जीवको मोक्षकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

प्रश्न—मिथः सम्बन्धचर्चानां को हेतुर्विधते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पदार्थोंमें परस्परक संबंध होनेसे वा परस्परके संबंधकी चर्चा करनेसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर-दुःखप्रदानां भवबन्धकानां संयोगतो बाह्यपदार्थकानाम् ।
भीमे भवाब्धौ च पतन्ति मूढाः विभावशक्तेः प्रबलोदयाद्वा ॥४७०॥
यथैव मेघाः पवनप्रसंगात् प्रजा यथा दुष्टनृपस्य संगात् ।
मिथःप्रबोधादिति तेपि शान्तिं लब्ध्वा लभन्ते समयं स्वराज्यम् ।४७१

अर्थ—जिस प्रकार वायुके संयोगसे मेघ सब गिर जाते हैं और दुष्ट राजाके संबंधसे प्रजा भी गिर जाती है उसी प्रकार विभाव-शक्तिके प्रबल उदयसे तथा दुःख देनेवाले और संसारका बंध करनेवाले बाह्य पदार्थोंके संबंधसे ये अज्ञानी जीव इस भयंकर संसाररूपी समुद्रमें गिरकर डूब जाते हैं तथा वे ही अज्ञानी जीव उन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर लेते हैं और उस परम शांतिको प्राप्त कर लेनेसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको तथा मोक्षरूप स्वराज्यको प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें यह जीव इन कर्मोंके ही निमित्तसे अनादिकालसे परिभ्रमण कर रहा है। अपने कषायादिकोंके निमित्तसे पौद्गलिक कर्मोंको ग्रहण करता है और फिर उन कर्मोंके उदयसे दुःखी होता हुआ नवीन कर्मोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार वीज वृक्षके समान कर्म और कषायोंका संबंध इस आत्माके साथ लगा हुआ है। ये कर्म और कषाय दोनों ही पौद्गलिक हैं और आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। इन्हीं कर्मोंके उदयसे होनेवाले कषायोंको वा मोहादिके विकारोंको विभाव-भाव कहते हैं। इन्हीं विभाव-भावोंकी तीव्रतासे यह जीव अशुभ कर्मोंका बंध करता है और उन अशुभ कर्मोंके उदयसे इस संसार-समुद्रमें परिभ्रमण करता हुआ महादुःख भोगता है। जिस प्रकार वायुके निमित्तसे बादल गिर जाते हैं अथवा जिस प्रकार दुष्ट राजाके निमित्तसे प्रजा गिरकर महा दुखी होती है उसी प्रकार इन

कर्म और कषायोंके निमित्तसे यह जीव इस संसारमें पडा पडा महादुःख भोग रहा है। जब यह जीव अपने आत्मा वा कषाय वा कर्मोंका यथार्थ स्वरूप जान लेता है तब यही उन कषाय और कर्मोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझकर उनका त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ही अपना स्वरूप समझकर उसमें लीन हो जाता है तथा जब यह आत्मा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन हो जाता है तब परपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाली आकुलता भी नष्ट हो जाती है और फिर उस आत्माको परम शांतिकी प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार वह आत्मा परम शांत होकर अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है और मोक्षरूप स्वराज्यको प्राप्त कर लेता है तथा यही इस आत्माके परम कल्याणका उपाय है।

प्रश्न–पंचामृताभिषेकादिः किमर्थं क्रियते प्रभो ?

अर्थ–हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि भगवान् जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिका पंचामृताभिषेक किसलिये किया जाता है ?

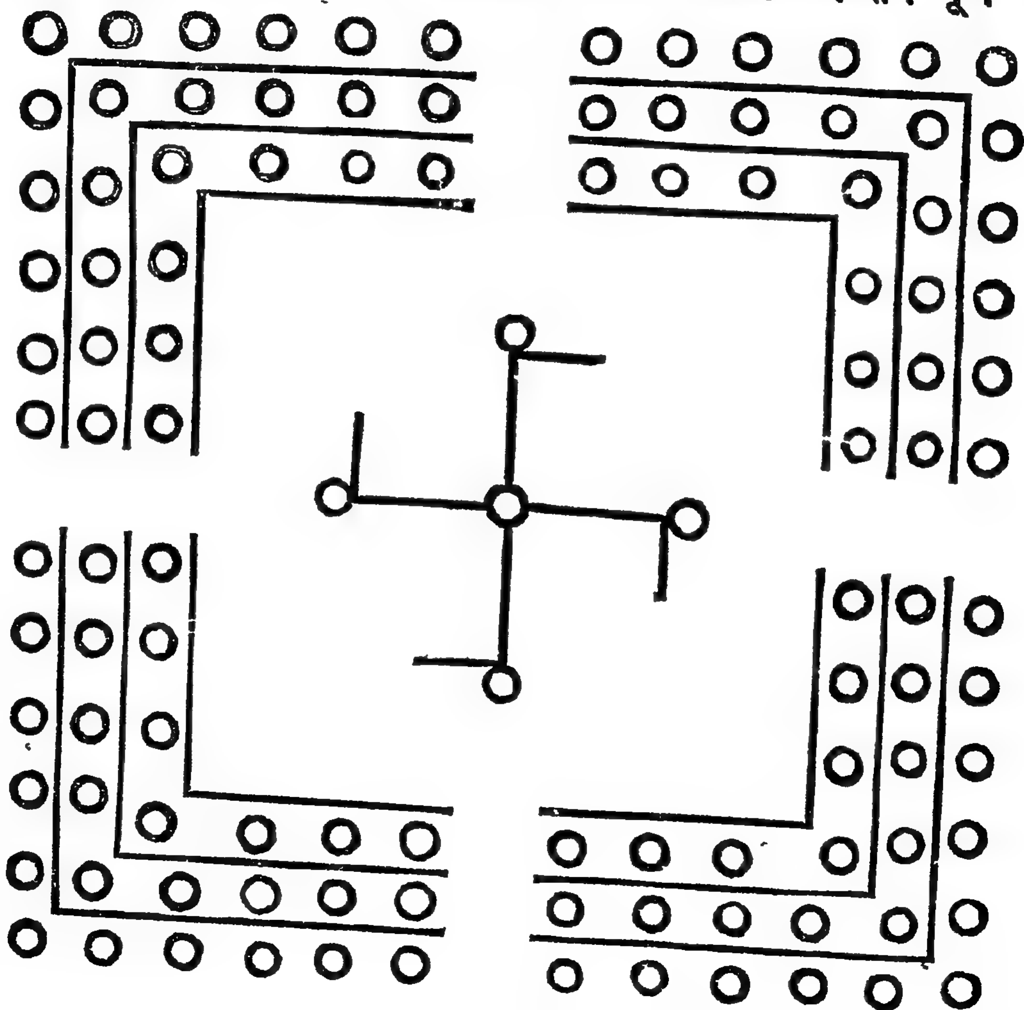
उत्तर–शुद्धैर्जलैः शान्तिकरैः प्रियैश्च सुखप्रदैश्चेक्षुरसैः सुमिष्टैः।
श्रेष्ठैः घृतैः कांचनवर्णतुल्यैः शुभ्रैर्महापौष्टिकरैश्च दुग्धैः ॥४७२॥
श्रीक्षीरसिंधोर्दधिभिः प्रगाढैः सर्वांगदैश्च स्वसुखप्रदैश्च।
जिनेन्द्रमूर्तेश्च क्रियतेभिषेको रसैस्तथाम्रादिमहाफलानाम् ॥४७३॥
भक्त्या मुनिश्रावकधर्मकर्त्रे चतुर्विधं दीयत एव दानम्।
शान्त्यर्थमेवापि गृहादिशुद्धिः सुखप्रदं चाष्टविधार्चनादि ॥४७४॥

पूर्वोक्तकार्यं सकलं यथावत् सदैव कुर्वन्नपि चेन्न शान्तिः।
अभव्यजन्तोरिव तस्य जन्तोः सर्वं वृथा स्याद्धि विधेर्विधानम् ।४७५

अर्थ—सबसे पहले शांति उत्पन्न करनेवाले और अत्यन्त प्रिय ऐसे शुद्ध जलसे भगवान्‌का अभिषेक करना चाहिए, सुख देनेवाले और अत्यन्त मिष्ट ऐसे इक्षुरससे अभिषेक करना चाहिए, फिर सुवर्णके समान घीसे अभिषेक करना चाहिए, अत्यन्त सफेद और महापुष्ट करनेवाले दूधसे अथवा क्षीर सागरके जलसे अभिषेक करना चाहिए, तदनन्तर गाढे दहीसे अभिषेक करना चाहिए, फिर आत्माको सुख देनेवाले सर्वौषधिसे अभिषेक करना चाहिए। तदनन्तर आम आदि महा फलोंके रससे अभिषेक करना चाहिए। इसीप्रकार मुनि वा श्रावकके धर्मको धारण करनेवाले मुनि वा श्रावकोंको भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना चाहिए, पात्रदान देकर वा समदत्ति देकर गृह-शुद्धि करनी चाहिए और भगवान् जिनेन्द्रदेवका सुख देनेवाला आठ द्रव्यसे पूजन करना चाहिए। ये सब काम आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए किये जाते हैं। यदि इन समस्त कार्योंको विधि-पूर्वक करते हुए भी आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर उस जीवका समस्त विधि-विधान अभव्य जीवके द्वारा किए हुए विधि-विधानके समान व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—पंचामृताभिषेककी संक्षिप्त विधि इसप्रकार है। सबसे पहले दूध, दही, घी, इक्षुरस, सर्वौषधिरस, फलरस, गंधोदक आदिके कलश तैयार कर लेना चाहिए। फिर चार कोण कलश तथा एक पूर्ण कलश तैयार करना चाहिए। इन पांचों कलशोंमें अक्षत, पुष्प, रत्न आदि डालने चाहिए ऊपर पान और नारियल रखना चाहिए चारों ओर सूत्रवेष्टन करना चाहिए। फिर दशों दिशाओंमें दश दिक्पालोंका आह्वान करना चाहिए तथा क्षेत्रपाल आदि शासनदेवोंका आह्वान करना चाहिये। तदनन्तर 'श्रीकार' लिखकर उस पीठपर प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए अर्घ्य देना

चाहिए। तदनन्तर कलश पूजन कर सुन्दर श्लोक और मंत्र पढते हुए पहले जलसे, इक्षुरससे, घीसे, दूधसे, दहीसे, सर्वौषधिसे अभिषेक करना चाहिए। यहींपर फलोंके रसोंसे भी अभिषेक करना चाहिए। तदनन्तर गंधोदकसे फिर कोण कलशोंसे और सबसे अन्तमें पूर्ण कलशसे अभिषेक



करना चाहिए। यदि एकसौ आठ कलशोंसे अभिषेक करना हो तो कोण कलशोंसे पहले एकसौ आठ कलशोंसे अभिषेक कर लेना चाहिए। एकसौ आठ कलशोंका स्थापन ऊपर लिखे यंत्रके समान करना चाहिए।

इनमें चारों कोणोंके चार कलश कोणकलश माने जाते हैं और मध्यका कलश पूर्ण कलश माना जाता है।

पंचामृताभिषेक करते समय अथवा एकसौ आठ वा एक हजार आठ कलशोंका अभिषेक करनेपर उस अभिषेकको देखनेके लिए हजारों लोग इकट्ठे होते हैं तथा अभिषेक होते ही सब लोग जयजयकार करते हुए अत्यन्त प्रफुल्लित और आननन्दित होते हैं। इसप्रकार हजारों मनुष्य एक साथ पुण्य सम्पादन करते हुए अपने आत्माको शांत बना लेते हैं। जो लोग ऐसे अभिषेकोंसे महापुण्यका सम्पादन नहीं करते वा अपने आत्माको शांत नहीं करते उन्हें भी भाग्यहीन वा अज्ञानी समझना चाहिए। अतएव पंचामृताभिषेक करना आत्माका परम कल्याण करनेवाला है और भगवान् जिनेन्द्रदेवमें भक्तिका प्रवाह बहानेवाला है। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्तिकी अपार महिमा है। आचार्यवर्य श्रीसमन्तभद्रके समान भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति अद्भुत महात्म्यको प्रगट करनेवाली और तीर्थंकर नामकर्म तकका बंध करनेवाली होती है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको भगवान् जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिका पंचामृताभिषेक करना चाहिए और सैकडों हजारों मनुष्योंको पुण्य सम्पादन कराना चाहिए। जिन पूजनमें पंचामृताभिषेक करना मुख्य पूजन है और प्रत्येक भव्यजीवके लिए प्रतिदिनका कर्त्तव्य है। श्रीपूज्यपाद आदि अनेक आचार्योंने पंचामृताभिषेकके पाठ निरूपण किए हैं तथा सब आचार्योंने इसकी पुष्टि की है। इसलिए यह शास्त्रोक्त मार्ग है। जो इसका खंडन करता है वह शास्त्रोंका खंडन करता है और महापाप उत्पन्न करता है। यही समझकर प्रत्येक भव्यपुरुषको

यह महाभिषेक प्रतिदिन करना चाहिए। सैकडों वा हजारों मनुष्योंके लिए शांति प्राप्त करने और आत्माके कल्याण करनेका यह सर्वोत्कृष्ट और सरल मार्ग है।

इसीप्रकार मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका आदिके लिए उनकी आवश्यकतानुसार चारों प्रकारका दान देना चाहिए। मुनियोंके लिए पीछी, कमंडलु, आहार, औषध, शास्त्र, वसतिका आदिका दान देना चाहिए। अर्जिका वा क्षुल्लिकाओंके लिए वा ऐलक क्षुल्लकके लिए उनकी आवश्यकतानुसार ऊपर लिखे पदार्थ भी देने चाहिए तथा वस्त्र भी देने चाहिए। श्रावक श्राविकाओंके लिए उनकी आवश्यकतानुसार धन वस्त्र वर्तन औषधि आदि जो वन सके वही देना चाहिए। इस प्रकारके दान देनेमे भी आत्माको परम संतोष और शांति प्राप्त होती है तथा महा पुण्यका उपार्जन होता है। इसके सिवाय प्रतिदिन भगवान जिनेंद्रदेवका पूजन करना चाहिए और वह जल चंदन आदि अष्ट द्रव्योंसे ही करना चाहिए। पूजन करनेसे भी आत्मामें परम संतोष और परम शांति प्राप्त होती है। इसप्रकार भगवान जिनेंद्रदेवकी भक्ति करनेसे आत्माको परम शांति प्राप्त होती है तथा परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष इन विधिविधानोंको करते हुए भी अपने आत्मामें शांति प्राप्त नहीं करते उनको या तो अभव्य जीव समझना चाहिए अथवा अभव्य जीवके समान उसका सब कर्तव्य व्यर्थ समझना चाहिए वा मिथ्या वा मायाचारीपूर्ण समझना चाहिए। इसलिए भगवानकी भक्ति विना मायाचारीके सच्चे हृदयसे होनी चाहिए तभी आत्मामें शांति प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न—सम्मेलं धर्मिणां स्वामिन् किमर्थं चिन्त्यते मिथः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अव कृपा कर यह वतलाइए कि धर्मात्मा पुरुषोंका परस्पर सम्मेलन किसलिए किया जाता है वा किसलिए चिंतवन किया जाता है।

उत्तर-शान्त्यर्थमेवेह मिथोऽविरुद्धा प्रमाणासिद्धा सकला प्रवृत्तिः ।
सर्वैः समं लोकविधेर्विधानं सम्मेलनादिः क्रियते यथावत् ॥४७६॥

अर्थ-इस संसारमें शांतिके ही लिए परस्पर अविरुद्ध और प्रमाणसिद्ध समस्त प्रवृत्तियां की जाती हैं तथा शांतिके लिए ही समस्त लौकिक विधियां की जाती हैं और शांतिके ही लिए धर्मात्मा पुरुषोंका सम्मेलन आदि किया जाता है।

भावार्थ-मेला प्रतिष्ठाओंमें अनेक धर्मात्मा पुरुष बुलाए जाते हैं वा स्वयं आते हैं, वे सब मिलकर आत्मतत्त्वकी चर्चा करते हैं, आत्माके कल्याणका उपाय बतलाते हैं, धर्मकी वृद्धिके उपाय बतलाते हैं, अपनी भावी संतानको धर्मात्मा बनानेका विचार करते हैं, विद्वान् बनानेका विचार करते हैं, प्रभावनाके अंगोंकी वृद्धिके लिए विचार करते हैं और अनेक प्रकारका धर्मोपदेश देते हैं। ऐसा करनेसे स्वयं उनको शांति मिलती है तथा सुननेवाले अनेक भव्य जीवोंको शांति प्राप्त होती है तथा अनेक जीवोंका कल्याण होता है। उसी प्रकार यज्ञोपवीत आदि जितने संस्कार हैं वा दान पूजा वा परस्परका व्यवहार आदि जितनी प्रवृत्तियां हैं वे सब इस प्रकार करनी चाहिए जिससे परस्पर कभी विरोध न हो तथा समस्त प्रवृत्तियां शास्त्रानुकूल हों। परस्पर श्रावकोंके साथ वा अन्य लोगोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है वह भी शास्त्रानुकूल और शांतिके लिए होना चाहिए। ऐसा करनेसे ही धर्मकी वृद्धि और आत्मामें शांति प्राप्त होती है।

प्रश्न—किमर्थं पूज्यते राजा किमर्थं दण्ड्यते वद ?

अर्थ-हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किसलिए तो राजाकी पूजा की जाती है और किस लिए राजाको दंड दिया जाता है ?

उत्तर–स्वपुत्रवत्पालयति प्रजां यो दधाति शांतिं भुवि वृष्टिवद्‌ वा ।
स एव राजा खलु पूज्यते च शान्त्यर्थमेवं सकलप्रजाभिः ॥४७७॥
इयं प्रजा मे तनयोस्ति चायामिति प्रमोहाद्धि करोति भेदम् ।
दुःखं प्रजानां तनयस्य सौख्यं ददाति चेद्‌ यः स च दण्डनीयः ।४७८

अर्थ–जो राजा अपनी समस्त प्रजाको पुत्रके समान पालन करता है और जो वर्षाके समान समस्त संसारमें शांति स्थापन करता है वह राजा केवल शांतिके लिए सब प्रजाके द्वारा पूजा जाता है तथा जो राजा यह विचार करता है कि यह तो प्रजा है और यह मेरा पुत्र है। इस प्रकार विचार कर जो मोहके कारण अपने पुत्र और प्रजामें भेद स्थापन कर देता है तथा जो प्रजाको दुःख दिया करता है और अपने पुत्रको सुख पहुंचाता है वह राजा शांतिभंगका कारण है और इसीलिए वह राजा प्रजाके द्वारा दंडनीय होता है।

भावार्थ–जिस प्रकार किसी एक घरमें उस घरका जो स्वामी होता है वह अपने घरके सब लोगोंका पालन करता है। घरमें जो पढाने योग्य होता है उसको पढाता है, जो दूध पीने योग्य होता है उसको दूध पिलाता है, जो व्यापार योग्य होता है उसको व्यापारमें लगाता है और जो जिस योग्य होता है उसको उसी काममें लगा देता है। वह गृहस्थ अपने घरमें किसी प्रकारका कलह नहीं होने देता सबको सुखी रखता है। उसी प्रकार राजा भी अपने राज्यका स्वामी होता है। उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने राज्यमें सब प्रकारकी शांति बनाए रक्खे। प्रजावर्गमें जो व्यापारके योग्य हैं उनको व्यापारमें लगा देवे, जो सेनाके योग्य हैं उनको सेनामें रक्खे, जो खेतीके योग्य हैं उनको खेतीमें रक्खे, और जो सेवा करने योग्य हैं उनको सेवावृत्तिमें लगावे। इस प्रकार वर्णव्यवस्था शास्त्रानुकूल बनाए

रखना राजाका कर्तव्य है। इसी प्रकार अपराधीको दंड देना राजाका काम है। यदि राजाका पुत्र स्वयं अपराध करे तो विना कुछ मोह वा विचारके उसे अपने पुत्रको भी दंड देना राजाका कर्तव्य है। जब तक राजाका पुत्र राजसिंहासनपर नहीं बैठता तब तक वह भी प्रजावर्गमें ही गिना जाता है। इसलिए राजाको प्रजा और पुत्रमें कोई भेद नहीं रखना चाहिए। ऐसा न्यायपरायण राजा ही प्रजाके द्वारा पूजा जाता है और वह भी शांति बनाए रखनेके कारण ही पूजा जाता है। जो राजा इसप्रकार न्यायपरायण नहीं होता अथवा जो प्रजा-पुत्रमें भेद मानता है तथा वर्णव्यवास्थाको तोड कर संसारमें अशांतिस्थापन करता है ऐसा राजा प्रजाके द्वारा दंडनीय होता है।

प्रश्न—राजद्रोहिनरत्यागहेतुः को विद्यते वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि राजद्रोही मनुष्यका त्याग किसलिए किया जाता है?

उत्तर—प्रजापालनरक्तो यो यदि मोहात्खलैर्नृपः।
हन्यते राज्यहेतोर्यः शान्त्यर्थं सोपि दण्ड्यते ॥४७९॥
न्यायनीतेर्यदा भ्रष्टः काष्ठांगारो यथा खलः।
नीतिज्ञधर्मनिष्ठेन जीवंधरेण ताडितः ॥४८०॥

अर्थ—जिसप्रकार न्याय और नीतिसे भ्रष्ट होनेवाले दुष्ट काष्ठांगारको नीतिको जाननेवाले धर्मात्मा राजा जीवंधरने ताडन किया था, उसीप्रकार जो राजा प्रजा पालन करनेमें लीन रहता है उसको भी जो दुष्ट केवल राज्य छीन लेनेके लिए मार देते हैं उनको संसारमें शांति प्राप्त करनेके लिए दंडित किया जाता है।

भावार्थ—जीवोंकी हिंसा करना पाप है परन्तु उस पापमें भी अपने परिणाम और जीवोंकी शक्तिकी अपेक्षासे भेद हो जाता है। एक घासका पौधा उखाडनेमें जितना पाप लगता है उससे कहीं अधिक पाप बडे बृक्षके काटनेमें लगता है, उससे भी अधिक पाप लट आदि दो इन्द्रिय जीवोंके घात करनेमें लगता है। उससे भी अधिक पाप चींटी-चींटा आदि तेइन्द्रिय जीवोंके घात करनेमें लगता है, उससे भी बहुत अधिक पाप मक्खी भौंरा आदि चौ-इन्द्रिय जीवोंके घात करनेमें लगता है। उससे भी अधिक पाप पंचेन्द्रिय असैनीके घात करनेमें लगता है, उससे भी अधिक पाप पंचेन्द्रिय पशुके घात करनेमें लगता है, उससे भी अधिक पाप मनुष्योंके मारनेमें लगता है और उससे भी अधिक पाप किसी राजा वा किसी धर्मात्माको मारनेमें लगता है। इसका भी कारण यह है कि धर्मात्मा राजासे वा अन्य धर्मात्माओंसे सैकडों हजारों जीवोंको लाभ पहुंचता है अथवा सैकडों जीवोंका कल्याण होता है। उसके मार देनेमें उस लाभ वा कल्याणका मार्ग बंद हो जाता है। इसीलिए राजद्रोही पुरुष महादुष्ट और महापापी माना जाता है तथा संसारमें अशांति उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है। दुष्ट काष्ठांगारने अपनी दुष्टताके कारण सत्यंधरको मार कर राज्य छीन लिया था जिससे उसकी रानीको दुःख हुआ था, जीवंधर कुमारको दुःख हुआ था और सब प्रजा दुखी होकर अशांत हो गई थी। अन्तमें जीवंधरने उसको ताडित कर राज्य अपने हाथमें ले लिया था और सब प्रजाको सुखी कर शांत किया था। राजद्रोही पुरुष संससारभरमें अशांतिका कारण होता है इसीलिए वह दंडित किया जाता है। ऐसे राजद्रोही पुरुषको दंडित करनेसे ही प्रजा शांत होती है। अतएव प्रजामें शांति बनाए रखना वा धर्मात्माओंमें शांति बनाए रखना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—किमर्थं दृश्यते जैनधर्मस्यैव महत्त्वता ?

अर्थ-हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें जैनधर्मकी महत्ता ही क्यों दिखाई पडती है ?

उत्तर-निर्दोषयोगान्निरपेक्षबुध्या लोके पदार्थाश्च यथैव सन्ति ।
जिनेन भव्याय तथा हि चोक्ताः निश्चीयते ह्येव ततस्त्रिलोके ॥४८१॥
जिनेन्द्रधर्मोऽस्ति सदा पवित्रः सर्वैश्च सर्वोपरिमाननीयः ।
ततः स एवं हृदि धारणीयः सत्यार्थशान्त्यै सकलैश्च विश्वैः ॥४८२॥

अर्थ-इस संसारमें जो पदार्थ जिस स्वरूपमें विद्यमान है भगवान् जिनेन्द्रदेवने अपनी निर्दोष और वीतराग तथा सर्वज्ञ अवस्था होनेके कारण अपनी निरपेक्ष वा समता बुद्धिसे भव्यजीवोंके लिए उसीप्रकार निरूपण किए हैं और इसीलिए तीनों लोकोंमें उसीप्रकार उनका निश्चय किया जाता है। इसके सिवाय यह जैनधर्म अत्यन्त पवित्र है और समस्त जीव इसको सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। अतएव समस्त संसारको यथार्थ शांति प्राप्त करनेके लिए यह जैनधर्म सदाकाल अपने हृदयमें धारण करना चाहिए।

भावार्थ—भगवान् अरहंतदेव राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित वीतराग होते हैं तथा सर्वज्ञ होते हैं। सर्वज्ञ और वीतराग होनेके कारण वे जो कुछ निरूपण करते हैं वह सर्वथा यथार्थ ही होता है। पदार्थोंका अयथार्थ स्वरूप या तो अजानकारीके कारण कहा जाता है अथवा किसी राग वा द्वेषसे कहा जाता है। भगवान् अरहंतदेवके सर्वज्ञ होनेके कारण न तो किसी पदार्थकी अजानकारी है और न वीतराग होनेके कारण किसीसे राग वा द्वेष है। इसलिए वे जो कुछ कहते हैं वह सब यथार्थ ही होता है उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड सकता। जिस महापुरुषके हृदयमें समस्त

जीवोंके कल्याण करनेकी भावना सतत बनी रहती है वे ही जीव दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन कर तीर्थंकर नामकर्मका बंध करते हैं तथा वे ही तीर्थंकर परमदेव वीतराग सर्वज्ञ होनेपर तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। इसलिए वह तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ होता है, जीवोंका कल्याण करनेवाला होता है और तीनों लोकोंमें वही निश्चित तत्त्व माना जाता है। उन भगवान् तीर्थंकर सर्वज्ञ परमदेवने जो अहिंसामय धर्मका स्वरूप कहा है वह धर्म यथार्थ धर्म है सब जीवोंका कल्याण करनेवाला है, अत्यंत पवित्र है और इंद्र नरेंद्र धरणींद्र आदि सब इसको मानते हैं। यह अहिंसामय धर्म ही सब जीवोंको कल्याण करनेवाला है, सब जीवोंको शांति प्राप्त करानेवाला है और मोक्षका साक्षात् कारण है। यही समझकर अपने हृदयमें परम शांति प्राप्त करनेके लिए समस्त भव्य जीवोंको यही पवित्र जैनधर्म अपने हृदयमें धारण करना चाहिए। इस जैनधर्मका माहात्म्य सर्वोपरि प्रसिद्ध है, जो महापुरुष इस पवित्र जैनधर्मको धारण करता है उसकी सेवा इंद्रादिक देव भी किया करते हैं। मुनि लोग इसी पवित्र जैनधर्मको धारण करनेके कारण महा पूज्य माने जाते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे जैनधर्मका माहात्म्य तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है।

प्रश्न—वद मे चिन्त्यते जन्तोः किं पंचपरिवर्तनम् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें संसारी जीव जो पंचपरिवर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं उन पंचपरिवर्तनके स्वरूपका चिंतवन करनेका क्या कारण है ?

उत्तर—द्रव्यस्य भावस्य भवस्य जन्तोः क्षेत्रस्य कालस्य यथा स्थितस्य।
युक्त्या प्रयुक्त्या नयमानयोगात् केनाप्युपायेन सतः स्वरूपम् ।४८३

शान्त्यर्थमेव ह्यवगम्यते च संसारलीलादिविदा नरेण ।
पूर्वोक्तवस्त्वादि विबोधितेपि वृथा प्रबोधः यदि चेन्न शान्तिः ॥४८४॥

अर्थ—द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन ये पांच परिवर्तन कहलाते हैं। जो पुरुष इस संसारकी लीलाको वा संसारके स्वरूपको जानते हैं वे पुरुष अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए किसी भी युक्ति प्रयुक्तिसे वा किसी भी प्रमाण नयसे वा अन्य किसी उपायसे इन पांचों परिवर्तनोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करते हैं। यदि पांचों परिवर्तनोंके स्वरूपको जानकर भी उनके आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो वह उनका जानना सब व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—ऊपर लिख चुके हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे परिवर्तन वा संसारके पांच भेद हैं। इनमेंसे द्रव्यका अर्थ पुद्गल है। इसलिए द्रव्य परावर्तनका अर्थ पुद्गलपरावर्तन होता है। यों तो पुद्गलोंके अनेक भेद हैं परंतु जिन पुद्गलोंसे जीवका संबंध है उन्हीं पुद्गलोंको यहांपर ग्रहण करते हैं। ऐसे जीवसे संबंधित होनेवाले पुद्गल कर्म और नोकर्मके भेदसे दो प्रकार हैं। अतएव द्रव्य परिवर्तनेके भी नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मपरिवर्तन ऐसे दो भेद हो जाते हैं। औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको नोकर्मवर्गणा कहते हैं और आठों कर्मोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको कर्मवर्गणा कहते हैं। इन्हींके परिवर्तनको नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। यह जीव प्रति समय कर्म वा नोकर्म वर्गणाओंको ग्रहण करता रहता है। मान लो कि किसी जीवने एक समयमें नोकर्म वर्गणा ग्रहण कीं। वे नोकर्म वर्गणाएं अपने समयानुसार निर्जीर्ण हो गईं। फिर दूसरे तीसरे आदि समयमें अन्य-अन्य नोकर्म वर्गणाएं ग्रहण कीं वे इस परिवर्तनमें शामिल नहीं होतीं। जब कभी पहले समयमें ग्रहण कीं हुई वर्गणाएं उतनी ही संख्याको

लिए तथा उतना ही स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गंधको लिए तथा उतना ही तीव्र मध्यम वा मन्द परिणामको लिए जब यह जीव दुबारा ग्रहण करता है और इसप्रकार ग्रहण करते करते समस्त तीन शरीर छह पर्याप्तके योग्य समस्त नोकर्म वर्गणाओंको दुबारा ग्रहण कर लेता है तब एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। मध्यके अपरिमित समयमें एक जीवने जो अनन्त अग्रहीत वर्गणा ग्रहण कीं, अनन्त मध्यग्रहीत वर्गणाएं ग्रहण कीं और अनन्त मिश्र वर्गणाएं ग्रहण कीं परन्तु वे सब गिनतीमें नहीं आतीं। इसप्रकार अत्यन्त संक्षेपसे नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप है।

कर्म आठ हैं उनमेंसे मानलो कि किसी जीवने किसी समयमें ज्ञानावरण कर्मके योग्य पुद्गल वर्गणा ग्रहण कीं, और वे द्वितीय तृतीय आदि किसी भी समयमें जाकर निर्जीर्ण हो गईं। फिर दूसरे समयमें ज्ञानावरणकर्मके ही योग्य अन्य वर्गणाएं ग्रहण कीं और वे भी समयानुसार निर्जीर्ण हो गईं। इसीप्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें ज्ञानावरणके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण करता रहा। जब कभी किसी समयमें पहले समयमें जो ज्ञानावरणके योग्य पुद्गल वर्गणाएं ग्रहण की थीं वे ही पुद्गल वर्गणाएं उतनी ही संख्याको लिए उतने ही स्निग्ध रूक्ष वर्णकी गंधको लिए तथा उतने ही तीव्र मध्यम मन्द परिणामको लिए यह जीव दुबारा ग्रहण करता है और इसीप्रकार जब दुबारा उसी रूपसे ज्ञानावरणके योग्य समस्त पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण कर लेता है तथा इसीप्रकार अन्य समस्त कर्मोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको दुबारा ग्रहण कर लेता है तब उसका वह एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। मध्यमें अग्रहीत[1] मिश्र[2] वा मध्यग्रहीत[3] वर्गणाओंको अनन्तबार ग्रहण करता है परन्तु वह ग्रहण इस

१—जो वर्गणाएं पहले ग्रहण नहीं की हैं उनको अग्रहीत कहते हैं।

२—पहले ग्रहण की हुई जो थोड़ीसी वर्गणाएं नवीन वर्गणाओंमें मिलकर आती है उनको मिश्रवर्गणा कहते हैं।

३—जो पहले ग्रहण की हुई समस्त वर्गणायें अन्य अग्रहीत वर्गणाओंको अपने इधर उधर चारों ओर लिये हुए आती हैं उनको मध्यग्रहीत वर्गणायें कहते हैं।

परिवर्तनमें नहीं गिना जाता। इसप्रकार इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने जो कर्मके योग्य तथा ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके योग्य सम्पूर्ण पुद्गल वर्गणाएं अनन्तबार ग्रहण की हैं और अनन्त ही बार छोड दी हैं। इसप्रकारके विस्तृत परिभ्रमणको द्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

आगे क्षेत्र-परिवर्तनको कहते हैं। कोई सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्त जीव जघन्य अवगाहनाके शरीरको धारण कर मेरुके नीचेके लोकके मध्य भागमें जन्म ले और वह इसप्रकार जन्म ले कि जिसमें उस जीवके मध्यके आठ प्रदेश लोकके मध्यके आठ प्रदेशोंमें आ जांय। वह जीव अपनी आयु पूर्ण होनेपर मर जाय। फिर संसारमें परिभ्रमण करता हुआ किसी कालमें वहींपर उसीप्रकार जन्म ले। इसप्रकार भ्रमण करता करता असंख्यातबार वहीं पर उसीप्रकार जन्म ले। तदनन्तर भ्रमण करता एक प्रदेश अधिक क्षेत्रमें जन्म ले, फिर भ्रमण करता करता किसी कालमें दो प्रदेश अधिक क्षेत्रमें जन्म ले। इसीप्रकार श्रेणीवद्ध क्रमसे एक-एक प्रदेश बढता हुआ लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म ले। क्रम रहित प्रदेशोंमें जन्म लेना इसमें शामिल नहीं होता। इसप्रकार जितने अपरिमित कालमें यह जीव अपने जन्म द्वारा लोकाकाशमें सम्पूर्ण प्रदेश पूरा करे उतना उसका वह अपरिमित कालका परिभ्रमण क्षेत्र-परिवर्तन कहलाता है!

आगे काल परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं। कोई जीव उत्सर्पिणी कालके पहले समयमें उत्पन्न हुआ। मर कर संसारमें परिभ्रमण करता करता फिर किसी दूसरी तीसरी चौथी आदि उत्सर्पिणी कालके दूसरे समयमें उत्पन्न हो। फिर परिभ्रमण करता करता किसी भी उत्सर्पिणी कालके तीसरे समयमें जन्म ले फिर किसी भी उत्सर्पिणीके चौथे समयमें जन्म ले। इसप्रकार अनुक्रमसे पांचवें छठे आदि समयोंमें जन्म ले लेकर उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें अनुक्रमसे जन्म ले फिर इसीप्रकार अनुक्रमसे अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म ले। जिसप्रकार उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें

अनुक्रमसे जन्म लेकर उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालको पुरा किया है उसी प्रकार इन दोनों कालोंके प्रत्येक समयमें अनुक्रमसे मरण करता हुआ दोनों कालोंको पूर्ण करे। विना अनुक्रमके जो जन्म वा मरण किया जाता है वह इसमें शामिल नहीं है। इस प्रकारके महा परिभ्रमणको कालपरिवर्तन कहते हैं।

आगे भवपरिवर्तनका स्वरूप कहते हैं। कोई जीव प्रथम नरकमें दस हजारकी जघन्य आयु पाकर उत्पन्न हुआ और आयु समाप्त कर मर गया। तदनंतर फिर संसारमें परिभ्रमण करता हुआ किसी कालमें उसी प्रथम नरकमें उतनी ही आयु पाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। तदनंतर फिर भ्रमण करता-करता तीसरी बार वहींपर उतनी ही आयु पाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार वह जीव दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार दस-दस हजार वर्षकी आयु पाकर वहीं उत्पन्न हो और मरण करे। तदनंतर फिर भ्रमण करता हुआ एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर उसी नरकमें उत्पन्न हो। फिर दो समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर उत्पन्न हो। इस प्रकार एक-एक समय अधिक पाकर जन्म लेता हुआ सातों नरकोंकी तेंतीस सागरकी आयुको पूर्ण करे। क्रमप्राप्त आयुसे हीनाधिक आयु पाकर नरकमें जन्म लेना इस परिवर्तनकी गिनतीमें नहीं है। जब नरककी तेतीस सागरकी आयुको पूर्ण कर ले तब तिर्यंच योनिमें अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म ले, फिर परिभ्रमण करता हुआ अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर तिर्यंच योनिमें जन्म ले। इस प्रकार अंतर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी ही बार अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर तिर्यंच योनिमें जन्म ले। तदनंतर परिभ्रमण करता हुआ एक समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर तिर्यंच योनिमें जन्म ले, फिर दो समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म ले। इस प्रकार एक-एक समय अधिक आयु पाकर तिर्यंच योनिकी तीन पल्यकी आयुको पूर्ण करे। इसी प्रकार मनुष्य योनिमें अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म

ले, फिर परिभ्रमण कर दुबारा अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म ले। इस प्रकार अंतर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी बार अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर मनुष्य योनिमें ही जन्म ले। फिर एक समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर मनुष्य योनिमें जन्म ले। फिर दो समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर मनुष्य हो। इस प्रकार अनुक्रमसे एक-एक समय अधिक आयु पाकर मनुष्य योनिकी तीन पल्यकी आयुको पूर्ण करे। मध्यकालमें क्रमप्राप्त आयुसे हीनाधिक आयु पाकर तिर्यंच वा मनुष्य होना इस परिवर्तनमें शामिल नहीं है। इस प्रकार जब तिर्यंच योनि और मनुष्य योनिकी समस्त आयुको अनुक्रमसे एक-एक समय बढाकर पूर्ण कर ले तब देवगतिमें दस हजार वर्षकी आयु पाकर जन्म ले। फिर परिभ्रमण कर दस हजार वर्षकी आयु पाकर दुबारा देवयोनिमें जन्म ले। फिर परिभ्रमण कर तीसरी बार दस हजार वर्षकी आयु पाकर देव हो। इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार दस-दस हजार वर्षकी आयु पाकर देव योनिमें उत्पन्न हो। तदनंतर परिभ्रमण करता हुआ एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर देवयोनिमें जन्म ले। फिर दो समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर जन्म ले। इस प्रकार देव योनिके इकतीस सागरकी आयुको पूर्ण करे। मध्यकालमें क्रमप्राप्त आयुसे हीनाधिक आयु प्राप्त कर देव होना इसमें शामिल नहीं है। इस प्रकारके इस महापरिभ्रमणको भव-परिवर्तन कहते हैं। इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि नव ग्रैवेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर है तथा संसारमें परिभ्रमण करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव नव ग्रैवेयक तक ही जाते हैं। इसलिए इस परिभ्रमणमें इकतीस सागर ही ग्रहण किए हैं। नव ग्रैवेयकसे ऊपर नो अनुदिश तथा सर्वार्थसिद्धि आदि पंचोत्तरमें सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं और वे एक या दो भवमें ही मोक्ष चले जाते हैं। इसलिए उनकी बत्तीस वा तेतीस सागरकी आयु इसमें नहीं ली गई है।

आगे भाव-परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं। अनन्त परिणामोंके द्वारा संसारमें परिभ्रमण करना

भावसंसार वा भावपरिवर्तन कहलाता है। यह जीव कर्मोंकी स्थितिके कारण संसारमें परिभ्रमण करता है, स्थितिके लिए कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। कषायाध्यवसायके लिए अनुभागस्थान कारण होते हैं। अनुभाग स्थानके लिए योगस्थान कारण होते हैं। स्थितिके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य आदि अनेक भेद हैं इसलिए उसके कारणभूत कषायाध्यवसाय, अनुभागाध्यवसाय और योगाध्यवसायके भी अनेक भेद होते हैं। उत्कृष्ट स्थितिके लिए उत्कृष्ट कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं और जघन्य स्थितिके लिए जघन्य कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं। मानलो कि किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने भावपरिवर्तन प्रारम्भ किया। उसके ज्ञानावरणकर्मकी जघन्य स्थिति अंतःकोडाकोडी सागर पडती है। (एक करोडको एक करोडसे गुणा कर देनेसे कोडा-कोडी होता है, कोडाकोडी सागरसे कुछ कम स्थितिको अंतःकोडा-कोडी सागर कहते हैं) उसकी उस जघन्य स्थितिके लिए असंख्यातलोकपरिमाण कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। (स्मरण रहे कि एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानमें अनन्तानन्त अविभागी परिच्छेद होते हैं और वे षट्स्थानपतित हानि वृद्धिरूप होते हैं) एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानके लिए असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण होते हैं। एक-एक अनुभागाध्यवसाय स्थानके लिए श्रेणीके असंख्यातभाग परिमाण योगस्थान कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिके लिए जैसा जघन्य योगस्थान चाहिए उनमेंसे एक हुआ, फिर चतुःस्थान वृद्धि हानिरूप होता हुआ दूसरा हुआ, फिर तीसरा हुआ। इसप्रकार जब उनकी संख्या श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण हो जाती है तब एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसीप्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण योगस्थान हो जाते हैं तब दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। इसप्रकार जब असंख्यात लोक परिमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान हो जाते हैं तब एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसी क्रमसे श्रेणीके असंख्यातवें भाग

पूर्वोक्तकार्ये सुखदा प्रवृत्तिः कार्या विचार्यैव तथान्यकार्ये।
भवेद् यतः सर्वतनौ स्वशान्तिर्यथैव वृष्ट्या सकलेपि विश्वे ॥४८८॥

अर्थ—जिसप्रकार वृष्टि होनेसे समस्त संसारमें शांति हो जाती है उसीप्रकार चलनेमें, ठहरनेमें, कहनेमें, किसी भी कार्यके करनेमें, विनोदमें, गांवमें, वनमें, राज्य करनेमें, कला सीखनेमें, भोगोंमें, विलासोंमें, सोनेमें, बैठनेमें, दुष्टमें, सज्जनमें, किसी भी लौकिक विधिके करनेमें वा अन्य समस्त कार्योंमें अपनी सुख देनेवाली प्रवृत्ति विचार पूर्वक ही करनी चाहिए। विचार पूर्वक समस्त कार्य करनेसे इस संसारमें समस्त जीवोंको शांतिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—कहीं भी ठहरना हो तो विचार पूर्वक ही ठहरना चाहिए, ठहरते समय यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि यहां ठहरनेमें सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्रका घात तो नहीं होता है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। यहां ठहरनेमें देवदर्शन वा गुरुदर्शन होते हैं वा नहीं। जहांपर रत्नत्रयका घात होता हो वा देव दर्शनादिक न हों वहां कभी नहीं ठहरना चाहिए। गमन करते समय भी सब प्रकारके भयोंका विचार कर लेना चाहिए तथा मार्ग कुमार्गका विचार कर लेना चाहिए। वचनके कहनेमें वा किसी कामके करनेमें यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि इस बातके कहनेमें वा इस कामके करनेमें किसीको दुःख तो नहीं पहुंचता है अथवा किसीकी हानि तो नहीं होती है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। जिसमें किसीकी हानि हो वा धर्मका घात हो ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिए अथवा ऐसे कार्य कभी नहीं करने चाहिए। इसी प्रकार विनोद वा क्रीडा करनेमें भी किसी जीवकी हानि वा किसी जीवका घात वा धर्मके घातका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। विनोदके लिए शस्त्र चलाकर जीवोंका घात कभी नहीं करना चाहिए अथवा किसी जीवको दुःख पहुंचानेवाला विनोद कभी नहीं करना चाहिए। किसी गांव वा वनमें जानेके पहले धर्म

भावसंसार वा भावपरिवर्तन कहलाता है। यह जीव कर्मोंकी स्थितिके कारण संसारमें परिभ्रमण करता है, स्थितिके लिए कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। कषायाध्यवसायके लिए अनुभागस्थान कारण होते हैं। अनुभाग स्थानके लिए योगस्थान कारण होते हैं। स्थितिके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य आदि अनेक भेद हैं इसलिए उसके कारणभूत कषायाध्यवसाय, अनुभागाध्यवसाय और योगाध्यवसायके भी अनेक भेद होते हैं। उत्कृष्ट स्थितिके लिए उत्कृष्ट कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं और जघन्य स्थितिके लिए जघन्य कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं। मानलो कि किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने भावपरिवर्तन प्रारम्भ किया। उसके ज्ञानावरणकर्मकी जघन्य स्थिति अंतःकोडाकोडी सागर पडती है। (एक करोडको एक करोडमे गुणा कर देनेमे कोडा-कोडी होता है, कोडाकोडी सागरसे कुछ कम स्थितिको अंतःकोडा-कोडी सागर कहते हैं) उसकी उस जघन्य स्थितिके लिए असंख्यातलोकपरिमाण कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। (स्मरण रहे कि एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानमें अनन्तानन्त अविभागी परिच्छेद होते हैं और वे षट्स्थानपतित हानि वृद्धिरूप होते हैं) एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानके लिए असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण होते हैं। एक-एक अनुभागाध्यवसाय स्थानके लिए श्रेणीके असंख्यातभाग परिमाण योगस्थान कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिके लिए जैसा जघन्य योगस्थान चाहिए उनमेंसे एक हुआ, फिर चतुःस्थान वृद्धि हानिरूप होता हुआ दूसरा हुआ, फिर तीसरा हुआ। इसप्रकार जब उनकी संख्या श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण हो जाती है तब एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसीप्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण योगस्थान हो जाते हैं तब दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। इसप्रकार जब असंख्यात लोक परिमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान हो जाते हैं तब एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसी क्रमसे श्रेणीके असंख्यातवें भाग

परिमाण योगस्थानोंसे एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है और इसी क्रमसे असंख्यात लोक परिमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानोंसे एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। इसप्रकार जब असंख्यात लोक परिमाण कषायाध्यवसाय स्थान हो जाते हैं तब एक जघन्य स्थिति स्थान होता है। यह जघन्य स्थिति स्थान उस पंचेन्द्रिय जीवका वही अंतःकोडा-कोडी समझना चाहिए। इसप्रकार जब अंतःकोडा-कोडी सागर स्थितिके योग्य कषायाध्यवसाय स्थान पूर्ण हो जाते हैं तब फिर एक समय अधिक अंतःकोडा-कोडी सागरकी स्थितिके योग्य कषायाध्यवसायस्थान अनुभागाध्यवसायस्थान और योगस्थान लेने चाहिए। तदनन्तर दो समय अधिक अंतःकोडा कोडी सागरकी स्थितिके योग्य कषायाध्यवसाय-स्थान अनुभागाध्यवसायस्थान और योगाध्यवसायस्थान लेने चाहिए। इसप्रकार मूल प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तकके योग्य सम्पूर्ण कषायाध्यवसायस्थान, अनुभागाध्यवसायस्थान और योगाध्यवसायस्थानरूप आत्माके परिणामपूर्ण हो जानेपर एक भाव परिवर्तन होता है।

द्रव्य परिवर्तनका काल अनन्तकाल है। उससे अनन्त गुना क्षेत्रपरिवर्तनका काल है। उससे अनन्त गुना कालपरिवर्तनका काल है, उससे अनन्त गुणा भवपरिवर्तनका काल है और उससे अनन्त गुणा भावपरिवर्तनका काल है। इस जीवने अब तक ऐसे ऐसे अनन्तपरिवर्तन किए हैं। इनके जाननेका मुख्य उद्देश इनको जानकर संसारसे भयभीत होना और संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होकर अपने आत्मामें परम शांति धारण कर लेना है तथा आत्माका कल्याण कर लेना है। जो पुरुष इनका स्वरूप जानकर भी संसारसे विरक्त नहीं होते और आत्मामें परम शांति धारण नहीं करते उनका वह ज्ञान सर्वथा व्यर्थ समझना चाहिए। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इनका स्वरूप जानकर अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—किमर्थं त्यज्यते ब्रूहि कुदेवागमपूजकः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कुदेव कुशास्त्र कुगुरु वा इनके पूजकोंका त्याग किस लिए किया जाता है ?

उत्तर—लोके कुदेवः कुगुरुः कुमार्गः तथा कुतीर्थं भवदं कुशास्त्रम् ।
तंत्रादिमंत्रो विषमो विचारः तत्सेवको वाथ विकल्पकेतुः ॥४८५॥
यथार्थशान्त्यै परिवर्ज्यते हि निजात्मबाह्यः सकलः पदार्थः ।
यथा सुरेन्द्रैश्च जिनार्चनार्थं प्रमुच्यते स्वर्गसुखं च सर्वम् ॥४८६॥

अर्थ—जिसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके लिए स्वर्गका इन्द्र स्वर्गके समस्त सुखोंका त्याग कर देता है उसीप्रकार अपने आत्मामें परम शांति धारण करनेके लिए इस संसारके कुदेव, कुगुरु, कुमार्ग, कुतीर्थ, संसारको बढानेवाले कुशास्त्र, तंत्र मंत्र विषम विचार आदि सबका त्याग कर दिया जाता है तथा परम शांतिको धारण करनेके लिए ही अपने आत्मासे भिन्न अन्य समस्त पदार्थोंका त्याग किया जाता है।

भावार्थ—जो देव होकर भी अपने साथ स्त्री रखते हों, अस्त्र शस्त्र रखते हों, खाते हों, पीते हों, सोते हों, युद्ध करते हों वा समस्त दोषोंसे परिपूर्ण हों उनको कुदेव कहते हैं। जो परिग्रह रखते हों, जिनके हृदयसे काम क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष मद आदि विकार दूर न हुए हों, जिनके विषयोंकी लालसा लगी हो, जो रोटी-पानी खेती बाडी करते हों ऐसे मिथ्या साधुओंको कुगुरु कहते हैं। जो मोक्षका मार्ग रत्नत्रयसे भिन्न है, आत्मस्वरूपसे भिन्न है, वह सब कुमार्ग कहलाता है। जहांपर यथार्थ देव वा गुरुके चरणकमल विराजमान होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थोंसे भिन्न जो तीर्थ

कहलाते हैं उन सबको कुतीर्थ कहते हैं। इसीप्रकार जो शास्त्र भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए नहीं हैं, जिनमें हिंसाका निरूपण हो, जिनमें मद्य मांस मधुके सेवन करनेका निरूपण हो वा जिनमें सातों व्यसनोंके सेवन करनेका निरूपण हो ऐसे शास्त्रोंको कुशास्त्र कहते हैं। ये कुदेव कुगुरु कुशास्त्र आदि सब संसारमें डुबोनेवाले हैं और नरक निगोदादिकके महादुःख देनेवाले हैं। इसीलिए इनकी सेवा पूजा करनेवाला भी महादुःखी होता है और अपने आत्माका अहित करता है। इसीप्रकार धन वृद्धि आदिके लिए जो मंत्र तंत्र किए जाते हैं वा दूसरोंका बुरा चिंतवन किया जाता है वा अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प किए जाते हैं वे भी सब जन्म-मरणरूप संसारको बढानेवाले हैं इसलिए अपने आत्माको वह सब दुःख न हो, अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त हो इसके लिए इन सबका त्याग किया जाता है। इनके सिवाय भी अपने आत्मासे भिन्न जितने पदार्थ हैं वा कषायादिक विकार हैं उन सबका त्याग भी अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है। जिसप्रकार स्वर्गका इन्द्र भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करता है और उसके लिए स्वर्गादिकके सब सुख छोडनेकी लालसा रखता है, उसीप्रकार भव्यजीवोंको भी अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए कुदेवादिकका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न—विचार्यैव गुरो वृत्तिः किमर्थं क्रियते वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि अपनी सब प्रवृत्तियां विचारपूर्वक ही क्यों करनी चाहिए।

उत्तर-स्थितौ गतौ वाचि कृतौ विनोदे ग्रामे वने राज्यविधौ कलायाम्।
भोगे विलासे शयनासनादौ साधौ खले लोकविधेर्विधाने ॥४८७॥

पूर्वोक्तकार्ये सुखदा प्रवृत्तिः कार्या विचार्यैव तथान्यकार्ये ।
भवेद् यतः सर्वतनौ स्वशान्तिर्यथैव वृष्टया सकलेपि विश्वे ॥४८८॥

अर्थ—जिसप्रकार वृष्टि होनेसे समस्त संसारमें शांति हो जाती है उसीप्रकार चलनेमें, ठहरनेमें, कहनेमें, किसी भी कार्यके करनेमें, विनोदमें, गांवमें, वनमें, राज्य करनेमें, कला सीखनेमें, भोगोंमें, विलासोंमें, सोनेमें, बैठनेमें, दुष्टमें, सज्जनमें, किसी भी लौकिक विधिके करनेमें वा अन्य समस्त कार्योंमें अपनी सुख देनेवाली प्रवृत्ति विचार पूर्वक ही करनी चाहिए। विचार पूर्वक समस्त कार्य करनेसे इस संसारमें समस्त जीवोंको शांतिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—कहीं भी ठहरना हो तो विचार पूर्वक ही ठहरना चाहिए, ठहरते समय यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि यहां ठहरनेमें सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्रका घात तो नहीं होता है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। यहां ठहरनेमें देवदर्शन वा गुरुदर्शन होते हैं वा नहीं। जहांपर रत्नत्रयका घात होता हो वा देव दर्शनादिक न हों वहां कभी नहीं ठहरना चाहिए। गमन करते समय भी सब प्रकारके भयोंका विचार कर लेना चाहिए तथा मार्ग कुमार्गका विचार कर लेना चाहिए। वचनके कहनेमें वा किसी कामके करनेमें यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि इस बातके कहनेमें वा इस कामके करनेमें किसीको दुःख तो नहीं पहुंचता है अथवा किसीकी हानि तो नहीं होती है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। जिसमें किसीकी हानि हो वा धर्मका घात हो ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिए अथवा ऐसे कार्य कभी नहीं करने चाहिए। इसी प्रकार विनोद वा क्रीडा करनेमें भी किसी जीवकी हानि वा किसी जीवका घात वा धर्मके घातका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। विनोदके लिए शस्त्र चलाकर जीवोंका घात कभी नहीं करना चाहिए अथवा किसी जीवको दुःख पहुंचानेवाला विनोद कभी नहीं करना चाहिए। किसी गांव वा वनमें जानेके पहले धर्म

अधर्मका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। राज्य करनेमें बहुत लम्बे विचारकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कलाके सीखनेमें भी धर्म अधर्मका विचार करना चाहिए। भोग-विलासोंको भी बहुत सोच समझकर करना चाहिए और धर्म अधर्मका विचार अवश्य रखना चाहिए। सोनेमें बैठनेमें आपत्तियोंका विचार करना चाहिए, दुर्जन सज्जनोंमें उनकी संगतिके फलका विचार करना चाहिए और समस्त लौकिक क्रियाओंमें धर्म, अधर्मका, अपने पदस्थका और शास्त्रोंके आदेशका अवश्य विचार करना चाहिए। इनके सिवाय अन्य जितने कार्य हैं उनके करनेमें धर्म अधर्मका विचार करना चाहिए। इस प्रकार विचारपूर्वक इन प्रवृत्तियोंके करनेसे संसारके समस्त जीवोंको शांतिकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—स्तुतेस्तुष्यति को जन्तुः कुप्यते निन्दया कथम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि कौन मनुष्य स्तुतिसे संतुष्ट होता है और निंदा करनेसे कौन क्रोध करता है तथा क्यों करता है ?

उत्तर—ख्यातादिपूजाविनयप्रणामान्न वर्द्धते स्वात्मसुखं स्वशान्तिः।
हानिर्न लाभः खलु निन्दया मे स्वसौख्यभोक्तास्मि सदा सुखी च॥
स्वसौख्यशून्यो विनयप्रणामैः काको यथा तुष्यति मांसपिण्डैः।
ततो ह्यशान्तिं लभते प्रमूढो ज्ञानीति शांतिं ह्यचलां स्वभावात् ४९०

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको जानता है वह यही विचार करता है कि मेरी प्रसिद्धि होनेसे, मेरी पूजा होनेसे, मेरी विनय करनेसे और मुझे प्रणाम करनेसे मेरा आत्माका सुख नहीं बढता तथा आत्माकी शांति भी नहीं बढती। इसी प्रकार मेरी निंदा करनेसे न तो मेरी हानि होती है और न कोई लाभ होता है। मेरा आत्मा अपने आत्मजन्य आनंदको भोगनेवाला है और सदा सुखी

रहनेवाला है, परंतु जो पुरुष अपने आत्मजन्य सुखका स्वाद नहीं जानता वह पुरुष जिसप्रकार कौवा मांस-पिंडसे प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है उसी प्रकार वह भी विनय और प्रणाम करनेसे प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है तथा अन्तमें वह अज्ञानी महा अशांतिको प्राप्त होता है। परन्तु जो पुरुष आत्माके स्वरूपको जानता है वह अपने स्वभावसे ही अनंत शांतिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहता है और आत्मजन्य आनन्दका अनुभव करता है। वह अपने मान अपमानका कोई विचार नहीं करता। न तो अपना आदर-सत्कार होनेपर अपना कोई लाभ समझता है और न अपनी निंदा होनेपर अपनी कोई हानि समझता है। वह निंदा स्तुति दोनोंमें समता धारणकर परम शांतिका अनुभव करता है, परंतु जो पुरुष आत्मज्ञानसे रहित है वह अपने आदर-सत्कारसे प्रसन्न होता है और अपनी निंदासे दुःखी होता है। इसप्रकार वह पुरुष हर्ष विषाद करता हुआ महा अशांतिको प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानी भव्यजीवोंको अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर निंदा वा स्तुतिसे किसी प्रकारका हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए और समता धारणकर परम शांति प्राप्त कर लेनी चाहिए। यही आत्माके कल्याणका मुख्य उपाय है।

प्रश्न—अर्हत्सिद्धादिशास्त्राणां नतिप्रयोजनं वद।

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु शास्त्र आदिके लिए नमस्कार क्यों किया जाता है?

उत्तर—अर्हत्सिद्धादिशास्त्रेभ्यः सूरिपाठकसाधवे।
एकादशादिश्राद्धेभ्यो यथायोग्या नतिः स्तुतिः ॥४९१॥

कार्या भक्त्या सदा शान्त्यै सम्यक्त्वव्रतशालिभिः ।
यथा श्रेणिकभूपेन संयमिने पुरा कृता ॥४९२॥

अर्थ—भगवान महावीर स्वामीके समयमें जिसप्रकार राजा श्रेणिक भक्तिपूर्वक समस्त संयमियोंकी स्तुति करते थे, सबके लिए नमस्कार करते थे और इसप्रकार उनकी भक्ति कर अपने आत्मामें परम-शांति प्राप्त करते थे, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य श्रावकोंको अपने आत्मामें परमशांति प्राप्त करनेके लिए भक्तिपूर्वक यथायोग्य रीतिसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, शास्त्र, क्षुल्लक, ऐलक आदिके लिए नमस्कार करना चाहिए, उनकी स्तुति करनी चाहिए तथा उनकी सेवा, भक्ति-वैयावृत्ति आदि सब कुछ करना चाहिए ।

भावार्थ—अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी कहलाते हैं । इस संसारमें ये पंचपरमेष्ठी सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं । ये पांचों परमेष्ठी ही इस संसारमें मंगलस्वरूप हैं और ये ही समस्त जीवोंके लिए शरण हैं । इस संसारमें जीवोंका कल्याण करनेवाले और मोक्ष प्रदान करनेवाले ये ही पंच परमेष्ठी हैं । इन पंच परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण करना उनको नमस्कार करना उनकी स्तुति करना उनकी पूजा करना आदि सब कार्य महापुण्य उत्पन्न करनेवाले हैं तथा आत्माको पवित्र करनेवाले हैं । जो पुरुष इनके गुणोंमें प्रेम रखते हैं वे इनके आदेश और उपदेशको भी अवश्य मानते हैं और पंच परमेष्ठीका आदेश वा उपदेश समस्त जीवोंका कल्याण कराता हुआ मोक्ष प्रदान करानेवाला होता है । इसीलिए इनकी सेवा पूजा करनेवाले भव्य-जीव इनकी पूजा स्तुति करके वा गुण स्मरण करके उन गुणोंको धारण कर उन्हींके समान हो जाते हैं । इसी प्रकार भगवान अरहंत देवके कहे हुए शास्त्रोंकी भक्ति स्तुति करनेवाला पुरुष भी उनकी आज्ञाको मानता हुआ तथा उनकी आज्ञानुसार अपनी प्रवृत्ति

करता हुआ अपने आत्माका कल्याण कर लेता है। इस प्रकार देव शास्त्र गुरुकी भक्ति सेवा पूजा स्तुति करनेवाले पुरुष अपने आत्माका कल्याण करते हुए अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर लेते हैं। राजा श्रेणिकने भी ऐसा ही किया था और इन्हीं पंच परमेष्ठीकी भक्ति वा स्तुतिके कारण राजा श्रेणिकको तीर्थंकर नामकर्मका बंध हुआ था। इन पंच परमेष्ठियोंकी स्तुति आदिका अपार माहात्म्य है। इन पंच परमेष्ठियोंकी स्तुति वा नमस्कारकी तो बात ही अलग है, जो पुरुष इनके नामका भी स्मरण करते हैं वा इनके नामका जप करते हैं वे पुरुष भी इस संसारसे पार हो जाते हैं। राजा श्रेणिकके ही समयमें एक मेंढक कमलकी एक कली लेकर भगवान महावीर स्वामीकी पूजा करनेके लिए चला था परंतु मार्गमें ही हाथीके पैर तले दबकर मर गया था और उसी समय बडी भारी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ था। वह देव उत्पन्न होते ही भगवान महावीर स्वामीके समवसरणमें आया था और उसने अपनी देदीप्यमान प्रभासे समवसरणमें विराजमान समस्त भव्य जीवोंको आश्चर्यमें डाल दिया था और और सबके लिए उस पूजाका अपार माहात्म्य प्रगट कर दिखाया था। अतएव समस्त भव्य जीवोंको पंच परमेष्ठीकी पूजा स्तुति भक्ति आदि प्रतिदिन करना चाहिए, प्रतिदिन उनको नमस्कार करना चाहिए, प्रतिदिन उनका जप करना चाहिए और प्रतिदिन उनके गुणोंका स्मरण करना चाहिए। आत्माके कल्याणका यह सबसे अच्छा उपाय है।

प्रश्न—ज्ञानिभिः कर्मबद्धैश्च किमर्थं कर्मचिन्तनम्।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कर्मोंसे बंधे हुए ज्ञानी पुरुष अपने कर्मोंका चिंतवन किसलिए करते हैं?

उत्तर—ज्ञानिभिः कर्मबद्धैश्च द्रव्यभावादिकर्मणः।
स्वरूपं चिन्त्यते शान्त्यै साधुनेव निजात्मनः ॥४९३॥

अर्थ—जिसप्रकार परम शांति प्राप्त करनेके लिए मुनिराज अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते हैं उसीप्रकार कर्मोंमे बंधे हुए ज्ञानी पुरुष भी अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए द्रव्यकर्म भावकर्म वा नोकर्मके स्वरूपका चिंतवन करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतन्राय ये आठ कर्म तथा इनके एकसौ अडतालीस उत्तर भेद सब द्रव्यकर्म कहलाते हैं तथा जिनसे ये कर्म बंधते हैं ऐसे राग द्वेष कषाय आदिकोंको भावकर्म कहते हैं और औदारिक वैक्रियक आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलवर्गणाओंको नोकर्म कहते हैं। इन्हीं कर्मोंके कारण यह जीव अनादिकालसे बंध रहा है और नरक निगोद आदिके महादुःख भोग रहा है। रागद्वेषादिकके कारण नवीन नवीन कर्मोंका बंध करता है और उनके उदय होनेपर दुःख भोगता है। राग द्वेष वा कषायोंका उत्पन्न करना इस जीवके हाथमें हैं। यह जीव कषायोंको उत्पन्न भी कर सकता है और कषायोंको रोक भी सकता है। कषायोंको उत्पन्न करनेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है और कषायोंके रोकनेसे कर्मोंसे छूटता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको इन कर्मोंके स्वरूपका चिंतवन कर कषायोंको रोकनेका प्रयत्न कर अपने आत्माको सुखी बनाना चाहिए। जिसप्रकार मुनिलोग अपने आत्माका चिंतवन कर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उसीप्रकार भव्य श्रावकोंको कर्मोंका दुःखदायी स्वरूप चिंतवन कर उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए। कषायोंको रोक कर आते हुए नवीन कर्मोंका संवर करना चाहिए और फिर सुख-दुःखमें समता धारण कर संचित कर्मोंको नष्ट कर देना चाहिए। यही कर्मोंके स्वरूपके चिंतवन करनेका फल है।

प्रश्न—कथं युद्धं भवेत्पृथ्व्यां कदा च तत्प्रशाम्यति ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस पृथ्वीपर युद्ध क्यों होता है और वह कब शांत होता है ?

उत्तर—श्रीराज्यलक्ष्म्याश्चपलप्रकृत्याः समागमार्थं च जना यतन्ते ।
तावद्धि युद्धं विषमं भवेत्कौ तद्रोधनार्थं खलु तत्प्रमोहम् ॥४९४॥
ज्ञात्वेति मुक्त्वा सततं यतन्तां स्वराज्यलक्ष्म्या ह्यचलप्रकृत्याः ।
समागमार्थं हि यथा यतीन्द्राः सत्यार्थशान्तेर्मुनिवर्गमातुः ॥४९५॥

अर्थ—इस संसारमें जबतक अत्यन्त चंचल स्वभावको धारण करनेवाली राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए ये जीव प्रयत्न करते रहते हैं तबतक इस संसारमें विषम वा भयंकर युद्ध होता रहता है यही समझ कर उस युद्धको रोकनेके लिए उस राज्यके मोहका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और जिसप्रकार मुनिराज अचल वा निश्चल स्वभावको धारण करनेवाली स्वराज्यलक्ष्मी वा मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं उसीप्रकार समस्त मुनियोंकी माताके समान यथार्थ शांतिको प्राप्त करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—राज्यकी लालसा युद्धका कारण है । इन संसारी जीवोंकी तीव्र लालसाएं जब तक शांत नहीं होती तब तक युद्ध भी कभी नहीं रुक सकता । राज्यकी लालसा राजा राजाओंमें युद्ध कराती है, धनकी लालसा धनियोंमें युद्ध कराती है, पृथ्वीकी लालसा पृथ्वीके स्वामियोंमें युद्ध कराती है, अपनी ख्यातिकी लालसा विद्वानोंमें युद्ध कराती है और परस्परकी मत्सरता परस्परमें युद्ध कराती है । वर्तमान समयमें अनेक प्रकारकी लालसाओंके बढ जानेके कारण संसारभरमें अनेक प्रकारके युद्ध हो रहे हैं । और जब तक लालसाएं शांत नहीं होतीं तब तक होते रहेंगे । उन समस्त युद्धोंको रोकने वा शांत

करनेका एकमात्र उपाय मोहका त्याग कर देना है। लालसाएं मोहसे ही उत्पन्न होती हैं। मोहका त्याग कर देनेसे समस्त लालसाएं छूट जाती हैं और लालसाओंके छूट जानेसे युद्ध शांत हो जाते हैं।

यहांपर एक बात और समझ लेनी चाहिए इस संसारमें जितने युद्ध होते हैं वे सब दो व्यक्तियोंमें वा दो पदार्थोंमें होते हैं। जीव कर्मका संबंध जो अनादिकालसे चला आ रहा है उन दोनोंमें भी युद्ध होता रहता है। कर्म आत्माको दबाना चाहते हैं और आत्मा कर्मोंको नष्ट करना चाहता है। जब यह आत्मा उन कर्मोंका वा कर्मोंके फलोंका मोह छोड देता है और कर्मोंके फलोंसे प्राप्त होनेवाली समस्त विभूतिका मोह छोड देता है तब यह आत्मा अपने आत्माको उन समस्त विभूतियोंसे भिन्न करनेका प्रयत्न करता है इसके लिए वह कषायोंका त्याग करता है और आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन कर उन कर्मोंको नष्ट कर चिदानन्दस्वरूप अकेला आत्मा रह जाता है इसीको मोक्षकी प्राप्ति कहते है। इस प्रकार जब यह आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है और सर्वथा शुद्ध एक चैतन्य स्वरूप आत्मा रह जाता है उस समय अकेला होनेके कारण सब प्रकारके युद्धसे अलग हो जाता है। युद्ध करनेमें सर्वदा संक्लेश परिणाम होते हैं परंतु युद्धसे अलग हो जानेपर अनंत शांति प्राप्त होती है। अतएव समस्त भव्य जीवोंको अपने मोहका त्याग कर सब प्रकारके युद्ध शांत कर देने चाहिए और मुनिराज जिस प्रकार मोहका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार परम शांतिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह परम शांति मुनियोंकी माता है। समस्त मोहका त्याग कर परम शांति प्राप्त हो जानेपर ही मुनिदीक्षा धारण की जाती है। जिस प्रकार माता संतानको उत्पन्न करती है उसी प्रकार मोहके त्यागसे उत्पन्न होनेवाली परम शांति दीक्षा धारण कराकर मुनियोंको उत्पन्न करती है इसीलिए यह परम शांति मुनियोंकी माता कहलाती है। ऐसी परम शांति प्राप्त कर तथा दीक्षा धारण कर मुनि बनना चाहिए और फिर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही भव्य जीवका कर्तव्य है।

किमर्थं पाठशालादिः स्थाप्यते वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पाठशाला विद्यालय आदिका स्थापन किस लिये किया जाता है ?

उत्तर—विद्यालयोऽज्ञानविनाशकश्च ह्यनाश्रितानां स्थितिवृद्धिहेतोः ।
सुखप्रदः स्थाप्यत एव कोशो धैर्यं तथा दीयत एव तेभ्यः ॥४९६॥
निरुध्यते दुष्टनृपस्य नीतिः भाषा समंतैः क्रियते च मिष्टा ।
यथार्थशान्त्यै बहुना बटो किं धर्मानुकूला विविधा क्रियापि ॥४९७॥

अर्थ—हे वत्स ! इस संसारमें परम शांति प्राप्त करनेके लिए अज्ञानको नाश करनेवाले विद्यालयोंका स्थापन किया जाता है, आश्रयरहित लोगोंको सुख देनेवाले कोशका स्थापन किया जाता है, उन लोगोंको धैर्य दिया जाता है, दुष्ट राजाकी नीतिकी रुकावट की जाती है, सबके साथ मीठी वाणी बोली जाती है और यथार्थ शांतिके लिए ही अनेक प्रकारकी धर्मानुकूल क्रियाएं की जाती हैं ।

भावार्थ—आत्मज्ञानके विना अन्य जितने ज्ञान हैं वे सब अज्ञान वा मिथ्या ज्ञान कहलाते हैं । ऐसे मिथ्या ज्ञान वा अज्ञानको दूर करनेके लिए अर्थात् आत्माके यथार्थ ज्ञानकी वृद्धिके लिए विद्यालय स्थापन किए जाते हैं । उन विद्यालयोंमें आर्ष ग्रंथोंका अध्ययन कर विद्यार्थी लोग अपने आत्माके स्वरूपको पहचान लेते हैं और फिर उसके शुद्ध स्वरूपको उपादेय समझ कर उसको ग्रहण करनेका प्रयत्न करते हैं और कषायोंका त्याग कर परम शांति प्राप्त कर लेते हैं यही विद्यालयोंके स्थापन करनेका फल है । जिन विद्यालयोंमें आत्मज्ञानकी शिक्षा नहीं दी जाती वा आत्मज्ञानके विरुद्ध शिक्षा दी जाती है अथवा आर्ष ग्रंथोंके विरुद्ध शिक्षा दी जाती है वे विद्यालय भले ही यद्वा तद्वा जीविकाके साधन माने

जाते हों परंतु उन विद्यालयोंमें पढनेवाले विद्यार्थियोंकी आत्मामें शांतिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अतएव ऐसे विद्यालयोंसे धार्मिक लाभ कुछ नहीं होता। जिस विद्याके अध्ययन करनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त हो वही विद्या श्रेष्ठ विद्या कहलाती है। जिस विद्यासे शांति प्राप्त न हो वह विद्या संक्लेश उत्पन्न करनेवाली और अशुभ कर्मोंका बंध करनेवाली वा नरकादिकके दुःख देनेवाली मानी जाती है। इसलिए ऐसी विद्याका पढना सर्वथा व्यर्थ है। इसी प्रकार शांति प्राप्त करनेके लिए ही कोश स्थापन किया जाता है। उस कोशके द्रव्यसे अनाश्रित धर्मात्मा पुरुषोंका स्थितिकरण किया जाता है और उनको सुख देने वा धर्म साधन करनेके साधनोंकी वृद्धि की जाती है। विना द्रव्यके अनाश्रित लोग शांति-पूर्वक धर्म साधन नहीं कर सकते इसीलिए उनका स्थितिकरण किया जाता है और इसके लिए कोशकी स्थापना की जाती है। इसके सिवाय संसारभरमें शांति स्थापन करनेके लिए दुःखी जीवोंको धैर्य धारण कराया जाता है, दुष्ट राजाकी कुटिल नीतिका निरोध किया जाता है, शांतिके ही लिए सबके साथ मिष्ट और हितरूप भाषण किया जाता है और शांतिके ही लिए पात्रदान, जिनपूजन, व्रत, उपवास, यज्ञोपवीतादिके समस्त संस्कारोंकी क्रियाएं की जाती हैं। हे वत्स! ये सब कार्य आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए ही किए जाते हैं।

प्रश्न—इतरच्च क्रियते शान्त्यै भावना सुखदा सदा।

अर्थ—अब आगे अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए सदा सुख देनेवाली अपनी भावनाओंका निरूपण करते हैं?

उत्तर—निरामयोऽनन्तसुखस्वरूपः सदा चिदानन्दमयो ममात्मा।
व्याध्यादिमुक्तोऽखिलदुःखदूरः चिन्मात्रमूर्तिर्भुवि निर्विकारी॥४९८॥

शुद्धः प्रबुद्धो विमलो विरागी ब्रह्मस्वरूपी समशान्तिशीलः ।
समस्तसंकल्पविकल्पभेदी शान्त्यर्थमेवापि च चिन्त्यते हि ॥४९९॥

अर्थ—यह मेरा शुद्ध स्वरूप आत्मा समस्त रोगोंसे रहित है, अनंत सुखस्वरूप है, सदाकाल चिदानंदस्वरूप रहता है, समस्त आधि व्याधियोंसे रहित है, समस्त दुःखोंसे रहित है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, निर्विकार है, शुद्ध है, प्रबुद्ध है, निर्मल है, वीतराग है, ब्रह्मस्वरूप है, समता और शांतिसे सुशोभित है और समस्त संकल्प विकल्पोंको नष्ट करनेवाला है ऐसा यह मेरा आत्मा अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए अपने ही आत्माके द्वारा चिंतवन किया जाता है।

भावार्थ—यह अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करनेसे संकल्प विकल्प सब नष्ट हो जाते हैं, दुःख सब दूर हो जाते हैं और विकार सब नष्ट हो जाते हैं। आत्माका शुद्ध स्वरूप कर्मोंसे रहित है, शरीरसे रहित है और इसीलिए समस्त रोगादिकोंसे रहित है। ऐसे आत्माका चिंतवन करनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है तथा यह अत्यन्त निर्मल होकर समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए अपने शुद्ध स्वरूप आत्माका चिंतवन अवश्य करते रहना चाहिए।

आगे और भी कहते हैं—

कर्मणा त्रिविधेनात्मा मुक्तो मे ज्ञानभास्करः ।
निराकारी निराहारी निरंजनो निराकृतिः ॥५००॥
शुद्धचिद्रूपमूर्तिश्च स्वात्मसाम्राज्यनायकः ।
भव्यैः शान्त्यर्थमेवापि चिन्त्यः सदेति चेतसि ॥५०१॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म इन तीनों कर्मोंसे रहित है, समस्त तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिए ज्ञानमय सूर्य है, निराकार है, निराहार है, निरंजन है, किसी विशेष आकृतिको धारण नहीं करता, केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप मूर्तिको धारण करता है और अपने शुद्धस्वरूप साम्राज्यका स्वामी है। ऐसा यह आत्मा समस्त भव्यजीवोंको अपने हृदयमें अनन्त शांति प्राप्त करनेके लिए सदाकाल चिंतवन करते रहना चाहिए।

भावार्थ—यह आत्मा द्रव्यकर्मोंसे भी रहित है, भावकर्मोंसे भी रहित है और नोकर्मोंसे भी रहित है। यद्यपि संसारी आत्मामें तीनों प्रकारके कर्म दिखाई देते हैं, क्रोधादिक कषायरूप भावकर्म भी विद्यमान हैं, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म भी विद्यमान हैं और शरीररूप नोकर्म भी विद्यमान हैं तथापि वे सब इस आत्माके शुद्ध स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं अथवा यों कहना चाहिए कि इस आत्माका शुद्ध स्वरूप इन तीनों प्रकारके कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है। इसका भी कारण यह है कि ये तीनों प्रकारके कर्म पौद्गलिक हैं तथा पुद्गल जड है, मूर्त है, आत्मा अमूर्त है और चैतन्य स्वरूप है। इसलिए आत्माके शुद्ध स्वरूपको कर्मोंसे सर्वथा भिन्न मानना ही पडता है। इसके सिवाय आत्मा ज्ञानमय है। जिसप्रकार सूर्य समस्त मूर्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है उसीप्रकार अनन्त ज्ञानमय यह आत्मा मूर्त, अमूर्त, सूक्ष्म स्थूल आदि समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। साथमें अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है। इसीलिए यह आत्मा सूर्यके समान स्वपर प्रकाशी कहलाता है। इसीप्रकार आत्माका कोई विशेष आकार नहीं है, संसारी आत्मा जैसे शरीरको धारण करता है उसीके आकार स्वरूप हो जाता है और मुक्त आत्मा जैसे जितने छोटे-बडे शरीरको छोडता है उतना ही छोटा-बडा और वैसे ही आकारका हो जाता है। अतएव इसका कोई विशेष आकार न होनेसे निराकार कहलाता है। इसके सिवाय यह आत्मा निराहार है। आहार पौद्गलिक होता है इसलिए पौद्गलिक शरीर ही उसको ग्रहण करता है

और पौद्गलिक शरीर ही उससे पुष्ट होता है। अमूर्त आत्मा न तो पुद्गलको ग्रहण कर सकता है और न उससे पुष्ट हो सकता है। अतएव यह शुद्ध आत्मा सब प्रकारके आहारसे रहित है तथा यही शुद्ध आत्मा निरंजन है, अंजन शब्दका अर्थ कर्ममल कलंक है। जो कर्ममल कलंकसे रहित हो वा राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित हो उसको निर्दोष वा निरंजन कहते हैं। शुद्ध आत्मा भी इन सबसे रहित है, इसलिए यह भी निरंजन है। ऐसा यह शुद्ध आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और स्वात्म साम्राज्यका वा मोक्ष साम्राज्यका अधिपति है। ऐसा शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा सदा चिंतवन करने योग्य है। ऐसे आत्माके चिंतवन करनेसे आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति होती है। इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अपने अपने शुद्ध आत्माका स्वरूप अवश्य चिंतवन करते रहना चाहिए।

आगे और भी कहते हैं।

संसारहर्ताऽखिलविश्वनेता स्वभावलीनः परभावभिन्नः।
आल्हादकारी भवतापहारी पापप्रणाशी वरपुण्यदर्शी ॥५०२॥
अज्ञानहारी स्वपरप्रकाशी विज्ञानज्योतिर्विकथाविनाशी।
लक्ष्मीपतिर्ज्ञाननिधिर्विरोगी जगज्जयी कल्मषकोशहर्ता ॥५०३॥
स्वात्मास्ति मे धर्मपतिर्हितैषी निरामयो वा भुवि निष्कलंक।
शान्तो विपाप्मा विमदोपि वर्यो व्यक्तोपि गुप्तो महितो महान् हि ॥५०४

अर्थ—यह मेरा आत्मा जन्म-मरणरूप संसारको हरण करनेवाला है, समस्त संसारका नेता है, अपने स्वभावमें लीन रहता है, परभावोंसे सर्वथा भिन्न है, आल्हादको उत्पन्न करनेवाला है, संसारके संतापको नाश करनेवाला है, पापोंको नाश करनेवाला है, श्रेष्ठ पुण्यको दिखानेवाला है, अज्ञानको

दूर करनेवाला है, स्वपर दोनोंके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है, विज्ञानकी ज्योति स्वरूप है, विकथाओंको नाश करनेवाला है, लक्ष्मीका स्वामी है, ज्ञानका निधि है, रागरहित है, तीनों लोकोंको जीतनेवाला है, पापोंके समस्त भंडारको हरण करनेवाला है, धर्मका स्वामी है, समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, समस्त रोगोंसे रहित है, कलंकसे रहित है, शांत है, पापरहित है, मदरहित है, सर्वोत्कृष्ट है, व्यक्त होकर भी गुप्त है, पूज्य है और महान् है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करता चला आ रहा है तथा वह संसारका परिभ्रमण कर्मोंके निमित्तसे हो रहा है। कर्मोंका बंधन इस कर्मविशिष्ट अशुद्ध जीवने किया है। यह जीव जबतक कर्मविशिष्ट रहता है तबतक कर्मोंका बंधन करता है परन्तु जब यह आत्मा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको जान लेता है तब कर्मोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझ कर उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है। यह आत्मा ज्यों-ज्यों कषाय और कर्मोंको नष्ट करता जाता है त्यों-त्यों शुद्ध होता जाता है और अन्तमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर यह आत्मा अपने जन्म-मरणरूप संसारसे सर्वथा दूर हो जाता है और इसीलिए संसारका हर्ता कहलाता है। जब यह आत्मा कर्मोंको नष्ट करते करते घातिया कर्मोंको नष्ट कर लेता है तब यह आत्मा वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है और समवसरणमें विराजमान होकर मोक्षमार्गका उपदेश देता है। घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे इस आत्माका प्रभाव तीनों लोकोंमें फैल जाता है। इन्द्रादिक सब देव उसकी सेवा करनेके लिए आते हैं और समस्त भव्यजीव उसका उपदेश सुननेके लिए आते हैं। उनमेंसे सैकडों हजारों जीव संसारसे विरक्त होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। इसप्रकार उस समय यह आत्मा समस्त तीनों लोकोंका नेता माना जाता है। जिस समय यह आत्मा घातिया कर्मोंको नष्ट कर देता है अथवा समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है उस समय यह आत्मा अपने स्वाभावमें ही लीन रहता

है, तथा कषायादिक परभाव इसके सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। कर्मोंके नष्ट होनेपर सिवाय आत्मस्वभावके वा ज्ञानस्वरूप आत्माके परभावोंका सर्वथा अभाव हो जाता है इसीलिए यह आत्मा स्वभावमें लीन रहनेवाला और परभावोंसे सर्वथा भिन्न कहलाता है। घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे इस आत्माको अनन्तसुख प्राप्त हो जाता है और वह अनन्तसुख फिर सदाकाल तक वा अनन्तकाल तक बना रहता है। अनन्तसुखके प्राप्त होनेसे संसारके समस्त संताप नष्ट हो जाते हैं, जहां अनन्तसुख है वहां कोई संताप हो ही नहीं सकता। इसलिए ही यह आत्मा आल्हादकारी और भवतापहारी कहलाता है। जिस समय इस आत्माके घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उससमय पापकर्म कोई भी शेष नहीं रहता, पापकर्म सब नष्ट हो जाते हैं। समस्त पापकर्मोंके नष्ट होनेसे पुण्यकर्म ही शेष रहते हैं। इसलिए उस समय यह आत्मा पापप्रणाशी और पुण्यप्रदर्शी कहलाता है। अथवा जिस समय इस आत्माके घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उससमय इसके दर्शन मात्र करनेसे भव्यजीवोंके पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्यकर्मोंका विशेष संचय होता है। इसलिए यह आत्मा पापप्रणाशी और पुण्यप्रदर्शी कहलाता है। केवलज्ञान होनेपर यह आत्मा लोकालोक सबको प्रकाशित करता है इसीलिए विज्ञान ज्योति कहलाता है। जहांपर केवल ज्ञान विशिष्ट यह आत्मा विराजमान रहता है वहांपर कोई भी विकथा नहीं होती, इसलिए यह आत्मा विकथाविनाशी कहलाता है। समवसरणमें विराजमान यह आत्मा तीनों लोककी लक्ष्मीका स्वामी कहलाता है तथा लोक आलोक सबको जाननेके कारण ज्ञाननिधि कहलाता है। राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित होनेके कारण वीतराग कहलाता है। तीनों लोकोंको जीतनेवाला मोह है और मोहको भी जीतनेवाला यह आत्मा है इसलिए यही आत्मा जगज्जयी कहलाता है। पापोंके समस्त भंडारको नाश करनेके कारण कल्मषकोशहर्ता कहलाता है। समस्त जीवोंका हित करनेवाला और धर्मका स्वामी कहलाता है। परमौदारिक शरीर धारण करनेके कारण

निरामय कहलाता है। कर्मोंसे रहित होनेके कारण निष्कलंक कहलाता है। अत्यंत शांत है, पापोंसे रहित है, मंद मत्सरता आदिसे रहित है, सर्वोत्कृष्ट है, व्यक्त होनेपर भी किसीको दिखाई नहीं देता, तथापि पूज्य और महान् कहलाता है। ऐसा यह मेरा आत्मा सदाकाल चिंतवन करने योग्य है।

आगे और भी कहते हैं—

> महोदयो धर्मदिवाकरोहं यथार्थदृष्ट्या भवपारकर्ता।
> क्षान्तो महात्मा परमप्रसन्नः क्षेमी क्षमः क्षेमपतिर्दमीशः ॥५०५॥
> स्वामी ह्यलेपो जितकर्मकाण्डो गतस्पृहो विश्वविलोचनोस्मि।
> सदा विविक्तोविरतो विसंगःकृती गुणज्ञो विजरो विशोकः ॥५०६॥

अर्थ—मेरा यह आत्मा महान् उदयको करनेवाला है, धर्मका दिवाकर है, यथार्थ दृष्टिसे संसारसे पार करनेवाला है, क्षमा धारण करनेवाला है, महात्मा है, अत्यंत प्रसन्न है, कल्याण करनेवाला है, समर्थ है, कल्याण करनेवालोंमें शिरोमणि है, इंद्रिय दमन करनेवालोंमें शिरोमणि है, स्वामी है, कर्ममलकलंकसे रहित है, कर्मोंके समूहको जीतनेवाला है, स्पृहा वा इच्छाओंसे सर्वथा रहित है, तीनों लोकोंको देखने-वाला नेत्र है, अकेला है, विरक्त है, परिग्रह रहित है, कृतार्थ हैं, गुणोंको जाननेवाला है, बुढापारहित है और शोकरहित है।

भावार्थ—जिस समय यह आत्मा घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है उस समय समस्त इन्द्रादिक देव भी आकर उसकी सेवा करते हैं। इसीलिए यह आत्मा महोदय कहलाता है। उस समय यह सर्वज्ञ आत्मा धर्मका उपदेश देकर संसारका कल्याण करता है इसलिए धर्मदिवाकर कहलाता है। दिवाकर शब्दका अर्थ सूर्य है जो धर्मको प्रकाशित करनेके लिए सूर्यके समान हो उसको

धर्मदिवाकर कहते हैं। ऐसे उस आत्माकी सेवा पूजा करनेसे अनेक जीव इस संसारसे पार हो जाते हैं इसीलिए यह आत्मा भवपारकर्ता कहलाता है। कषायोंके सर्वथा नष्ट होनेसे क्षान्त वा क्षमा धारण करनेवाला कहलाता है, सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण महात्मा कहा जाता है, पापकर्मोंसे रहित वा निर्मल होनेके कारण परम प्रसन्न माना जाता है, ऐसे आत्मासे सब जीवोंका कल्याण होता है इसलिए क्षेमी वा क्षेमपति माना जाता है, कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ होनेके कारण क्षम वा समर्थ कहलाता है और इंद्रियोंको अत्यंत दमन करनेके कारण दमीश वा इंद्रियोंके दमन करनेवाला कहलाता है। इंद्रादिकोंका स्वामी होनेके कारण स्वामी कहलाता है, दोषोंसे वा कर्मोंसे रहित होनेके कारण अलेप कहलाता है, समस्त कर्मोंको नाश करनेके कारण कर्मोंको जीतनेवाला माना जाता है, समस्त इच्छाओंसे रहित होनेके कारण गतस्पृह वा इच्छारहित कहलाता है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण विश्वविलोचन कहलाता है, समस्त कर्ममलकलंकसे रहित होनेके कारण तथा मोक्षमें विराजमान होनेके कारण विविक्त कहलाता है, वीतराग और परिग्रहसे सर्वथा रहित होनेके कारण विरत और निसंग कहलाता है, अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लेनेके कारण कृती और गुणज्ञ कहलाता है और समस्त दोषोंसे रहित होनेके कारण बुढापा रहित तथा शोकरहित कहलाता है। इस प्रकार श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा है। आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी बतलाते हैं--

वाचस्पतिस्तीर्थशिरोमणिश्च प्रमोहहंता करुणापतिर्वा ।
दयापताकः परमप्रमोदी मनोनिरोधी मदनप्रणाशी ॥५०७॥
स्वयंप्रभुर्विश्वविकाशहेतुः सुधर्मसारोऽखिलदीनबन्धुः ।
शास्ता प्रणेता सुखशान्तिभर्ता स्वराज्यकर्तास्मि निजे निवासी॥५०८

अर्थ—यह मेरा आत्मा वाचस्पति वा सर्वोत्कृष्ट वक्ता है, समस्त तीर्थोंका शिरोमणि है, मोहको नाश करनेवाला है, करुणाका स्वामी है, दयाकी ध्वजाको धारण करनेवाला है, परमानंदस्वरूप है, मनको निरोध करनेवाला है, कामँको नाश करनेवाला है, स्वयं प्रभु है, तीनों लोकोंको विकसित वा प्रसन्न करनेवाला है, श्रेष्ठ धर्मका सार है, समस्त दीन संसारी जीवोंका बंधु है, धर्मका उपदेश है, मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाला है, सुख और शांतिका स्वामी है, अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यका कर्ता है और अपने आत्मामें लीन रहनेवाला है।

भावार्थ—केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर जब यह आत्मा अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा धर्मोपदेश देता है तब इसकी वह वाणी पुर्वापर अविरुद्ध, निर्दोष और समस्त तत्त्वोंका स्वरूप कहनेवाली होती है। इसीलिए यह आत्मा वाचस्पति कहलाता है। ये संसारी जीव जिसके द्वारा इस संसारसे पार हो जांय उसको तीर्थ कहते हैं। इस सर्वज्ञ वीतराग और पवित्र आत्मासे हजारों जीव संसारसे पार हो जाते हैं कोई उसकी भक्ति कर पार होता है, कोई धर्मोपदेश सुनकर पार होता है और कोई उसकी आज्ञानुसार चलकर पार होता है। इसलिए यह आत्मा तीर्थशिरोमणि कहलाता है। मोहनीय कर्मको सर्वथा नष्ट कर देनेके कारण प्रमोह-हंता कहलाता है, समस्त जीवोंका कल्याण करनेके कारण करुणापति माना जाता है, दया-धर्म प्रबल ध्वजा फहरानेके कारण दयापताक अथवा दयाकी ध्वजा फहरानेवाला कहलाता है, चिदानन्द स्वरूप होनेके कारण परमप्रमोदी माना जाता है, मन आदि समस्त इन्द्रियोंका निरोध करनेके कारण मनोनिरोधी कहा जाता है, कामादिक समस्त विकारोंको नाश कर देनेके कारण मदनप्रनाशी वा कामको नाश करनेवाला कहलाता है, यह आत्मा कर्मोंको नष्ट कर स्वयं सिद्ध होता है इसलिए स्वयंप्रभु कहा जाता है, लोक-अलोक सबको प्रकाशित करता है इसलिए तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला कहलाता है, समस्त कर्मोंको नष्ट कर यह आत्मा अपने धर्म वा

स्वभावमें लीन हो जाता है इसलिए स्वधर्मसार माना जाता है, समस्त संसारी जीवोंको कल्याणकारी उपदेश देता है इसलिए अखिल दीन बंधु कहा जाता है, श्रेष्ठ वक्ता होनेके कारण शास्ता माना जाता है, मोक्षमार्गका निरूपण करनेके कारण प्रणेता कहा जाता है, अनन्तसुख और अनन्तशांतिका भंडार होनेके कारण सुख-शांतिभर्ता माना जाता है अपने आत्मामें लीन होनेके कारण आत्मनिवासी कहा जाता है और मोक्षका स्वामी होनेसे स्वराज्यकर्ता कहलाता है। इसप्रकार यह मेरा आत्मा तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी दिखलाते हैं।

योगी कृतार्थी च जगत्प्रसिद्धः स्वानन्दकन्दः कृतकृत्य एव।
प्रजापतिः सौख्यशिखामणिश्च चारित्रचूणामणिरेव शुद्धः ॥५०९॥
स्वानन्दसाम्राज्यपदाधिकारी ह्याद्यन्तमध्यादिविवर्जितश्च।
गुणाकरो धर्मशिरोमणिश्च त्रिरत्नधारी त्रिविकारहारी ॥५१०॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा योग वा ध्यान धारण करनेके कारण योगी कहलाता है, चारों पुरुषार्थोंको वा सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कर लेनेके कारण कृतार्थी कहा जाता है, अरहंत वा सिद्ध होनेपर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हो जाता है इसलिए जगत्प्रसिद्ध कहलाता है, अपने आत्मजन्य आनन्दस्वरूप होनेके कारण स्वानन्दकन्द माना जाता है, आत्माको अत्यन्त शुद्धरूप कृत्यको कर लेनेके कारण कृतकृत्य कहलाता है, तीनों लोकोंका स्वामी होनेके कारण प्रजापति कहा जाता है, अनन्तसुख और अनन्तशांतिको धारण करनेके कारण सौख्य-शिखामणि कहलाता है, पूर्ण चारित्रको धारण करनेके कारण वा समस्त पापोंको नाश कर देनेके कारण चारित्र-चूडामणि कहा जाता है, अत्यन्त शुद्ध होनेके

कारण शुद्ध है, अपने आत्मजन्य आनन्दके साम्राज्यके सिंहासनपर विराजमान होनेके कारण अथवा अनन्तसुखके सिंहासनपर विराजमान होनेके कारण स्वानन्द-साम्राज्य-पदाधिकारी कहलाता है, यह मेरा आत्मा अनादिकालसे विद्यमान है और अनन्तानन्त काल तक रहेगा अतएव न इसका कहीं आदि है न मध्य है और न अन्त है, आदि मध्य अन्त तीनोंसे रहित है, यह आत्मा गुणोंका सागर है अनन्त गुणोंका भंडार है इसीलिए गुणाकार कहलाता है, यह आत्मा सर्वोत्कृष्ट आत्मधर्ममें लीन रहता है वा सर्वोत्कृष्ट धर्म स्वरूप है इसलिए धर्मशिरोमणि कहलाता है, इसीप्रकार यह आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय स्वरूप है इसलिए त्रिरत्नधारी कहा जाता है और समस्त विकारोंसे रहित है अथवा मानसिक वाचनिक और शारीरिक तीनों विकारोंसे रहित है अथवा द्रव्यकर्म, नोकर्म भावकर्म इन तीनों विकारोंसे रहित है इसलिए त्रिविकारहारी वा तीनों विकारोंसे रहित कहलाता है। इसप्रकार यह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप मेरा आत्मा सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करनेवाला है। आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी दिखलाते हैं—

कलानिधिः केवलबोधसिंधुर्निःस्वार्थमूर्तिर्जितकर्मबन्धः ।
समाधितंत्रः समतासमुद्रो दमीश्वरो विस्मयरूपधारी ॥५११॥
धीमान् मनीषी सुजनः सुशीलो ज्ञानी च मौनी धनदो धनेशः ।
ध्यानी प्रदानी निपुणो नरेशः स्वानन्दभोगी चतुरोत्तमोहम् ॥५१२॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा अनेक कलाओंका निधि है, केवलज्ञानरूपी महाज्ञानका सागर है, वह समस्त स्वार्थोंसे रहित है उसके किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है इसलिए वह निःस्वार्थकी मूर्ति कहलाता है, समस्त कर्मोंको जीतनेवाला वा नष्ट करनेवाला है वा कर्मबंधनको रोकनेवाला है इसलिए कर्मबंधनको

जीतनेवाला कहा जाता है। समाधि वा ध्यानमें लीन रहता है अतएव समाधितंत्र कहलाता है, दुःख सुख आदि सबमें समता धारण करता है और परम समताका समुद्र माना जाता है, इंद्रियोंको दमन करनेवालोंमें भी मुख्य वा स्वामी कहलाता है इसलिए इसको दमीश्वर कहते हैं, यह आत्मा तीनों लोकोंमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपने आत्माकी अनंत चतुष्टयरूप विभूतिको धारण करता है अतएव आश्चर्य करनेवाले रूपको धारण करनेवाला कहलाता है, यह आत्मा समस्त पापोंका त्याग कर अपने आत्माका कल्याण कर लेता है इसलिए बुद्धिमान और मनीषी वा विचारवान कहलाता है, समस्त जीवोंका कल्याण करता है किसीका अहित नहीं करता अतएव सुजन कहलाता है, आत्माके अनंत गुणोंको धारण करनेवाला है इसलिए सुशील कहा जाता है, आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेके कारण ज्ञानी कहलाता है, किसीसे भी बातचीत नहीं करता, केवल अपने आत्मामें लीन रहता है, इसलिए मौनी वा मौन धारण करनेवाला माना जाता है, यह आत्मा मोक्षमार्गका निरूपण कर अनेक भव्य जीवोंको अनंतचतुष्टयरूप महालक्ष्मी प्राप्त करा देता है तथा स्वयं भी अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मीको धारण करता है इसलिए धन देनेवाला धनद और धनका स्वामी धनेश कहलाता है, ध्यानमें निमग्न रहनेके कारण ध्यानी माना जाता है, अनेक भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेके कारण प्रदानी कहा जाता है, अपने आत्माको अनंत सुख पहुंचानेके कारण निपुण माना जाता है, तीनों लोकोंका स्वामी होनेके कारण नरेश कहा जाता है, अपने आत्मजन्य आनंदका उपभोग करनेके कारण वा अनंत सुखका अनुभव करनेके कारण आनंद भोक्ता कहलाता है और इन सब उत्तम गुणोंको धारण करनेके कारण चतुर पुरुषोंमें भी सर्वोत्तम कहलाता है। ऐसा यह मेरा आत्मा सदाकाल ध्यान करने योग्य माना जाता है।

आगे इसी आत्माके स्वरूपको और भी बतलाते हैं—

जयी जिनेन्द्रो ह्यजितो जितारिः वंद्योऽभिनंद्यो सुमतिः सुयोग्यः ।
गणाधिपः पुण्यनिधिः पुनीती महान् मनोज्ञो हतषड्रिपुश्च ॥५१३॥
श्रीभूतनाथो भुवनेशवंद्यो जगद्गुरुर्भव्यसरोजभानुः ।
प्रक्षीणदोषः शमदः शमात्मा मुनिर्महर्षिः सुविधिः श्रुतात्मा ॥५१४॥

अर्थ—मेरा यह आत्मा तीनों लोकोंको जीतनेवाला है अथवा तीनों लोकोंको जीतनेवाले काम और मोहको भी जीतनेवाला है, घातिया कर्मोंको जीतनेवाले जिन कहलाते हैं, उनके इन्द्र वा स्वामीको जिनेन्द्र कहते हैं, मेरा यह आत्मा भी जिनोंमें श्रेष्ठ है इसलिए जिनेन्द्र कहलाता है। इस संसारमें मोह वा काम वा अन्य इन्द्रादिकदेव कोई भी इस आत्माको जीत नहीं सकते इसलिए यह आत्मा अजित कहलाता है। इस संसारमें काम मोह वा ज्ञानावरण आदि कर्म ही शत्रु हैं उनको जीतनेवाला यह मेरा आत्मा है इसीकारण मेरा यह आत्मा जितारि कहा जाता है। यह मेरा पवित्र निर्मल शुद्ध आत्मा तीनों लोकोंके द्वारा वंदनीय और अभिनन्दनीय है इसीलिए वंद्य और अभिनंद्य कहलाता है। यह मेरा आत्मा श्रेष्ठ केवलज्ञानको धारण करनेवाला है वा अपने आत्माका कल्याण करनेवाला है इसलिए इसीको सुमति वा श्रेष्ठ बुद्धिवाला कहते हैं। मोक्षके सर्वथा योग्य यही पवित्र आत्मा है इसलिए इसको सुयोग्य कहते हैं। यह आत्मा समस्त भव्यगुणोंका स्वामी है इसलिए इसको गणाधिप वा गणका नायक कहते हैं। यह आत्मा समस्त पापोंको नाश कर पुण्यका निधि बन जाता है इसलिए पुण्यनिधि कहलाता है। पापोंके नाश करनेके कारण ही पुनीत वा पवित्र कहलाता है। यह आत्मा समस्त तत्त्वोंमें सर्वोपरि माना जाता है इसलिए इसको महान् कहते हैं। यह आत्मा उपादेय है सर्वथा ग्रहण करने योग्य है इसलिए इसको मनोज्ञ कहते हैं। इस आत्माने काम क्रोध आदि अंतरंग शत्रु सब नष्ट कर

दिये हैं इसलिए इसको छहों अंतरंग शत्रुओंको नाश करनेवाला कहते हैं। यह आत्मा समस्त
प्राणियोंका स्वामी है इसलिए भूतनाथ वा प्राणियोंका स्वामी कहलाता है। तीनों लोक इसको नमस्कार
करते हैं अथवा तीनों लोकोंके इन्द्र इसको नमस्कार करते हैं इसलिए इसको भुवनेशवंद्य कहते हैं।
यह आत्मा तीणों लोकोंके गुरु वा शासक है इसलिए जगतगुरु कहा जाता है। जिसप्रकार सूर्यके उदय
होनेसे कमल खिलते हैं उसीप्रकार इस पवित्र शुद्ध आत्मासे समस्त भव्यजीव प्रफुल्लित होते हैं इसलिए
इसको भव्यसरोज भानु वा भव्यरूपी कमलोंका सूर्य कहते हैं। यह आत्मा राग द्वेषादिक समस्त
दोषोंको नाश करनेवाला है इसलिए प्रक्षीणदोष वा दोषोंको नाश करनेवाला कहलाता है। यही
आत्मा समस्त जीवोंको शांति उत्पन्न करनेवाला है इसलिए इसको शमद वा शांत परिणामोंको कराने
वाला कहते हैं। यह आत्मा स्वयं शांत है इसलिए शमात्मा वा अत्यन्त शांत कहलाता है। यह
आत्मा सदाकाल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करता रहता है इसलिए मुनि कहलाता है,
तपश्चरण और ध्यानके द्वारा अपने आत्माको पवित्र करता हुआ यह आत्मा अणिमा महिमा आदि
अनेक ऋद्धियोंको प्राप्त कर लेता है इसलिए इसको महर्षि कहते हैं। यह आत्मा पापाको नाश करने
तथा महापुण्य कर्मोंको धारण करनेके कारण सुबिधि वा श्रेष्ठ पुण्यकर्मोंको धारण करनेवाला कहलाता
है। अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए ध्यान तपश्चरण आदि श्रेष्ठ क्रियाओंको करता हैं इसलिए भी
सुबिधि कहलाता है। यह आत्मा श्रुतज्ञानका भंडार है इसलिए श्रुतात्मा वा श्रुतज्ञान स्वरूप कहलाता
है। इसप्रकार अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा सर्वदा ध्यान करने योग्य माना
जाता है।

आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी दिखलाते हैं—

क्षमापतिर्ज्ञानरविर्दमेशः कर्मारिजेता निजराज्यदाता ।
स्वानन्दसाम्राज्यविभुः कृपेशो दिगम्बरोऽनन्तगुणात्मकोहम् ॥५१५॥
पूर्वोक्तधर्मेण विराजितोस्मि तथा स्वसंवेदनतोहि गम्यः ।
वाक्कायचित्तैश्च निजात्मना वा शान्त्यर्थमेवं भुवि चिन्तनीयः ॥५१६॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा क्षमाका स्वामी है, ज्ञानरूपी सूर्यको धारण करनेवाला है, इन्द्रिय दमन करनेवालोंमें सर्व श्रेष्ठ है, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाला है, अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वरूपको देनेवाला है अर्थात् इसी शुद्ध आत्माके चिंतवन करनेसे आत्माके शुद्धताकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिए इसको स्वराज्यका दाता कहते हैं। यह आत्मा अपने आत्मजन्य अनंत आनंदको धारण करता है और मोक्षरूप साम्राज्यका स्वामी है इसलिए इसको स्वानंद साम्राज्यविभु कहते हैं। यह आत्मा संसारके समस्त जीवोंको अपने समान समझकर सबपर परम कृपा धारण करता है इसलिए इसको कृपाका स्वामी कहते हैं। यह आत्मा वस्त्राभूषण आदि सबसे रहित है, शरीरसे भी सर्वथा भिन्न है, इसीलिए इसको दिगम्बर कहते हैं। यही मेरा आत्मा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य और अनंत गुणोंको धारण करता है इसीलिए अनंतगुणात्मक वा अनंत गुणोंको धारण करनेवाला कहलाता है। इस प्रकार इस आत्माके अनेक धर्म वा अनेक गुण बतलाए हैं उन सबसे यह आत्मा सदाकाल सुशोभित रहता है। ऐसा यह आत्मा किसी इंद्रियसे नहीं जाना जाता किंतु स्वसंवेदनसे जाना जाता है। अपने आत्माके अनुभवको स्वसंवेदन कहते हैं। उसीसे यह आत्मा जाना जाता है। ऐसा यह आत्मा परम शांति प्राप्त करनेके लिए मन वचन कायसे वा अपने आत्माके द्वारा सदाकाल चिंतवन करने योग्य कहा जाता है।

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करनेसे आत्माकी परम शुद्धता प्राप्त होती है तथा परम शुद्धता प्राप्त होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। इसलिए उस परम शांतिको प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन सदाकाल करते रहना चाहिए। आत्माके कल्याण करनेका यही सर्वोत्तम उपाय है।

आगे और भी बतलाते हैं—

साध्यसाधकभावेन स्वात्मेति व्यवहारतः।
चिन्त्यो निश्चयतो नाम नामातीतो निरंजनः ॥५१७॥

अर्थ—साध्य साधकभावसे यह अपना शुद्ध आत्मा चिंतवन करने योग्य है, व्यवहारनयसे उसका नाम चिंतवन करने योग्य है और निश्चयनयसे नामरहित और कर्ममलसे सर्वथा रहित शुद्ध स्वात्मा चिंतवन करने योग्य है।

भावार्थ—यही अपना आत्मा साध्य है और यही आत्मा साधक है। यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका चिंतवन करके अपने ही आत्माको शुद्ध करता है, अपने ही आत्मामें लगे हुए कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माको पवित्र एवं निर्मल बनाता ह। अतएव यही आत्मा साध्य वा सिद्ध करने योग्य कहलाता है और यही आत्मा साधक वा सिद्ध करनेका साधन कहलाता है। इस प्रकार साध्यसाधकरूपसे यह अपना ही आत्मा चिंतवन करने योग्य कहा जाता है। इसके सिवाय व्यवहारनयसे व्यवहारमें रक्खे हुए इस परमात्माके नाम ही चिंतवन करने योग्य माने जाते हैं। जैसे चौवीसों तीर्थंकरोंके नाम चिंतवन करने योग्य माने जाते हैं, पंच परमेष्ठीके नाम चिंतवन करने योग्य माने जाते हैं। इस प्रकार व्यवहारनयसे पंचपरमेष्ठीके नाम चिंतवन करने योग्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार समस्त कषायोंसे, समस्त विकारोंसे और समस्त कर्मोंसे रहित अत्यंत शुद्ध जो यह आत्मा है

वही नामसे रहित और कर्ममलकलंकसे रहित निरंजन कहलाता है। ऐसा यह निरंजन आत्मा निश्चय नयसे चिंतवन करने योग्य कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि सब अवस्थामें यही आत्मा चिंतवन करने योग्य है।

आगे इन सब भावनाओंका सारांश बतलाते हैं—

सच्छान्तिरेवोत्तमधर्मसिंधुः सच्छान्तिरेवापि परं तपश्च ।
सच्छान्तिरेवं परमं सुदृक् स्यात सच्छान्तिरेवं परमः प्रबोधः ॥५१८॥
ध्यानं यथार्थं परमं हि वृत्तं सच्छान्तिरेवापि परं सुखं च ।
ज्ञातव्यमेवेति यथार्थदृष्टया स्यात्तद्विना सर्वविधिर्वृथा कौ ॥५१९॥
यथैव विश्वो जलवृष्टिहीनः कदापि नो तिष्ठति कुंथुसिंधुः ।
आचार्यवर्यः सुखशांतिमूर्तिः पूर्वोक्तशान्तेर्न बहिः प्रयाति ॥५२०॥

अर्थ—इस संसारमें जो सर्वोत्तम धर्मरूपी समुद्र कहलाता है वह भी परम शांति स्वरूप ही है, इसका भी कारण यह है कि धर्म धारण करनेसे पापोंका नाश होता है और पापोंके नाश होनेसे तथा कषायादिकोंके नष्ट हो जानेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है इसीलिए आचार्य महाराजने धर्मको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण भी शांतिस्वरूप है। तपश्चरण करनेसे पापकर्मोंका भी नाश हो जाता है और राग द्वेष क्रोध काम आदि समस्त विकारोंका नाश हो जाता है तथा इसके साथ-साथ तपश्चरण करनेसे यह आत्मा परम निर्मल और अत्यंत शुद्ध हो जाता है इसप्रकार आत्माके अत्यंत शुद्ध हो जानेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। इसीलिए इस तपश्चरणको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसके सिवाय आत्माका जो सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शन गुण है वह भी परम

शांतिस्वरूप है क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे यह आत्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने लगता है, सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेवाले स्वपरभेदविज्ञानसे यह आत्मा क्रोधादिक कषायोंको विभाव और परकीय परिणाम समझकर उनका सर्वथा त्याग कर देता है और अपने निर्मल आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार आत्मामें लीन होनेसे इस आत्माको परम शांतिकी प्राप्ति होती है। इसीलिए इस सम्यग्दर्शन गुणको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसी प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानको भी परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्ज्ञानके प्रगट होनेसे यह आत्मा अपने स्वरूपका वा अपने गुणोंका चिंतवन करता है तथा समस्त बाह्य पदार्थोंको व समस्त विभाव भावोंको परकीय समझकर सर्वथा छोड देता है और फिर अत्यन्त शांत होकर अपने आत्मामें लीन हो जाता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानसे परम शांतिकी प्राप्ति होती है। इसीलिए सम्यग्ज्ञानको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। सम्यक्चारित्रके धारण करनेसे वा पंचपरमेष्ठीका ध्यान करनेसे अथवा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है, समस्त विकारोंका नाश हो जाता है और कर्मोंका नाश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त होनेपर अनंतसुख और अनंत शांति मिलती है। इस प्रकार ध्यान और तपश्चरण दोनों ही परम शांतिके कारण हैं और इसीलिए परम शांतिस्वरूप कहलाते हैं। अथवा ध्यानमें समस्त संकल्प विकल्प छूटकर यह आत्मा अपने पवित्र और शुद्ध आत्मामें लीन हो जाता है और उस समय परम शांत हो जाता है। इसलिए भी ध्यानको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। सामायिक आदि सम्यक् चारित्रको धारण करनेसे भी समस्त पापोंका त्याग हो जाता है और आत्मा परम शांत हो जाता है इसलिए ही सम्यक्चारित्र परम शांतिस्वरूप कहलाता है। इसी प्रकार आत्मजन्य परम सुख परम शांतिस्वरूप है अथवा मोक्षमें प्राप्त होनेवाला अनंतसुख परम शांतिस्वरूप है क्योंकि इन दोनों ही सुखोंमें किसी

प्रकारकी आकुलता नहीं होती। इंद्रियजन्य सुखमें सदा आकुलता बनी रहती है इसलिए इंद्रियजन्य सुख तो अशांत स्वरूप ही है, और इसीलिए आत्म-जन्य सुख निराकुल होनेके कारण सदाकाल परम शांत स्वरूप माना जाता है। इसप्रकार धर्म भी शांति स्वरूप है, तपश्चरण भी शांति-स्वरूप है, सम्यग्दर्शन भी शांति-स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान भी शांति-स्वरूप है, सम्यक्चारित्र भी शांति-स्वरूप है, ध्यान भी शांति स्वरूप है और आत्मजन्य सुख भी शांति-स्वरूप है। यह यथार्थ दृष्टिसे प्रत्येक भव्यजीवको समझ लेना चाहिए। यदि इन धर्मादिकके धारण करनेसे भी आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर उस धर्मको वा तपश्चरणादिकको व्यर्थ ही समझना चाहिए। जिसप्रकार विना जलकी वर्षाके यह संसार कभी नहीं रहता उसीप्रकार सुख और परम शांतिकी मूर्ति ऐसे आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर भी ऊपर लिखी हुई परम शांतिसे बाहर कभी नहीं जाते हैं। अर्थात् इस शांतिसिंधु महाग्रंथके रचयिता आचार्य कुंथुसागर भी ध्यान तपश्चरण करते हुए तथा रत्नत्रयका पालन करते हुए परम शांत होकर अपने आत्मामें लीन रहते हैं। इसीप्रकार समस्त भव्यजीवोंको अपने आत्मामें परम शांतता धारण करनी चाहिए। यही इस ग्रंथकी रचना करनेका तथा पठन-पाठन करनेका यथार्थ फल है।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे परमशांतिस्वरूपवर्णनो नाम पंचमोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु नामके महाग्रन्थकी 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें परम शांतिके स्वरूपका वर्णन करनेवाला यह पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ प्रशस्तिः ।

आगे आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरजी महाराज अपनी लघुता दिखलाते हुए तथा गुरुजनोंको स्मरण करते हुए अपनी प्रशस्ति लिखते हैं–

दीक्षागुरोरेव दयानिधेर्मे श्रीशांतिसिंधोश्च कृपाप्रसादात् ।
अज्ञानहर्तुः सुमतिप्रदातुः विद्यागुरोरेव सुधर्मनाम्नः ॥५२१॥
ग्रंथो हि नाम्ना वरशान्तिसिंधुरशान्तिहर्ता सुखशान्तिदाता ।
स्वजन्ममृत्योश्च तथा परेषां विनाशहेतोर्विविधव्यथानाम् ॥५२२॥
शान्त्या विना सर्वविधिर्वृथेति प्रबोधनार्थं सकलप्रजानाम् ।
श्रीकुंथुनाम्ना रचितः प्रशान्तेर्मंत्रात्मनिष्ठेन च सूरिणा हि ॥५२३॥

अर्थ–अपनी आत्मामें लीन रहनेवाले और परम शांतिके स्वामी ऐसे आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर स्वामीने अपने दीक्षागुरु दयाके निधि आचार्यवर्य श्रीशांतिसागरकी कृपासे तथा अज्ञानको हरण करनेवाले और श्रेष्ठ-बुद्धिको देनेवाले विद्यागुरु आचार्यवर्य श्रीसुधर्मसागरकी कृपाप्रसादसे इस सर्वोत्तम शांतिसिंधुग्रंथकी रचना की है। यह शांतिसिंधुग्रंथ अशांतिको दूर करनेवाला है तथा परम सुख और परम शांतिको देनेवाला है। इस संसारमें विना शांतिके व्रत विधान आदि करना सब व्यर्थ है। यह बात समस्त प्रजाको समझानेके लिए तथा अपने जन्ममरणरूप संसारका नाश करनेके लिए

और अन्य जीवोंकी अनेक प्रकारकी व्यथाओंको नाश करनेके लिए ही इस शांतिसिंधु महाग्रंथकी रचना की गई है।

काव्यं ह्यलंकारमपीह छन्दो न्यायं नयं व्याकरणं न वेद्मि।
तथापि भक्त्या भवनाशको हि ग्रंथो मयायं लिखितः पवित्रः ॥५२४॥

अर्थ—मैं न तो काव्यग्रंथोंको जानता हूं, न अलंकारशास्त्र जानता हूं, न छन्दशास्त्र जानता हूं, न न्यायशास्त्र जानता हूं, न नयोंका स्वरूप जानता हूं और न व्याकरणशास्त्रको जानता हूं। तथापि मैंने (आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरने) भक्तिके वश होकर ही यह जन्म-मरणरूप संसारको नाश करनेवाला और अत्यन्त पवित्र ऐसे इस शांतिसिंधुग्रंथकी रचना की है।

विरुद्धानुचितं किंचिद् ग्रंथेस्मिन् लिखितं यदि।
शोधयित्वा मुनीन्द्रास्ते पठन्तु पाठयन्तु वै ॥५२५॥

अर्थ—यदि मैंने किसी प्रमादके वशसे इस ग्रंथमें कुछ विरुद्ध वा अनुचित लिखा हो तो मुनिराजोंको वह शोधकर पढना चाहिए और शोधकर ही पढाना चाहिए।

अर्हन् जयतु तद्वाणी जिनधर्मश्च शर्मदः।
पूर्वाचार्यः सुधर्मो मे शान्तिसिंधुगुरुः सदा ॥५२६॥

अर्थ—इस संसारमें भगवान् अरहंतदेव सदा जयवंत रहें, उनकी वाणी सदा जयशील रहे, सब जीवोंका कल्याण करनेवाला यह जैनधर्म सदा जयशील रहे, श्रीकुंदकुंद आदि समस्त पहलेके आचार्य

सदा जयशील रहें, मेरे विद्यागुरु आचार्य सुधर्मसागर सदा जयशील रहें और मेरे दीक्षागुरु आचार्य श्रीशांतिसागर महाराज सदा जयशील रहें।

ग्रंथं ह्यमुं शांतिकरं सदैव स्मरन्ति वाञ्छन्ति पठन्ति यान्ति।
त एव योग्यं भुवि सारसौख्यं लब्ध्वा लभन्ते ह्यजरामरत्वम् ॥५२७॥

अर्थ—जो भव्यजीव परम शांति उत्पन्न करनेवाले इस महाग्रंथको सदाकाल स्मरण करते हैं सदाकाल इसका पठन-पाठन करते हैं वा इसको प्राप्त होते हैं अथवा इसके पठन-पाठनकी इच्छा करते हैं वे पुरुष इस संसारमें इन्द्र चक्रवर्ती आदिके सारभूत सुखोंको प्राप्त होकर अजरामर पदको अर्थात् मोक्षपदको प्राप्त कर लेते हैं।

सुखप्रदं वांछितदं च वस्तु धर्मानुकूलं च कुटुम्बवर्गम्।
बोधिं समाधिं परिणामशुद्धिं स्वराज्यलक्ष्मीं विदधातु देवः ॥५२८॥

अर्थ—वे भगवान् अरहंतदेव सुखदेनवाले इच्छानुसार पदार्थोंको प्रदान करें, धर्मके अनुकूल कुटुम्बको प्रदान करें, सम्यग्ज्ञान प्रदान करें, समाधिमरण प्रदान करें, परिणामोंकी शुद्धता प्रदान करें और मोक्षरूप स्वराज्यलक्ष्मी प्रदान करें।

समाप्तोऽयं ग्रंथः

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला

उद्देश—परमपूज्य आचार्यश्रीके द्वारा रचित ग्रन्थोंका प्रकाशन व प्रचार करना व अनुकूलताके अनुसार इतर प्राचीन जैनग्रथोंका उद्धार तथा प्रकाशन करना है।

सामान्य नियम

१ इस ग्रन्थमालाको जो सज्जन अधिकसे अधिक सहायता देना चाहेंगे वह सहर्ष स्वीकार की जायगी।

२ जो सज्जन १०१) से अधिक देकर इस ग्रन्थमालाके स्थायी सभासद बनेंगे उनको ग्रन्थमालासे प्रकाशित सर्व ग्रन्थ पोस्टेज खर्च लेकर विना मूल्य दिए जायेंगे।

३ जो सज्जन ५१) या अधिक देकर हितचिन्तक बनेंगे उनको पोस्टेज व अर्ध मूल्य लेकर प्रकाशित ग्रन्थ दिये जायेंगे।

४ जो सज्जन २५) या अधिक देकर सहायक बनेंगे उनको पोस्टेज व लागत मूल्य लेकर प्रकाशित ग्रन्थ दिए जायेंगे।

५ अन्य सज्जनोंको निश्चित मूल्यसे दिये जायेंगे।

६ ग्रन्थके मूल्यसे आई हुई रकमका उपयोग ग्रन्थमालाके द्वारा प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंके उद्धारमें ही होगा।

७ ध्रुवनिधिकी व्यवस्था होनेके बाद सुयोग्य सज्जनोंके तत्त्वावधानमें इसका ट्रस्ट कराया जायगा।

सहायता भेजनेका पता :—

सेठ गोविन्दजी रावजी दोशी

ठि० रावजी सखाराम दोशी, मंगलवार पेठ सोलापुर

ग्रन्थमाला सम्बन्धी सर्व प्रकारका पत्र व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करें

वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

मंत्री—आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर,

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालासे

प्रकाशित ग्रन्थ।

१ चतुर्विंशतिजिनस्तुति
२ शांतिसागरचरित्र
३ बोधामृतसार
४ निजात्मशुद्धिभावना
५ निजात्मशुद्धिभावना (गुजराती)
६ मोक्षमार्गप्रदीप
७ ज्ञानामृतसार
८ लघुबोधामृतसार (गुजराती)
९ लघुबोधामृतसार (हिंदी)
१० लघुबोधामृतसार (कानडी)
११ लघुबोधामृतसार (मराठी)
१२ स्वरूपदर्शनसूर्य
१३ नरेशधर्मदर्पण
१४ लघुप्रतिक्रमण
१५ लघुज्ञानामृतसार (गुजराती)
१६ लघुज्ञानामृतसार (हिन्दी)
१७ लघुज्ञानामृतसार (कानडी)
१८ लघुज्ञानामृतसार (मराठी)
१९ सुधर्मोपदेशामृतसार
२० सुधर्मोपदेशामृतसार (मराठी)
२१ श्रावकप्रतिक्रमणसार
२२ शांतिसुधासिन्धुः
२३ आचार्यकुंथुसागरपूजा
२४ स्वानन्दसाम्राज्यपदप्रदर्शी
२५ नरेशधर्मदर्पण (षड्भाषात्मक)
२६ लघुसुधर्मोपदेशामृतसार
२७ मोक्षमार्गप्रदीप (गुजराती)
२८ मोक्षमार्गप्रदीप (कानडी)
२९ स्वरूपदर्शनसूर्य (षड्भाषात्मक)

जिनको इन ग्रन्थोंकी स्वाध्याय करनेकी इच्छा हो वे श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमलाको सदस्य बनें।

व्यवस्थापक—

श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला

अर्थ—जिनके हृदयमें अहंकाररूपी शत्रु विद्यमान है और जिनके हृदयमें दुःख देनेवाला ममकार वा मोह विद्यमान है उन्हीं लोगोंको मनुष्योंका समुदाय और मनुष्योंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं यह भी एक संसारमें विचित्र बात है। परंतु जिनके हृदयमें न तो अहंकार है और न संसारको बढाने वाला ममकार वा मोह है ऐसे पुरुषोंको न तो जीवोंका समुदाय अच्छा लगता है और न जीवोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं। उनको तो केवल अपना आत्मा और अपने आत्माके प्रदेश वा आत्माके गुण ही अच्छे लगते हैं आत्माके सिवाय उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ—परपदार्थोंसे मोह करना अहंकार वा ममकारका कार्य है। जिन लोगोंके मनमें अहंकार और ममकार है वे ही पुरुष परपदार्थोंसे मोह करते हैं। ऐसे लोगोंको पुत्र मित्र स्त्री माता पिता आदि कुटुंबी लोग अच्छे लगते हैं, धन धान्य आदि बाह्य विभूति अच्छी लगती है और अपने तथा कुटुंबी लोगोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं, अहंकार और ममकार होनेके कारण वे पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाते हैं इसीलिए वे अपने मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगा सकते। मोहनीय कर्मका उदय उनके मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगने देता। परंतु जो पुरुष उस मोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं वे उस सम्यग्दर्शनरूप अमूर्त्त प्रकाशके कारण अपने आत्माके स्वरूपको पहिचानने लगते हैं और फिर उसीको अपना निधि मानकर उसकी रक्षा करनेमें तत्पर हो जाते हैं। फिर उस निधिके सामने उन्हें बाह्य समस्त विभूति तुच्छ और दुःख देनेवाली जान पडती है। इसलिए वे उसका भी त्याग कर देते हैं और अपने आत्मामें लीन होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। अतएव भव्य-जीवोंको अहंकार और ममकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा आत्माके स्वरूपको समझाकर उसका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कस्य बाह्यरसे प्रीतिर्मोहमायापरे वद ?

अर्थ-जिनके हृदयमें अहंकाररूपी शत्रु विद्यमान है और जिनके हृदयमें दुःख देनेवाला ममकार वा मोह विद्यमान है उन्हीं लोगोंको मनुष्योंका समुदाय और मनुष्योंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं यह भी एक संसारमें विचित्र बात है। परंतु जिनके हृदयमें न तो अहंकार है और न संसारको बढाने वाला ममकार वा मोह है ऐसे पुरुषोंको न तो जीवोंका समुदाय अच्छा लगता है और न जीवोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं। उनको तो केवल अपना आत्मा और अपने आत्माके प्रदेश वा आत्माके गुण ही अच्छे लगते हैं आत्माके सिवाय उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ—परपदार्थोंसे मोह करना अहंकार वा ममकारका कार्य है। जिन लोगोंके मनमें अहंकार और ममकार है वे ही पुरुष परपदार्थोंसे मोह करते हैं। ऐसे लोगोंको पुत्र मित्र स्त्री माता पिता आदि कुटुंबी लोग अच्छे लगते हैं, धन धान्य आदि बाह्य विभूति अच्छी लगती है और अपने तथा कुटुंबी लोगोंके रहनेके स्थान अच्छे लगते हैं, अहंकार और ममकार होनेके कारण वे पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाते हैं इसीलिए वे अपने मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगा सकते। मोहनीय कर्मका उदय उनके मनको आत्माके स्वरूपमें नहीं लगने देता। परंतु जो पुरुष उस मोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं वे उस सम्यग्दर्शनरूप अमूर्त्त प्रकाशके कारण अपने आत्माके स्वरूपको पहिचानने लगते हैं और फिर उसीको अपना निधि मानकर उसकी रक्षा करनेमें तत्पर हो जाते हैं। फिर उस निधिके सामने उन्हें बाह्य समस्त विभूति तुच्छ और दुःख देनेवाली जान पडती है। इसलिए वे उसका भी त्याग कर देते हैं और अपने आत्मामें लीन होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। अतएव भव्य-जीवोंको अहंकार और ममकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा आत्माके स्वरूपको समझाकर उसका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कस्य बाह्यरसे प्रीतिर्मोहमायापरे वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि कौन पुरुष बाह्यरसमें प्रेम करता है और कौन पुरुष परपदार्थोंमें मोह वा माया करता है ।

उत्तर—यावन्निजानन्दरसोतिमिष्टो न पीयते जन्मजराहरश्च ।
न त्यज्यते बाह्यरसाभिलाषा समस्तसंतापविकारदात्री ॥१९१॥
न ज्ञायते स्वात्मनिवासभूमिरन्विष्यते बाह्यमहीति तावत् ।
निजान्यभेदः क्रियते न यावत् तावत्परे स्यात् खलु मोहमाया ॥१९२॥
ज्ञात्वेति तत्त्यागविधेर्विधानं कार्यं यतः स्यात्स्वपदे निवासः ।
प्रीतिः सदा स्यात्स्वरसे सुमिष्टे दुःखप्रदे स्यान्न परे प्रमोहः ॥१९३॥

अर्थ—यह मनुष्य जब तक जन्म मरण और बुढापेको दूर करनेवाला तथा अत्यन्त मिष्ट ऐसे आत्मजन्य आनंदरसका पान नहीं करता है, जब तक समस्त संताप और विकारोंको उत्पन्न करनेवाली इंद्रियजन्य बाह्यरसकी अभिलाषाका त्याग नहीं करता है और जब तक अपने आत्माके निवासस्थान मोक्षको नहीं पहिचानता है तब तक ही यह जीव बाह्य भूमिकी तलाश करता रहता है। इसी प्रकार जब तक यह मनुष्य स्वपरभेदविज्ञान प्रगट नहीं कर लेता अर्थात् आत्मा और परपदार्थोंके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक ही यह जीव परपदार्थोंमें मोह और माया वा ममकार करता रहता है। यही समझकर बाह्यरसकी अभिलाषाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए जिससे कि यह जीव अपने आत्मपदमें निवास करने लग जाय, अत्यन्त सुमधुर ऐसे आत्मरसमें प्रेम उत्पन्न हो जाय और महा दुःख देनेवाले परपदार्थोंमें कभी मोह उत्पन्न न हो ।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य विषयोंकी अभिलाषाको बाह्यरसकी अभिलाषा कहते हैं। यह विषयोंकी

अभिलाषा मोहनीयकर्मके उदयसे होती है और नरकनिगोदादिकके महा दुःख देनेवाली है। जब तक मोहनीयकर्मका उदय रहता है तब तक यह जीव अपने आत्माके स्वरूपको नहीं पहिचान सकता और जब तक आत्माके स्वरूपको नहीं पहचानता है तब तक विषयोंकी अभिलाषाका त्याग नहीं कर सकता तथा जब तक विषयोंकी अभिलाषाका त्याग नहीं करता तब तक आत्मजन्य महामिष्ट अनंत सुखरूपी रसका पान नहीं कर सकता और जब तक अपने आत्मरसका पान नहीं करता तब तक अपने मोक्षरूप निवासस्थानमें नहीं पहुंच सकता। अतएव मोक्षरूप निवासस्थानको प्राप्त करनेके लिए सबसे पहले मोहनीयकर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिए जिससे कि विषयोंकी अभिलाषाका त्याग हो जाय और यह आत्मा मोह मायाका त्याग कर आत्मामें लीन हो जाय और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर ले।

प्रश्न—प्रतिक्रमणकर्तापि विषकुम्भः प्रपूर्यते।
अप्रतिक्रमणकर्ताऽमृतकुम्भः कथं वद॥

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि प्रतिक्रमण करनेवाला पुरुष किस प्रकार अपने विषके घडेको भर लेता है और प्रतिक्रमण न करनेवाला भी अमृतके घडेको किस प्रकार भर लेता है?

भावार्थ—प्रतिक्रमण करनेवाला अशुभ कर्मोंका बंध किस प्रकार कर लेता है और प्रतिक्रमण न करनेवाला शुभकर्मोंका बंध किस प्रकार कर लेता है?

उत्तर—प्रतिक्रमणकं कुर्वन् मिथ्यात्वेन भ्रमेच्चिरम्।
प्रतिक्रमणहीनोपि सम्यक्त्वेन व्रजेच्छिवम्॥१९४॥

नाप्रतिक्रमणं कार्यं निंद्यं स्वप्नेपि धीमता ।
प्रतिक्रमणयोगोपि किंचित्स्यात्पुण्यदर्शकः ॥१९५॥
क्रियतेऽशुभनाशाय शुभाप्त्यै व्यवहारतः ।
निश्चयाच्छुद्धसिद्ध्यै च मोक्षार्थाय निरंतरम् ॥१९६॥
स्वभावे भूयते स्वस्थो रागद्वेषादिदूरगे ।
यतः स्यात्स्वात्मसाम्राज्यं निजाधीनं निरंतरम् ॥१९७॥

अर्थ—इस संसारमें प्रतिक्रमण करता हुआ भी यह जीव मिथ्यात्वकर्मके तीव्र उदयसे चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। तथा प्रतिक्रमण न करनेवाला मनुष्य भी सम्यग्दर्शनके निमित्तसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषोंको स्वप्नमें भी निंदनीय प्रतिक्रमणका अभाव कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रतिक्रमण करनेसे कुछ भी पुण्यकर्मका बंध अवश्य होता है। यह प्रतिक्रमण व्यवहारिक दृष्टिसे अशुभ कर्मोंको नाश करनेके लिए और शुभ कर्मोंका सञ्चय करनेके लिए किया जाता है और निश्चयनयसे आत्माको शुद्ध बनानेके लिए और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए निरन्तर किया जाता है। प्रतिक्रमण करनेसे यह आत्मा राग द्वेषसे रहित होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें लीन हो जाता है और शुद्ध स्वभावमें लीन होनसे निरन्तर अपने आत्माके आधीन रहनेवाला शुद्धात्म साम्राज्य प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—पापोंको दूर करनेके लिए वा पाप शान्त करनेके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है, परंतु वह प्रतिक्रमण आत्मज्ञानके साथ होता है। प्रतिक्रमणमें पापोंकी आलोचना की जाती है तथा आगामी कालमें ऐसे पाप न हों ऐसी भावना की जाती है। यदि प्रतिक्रमण करनेवालेको आत्मज्ञान न हो अथवा

सम्यग्दर्शन न हो तो वह पापोंकी आलोचना भी मिथ्या हो जाती है और पाप न करनेकी भावना भी मिथ्य ।हो जाती है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेसे वह मनुष्य फिर भी पाप कर्मोंको करता ही रहता है। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करता हुआ भी पापोंका सञ्चय करता रहता है और संसारमें परिभ्रमण किया करता है इसलिए सम्यग्दर्शनके होनेपर जो प्रतिक्रमण किया जाता है वही प्रतिक्रमण पापोंको नाश कर सकता है और पुण्यका सञ्चय कर सकता है। सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जब पूर्ण चारित्र धारण कर लिया जाता है तब निश्चय प्रतिक्रमण करनेका उद्योग किया जाता है। उस निश्च प्रतिक्रमणसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त होती है, राग द्वेष सब दूर हो जाते हैं और यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें लीन और स्थिर हो जाता है। तदनन्तर समस्त कर्मोंको नष्ट कर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है और सदाकालके लिए अजर-अमरपद प्राप्त कर अनन्त सुखका स्वामी बन जाता है इसलिए सम्यग्दर्शनके साथ ही प्रतिक्रमण करना सार्थक है। विना सम्यग्दर्शनके प्रतिक्रमण करना निरर्थक है।

प्रश्न—केन कृत्येन सिद्धिः स्यान्नवा केन प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि किन-किन कामोंके करनेसे आत्माकी सिद्धि हो जाती है और किन-किन कामोंके करनेसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर—नाक्षाणि निंद्यानि रुणद्धि यावत् लोके कषायान्न जयेत्प्रदुष्टान् ।
त्यजेत्तथा न प्रमदाप्रसंगं संसारमूलां वहिरात्मबुद्धिम् ॥१९८॥
सुदेवशास्त्रादिगुरोश्च यावदनन्यभक्त्या भवरोगहर्तुः ।
श्रद्धां न कुर्याद्विनयोपचारं तावद् भवेन्नैव तवेष्टसिद्धिः॥१९९॥

अर्थ—इस संसारमें यह मनुष्य जब तक निंद्यनीय इन्द्रियोंके विषयोंको नहीं रोकता है जब तक

दुष्ट कषायोंको नहीं जीतता है, जब तक स्त्रियोंके संसर्गका त्याग नहीं करता है और जब तक जन्म-मरणरूप संसारकी मूल कारण ऐसी बहिरात्म बुद्धिका त्याग नहीं करता है तथा जब तक अनन्य भक्ति पूर्वक जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा नहीं करता है जब तक उनका विनय नहीं करता है और जब तक देव शास्त्र गुरुकी पूजा भक्ति नहीं करता है तब तक इस जीवको इष्ट सिद्धिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

भावार्थ—इस संसारमें पांचों इंद्रियोंके विषयोंके सेवन करनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती, कषायोंको धारण करनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती, स्त्रियोंका संसर्ग रखनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती और बहिरात्म बुद्धिको धारण करनेसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती। इसका भी कारण यह है कि इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा और कषायोंका होना मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे होता है तथा बहिरात्म बुद्धिका होना भी मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे होता है। जो बुद्धि आत्मरूप नहीं होती आत्मासे भिन्न शरीरादिक पदार्थोंमें ही आत्मारूप बुद्धि हो जाती है उसको बहिरात्म बुद्धि कहते हैं। बहिरात्म बुद्धिक होनेसे ही यह आत्मा शरीरको ही आत्मा मान लेता है अथवा शरीर और आत्माको एक ही समझ लेता है इसीलिए शरीरसे ममत्व करने लगता है तथा धन धान्यादिक अन्य पदार्थोंसे भी ममत्व वा मोह करने लगता है। इन सबसे मोह करनेके कारण वह महा पाप उत्पन्न करने लगता है और अनन्तकाल तक संसारमें परिभ्रमण करने लगता है। यही कारण है कि ऐसे आत्माको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जब यह आत्मा अपने मोहनीयकर्मको नष्ट कर देता है और बहिरात्म बुद्धिका त्याग कर विषय कषायोंका त्याग कर देता है तथा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ स्वरूप समझकर उनका श्रद्धान करने लगता है तथा उनकी पुजा भक्ति करने लगता है और इस प्रकार अपने आत्माको निर्मल बनाकर रत्नत्रयकी वृद्धि करनेमें लग जाता है तथा तपश्चरण और ध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी पूर्णता प्राप्त कर

लेता है तभी इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। फिर यह जीव सदाकालके लिए अनन्त सुखी हो जाता है। इसीको इष्ट सिद्धि कहते हैं।

प्रश्न—निन्दास्तुतिकृते कस्मिन्नपि साधुः करोति किम् ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि यदि कोई पुरुष किसी साधुकी निंदा करे अथवा स्तुति करे तो वे साधु निंदा करने पर क्या करते हैं और स्तुति करने पर क्या करते हैं ?

उत्तर—कश्चित्प्रमूढो गुणदोषशून्यः स्वात्माश्रितान् वाखिलसंगदूरान् ।
दृष्ट्वा सुसाधून् खलु निर्दयेन हन्ति प्रदुष्टं वचनं ब्रवीति ॥२००॥
रुषत्यबोधादिति निन्दतीह स्तवीति कश्चिन्नमति प्रवीणः ।
सेवादिभक्तिं च करोति कांचित् तथापि सन्तो न चलन्ति धर्मात् ॥
यादृक् मतिर्यस्य भवेद्धि जन्तोस्तादृक् क्रियां स सुखदुःखदात्रीम् ।
करोति बुद्ध्वेति निजात्मदेशे त्यक्त्वा कषायं भवतु प्रमग्नः ॥२०२॥

अर्थ—गुण और दोषोंको न जाननेवाला कोई मूर्ख मनुष्य केवल अपने आत्माके आश्रय रहनेवाले और समस्त परिग्रहोंसे रहित ऐसे साधुओंको देखकर उन्हें निर्दयताके साथ मारते हैं, उनसे दुष्ट वचन कहते हैं, उनपर क्रोध करते हैं और अपनी अज्ञानताके कारण उनकी निंदा करते हैं तथा गुण दोषोंके जानकार कोई-कोई चतुर मनुष्य उन साधुओंकी स्तुति करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं, उनकी सेवा करते हैं और भक्ति करते हैं। परन्तु दोनों ही अवस्थामें वे साधु अपने धर्मसे कभी चलायमान नहीं होते। वे साधु ज्योंके त्यों निश्चल बने रहते हैं। इस संसारमें जिस जीवकी जैसी बुद्धि होती है वह पुरुष वैसी ही सुख दुःख देनेवाली क्रियाएं करता रहता है। जिसकी अच्छी बुद्धि होती है वह

अच्छी सुख देनेवाली क्रियाएं करता रहता है और जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं होती वह दुःख देनेवाली अशुभ क्रियाएं करता रहता है । यही समझ कर भव्य जीवोंको कषायोंका त्याग कर देना चाहिए और अपने आत्माके प्रदेशोंमें निमग्न हो जाना चाहिए ।

भावार्थ—मुनि लोग किसीसे कुछ नहीं चाहते, वे समस्त कषायोंसे रहित समस्त लालसाओंसे रहित और समस्त परिग्रहोंसे रहित होते हैं । वे साधु सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहते हैं और सदाकाल जीवोंके कल्याणका चिंतवन करते रहते हैं । वे स्वयं मोक्षमार्गमें लगे रहते हैं और अन्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाते रहते हैं । ऐसे साधुओंको भी बहुतसे निर्दयी मूर्ख लोग बुरे वचन कहते हैं, कोई-कोई अज्ञानी उन्हें मारते हैं, कोई उनकी निंदा करते हैं और कोई उनपर क्रोध करते हैं । ऐसी अवस्थामें भी वे साधु न तो क्रोध करते हैं न दुःखी होते हैं और न अपने ध्यानसे चलायमान होते हैं । वे तो अपने आत्मामें लीन ही बने रहते हैं । यदि उनका वह उपसर्ग दूर हो जाता है तो वे उसको शुभाशीर्वाद देकर उसको मोक्षमार्गमें ही लगाते हैं । इसी प्रकार यदि कोई चतुर मनुष्य उनको नमस्कार करता है, वा उनकी स्तुति करता है, वा सेवा भक्ति करता है तो भी वे प्रसन्न नहीं होते उस समय भी वे अपने आत्मामें लीन बने रहते हैं । इस प्रकार वे साधु निंदा करनेवाले और स्तुति करनेवाले दोनोंको समान दृष्टिसे देखते हैं । यह उन साधुओंका समता गुण सर्वोत्कृष्ट माना जाता है । ऐसे ही साधु इस संसारमें धन्य गिने जाते हैं और अपने आत्माका यथार्थ कल्याण कर लेते हैं । परंतु जिस प्रकार शुद्ध दर्पणमें कोई सुंदर मनुष्य देखता है तो उसको उस दर्पणमें सुन्दरता दिखलाई पडती है और यदि कोई कुरूप देखता है तो उसको कुरूपता दिखाई पडती है, यह स्वभाव ही ऐसा है । इसी प्रकार जो मनुष्य उन साधुओंकी निंदा करता है वा उनको दुःख देता है वह नरक निगोदका पात्र होता है और जो उनकी स्तुति वा सेवा भक्ति करता है वह स्वर्गका पात्र होता है । यद्यपि दोनोंके लिए वे

मुनिराज समान दृष्टि रखते हैं तथापि निंदा करनेवाला पाप कर्मोंका बंध कर नरकादिकके दुःख भोगता है और स्तुति करनेवाला पुण्य कर्मोंका बंध कर स्वर्गादिकके सुन्दर सुख भोगता है। यह उनकी बुद्धिका फल है। अच्छी बुद्धि अच्छे कार्योंमें लगती है और बुरी बुद्धि पाप कर्मोंमें लगती है। यही समझ कर बुद्धिमानोंको कषायोंका त्याग कर देना चाहिए और अपने आत्मामें लीन होकर आत्माको निर्मल बना लेना चाहिए। ऐसा करनेसे बुद्धि निर्मल हो जाती है और फिर वह मोक्षमार्ग में लग कर इस आत्माको अनन्त सुख प्राप्त करा देती है। ऐसा आचार्यवर्य कुंथुसागरका उपदेश है।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे जिनागमरहस्यवर्णनो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु ग्रन्थमें 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें जिनागमके रहस्यको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

वस्तुस्वरूप वर्णन।

प्रश्न—वद रक्षकतुल्यत्वाच्चौरोस्ति को नृपः प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि चोर और राजा दोनोंके साथ रक्षक लोग चलते हैं फिर भला राजा और चोरमें क्या अन्तर है ?

उत्तर–राज्ञः समन्तादपि भृत्यवर्गः, चलत्यहो चौरसमन्ततश्च ।
कोऽस्त्यावयोर्मे वद देव भेदो, राजा यतोयं क्रियते हि चौरः ॥२०३॥
येनैव मार्गेण नृपश्च गन्तुं, वांच्छेद्यदा गच्छति तेन भृत्यः ।
वांच्छेच्च भृत्यः खलु येन नेतुं, चौरस्तदा गच्छति तेन मौनात ॥२०४॥
अक्षाणि यैः स्वात्मवशीकृतानि, यथेति चाक्षाणि वशं भवन्ति ।
अक्षाश्रितो यश्च भवेत्प्रमूढो, नयन्ति चाक्षाण्यपि यत्र तत्र ॥२०५॥

अर्थ—देखो जिस समय राजा चलता है उस समय उसके बहुतसे रक्षक वा नौकर-चाकर उसके चारों ओर चलते हैं। इसी प्रकार किसी पकडे हुए चोरके चारों ओर भी रक्षक लोग चलते हैं। हे देव! फिर इन दोनोंमें क्या भेद है जिससे कि यह राजा है और यह चोर है इस प्रकार मालूम हो। इसका सीधासा उत्तर यह है कि राजा जिस मार्गसे जानेकी इच्छा करता है, रक्षकोंको उसी मार्गसे उसके साथ चलना पडता है, परन्तु चोरके साथ यह बात नहीं होती। चोरको उसी मार्गसे चलना पडता है जिस मार्गसे कि रक्षक लोग उसे ले जाते हैं। जिस मार्गसे रक्षक लोग उस चोरको ले जाना चाहते हैं उसी मार्गसे वह चोर चुपचाप उनके साथ चला जाता है। ठीक इसी प्रकार जिन महा पुरुषोंने इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया है वे इन्द्रियां फिर उन्हीं महा पुरुषोंके वशमें रहती हैं उन्हींकी इच्छानुसार चलती हैं, परन्तु जो मूर्ख उन इन्द्रियोंके आधीन रहते हैं उनको वे इन्द्रियां यहां वहां चाहे जहां पटक देती हैं।

भावार्थ—यद्यपि राजा और चोर दोनोंके चारों ओर रक्षक लोग चलते हैं तथापि राजा और चोरमें स्वाधीन और पराधीनका अन्तर है। राजा स्वाधीन है वह अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जा सकता है

चाहे जहां ठहर सकता है और चाहे जो कर सकता है। उसको कोई रक्षक रोकनेवाला नहीं है। रक्षक लोगोंको तो सवत्र राजाकी आज्ञा माननी पडती है। जहां राजा जाता है वहां जाना पडता है और राजा जहां ठहरता है वहां ठहरना पडता है। राजा सब तरह स्वतंत्र है और रक्षक लोग उसके आधीन हैं, परन्तु चोरके लिए यह बात नहीं है। चोर पराधीन है। उसको रक्षकोंके साथ चुपचाप जाना पडता है, जहां रक्षक ले जायँगे वहीं उसे जाना पडेगा और रक्षक जहां ठहरेंगे वहां उसे ठहरना पडेगा। इस प्रकार राजा और चोरमें स्वाधीन और पराधीनताका भेद है। इसी प्रकार जो महा पुरुष इन्द्रियोंके आधीन नहीं होते इन्द्रियोंको अपनी आज्ञामें रखते हैं, ऐसे महा पुरुष राजाके समान स्वतंत्र स्वाधीन कहलाते हैं और इन्द्रियां उनके सेवकके समान उनके आधीन रहती हैं, परन्तु जो लोग इन्द्रियोंके आधीन रहते हैं, इन्द्रियोंको अपने आधीन नहीं कर सकते, इन्द्रियोंका निग्रह नहीं कर सकते वे पुरुष चोरके समान परतंत्र वा पराधीन कहलाते हैं तथा जिस प्रकार रक्षक लोग चोरको ले जाकर वन्दीगृहमें रखते हैं उसी प्रकार वे इन्द्रियां भी उस पराधीन मनुष्यको नरक वा निगोदमें ले जा कर पटक देती हैं। अतएव जो लोग राजाके समान स्वाधीन रहना चाहते हैं चोरके समान पराधीन नहीं रहना चाहते उनको अपनी इन्द्रियां अपने वशमें कर लेनी चाहिए। अर्थात् उन्हें इंद्रियोंका निग्रह कर लेना चाहिए। इंद्रियोंका निग्रह कर लेनेसे यह जीव मोह और कषायोंका त्याग कर देता है और अपने आत्माको निर्मल वा शुद्ध बनाकर सदाके लिए अनंतसुखी हो जाता है।

प्रश्न—सज्जनानां खलानां च स्वरूपं वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर सज्जन और दुर्जनोंका स्वरूप निरूपण कीजिये?

उत्तर—निःस्वार्थबुद्ध्या यतते परार्थं स एव धीमान् भुवि भाग्यशाली।
स्वार्थाविरोधैर्यतते परार्थं सामान्य एवास्ति सतां विचारे ॥२०६॥

स्वार्थाभिवृद्ध्यै च परान् प्रहन्ति पशुर्नृशंसोस्ति स एव धूर्तः ।
निष्कारणेनैव हिनस्ति चान्यान् वक्तुं वचो नास्ति स कीदृशः कौ ।

अर्थ—जो पुरुष अपने बिना किसी स्वार्थके दूसरोंका कल्याण करते हैं वे पुरुष इस संसारमें बुद्धिमान और भाग्यशाली माने जाते हैं तथा जो पुरुष अपने स्वार्थका विरोध न करते हुए दूसरोंका कल्याण किया करते हैं वे पुरुष सज्जनोंके विचारमें सामान्य पुरुष कहलाते हैं और जो मनुष्य अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए वा स्वार्थ बढानेके लिए दूसरोंकी हिंसा तक कर देते हैं वे मनुष्य इस संसारमें पशु, धूर्त और नृशंस वा मनुष्य घातक कहलाते हैं। परन्तु जो मनुष्य बिना किसी कारणके दूसरोंकी हिंसा कर देते हैं ऐसे मनुष्य कैसे हैं इस बातको कहनेके लिए इस संसारमें कोई वचन भी नहीं हैं।

भावार्थ—दूसरोंका उपकार करना दूसरोंके आत्माका कल्याण करना, उनके पापोंका त्याग कराना धर्मोपदेश देना, धर्म धारण कराना और उनके धर्मकी रक्षा करना परोपकार कहलाता है। इस परोपकारको बहुतसे महात्मा अपने बिना किसी स्वार्थके सदाकाल करते रहते हैं। ऐसे पुरुष इस संसारमें सर्वोत्तम सज्जन कहलाते हैं। उन्हींको लोग भाग्यशाली कहते हैं और बुद्धिमान कहते हैं। जो पुरुष अपने स्वार्थका घात भी नहीं करते अर्थात् अपना स्वार्थ वा अपने आत्माका कल्याण भी करते जाते हैं और दूसरोंके आत्माका भी कल्याण करते जाते हैं। ऐसे पुरुष मध्यम पुरुष कहलाते हैं, परंतु जो लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए दूसरोंका घात कर डालते हैं ऐसे धूर्त पशुओंको मनुष्य घातक अत्यंत निकृष्ट और महा हिंसक कहते हैं। इनके सिवाय एक प्रकारके मनुष्य और हैं जो बिना ही कारण दूसरे जीवोंका घात किया करते हैं, शिकार खेला करते हैं वा अनंत जीवोंका घात करनेवाले आविष्कार निकाला करते हैं वा ऐसे अस्त्र-शस्त्र बनाया करते हैं वा और भी ऐसे कार्य किया करते हैं

ऐसे लोगोंका नाम तक रखनेके लिए इस संसारमें कोई शब्द नहीं हैं। ऐसे मनुष्य इस संसारमें सबसे निकृष्ट और महा पापी समझे जाते हैं।

प्रश्न–यस्य स्वात्मरसास्वादः स्यात्तस्यान्यरुचिर्न वा ?

अर्थ–हे भगवन्! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जो महा पुरुष अपने आत्माके अनन्त सुखरूप रसका आस्वादन करते रहते हैं उनकी रुचि किसी अन्य पदार्थके आस्वादन करनेमें वा अन्य किसी कार्यके करनेमें होती है वा नहीं ?

उत्तर–स्वानंदपूरश्च गतान्तरायश्चिदात्मके स्वात्मनि शुद्धबुद्धे।
सदा समन्ताद् वहतीह यस्य तस्यात्मतुष्टस्य निजाश्रितस्य॥२०८॥
सम्पूर्णविश्वं तृणवद् विभाति स्याल्लोकवार्ता विफला ह्यलोक्या।
कचिद् वसेत्कार्यवशान्नृसंगे तथापि तत्रात्मरुचिर्न दृष्टा॥२०९॥

अर्थ—जिस महापुरुषके शुद्ध बुद्ध और चैतन्यस्वरूप आत्मामें विना किसी अंतरायके अपने आत्मजन्य आनंदका पूर सदाकाल चारों ओरसे बहता रहता है उस अपने आत्मामें संतुष्ट रहनेवाले और अपने आत्माके आधीन रहनेवाले पुरुषको यह समस्त संसार तृणके समान मालूम पडता है और उसको सांसारिक समस्त कार्य निष्फल और कभी न देखने योग्य मालूम होते हैं। कदाचित् वह मनुष्य किसी कार्यके निमित्तसे मनुष्योंके संसर्गमें भी रहे तथापि उसकी रुचि उन मनुष्योंके संसर्गमें कभी दिखाई नहीं पडती।

भावार्थ–जो पुरुष अपने आत्मजन्य अनंतसुखरूप रसका आस्वादन करता रहता है उसको फिर सांसारिक कोई भी कार्य अच्छा नहीं लगता। फिर उसे न तो इंद्रियोंके विषय अच्छे लगते हैं, न

मनुष्योंका संसर्ग अच्छा लगता है, न कुटुंबी लोग अच्छे लगते हैं और न वस्त्र आभूषण आदि अच्छे लगते हैं फिर तो वह सदाकाल आत्मामें ही लीन रहनेका प्रयत्न करता है। इसके लिए वह एकांत स्थानमें रहता है, मुनि आवासमें रहता है, ध्यान अध्ययनमें लगा रहता है, तपश्चरण करनेमें लगा रहता है, बारह भावनाओंके चिंतवन करनेमें लगा रहता है, दश धर्मोंके चिंतवनमें लगा रहता है और गुप्ति समितियोंके पालन करनेमें लगा रहता है। इस प्रकार आत्मामें लीन रहनेके कारण उसका मोह सब छूट जाता है, वह समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है और सदाकाल मोक्ष प्राप्त करनेके उपायमें लगा रहता है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—धर्मस्य शरणं याति किं किं स लभते वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जो मनुष्य सदाकाल धर्मको ही शरण मानता है, धर्मकी ही शरणमें रहता है उसको किस-किस पदार्थकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर—अत्यंतदुष्टं प्रबलप्रमोहं त्यक्त्वा प्रमादं भवबंधबीजम् ।
व्याध्यादिहर्तुः सुखशान्तिदातुर्यः कोपि धीमान् स्वगृहप्रणेतुः ॥२१०॥
धर्मस्य भक्त्या शरणं प्रयाति स एव लोके सदसद्विचारी ।
सुतत्त्ववेदी खलु विश्वनेता स्वधर्मधारी परधर्महारी ॥२११॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष अत्यंत दुष्ट ऐसे प्रबल मोहका त्याग कर देता है और संसारके कारणभूत प्रमादका सर्वथा त्याग कर देता है तथा समस्त व्याधियोंको दूर करनेवाले, सुख और शान्तिको देनेवाले और इस आत्माके मोक्षरूप घरको बना देनेवाले धर्मकी भक्तिपूर्वक शरण लेता है वही पुरुष इस संसारमें सत् और असत्का विचार करनेवाला कहलाता है, आत्मा आदि श्रेष्ठ तत्त्वोंका जानकार कह

लाता है, समस्त संसारका नेता कहलाता है, अपने आत्माके स्वभावरूप धर्मको धारण करनेवाला कहलाता है और परधर्म अर्थात् विभावभावोंका हरण करनेवाला कहलाता है।

भावार्थ–इस संसारमें ज्ञान वैराग्य आदि आत्माके गुणोंको ढक देनेवाला तीव्र कर्मोंका बंध करनेवाला मोह है। जो पुरुष इस बातको जानता है वह इस मोहका त्याग कर आत्माके गुण प्राप्त कर सकता है। परन्तु प्रमाद इस आत्माको ऐसा नहीं करने देता। वह प्रमाद इस आत्माको अपना कल्याण करनेसे रोक देता है। इसलिए जिस प्रकार मोह आत्माके गुणोंको प्रगट नहीं होने देता, उसी प्रकार प्रमाद भी आत्माके गुणोंको प्रगट नहीं होने देता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आत्माके गुण प्रगट होनेमें मोह और प्रमाद ये दो ही मुख्य कारण हैं अतएव जो भव्यजीव सबसे पहले मोह और प्रमादका त्याग कर देता है और आत्माके स्वभाव रूप धर्मको धारण कर लेता है उस पुरुषको आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति होनेसे मोक्षरूप सुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार धर्म धारण करनेसे भले बुरेका विचार उत्पन्न हो जाता है। भले बुरेका विचार उत्पन्न होनेसे यह आत्मा आत्माको दुःख पहुंचानेवाले इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर देता है, कषायोंका त्याग कर देता है और ध्यान वा तपश्चरणेक द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष सुख प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह धर्मको शरण माननेसे संसारभरका नेता सबके द्वारा पूज्य और मुनियों तकके लिए ध्यान करने योग्य ध्येय बन जाता है। अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टयरूप आत्माके स्वभावरूप धर्मको धारण कर लेता है और कषायादिक विभावभावोंको सर्वथा नष्ट कर देता है। इस प्रकार धर्म धारण करनेसे इस आत्माको सर्वोत्कृष्ट परमपद प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न–सुज्ञोऽन्यवस्तुकर्ता स्यान्न वा मे वद सिद्धये ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब मेरे आत्माकी सिद्धिके लिए यह बतलाइए कि ज्ञानी मनुष्य अन्य पदार्थों का कर्ता होता है वा नहीं ?

उत्तर–येनात्मसाम्राज्यपदे प्रविष्टं स्वात्मस्वरूपं स्वसुखादि दृष्टम् ।
तेनान्यकार्यं क्रियते न किंचित् करोति किंचिद् यदि वान्यकार्यम् ॥
शिष्टार्थपुष्ट्यै खलु केवलं च नास्त्यन्यहेतुर्भुवि कोपि तत्र ।
यावत्स्वरूपं न च येन दृष्टं तावत्प्रकर्ता परवस्तुनः स्यात् ॥२१३॥

अर्थ–जिस महा पुरुषने अपने आत्माकी शुद्धतारूप साम्राज्यपदमें प्रवेश कर लिया है, जिसने अपने आत्माका स्वरूप देख लिया है तथा आत्मजन्य अनन्त सुखका दर्शन कर लिया है वह पुरुष इस संसारमें अन्य कोई कार्य नहीं कर सकता। यदि ऐसा मनुष्य अन्य कोई कार्य करता है तो केवल भव्यजीवोंके कल्याणकी पुष्टि करनेके लिए ही करता है। उस महा पुरुषके लिए आत्मकार्यके सिवाय अन्य किसी कार्यके करनेमें जीवोंके कल्याणके सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं हो सकता। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि यह आत्मा जब तक अपने आत्माके स्वरूपको नहीं देख लेता तब तक ही यह आत्मा अपनेको परपदार्थोंका कर्त्ता मान लेता है।

भावार्थ—आत्मरसका आस्वादन करनेवाला महा पुरुष अपने आत्माको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न किया करता है। आत्मकल्याणके सिवाय वह अन्य कोई कार्य नहीं करता। यदि करता है तो अपाय-विचय धर्मध्यानका कार्य स्वरूप परजीवोंका कल्याण करता रहता है। उनके लिए वह धर्मोपदेश देता है धर्म धारण कराता है, धारण किए हुए धर्मकी रक्षा करता है वा कराता है और प्रायश्चित्तादिके द्वारा व्रतोंकी शुद्धि करता कराता रहता है। वह पुरुष आत्मज्ञान होनेके कारण तथा परपदार्थोंके यथार्थ

स्वरूपको भी जाननेके कारण परपदार्थोंका मोह सर्वथा छोड देता है तथा कषाय और इंद्रियोंके विषयोंका भी सर्वथा त्याग कर देता है। इसीलिए वह अन्य किसी भी कार्यमें नहीं लग सकता। इससे सिद्ध हो जाता है कि आत्मरसका आस्वादन करनेवाला पुरुष परपदार्थोंका कर्त्ता नहीं होता। जो पुरुष आत्माके स्वरूपको तथा परपदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता और इसीलिए जो इंद्रियोंके विषयोंका, कषायोंका और मोहका त्याग नहीं करता, ऐसा पुरुष ही अपने तीव्र मोहके कारण अपने आत्माको उन परपदार्थोंका कर्ता मान लेता है। यह उसकी भूल है। अतएव भव्यजीवोंको मोहका त्याग कर आत्मरसका आस्वादन करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि शीघ्र ही इस आत्माको मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय।

प्रश्न—गुरो ! सद्दृष्टिमाहात्म्यं कीदृग्मे विद्यते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइये कि इस संसारमें सम्यग्दृष्टिका माहात्म्य कैसा है ?

उत्तर—सद्दृष्टिरेव विमलःसदसद्विचारी, वाह्यादिसंगविरतः स्वपदे सुरक्तः।
पश्यन्न पश्यति विशन्विशतीति तस्मात, गच्छन्न गच्छति नयन्नयतीह नैव ॥
वादन्न चात्ति सततं स्वपिति स्वपन्न, कुर्वन् करोति न भवन् भवति ह्यहो न।
कोपि ह्यचिन्त्यमहिमा सुखदः सुदृष्टेः, लोके स्थितोपि जिन एव सदा विलेपः॥

अर्थ—इस संसारमें सम्यग्दृष्टी पुरुष अत्यन्त निर्मल होता है, अपने आत्मामें लीन रहता है, अन्तरंग और बहिरंग समस्त परिग्रहोंका त्यागी होता है और अपने आत्माके कल्याण तथा अकल्याणका विचार करनेवाला होता है। ऐसा पुरुष इन्द्रियोंसे देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, किसी नगर आदिमें प्रवेश करता हुआ भी कहीं नहीं जाता, गमन करता हुआ भी गमन नहीं करता

किसी पदार्थको ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, भोजन करता हुआ भी भोजन नहीं करता, सोता हुआ भी नहीं सोता, किसी कार्यको करता हुआ भी नहीं करता और होता हुआ भी नहीं होता। इसलिए कहना पडता है कि सम्यग्दृष्टिकी सुख देनेवाली महिमा अचिन्तनीय है। वह संसारमें रहता हुआ भी जिन कहलाता है और कर्ममल कलंकसे रहित पुरुषोंके समान माना जाता है।

भावार्थ—आत्मामें अनेक गुण हैं परन्तु उन सबमें एक सम्यग्दर्शन ही ऐसा उत्तम गुण है कि जिसके होनेपर अन्य सब गुण प्रगट हो जाते हैं और यह आत्मा इस संसार समुद्रसे पार हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है तथा स्वपरभेदविज्ञान प्रगट होनेसे आत्मा और परपदार्थोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है। आत्मा और परपदार्थोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट होनेसे यह आत्मा परपदार्थोंका मोह छोड देता है और फिर वह अन्य किसी भी पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फिर वह आत्मा अन्य समस्त पदार्थोंका त्याग कर तथा क्रोधादिक कषायोंका सर्वथा त्याग कर केवल आत्मामें लीन हो जाता है। उस समय इन्द्रियोंका व्यापार सब छूट जाता है। इसलिए वह देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता। यद्यपि वह इन्द्रियोंसे समस्त पदार्थोंको देखता वा जानता है परन्तु वह उन पदार्थोंसे कोई प्रयोजन नहीं रखता और न उन पदार्थोंसे वह कोई किसी प्रकारका मोह वा ममत्व रखता है। इसलिए वह देखता हुआ भी न देखनेके समान ही माना जाता है। इसी प्रकार वह आहारादिकके लिए नगरादिकमें आता जाता हैं परन्तु उस समयमें भी वह आत्म-चिन्तनमें ही लगा रहता है। भोजन करता हुआ भी आत्म-चिन्तवनमें लगा रहता है और यहां तक लगा रहता है कि भोजन करता हुआ भी सातवें गुणस्थानमें जा पहुंचता है। इसलिए वह भोजन करता हुआ भी न करनेके समान माना जाता है। इसी प्रकार सोता हुआ भी वह अन्य किसी पदार्थका चिन्तवन नहीं करता उस समय भी वह आत्माके गुणोंका चिन्तवन करता रहता है

इसलिए वह सोता हुआ भी न सोनेवालेके समान गिना जाता है। कहां तक कहा जाय सम्यग्दृष्टिकी महिमाको कोई चिन्तवन भी नहीं कर सकता। उसकी महिमा अतुल है। वह संसारमें रहता है तथापि जिन कहलाता है और भोजन पान आदि संसारके समस्त कार्य करता हुआ भी कर्मबंधनसे लिप्त नहीं होता। ऐसी यह विचित्र महिमा सिवाय सम्यग्दृष्टिके और किसीकी नहीं हो सकती। इसलिए भव्य जीवोंको सबसे पहले अपने मिथ्यात्वका त्याग कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—किं कार्यमथवा दृश्यं शर्मदं वद मे गुरो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि इस संसारमें सुख देनेवाला वा कल्याण करनेवाला कौनसा कार्य करना चाहिए और क्या देखना चाहिए ?

उत्तर—निजात्मबाह्यं बहुदोषयुक्तं भ्रान्तिप्रदं शान्तिहरं कुकर्म।
कृतं त्वया कारितमेव चान्यैरनन्तवारं विषमं कुबुद्धया ॥२१६॥
तत्कर्मभिर्वत्स तथापि चात्मा तृप्तः कदाचिन्न बभूव लोके।
विचिन्त्य कार्यं सुखदं स्वकृत्यं दृश्यं तदेवं न कृतं न दृष्टम् ॥२१७॥

अर्थ—हे वत्स! अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए तूने अपनी कुबुद्धिसे अत्यन्त विषम, अनेक दोषोंसे परिपूर्ण, शान्तिको हरण करनेवाले, भ्रांतिको उत्पन्न करनेवाले और अपने आत्मासे बाह्य ऐसे अनेक कुकर्म अनन्त बार किए हैं तथा अनन्तबार ही दूसरोंसे कराये हैं तथापि यह तेरा आत्मा इस संसारमें आज तक कभी तृप्त नहीं हुआ है। यही समझकर अब तुझे सुख देनेवाला वही आत्मकार्य करना चाहिए और वही देखना चाहिए जो आजतक न किया हो और न देखा हो।

भावार्थ—यह आत्मा अनन्त कालसे इन्द्रियोंके विषयोंमें लग रहा है, तथा उन इन्द्रियोंके विषयोंके लिए अनेक प्रकारके कुकर्म करता चला आ रहा है तथापि वह आज तक कभी तृप्त नहीं हुआ। उन कुकर्मोंके कारण अनन्तबार नरकमें गया, अनन्तबार सिंहादिक क्रूर पशु हुआ और न जाने कितनी बार निगोद गया। इन इन्द्रियोंके विषयोंके कारण इस आत्माने अनन्त काल तक घोर दुःख सहन किए तथापि किसी भी इन्द्रियके विषयसे आज तक तृप्त नहीं हुआ तथा अनन्त काल और बीत जानेपर भी कभी तृप्त नहीं हो सकता। यदि यह आत्मा तृप्त हो सकता है तो आत्मजन्य अनन्त सुखसे तृप्त हो सकता है। आज तक अनन्त जीव इसीसे तृप्त हुए हैं और आगे भी इसी आत्मजन्य अनन्त सुखसे अनन्तानन्त जीव तृप्त होते रहेंगे। यह आत्मजन्य अनन्त सुख इस जीवने न तो आज तक प्राप्त किया, न प्राप्त करनेका प्रयत्न किया और न कभी आज तक देखा। इसलिए हे आत्मन्! अब तू इन इन्द्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग कर और आत्माको सुख देनेवाले आत्माके स्वभावको प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। आत्माका स्वभाव प्राप्त होनेसे ही इस जीवको अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—यदा साधुर्निजे तिष्ठेत्तदान्यं दृश्यते न वा ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जब यह साधु अपने आत्मामें लीन होता है तब अन्य पदार्थोंको देखता है वा नहीं?

उत्तर—शुद्धचिद्रूपधाम्न्येव चित्तेन्द्रियाद्यगोचरे।
सर्वकर्मक्रियादूरे यदा साधुः प्रतिष्ठति ॥ २१८ ॥
तदातिशुद्धचिद्रूपं समन्ताद् दृश्यते यथा।
यद्ध्यानं क्रियते तद्धि स्वप्नेपि दृश्यते सदा ॥२१९ ॥

अर्थ—यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा इन्द्रिय और मनके अगोचर है तथा समस्त क्रिया कर्म आदिसे रहित है। ऐसे शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामें जब यह साधु लीन हो जाता है तब वह चारों ओरसे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माको ही देखता है। उस समय वह और कुछ नहीं देख सकता। जैसे कि ध्यान करनेवाला मनुष्य जिस पदार्थका ध्यान करता है उसी पदार्थको वह स्वप्नमें भी देखा करता है।

भावार्थ—इस संसारमें प्रायः यह देखा जाता है कि यह मनुष्य दिन भर जिसके ध्यानमें लगा रहता है उसीको स्वप्नमें देखता है। उसका मन उस पदार्थमें लीन हो जाता है और इसीलिए उसके मनमें उस पदार्थका संस्कार जम जाता है। उन्हीं संस्कारोंके जम जानेसे स्वप्नमें भी उसके मनमें वे ही पदार्थ चक्कर लगाया करते हैं। इसी प्रकार जब यह साधु अपने इन्द्रिय और मनके अन्य समस्त व्यापारोंका त्याग कर अपने शुद्ध आत्मामें लीन हो जाता है, उसी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है और शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है उस समय वह केवल उसी शुद्ध आत्माको देखता है। उस समय इन्द्रियोंका व्यापार बंद हो जानेसे वह न तो अन्य किसी पदार्थको देख सकता है और न अन्य किसी पदार्थको जान सकता है। उस समय उसको सिवाय अपने शुद्ध आत्माके और न कुछ दिखाई देता है और न कुछ जाना जाता है। इसीको एकाग्रचित्त निरोध वा ध्यान कहते हैं। अपने चित्तको अन्य समस्त चिंतवनोंसे हटा कर किसी एक मुख्य पदार्थमें लगा देना एकाग्रचित्त निरोध कहलाता है। इसीको ध्यान कहते हैं। जब यह आत्मा अपने मनको वा अपने आत्माको अपने ही शुद्ध आत्मामें लगा देता है तब अन्य समस्त पदार्थोंके चिंतवनका त्याग अपने आप हो जाता है, और इसीलिए वह फिर किसी भी पदार्थको देख वा जान नहीं सकता। केवल अपने ही आत्माको देखता है और अपने ही आत्माको जानता है। अतएव भव्य-जीवोंको भी मोक्ष सुख प्राप्त करनेके लिए समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर ऐसे ही ध्यान करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न–स्वभावः कीदृशो जन्तोर्गतिर्वा कीदृशी वद ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइए कि इस जीवनका स्वभाव और गति कैसी है ?

उत्तर–अयमात्मा यदा यत्र चिन्तयति किमप्यहो ।
तदा तत्र प्रयात्येव तन्मयतां स्वभावतः ॥२२०॥
ततो वांच्छितदः कार्यो भक्त्या साधुसमागमः ।
यतः पररतिं त्यक्त्वा स्वात्मात्मनि रतो भवेत् ॥२२१॥

अर्थ–यह आत्मा जब कभी किसी भी स्थानपर जिस किसी पदार्थका चिंतवन करता है तब वह उस समय स्वभावसे ही उस रूप हो जाता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको भक्तिपूर्वक समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला साधुओंका समागम करना चाहिए जिससे कि यह आत्मा परपदार्थोंके मोहको छोडकर अपने ही आत्मामें लीन हो जाय।

भावार्थ—इस आत्माका स्वभाव वा इसकी गति ही ऐसी है कि यह आत्मा जब जिस पदार्थका चिंतवन करता है तब वह अपने आत्माको उसीरूप मान लेता है। जो आत्मा आग्नेयी धारणाका चिंतवन करता है वह अपनी नाभिसे उठती हुई और जलती हुई अग्निकी ज्वालाका चिंतवन करता है। उस अग्निकी ज्वालासे अष्टकर्मोंको जलता हुआ चिंतवन करता है। फिर वायवीय धारणाका चिंतवन करता हुआ वायुके द्वारा उसकी भस्मको उडानेका चिंतवन करता है। तदनंतर जलीय धारणका चिंतवन करता हुआ उस जलकी वर्षाके द्वारा अपने आत्माको शांत होना चिंतवन करता है। तदनंतर कर्मोंके जल जानेसे अपने आत्माको शुद्ध होना चिंतवन करता है। इस प्रकार वह चिंतवन करता हुआ अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है। इसलिए प्रत्येक भव्य-जीवका कर्तव्य है कि

सिद्ध… १६१

अपने शुद्ध आत्माके ध्यानका अभ्यास करनेके लिए साधुओंके निवासस्थानमें रहना चाहिए। वहीं रहकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। साधुओंके निवासस्थानमें रहनेसे अन्य समस्त पदार्थोंके मोहका त्याग हो जाता है तथा यह आत्मा ध्यानका अभ्यास करने लगता है और अनुक्रमसे शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ अपने आत्माको शुद्ध बनाकर मोक्षका अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—इष्टानिष्टपदार्थः कौ कस्य स्याद् दुःखदो वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग किसको दुःख देनेवाला होता है ?

उत्तर—स्यादिष्टानिष्टसंयोगोऽन्यहेतुः कोपि दैविकः।
दुःखदो मूर्खजन्तूनां कामान्धानां भवात्मनाम् ॥२२२॥
मुनीनां श्रावकाणां वा तथार्हद्धर्मधारिणाम्।
स्वानन्दसौख्यभाजां न स्वपरतत्त्ववेदिनाम् ॥२२३॥

अर्थ—इन संसारी जीवोंको जो इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हुआ करता है वा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग हुआ करता है वह अपने-अपने कर्मोंके उदयसे हुआ करता है तथा आत्म-ज्ञानसे शून्य ऐसे अज्ञानी और कामसे अंधे होनेवाले संसारी जीवोंको ही दुःख देनेवाला होता है। परंतु जो पुरुष भगवान अरहंत देवके कहे हुए धर्मको धारण करते हैं जो अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको तथा परपदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं और जो अपने आत्मजन्य अनंत सुखका अनुभव करते रहते हैं ऐसे मुनि वा उत्तम श्रावकोंको वह इष्ट वियोग वा अनिष्ट संयोगसे होनेवाला दुःख कभी नहीं होता है।

भावार्थ—इस संसारमें इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग दोनों ही अपने अशुभ कर्मके उदयसे होते हैं तथा कर्मोंका उदय अनिवार्य हुआ करता है। उन कर्मोंके उदयको इन्द्रादिक देव भी नहीं रोक सकते। इसलिए उसमें दुःख मानना अज्ञानी लोगोंका काम है। अज्ञानी जीव न तो आत्माके स्वरूपको समझते हैं और न कर्मोंके उदयको समझते हैं इसलिए वे किसी भी इष्टके वियोग होनेपर अथवा किसी अनिष्टके संयोग होनेपर दुःखी हुआ करते हैं। यह उनके प्रबल मोहका माहात्म्य है। जो मनुष्य अपने मोहका त्याग कर देता है वह अपने आत्माके स्वरूपको समझने लगता है और इसीलिए वह आत्माके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंको पर समझता है। यही कारण है कि वह किसी भी इष्टके वियोग होनेपर दुःख नहीं करता। वह तो अपने आत्माको ही अपना समझता है इसलिए वह किसी भी पदार्थमें इष्ट वा अनिष्टकी कल्पना नहीं करता। जब वह किसी भी पदार्थमें इष्ट वा अनिष्टकी ही कल्पना नहीं करता तब वह उनके संयोग वा वियोगको भी समान ही समझता है तथा इस प्रकार समताभाव धारण करनेके कारण वह कभी दुःखी नहीं होता। यही समझ कर भव्यजीवोंको सबसे पहले मोहका त्याग कर देना चाहिए, सम्यग्दर्शनको धारणकर आत्माका स्वरूप समझ लेना चाहिए और फिर समताभाव धारण कर आत्मजन्य सुखका अनुभव करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे इस जीवको कभी दुःख नहीं होता।

प्रश्न—स्ववस्तुग्रहणे स्याद्वाऽन्यवस्तुग्रहणे सुखम् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जीवको अपनी वस्तु ग्रहण करनेमें सुख होता है अथवा परपदार्थोंके ग्रहण करनेमें सुख होता है?

उत्तर—व्यथा स्याद्वचनातीताऽन्यवस्तुग्रहणेऽर्थतः।
स्ववस्तुग्रहणे सौख्यमक्षातीतं स्वभावजम् ॥२२४॥

तथापि मोहमूढश्च त्यक्त्वा स्ववस्तु शर्मदम् ।
गृह्णाति परवस्त्वेव कष्टं दुःखशतप्रदम् ॥२२५॥

अर्थ—वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें परपदार्थोंके ग्रहण करनेमें जो दुःख होता है वह वचनोंसे भी नहीं कहा जा सकता तथा अपना पदार्थ ग्रहण करनेमें इन्द्रियोंके अगोचर और स्वभावसे उत्पन्न होनेवाला अपार सुख प्राप्त होता है। यद्यपि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है तथापि मोहसे अज्ञानी हुआ यह मनुष्य कल्याण करनेवाले अपने आत्मतत्त्वको तो छोड देता है और परपदार्थोंको ही ग्रहण करता है। यह सैकडों दुःख देनेवाली महाकष्टकी बात है।

भावार्थ—इस जीवका स्वपदार्थ शुद्ध आत्मतत्त्व है तथा अपने आत्माके सिवाय अन्य जितने पदार्थ हैं वे सब परपदार्थ हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, काम, मोह, राग, द्वेष आदि सब परपदाथ कहलाते हैं तथा शरीर, धन, धान्य, सोना, चांदी आदि भी परपदार्थ कहलाते हैं। यह जीव मोहके कारण ही परपदार्थोंको ग्रहण करता है और फिर उनमें इष्ट अनिष्ट कल्पना कर उनके संयोग-वियोगसे महा दुःखी होता है। इसी प्रकार यह जीव अनादिकालसे दुःखी होता चला आ रहा है। यह मोह आत्माके स्वरूपको जानने नहीं देता इसीलिए यह जीव अपने आत्माको भूल जाता है। जब यह आत्मा अपने मोहका त्याग कर देता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर आत्माके स्वरूपको समझ लेता हे फिर यह आत्मा परपदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करता। यदि कारण-वश ग्रहण करता भी है तो उसमें इष्ट अनिष्ट कल्पना नहीं करता। इसलिए उन पदार्थोंका संयोग वियोग होनेपर भी वह दुःखी नहीं होता। फिर तो वह अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। वह परपदार्थोंका त्याग करता जाता है और आत्माकी शुद्धता प्राप्तकर समस्त कर्मोंको

नष्ट करनेका प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार वह समस्त कर्मोंको नष्टकर अनन्तसुखी हो जाता है।

प्रश्न—परैः को निंद्यते जीवः साम्प्रतं मे गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कैसा जीव दूसरोंके द्वारा निन्दनीय माना जाता है !

उत्तर—योऽन्याभिलाषी विपरीतवेषी, स निंद्यते सर्वजनैः प्रमूढः ।
तथा सदैवं नरके निगोदे, पीडामसह्यां सहतेऽन्यदत्ताम् ॥२२६॥
ज्ञात्वेति भव्यो न भवेत्कदापि, पराभिलाषी विपरीतवेषी ।
विश्वं स्ववद्वीव च मन्यमानः, श्रीकुंथुसिंधुर्ह्यवदच्च सूरिः ॥२२७॥

अर्थ—इस संसारमें जो पुरुष परपदार्थोंकी अभिलाषा करता है और विपरीत भेषको धारण करता है वह मूर्ख सब लोगोंके द्वारा निंदनीय गिना जाता है। ऐसा मनुष्य सदाकाल नरक निगोदमें पडा रहता है और दूसरोंके द्वारा दिये हुए असह्य दुःखोंको सहन किया करता है। यही समझ कर भव्यजीवोंको परपदार्थोंकी अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिए और कभी विपरीत वेष धारण नहीं करना चाहिए। भव्यजीवोंको तो समस्त संसारके प्राणी मात्रको अपनी आत्माके समान समझना चाहिए ऐसा आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ—तीव्र मोह वा तीव्र लोभको धारण करनेवाला मनुष्य सदाकाल संसारके समस्त पदार्थोंकी अभिलाषा किया करता है। यद्यपि उन पदार्थोंका प्राप्त होना उनके आधीन नहीं है। पदार्थोंका प्राप्त होना लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमके आधीन है। जब तक लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम नहीं

होता तब तक किसी भी जीवको किसी भी पदार्थकी प्राप्ति नहीं होती । अतएव अभिलाषा करनेवाला मनुष्य व्यर्थ ही अशुभ कर्मोंका बंध किया करता है । स्वयंभू रमण समुद्रमें एक सबसे बडा मत्स्य होता है और उसकी आंखमें एक तंदुल मत्स्य नामका छोटासा मत्स्य रहता है । जब वह बडा मत्स्य मुंह खोलता है तब हजारों छोटे-छोटे मत्स्य उसके मुखमें चले जाते हैं और वे सब पीछेके रास्तेसे निकल जाते हैं इसको देखकर वह तंदुल मत्स्य यही चिंतवन करता है कि यदि मैं होता तो इस प्रकार मुखमें आये हुए सैकडों हजारों मत्स्योंको निकलने नहीं देता सबको खा जाता । वह तंदुल मत्स्य इसी प्रकार सदाकाल चिंतवन करता रहता है और इसी परपदार्थोंकी अभिलाषाके कारण मरकर सातवें नरकमें जाता है । इसलिए भव्यजीवोंको परपदार्थोंकी अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिए । इसी प्रकार विपरीत वेष धारण करना भी निंदनीय है । जो वेष अपने पदस्थके योग्य होता है वही वेष उत्तम और प्रशंसनीय माना जाता है । साधुका वेष वीतराग और निर्विकार निर्ग्रंथ अवस्था है । यदि साधु होकर भी परिग्रह रखता है वा झोंपडी बना कर रहता है अथवा भीख मांगकर पेट भरता है तो वह उसका विपरीत वेष कहलाता है । यदि कोई पुरुष गृहस्थ अवस्थामें रह कर छहों खंडकी विभूति अपने पास रखता है तो भी वह निंदनीय नहीं कहलाता, परन्तु वही पुरुष यदि साधु होकर थोडासा भी परिग्रह रखता है तो अत्यन्त निंदनीय कहलाता है । इसका भी कारण यह है कि समस्त पापोंका त्याग कर साधु अवस्था धारण करता है और साधु होकर शेष समस्त कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न करता है । यदि साधु होकर भी परिग्रह रख कर पाप उत्पन्न करनेका साधन बनाये रखता है तो फिर वह महा पापी कहलाता है । इसलिए साधु पुरुषोंको अपना विपरीत वेष कभी धारण नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार श्रेष्ठ गृहस्थोंको वा श्रावकोंको भी अपना विपरीत वेष कभी धारण नहीं करना चाहिए । श्रावकोंको सदाकाल ऐसा वेष धारण करना चाहिए जिससे कि कोई

श्रावक वा साधु उसे श्रावक समझ ले। मुनि लोग विहार करते हुए न जाने कहांसे आते हैं तो भी वे श्रावकोंके घरोंको ही श्रावकोंका घर समझ कर उनके भीतर तक हो आते हैं। इसलिए श्रावकोंको भी अपना वेष कभी विपरीत नहीं बनाना चाहिए। जो वेष अपने योग्य है वही वेष धारण करना चाहिए। विपरीत वेष सदा निंदनीय कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि विपरीत वेष प्रायः दूसरोंको ठगनेके लिए ही धारण किया जाता है। इसलिए भव्यजीवोंको अपनी योग्यतानुसार ही वेष धारण करना चाहिए।

प्रश्न—कस्य तिष्ठति पार्श्वे भो मुक्तिर्मे सुखदा वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि सुख देनेवाली मुक्ति किस महा पुरुषके समीप रहती है ?

उत्तर—बाह्यादिसंगप्रविमुक्तमूर्त्तेः, कृपाक्षमाशांतिसुखाश्रितस्य।
सच्छुद्धचिद्रूपपदास्थितस्य, स्वानन्दतृप्तस्य यतीश्वरस्य ॥२२८॥
मुक्तिः सदा तिष्ठति पार्श्वएव, विद्यादिदेवीव सुमंत्रमुग्धा।
ज्ञात्वेति चिद्रूपपदे पवित्रे, तिष्ठन्तु भव्याः खलु मुक्तिहेतोः ॥२२९॥

अर्थ—जिस प्रकार विद्यादेवी वा अन्य देवियां अपने-अपने वाचक मंत्रोंसे मुग्ध होकर आराधन करनेवालेके समीप अपने आप चली जाती हैं, उसी प्रकार जो मुनिराज अंतरंग वहिरंग समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देते हैं. कृपा, क्षमा, शान्ति, और आत्मजन्य आनंदके आश्रित रहते हैं, सर्वोत्तम शुद्ध चिदानन्द पदमें विराजमान रहते हैं और अपने आत्मजन्य आनन्दसे सदा काल तृप्त रहते हैं ऐसे मुनिराजोंके समीप यह मुक्ति सदाकाल विराजमान रहती है। यही समझकर भव्य

जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अत्यंत पवित्र ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने शुद्ध आत्मामें सदाकाल लीन बने रहना चाहिए।

भावार्थ—जो लोग मंत्र जपकर देवताओंका आराधन करते हैं उनके पास वे देवता उन मंत्रोंके आधीन होकर अपने आप चले आते हैं। इसी प्रकार जो मुनिराज मुक्तिकी आराधना करते हैं उनको मुक्ति भी अवश्य प्राप्त हो जाती है। मुक्तिका अर्थ छूटना है। यह जीव अनादिकालसे कर्मोंसे बंधा हुआ है। अतएव उन समस्त कर्मोंसे छूट जाना ही मुक्ति कहलाती है। वे कर्म अंतरंग बहिरंग परिग्रहोंसे ही बंधते हैं इसलिए वे मुनिराज उन कर्मोंको नाश करनेके लिए सबसे पहिले अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं। समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे फिर वे मुनिराज किसी भी पापसे लिप्त नहीं होते। इस प्रकार वे मुनिराज कर्मोंके आनेके मार्गको बंद कर देते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज समस्त कषायोंका त्याग कर तथा समस्त इंद्रियोंको निग्रह कर कृपा क्षमा शान्ति आदि आत्माके गुणोंको धारण कर लेते हैं। राग द्वेषका त्याग कर आत्मजन्य सुखसे सुखी हो जाते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज आगामी कर्मबंधको रोककर कृपा क्षमा शांति समता आदि आत्मगुणोंके द्वारा आत्माके साथ लगे हुए पिछले कर्मोंको नष्ट करते जाते हैं। वे मुनिराज इस प्रकार अपने आत्माको कषायरहित अत्यंत पवित्र निर्मल बनाकर अपने आत्मजन्य चिदानंद स्वरूपमें स्थिर और लीन हो जाते हैं तथा फिर वे उसी शुद्ध चैतन्यमय अनंत सुखसे तृप्त रहते हैं। इस प्रकार जब वे मुनि अपने आत्मध्यानके द्वारा उस मुक्तिका आराधन करते हैं तब वह मुक्ति सदाकाल उनके पास ही बनी रहती है, अर्थात् ऐसे मुनिराज शीघ्र ही उस ध्यानके द्वारा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं इसलिए आचार्य महाराज यही उपदेश देते हैं कि भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए समस्त परिग्रहादिकोंका त्याग कर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—कर्ममल्लनिरोधार्थं किं कार्यं वद मे प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो ! कृपा कर यह बतलाइए कि इस कर्मरूपी मल्लको रोकनेके लिए क्या-क्या कार्य करना चाहिए।

उत्तर—क्रोधादिमोहस्य विनाशकर्तुर्विज्ञानमल्लस्य सुखप्रदस्य ।
नित्यं निवासः सुखदोस्ति यत्र स्वप्नेपि तत्रात्मनि चित्स्वरूपे ॥२३०॥
न कर्ममल्लस्य भवेन्निवासस्ततः प्रमूढः स बहिः प्रयाति ।
ज्ञात्वेति विज्ञानभटोस्ति सेव्यः कुकर्ममल्लस्य निरोधनार्थम् ॥२३१॥

अर्थ—यह स्वपरभेदविज्ञानरूपी मल्ल क्रोधादिक कषायरूपी मल्लोंको और मोहरूपी महामल्लको नाश करनेवाला है और सदाकाल आत्माको सुख देनेवाला है। ऐसा यह स्वपरभेदविज्ञानरूपी मल्ल जिस चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मामें अपना सुख देनेवाला निवासस्थान बना लेता है उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मामें कर्मरूपी मल्लका निवास कभी नहीं हो सकता। फिर तो वह कर्मरूपी मल्ल उस विज्ञानरूपी मल्लके निवासस्थानसे बाहर होकर दूर भाग जाता है। यही समझकर भव्यजीवोंको अशुभ कर्मरूपी मल्लको रोकने वा भगानेके लिए विज्ञानरूपी मल्लकी सेवा करनी चाहिए।

भावार्थ—ये कर्म बहुत बडे मल्ल हैं। इनका उदय किसीसे नहीं रोका जा सकता। देखो! इन कर्मोंके ही उदयसे रामचन्द्र लक्ष्मण ऐसे योद्धाओंको भी वन-वनमें भटकना पडा, इन कर्मोंके ही उदयसे सती सीताको अनेक बार दुःख भोगने पडे, इन्हीं कर्मोंके उदयसे सती अंजनाको महा दुःख भोगने पडे। औरोंकी बात ही क्या है, यह कर्मोंका उदय तीर्थंकरोंको भी नहीं छोडता। इन्द्र चक्रवर्ती आदि किसीको नहीं छोडता इसीलिए इन कर्मोंको महा बलवान माना है। ये कर्म इस संसारमें किसीसे नहीं हारते।

१६९

यदि हारते हैं तो एक स्वपरभेदविज्ञानरूपी मल्लसे हारते हैं। इन कर्मरूपी मल्लोंको स्वपरभेद-विज्ञानरूपी महा मल्लका इतना डर लगता है कि जिस चैतन्य स्वरूप आत्मामें स्वपरभेद विज्ञानरूपी मल्ल अपना निवासस्थान बना लेता है अर्थात् जिस आत्माको स्वपर भेद विज्ञान प्रगट हो जाता है, उस आत्मामें फिर वे कर्मरूपी मल्ल कभी नहीं रह सकते। फिर तो वे कर्म उस आत्मासे निकलकर दूर भाग जाते हैं। स्वपर भेद विज्ञानके प्रगट होनेपर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर यह आत्मा ध्यान तपश्चरण आदिके द्वारा बहुत शीघ्र उन कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिए भव्य-जीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेना चाहिए और फिर चारित्र धारणकर ध्यान वा तपश्चरणके द्वारा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। आत्माके लिए यही कल्याणका सर्वोत्तम मार्ग है।

प्रश्न—सेवावृत्तिर्भवेल्लोके कीदृशी वद मे गुरो ?

अर्थ— हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सेवावृत्ति वा सेवा करना कैसा है ?

उत्तर—मौन्येव मूर्खो भयवान् क्षमावान्, वाग्मी प्रजल्पी च दमी ह्यभागी।
यः पार्श्ववासी सखलश्च धृष्टः, सुदूरवासी विनयप्रलोपी ॥२३२॥
स्यान्मन्दगामी ह्यलसः प्रमादी, सुतीव्रगामी चपलोऽविचारी।
स्वामीति भृत्यं वदति स्वमत्तः, सेवाप्रवृत्तिश्च ततो न कार्या ॥२३३॥

अर्थ—जिसकी सेवाकी जाती है उसको स्वामी कहते हैं। वह स्वामी अपने धनसे सदा मदोन्मत्त रहता है। यदि सेवक अधिक बातचीत नहीं करता मौन रहता है तो स्वामी उसे मूर्ख कहा करता है। यदि सेवक क्षमा धारण करता है तो स्वामी उसे भयभीत बतलाता है। यदि सेवक अधिक बोलता है

तो स्वामी उसे वकवादी कहता है। यदि सेवक अपनी इन्द्रियोंको दमन करता रहता है तो स्वामी उसे भाग्यहीन बतलाता है। यदि सेवक सदाकाल समीप बना रहता है तो स्वामी उसे धृष्ट और दुष्ट कहता है। यदि सेवक दूर-दूर रहता है तो स्वामी उसे अविनयी बतलाता है। यदि सेवक धीरे-धीरे चलता है तो स्वामी उसे आलसी और प्रमादी कहता है। तथा यदि सेवक शीघ्रताके साथ चलता है तो स्वामी उसे विचार न करनेवाला चंचल बतलाता है इस प्रकार वह स्वामी प्रत्येक बातमें सेवककी निन्दा करता है। इसलिए यह सेवावृत्ति कभी किसीको नहीं करनी चाहिए।

भावार्थ–वास्तवमें देखा जाय तो सेवा करना निन्दनीय कार्य है। कोई भी पुरुष निर्धन होनेके कारण दूसरोंकी सेवा करता है। परन्तु स्वामी इस बातको नहीं समझता। धनी स्वामी अपने धनमें उन्मत्त रहता है, इसलिए वह उस सेवकके गुण दोषोंको कुछ नहीं देखता। यदि सेवकमें अनेक गुण भी होते हैं तो भी वह उनको दोष ही बतलाया करता है। यदि सेवक कम बोलता है तो स्वामी उसे मूर्ख कहता है गूंगा कहता है। यदि अधिक बोलता है तो उसे बक-बक करनेवाला बकवादी कहता है। यदि सेवक क्रोध करता है तो स्वामी उसे क्रोधी हत्यारा कहता है। यदि क्षमा धारण करता है तो भय-भीत वा डरपोक बतलाता है। यदि वह इन्द्रियोंको वशमें रखता है तो उसे भाग्यहीन बतलाता है। यदि सेवा करनेके लिए समीप रहता है तो उसे धृष्ट कहता है। दूर रहता है तो अविनयी कामचोर बतलाता है। धीरे चलता है तो आलसी कहता है। यदि शीघ्र चलता है तो चंचल वा बिना विचारे काम करनेवाला कहता है। कहां तक कहा जाय, सेवकके लिए कहीं किसी प्रकार भी सुख नहीं है। इसलिए धनसे उन्मत्त रहनेवाले धनी लोगोंकी सेवा कभी नहीं करनी चाहिए। यदि सेवा ही करनी हो तो भगवान अरहंत देवकी सेवा करनी चाहिए अथवा वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करनी चाहिए। इनकी सेवा करना सदाकाल प्रशंसनीय मानी जाती है तथा धनीकी सेवा करनेसे बहुतसी निंदाके

साथ-साथ थोडासा धन प्राप्त होता है, परन्तु भगवान अरहंत देवकी सेवा करनेसे तथा वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा करनेसे तीनों लोकोंकी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है तीनों लोकोंके इन्द्र उसके दास हो जाते हैं और वह परम पूज्य हो जाता है। धनियोंकी सेवा करते-करते अनंतकाल बीत गया और इसके फल स्वरूप सिवाय नरकादिकके दुःखके और कुछ प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए अब धनियोंकी सेवाका त्याग कर देव और गुरुकी सेवा करनी चाहिए जिमसे कि आत्माका यथार्थ कल्याण हो।

प्रश्न–राजा नियुज्यते राज्ये कीदृग्मे शान्तये वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह वतलाइये कि राज्यसिंहासनपर कैसा राजा नियुक्त करना चाहिए ?

उत्तर–उदारबुद्धिर्वरधैर्यधारी त्राता ह्यसूनां निजपुत्रवद् यः।
स्वाचारनिष्ठः कुशलः सधर्मोऽमानी सनीतिर्विनयी प्रतापी ॥२३४॥
धीरः कृपालुर्भवभीरुरेव समस्तसंसारविचारवेदी।
स्वानंदतुष्टः स्वपरात्मतोषी राजा स राज्ये सुजनैर्नियोज्यः ॥२३५॥

अर्थ–जो उदार बुद्धिको धारण करनेवाला हो, धीर-वीर हो, समस्त प्राणियोंको पुत्रके समान रक्षा करनेवाला हो, अपने आचरण और विचारोंमें श्रद्धा रखनेवाला हो, प्रत्येक कार्यमें कुशल हो, धर्मको धारण करनेवाला हो, अभिमानी न हो, न्याय और नीतिको पालन करनेवाला हो, विनयवान् हो, प्रतापी हो, धैर्यको धारण करनेवाला हो, कृपालु हो, संसारसे भयभीत हो, समस्त संसारके विचारोंको जाननेवाला हो, अपने आत्मासे उत्पन्न होने वाले आनन्दमें ही संतोष धारण करनेवाला हो और सबको संतुष्ट रखनेवाला हो। ऐसा पुरुष सज्जनोंके द्वारा राज्यसिंहासनपर नियुक्त होना चाहिए।

भावार्थ—यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा हो जाती है। यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है यदि राजा पापी होता है तो प्रजा भी पाप करने लगती है। यदि राजा साधारण होता है तो प्रजा भी साधारण ही रह जाती है। यदि राजा दान धर्म करने लगता है तो प्रजा भी दान धर्म करने लगती है। अपने राज्यमें राजा सबसे बडा माना जाता है। इसलिए सब प्रजा उसीके अनुसार चलती है। यदि राजा उन्नतिशील होता है तो उसकी प्रजा भी उन्नति करने लगती है। यदि राजा आलसी होता है तो प्रजा भी आलस करने लगती है। यदि राजा व्यापार कुशल होता है तो प्रजा भी व्यापारमें कुशल हो जाती है। यदि राजा गुरुभक्त होता है तो प्रजा भी गुरुभक्त बन जाती है। अभिप्राय यह है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा बन जाती है। इसलिए प्रजाके चतुर लोगोंको उचित है कि वे राज्य-सिंहासनपर ऐसे ही पुरुषको नियुक्त करें जिसमें राजाके पूर्ण गुण विद्यमान हों। राजाको सबसे पहले क्रोध, मान, काम, मोह आदि अन्तरंग शत्रुओंको जीत लेना चाहिए। जो राजा अन्तरंग शत्रुओंको नहीं जीत सकता वह राज्यके बाहरी शत्रुओंको भी नहीं जीत सकता। इसलिए अन्तरंग शत्रुओंको जीतना उसके लिए परम आवश्यक है। इसके सिवाय दान, मान, दंड, भेद, संधि, विग्रह आदि गुणोंको भी जान लेना चाहिए। यदि राजा इन गुणोंसे काम न लेगा तो उसका राज्य कभी नहीं टिक सकता। इन नीतियोंका जानकार राजा अपनेसे बडे राजाओंको भी वशमें कर लेता है और इन गुणोंसे काम न लेनेवाला बडा राजा भी छोटे राजाके द्वारा परास्त होकर नष्ट हो जाता है। इसलिए इन नीतियोंका जानना भी राजाके लिए परम आवश्यक है। इसी प्रकार अपनी प्रजाको सन्तुष्ट रखना भी राजाका कार्य है। यदि प्रजा असन्तुष्ट हो जायगी तो उस राजाको राज्यसिंहासनसे अलग कर सकती है। कहां तक कहा जाय? राज्यसिंहासनपर वही राजा टिक सकता है जिसमें ऊपर लिखे हुए राजाके समस्त गुण हों।

प्रश्न—कसाधुर्ब्रह्मचारी कः कदा मे कीदृशो वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किस-किस समयमें कौन-कौन साधु कहलाता है और किस-किस समयमें कैसा ब्रह्मचारी कहलाता है ?

उत्तर—यो ज्ञानहीनश्च भवेत्स साधुः स ब्रह्मचारी रमया विहीनः ।
यः पुत्रहीनः स च देवभक्तः सैषा सुशीला जरयातिजीर्णा ॥२३६॥
ध्याता स मंत्रस्य धनेन हीनो यो दन्तहीनश्चणकाद्विरक्तः ।
यो धैर्यधारीति परस्य दुःखे सन्त्येदृशाः कौ बहवश्च मूर्खाः ॥२३७॥
पूर्वोक्तदोषैश्च विवर्जिता ये सन्त्यत्र लोके विरलाश्च भव्याः ।
त्यक्त्वा स्पृहादिं सुकृतिं हि कृत्वा स्वर्गापवर्गं क्रमतो लभन्ते ॥२३८॥

अर्थ—इस संसारमें बहुतसे लोग मायाचारी भी करते हैं। जो लोग आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित होते हैं वे साधु हो जाते हैं. जो लोग धनहीन वा स्त्रीहीन होते हैं वे ब्रह्मचारी कहलाते हैं, जिनके पुत्र पौत्रादिक सन्तान नहीं होती वे लोग देवोंकी भक्ति किया करते हैं और देवभक्त कहलाते हैं। जो स्त्री वृद्धावस्था होनेके कारण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाती है वह शीलवती कहलाती है। जो धनहीन होता है वह अनेक मंत्रोंका ध्यान करनेवाला ध्याता कहलाता है। जिसके दांत सब गिर जाते हैं वह चना चबनेका त्याग कर देता है। जो दूसरोंके दुःखमें भी धैर्य धारण करता रहता है वह धीर-वीर कहलाता है। इस प्रकार इस संसारमें अनेक अज्ञानी देखे जाते हैं, परन्तु जो लोग ऊपर लिखे दोषोंसे रहित हैं ऐसे भव्यपुरुष इस संसारमें बहुत थोडे हैं। ऐसे भव्य मनुष्य अपनी इच्छाओंका त्याग कर पुण्य उपार्जन कर लेते हैं और अनुक्रमसे स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके आधीन होकर अनन्त दुःख भोग रहा है। उन कर्मोंसे छूटनेके लिए सबसे पहले आत्मज्ञानकी आवश्यकता है। जो पुरुष आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है वही पुरुष राग द्वेष काम कषाय आदि समस्त विकारोंका त्याग कर तथा बाह्य परिग्रहका त्याग कर उन कर्मोंको नष्ट करनेके लिए साधु अवस्था धारण करता है। इसका भी कारण यह है कि कर्मोंका नाश ध्यान और तपश्चरणके द्वारा होता है तथा वह ध्यान और तपश्चरण गृहस्थ अवस्थामें हो नहीं सकता इसलिए वह साधु होकर रातदिन ध्यान वा तपश्चरण किया करता है। परन्तु जो लोग आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना ही साधु हो जाते हैं वे साधु अपने अशुभ ध्यानके द्वारा गृहस्थ अवस्थासे भी अधिक पाप उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसे साधु बिना आत्मज्ञानके अपनी अत्माका कल्याण कभी नहीं कर सकते। इसी प्रकार ब्रह्म शब्दका अर्थ आत्मा है। जो पुरुष अपने ब्रह्म अर्थात् आत्मामें लीन बने रहते हैं उनको ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी धन स्त्री आदिके रहते हुए भी उन सबका त्याग कर देते हैं। इसलिए ऐसा ब्रह्मचारी ही वास्तविक ब्रह्मचारी है। जिसकी लालसाएं सब नष्ट हो जाती हैं वही ब्रह्मचारी कहलाता है। जिसकी लालसाएं नष्ट नहीं होतीं वह कभी ब्रह्मचारी नहीं कहलाता। इसी प्रकार अपने-अपने स्वार्थके लिए सभी लोग देवोंकी भक्ति करते हैं वा मंत्रोंका जप करते हैं परन्तु वह भक्ति और वह जप कर्मोंको नष्ट नहीं कर सकता। उससे तो बहुतसे अशुभ कर्मोंका बन्ध ही होता है। इसलिए कर्मोंको नष्ट करनेके लिए तथा अपने आत्माको शुद्ध निर्मल बनानेके लिए जो देव भक्तिकी जाती है वा जप किया जाता है वही देव भक्ति वा जप कहलाता है। यही समझकर भव्य-जीवोंको सबसे पहले अपनी लालसाओंका त्यागकर देना चाहिए और फिर अपने आत्माके गुणोंका अनुभव करते हुए कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—कस्य त्यागेन जीवः कौ सुखी स्याद्वद मे गुरो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें यह जीव किस-किसका त्याग करनेसे सुखी होता है।

उत्तर—त्याज्यो गुरुः स्वात्मसुखेन शून्यो देवोपि चाष्टादशदोषयुक्तः।
त्याज्यश्च धर्मोपि दयाविहीनो स्नेहैर्विना बंधुसुमित्रवर्गः ॥२३९॥
श्रेष्ठश्च राजाप्यहितस्य कर्ता त्याज्यः स देशो व्रतशीलहीनः।
त्याज्या हि नारी कलहस्य कर्त्री क्रियाश्च हेया अपि भावशून्याः॥

अर्थ—इस जीवको निश्चिन्त और सुखी होनेके लिए ऐसे गुरुका त्याग कर देना चाहिए जो अपने आत्मसुखका अनुभव भी न कर सकता हो। ऐसे देवका त्याग कर देना चाहिए जिसमें अठारह दोषोंमेंसे कोई भी दोष हो, ऐसे धर्मका भी त्याग कर देना चाहिए जो दयासे रहित हो, ऐसे भाई बंधुओंका तथा मित्रवर्गोंका भी त्याग कर देना चाहिए जो स्नेह भी न रखते हों, उस श्रेष्ठ राजाका भी त्याग कर देना चाहिए जो अपना अहित करनेवाला हो, उस देशका भी त्याग कर देना चाहिए जिसमें व्रत और शीलोंका भी पालन न हो सकता हो, उस स्त्रीका भी त्याग कर देना चाहिए जो रातदिन कलह करनेवाली हो और ऐसी क्रियाओंका भी त्याग कर देना चाहिए जो भावपूर्वक न की जाती हों।

भावार्थ—आत्मसुखकी प्राप्तिके लिए गुरु किया जाता है तथा आत्मसुख उसीसे प्राप्त हो सकता है जो स्वयं आत्मसुखका अनुभव करता हो। जो गुरु स्वयं आत्मसुखका अनुभव नहीं करता, अपना समस्त जीवन इंद्रियोंके ही सुखमें व्यतीत कर देता है उसको गुरु बनानेसे कोई लाभ नहीं इसलिए ऐसे गुरुका त्याग कर देना ही सबसे अच्छा है। देवकी सेवा स्वयं निर्विकार और निर्दोष बननेके लिए की जाती है तथा निर्दोष और निर्विकार उसी देवकी सेवा करनेसे हो सकता है जो देव स्वयं निर्दोष निर्वि

कार तथा वीतराग सर्वज्ञ हो, यह निश्चित सिद्धांत है कि जो देव निर्दोष होता है वह अवश्य सर्वज्ञ होता है। इसलिए ऐसे देवकी सेवा करनेसे ही यह मनुष्य वीतराग सर्वज्ञ हो सकता है। जो देव-देव होकर भी निर्दोष न हो ऐसे देवकी सेवा करनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिए ऐसे देवकी सेवाका त्याग कर देना ही अच्छा है। इसी प्रकार धर्मका धारण जीवोंकी रक्षाके लिए किया जाता है। जो धर्म स्वयं दया पालन करनेका आदेश नहीं देता ऐसे धर्मसे सिवाय पापके और क्या लाभ हो सकता है। इसलिए ऐसे धर्मका भी त्याग कर देना अच्छा है। बंधु मित्र भी स्नेह रखनेके लिए समयपर सहायता पहुचानेके लिए और हर्ष-विषादमें साथ देनेके लिये होते हैं। जो मित्र व बंधुजन स्नेह भी नहीं रखते हों वे भला सहायता क्या पहुंचा सकेंगे। इसलिए ऐसे बंधु व मित्रोंसे कोई लाभ नहीं है। ऐसे बंधु व मित्रोंका भी त्याग कर देना चाहिए। जो राजा उत्तम भी हो परंतु अहित करनेवाला हो, प्रजाके लोगोंको दुःख पहुंचाता हो तो ऐसे राजासे भी कोई लाभ नहीं है। राजा तो प्रजाका हित करने और सुख पहुंचानेके लिए होता है। जो राजा प्रजाका हित न करे ऐसे राजासे क्या लाभ है। इसी प्रकार जिस देशमें रहनेसे अपने धर्मका साधन न होता हो, सम्यग्दर्शनका पालन न होता हो, व्रत वा शीलका पालन न होता हो तो उस देशका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। धर्म साधन करना ही इस मनुष्य जन्मका सार है। यदि इस धर्मका साधन जिस देशमें न होता हो, जिस देशमें कोई जिनालय न हो, धर्मात्मा लोग न हों, साधु वा गुरु न हों ऐसे देशमें जाना ही नहीं चाहिए। यदि किसी कारणसे पहुंच जाय तो शीघ्र ही उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार कलह करनेवाली स्त्रीसे सदा दुःख बना रहता है; इसलिए ऐसी स्त्रीसे सुख नहीं मिल सकता। स्त्री सुखके लिए होती है। यदि उससे दुःख ही पहुंचता रहे तो ऐसी स्त्रीसे क्या लाभ है। इसी प्रकार देव पूजा, गुरुकी उपासना, दान देना, धर्मग्रंथोंका पठन-पाठन करना, आदि जितनी क्रियाएं हैं वे

सब भावपूर्वक करनेसे ही सफल होती हैं। विना भावोंके उन क्रियाओंसे जैसा चाहिए वैसा फल नहीं मिलता इसलिए क्रियाएं सब भावपूर्वक ही होनी चाहिए।

प्रश्न—कामखलेन योग्रस्तः स कीदृशो वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष इस दुष्ट कामदेवके वशीभूत रहते हैं वे कैसे कहलाते हैं ?

उत्तर—ग्रस्तोऽस्ति यः कामखलेन जीवः स्वानन्दसाम्राज्यविनाशकेन।
दक्षः स कुण्ठश्चतुरोपि मूर्खः कोपी क्षमावान् भयवांश्च शूरः ॥२४१॥
ज्येष्ठः कनिष्ठः सुजनोपि दुष्टस्तीव्रोपि मन्दः प्रबलोप्यशक्तः।
नीचो कुलीनः विवशो वशः स्याद् बुद्ध्वेति तत्त्याग विधिर्विधेयः ॥२४२॥

अर्थ—यह दुष्ट कामदेव अपने आत्मजन्य आनन्दको नाश करनेवाला है और अत्यन्त दुष्ट है। जो पुरुष ऐसे इस कामदेवके वशीभूत हो जाता है वह चतुर होकर भी मूर्ख कहलाता है, तीव्र बुद्धि होकर भी कुंठ बुद्धिवाला कहलाता है, क्षमाको धारण करनेपर भी क्रोधी कहलाता है, शूरवीर होकर भी भयभीत कहलाता है, सबसे बडा होकर भी सबसे छोटा कहलाता है, सज्जन होकर भी दुष्ट कहलाता है, तीव्र होकर भी मंद कहलाता है, बलवान होकर भी असमर्थ कहलाता है, कुलीन होकर भी नीच कहलाता है और स्वाधीन होकर भी पराधीन कहलाता है। यही समझ कर इस कामदेवका त्याग करना ही सबसे अच्छा है।

भावार्थ—इस संसारमें यह कामदेव सबकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, सबको निर्लज्ज बना देता है, सबको महा पापी बना देता है और सबको अनेक प्रकारके महा दुःख दिया करता है। रावण बतहु

बड़ा प्रतापी राजा था, अर्द्ध चक्रवर्ती था, महा विद्वान् था और सर्व श्रेष्ठ देवभक्त था। तथापि केवल कामदेवके वशीभूत होकर ही उसने सीताको हरण करनेका महानीच कार्य किया था। ऐसे बडे कुलमें उत्पन्न होकर ऐसा नीच कार्य करना ही आजतक उसकी निंदा करा रहा है। श्रीरामचन्द्र एक आदर्श महापुरुष राजा थे अत्यन्त योद्धा थे मोक्षगामी थे और सर्व गुण संपन्न थे तथापि सीताका हरण होने पर वे विह्वल हो गये, वृक्षों तकसे सीताकी खबर पूछते फिरे, यह कामदेवकी ही पराधीनताका फल है। इस संसारमें हजारों लाखों योद्धाओंको जीतने वाले अनेक शूर-वीर हैं परन्तु यथार्थ शूर-वीर वही कहलाता है जो स्त्रियोंके कटाक्षसे कभी घायल नहीं होता अर्थात् जो कामदेवके वशीभूत कभी नहीं होता। ऐसे शूर वीर इस संसारमें बहुत थोडे होते हैं और जो होते हैं वे फिर इस संसारमें परिभ्रमण नहीं करते फिर तो वे चरित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

प्रायः यह समस्त संसार कामदेवके वशीभूत है। यह कामदेव सबको निर्लज्ज बना देता है इसीलिए यह मनुष्य अपनी लज्जा छोडकर न जाने कैसे-कैसे कुकर्म करता है। कामके वशीभूत हुआ मनुष्य न माताको देखता है, न बहिनको देखता है, न बेटीको देखता है, न पिता वा अन्य गुरुजनोंको देखता है। इन सबके रहते हुए भी वह अनेक प्रकारकी कुचेष्टाएं किया करता है, अनेक प्रकारके भंड वचन कहा करता है। वास्तवमें देखा जाय तो यह कामदेव मनुष्यकी मनुष्यताको भी खो देता है। इसीलिए वह मनुष्य नीच कृत्य करने लगता है। सब लोग उसको धिक्कार दिया करते हैं और ऐसा मनुष्य फिर कभी भी अपना आत्म-कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए भव्यजीवोंको इस कामदेवका त्याग कर आत्मगुण चिंतवन करते रहना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही आत्माका कल्याण हो।

प्रश्न—साधुसंगेन किं किं भो लभन्ते ये जना वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि साधुओंके समागमसे मनुष्योंको किन-किन गुणोंकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर-मुष्णाति दूरात्कलुषं व्यथादिं पुष्णाति पुण्यं सुखदं क्षमादिम् ।
श्रेयोनुबध्नाति शिवप्रदं च सत्यार्थतत्त्वं विशदीकरोति ॥२४३॥
भस्मीकरोत्येव भवांकुराणि पूतं स्वराज्यं प्रकटीकरोति ।
ज्ञात्वा फलं साधुसमागमस्य संगं सुकार्यं सुखदं स्वसिद्ध्यै ॥२४४॥

अर्थ-साधुओंका समागम करनेसे पाप सब दूर भाग जाते हैं, दुःख सब दूर भाग जाते हैं, पुण्यकी वृद्धि होती है, सुख देनेवाले क्षमा आदि गुणोंकी वृद्धि होती है, मोक्ष देनेवाले कल्याणकी वृद्धि होती है, आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है, जन्म मरणरूप संसारके अंकुर सब भस्म हो जाते हैं और आत्माको शुद्धतारूप पवित्र स्वराज्य प्रगट हो जाता है। इस प्रकार साधुओंके समागमका फल समझकर अपने आत्माकी सिद्धिके लिए साधुओंका समागम सदाकाल करते रहना चाहिए।

भावार्थ—साधुओंका समागम करनेसे, उनके दर्शन करनेसे, उनकी सेवा करनेसे तथा उनकी भक्ति करनेसे आत्माके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, अनेक रोग दूर हो जाते हैं और महापुण्यकी प्राप्ति होती है। साधु महात्मा महा पवित्र होते हैं, वे अपने पापोंको नष्ट कर देते हैं, अशुभ कर्मोंको नष्ट कर देते हैं और अपने आत्माके स्वाभाविक गुणोंको प्रगट कर लेते हैं। जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें अपना मुंह देखनेसे अपना मुंह स्पष्ट दिखाई पडता है। उसी प्रकार निर्मल साधुओंके दर्शन करनेसे भी अपना आत्मा पवित्र हो जाता है। साधुओंके समागमसे, उनके उपदेशसे, यह आत्मा अपने समस्त पापोंका त्याग कर देता है, और चारित्र धारण कर आत्माका कल्याण कर लेता है। इसलिए भव्य-जीवोंको सदाकाल साधुओंका समागम करते रहना चाहिए। प्रतिदिन साधुओंका समागम करनेसे किसी न किसी दिन मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है।

प्रश्न—केवलं व्यवहारे यो मग्नः स वद कीदृशः ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो पुरुष केवल व्यवहारमें ही लीन रहता है वह कैसा है ?

उत्तर—विपत्प्रकीर्णे भवदुःखपूर्णे द्वेषादिहेतौ व्यवहारकार्ये ।
सेव्ये सदा स्वात्मविमूढजन्तोर्जागर्ति यः स्वात्मविचारशून्यः ॥२४५॥
स एव पापी स च नेत्रहीनः स श्वभ्रगामी स च भाग्यहीनः ।
सुप्तोऽस्ति शुद्धे सुखदे स्वभावे ज्ञात्वेति तत्त्यागविधिर्विधेयः ॥२४६॥

अर्थ—यहांपर व्यवहार कार्यका अर्थ लौकिक कार्य है। ये लौकिक कार्य अनेक विपत्तियोंसे भरे हुए हैं, जन्म-मरणरूप संसारके दुःखोंसे भरे हुए हैं, राग द्वेषके कारण हैं और आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी जीव ही इनकी सेवा करते हैं। जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपका विचार भी नहीं कर सकता ऐसा अज्ञानी पुरुष ही इन व्यवहार कार्योंमें सदा काल जाग्रत रहता है। ऐसा पुरुष महा पापी कहलाता है, नेत्रहीन कहलाता है, भाग्यहीन कहलाता है, नरकगामी कहलाता है और वह सुख देनेवाले स्वभावकी प्रकृतिके लिए सदाकाल सोता-सा ही रहता है। यही समझकर इन व्यवहार-कार्योंका त्याग कर देना ही सबसे अच्छा है।

भावार्थ—खेती व्यापार आदि जीविकाके साधन और पांचों इन्द्रियोंके विषय सेवन करना व्यवहार कार्य वा लौकिक कार्य कहलाते हैं। इन जीविकाके साधन करनेमें वा इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें सदाकाल अनेक प्रकारकी विपत्तियां आती रहती हैं, कभी इष्ट-वियोग होता है, कभी अनिष्ट संयोग होता है, कभी अनेक प्रकारके रोग होते हैं, कभी निर्धनता होती है, कभी राज्यकी ओरसे अनेक प्रकार

की आपत्तियां आ जाती हैं, कभी चोर सताते हैं, कभी दुष्ट सताते हैं और कभी आकस्मिक आपत्तियां आ जाती हैं। इसी प्रकार इन कामोंमें रात-दिन महा पाप उत्पन्न होते रहते हैं जिनके कारण यह जीव नरक-निगोद आदिके महा दुःख भोगा करता है और अनन्तकाल तक इस संसारमें परिभ्रमण किया करता है। ये व्यवहार कार्य सब राग द्वेषसे उत्पन्न होते हैं राग द्वेष उत्पन्न करते रहते हैं और उन राग द्वेषके कारण महापाप उत्पन्न करते रहते हैं। इसीलिए इन व्यवहार कार्योंमें आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी लोग ही मग्न रहते हैं। जो लोग आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझते हैं वे इन दुःख देनेवाले व्यवहार कार्योंमें कभी नहीं फंसते वे तो फिर इनका सर्वथा त्याग कर आत्माके अनुपम सुखमें सदा लीन रहते हैं। जो लोग आत्मज्ञानसे सदा विमुख रहते हैं वे ही लोग इन व्यवहार कार्योंमें सावधान रहते हैं तथा आत्माके सुख देनेवाले स्वभावमें फिर वे असावधान हो जाते हैं, सो जाते हैं। उस असावधानीमें आत्माके स्वरूपको न देखनेके कारण वे नेत्रहीन कहलाते हैं। आत्माका स्वरूप अपना निजका स्वरूप है। जो मनुष्य अपने ही पदार्थको नहीं देख सकता उसे भला कौन पुरुष नेत्रहीन नहीं कह सकता। इसी प्रकार वह पुरुष इंद्रियोंके विषयोंमें लगे रहनेके कारण महापाप उत्पन्न करता रहता है, पापी होनेके कारण उसके सदाकाल पापकर्मोंका ही उदय बना रहता है शुभ कर्मोंका उदय नहीं होता इसीलिए वह भाग्यहीन कहलाता है तथा पापोंके ही कारण वह नरकगामी होता है। यही समझ कर भव्य-जीवोंको इन व्यवहार कार्योंका त्याग कर आत्माका कल्याण करनेके लिए आत्माके कार्यमें लगना चाहिए, सम्यग्दर्शन प्रगट कर चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही इस संसारमें सार है।

प्रश्न—वदात्र पंचमे काले सम्प्रति स्यान्मुनिर्न वा ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अब इस पंचम कालमें मुनि होते हैं वा नहीं ?

उत्तर–अद्यापि धीरो जिनलिंगधारी, तत्त्वार्थवेदी भवबंधभेदी ।
निजात्मनिष्ठोऽखिलसंगमुक्तः, शुद्धोस्ति लोकेत्र मुनिः प्रवीरः॥२४७॥
स्वानंदमूर्तेश्च यतेर्हि यस्यांघ्रिस्पर्शमात्रेण शिवप्रदेन ।
स्वर्मोक्षगामी भवतीति पूतो, भूमण्डलेस्मिन् स्थित भव्यवर्गः॥२४८॥
ज्ञात्वेति शंकां भवदां विहाय, तत्पादसेवां च सदैव कृत्वा ।
तेभ्योऽन्नदानं विधिना हि दत्त्वा, कुर्वन्तु भव्या सफलं नृजन्म ॥२४९॥

अर्थ–हे वत्स ! आज इस कलिकाल पचमकालमें भी भगवान अरहंतदेवके निर्ग्रंथ लिंगको धारण करनेवाले, आत्मा आदि समस्त तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले संसारके बन्धनोंको छिन्न भिन्न करनेवाले, अपनी आत्मामें लीन रहनेवाले, समस्त परिग्रहोंसे रहित, अत्यंत शुद्ध और धीर वीर मुनि इस लोकमें विद्यमान हैं। वे मुनि आत्मजन्य आनंदकी मूर्ति होते हैं और उनके चरणकमल मोक्ष देनेवाले होते हैं। उन चरण कमलोंका स्पर्शमात्र करनेसे इस संसारमें रहनेवाले समस्त भव्य जीव पवित्र हो जाते हैं, स्वर्गगामी हो जाते हैं और मोक्षगामी हो जाते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको संसारको बढानेवाली समस्त शंकाओंका त्यागकर सदाकाल उनके चरण कमलोंकी सेवा करते रहना चाहिये और विधि पूर्वक उनको आहार दान देकर अपना जन्म सफल कर लेना चाहिए।

भावार्थ–यद्यपि यह पंचमकाल पापमय है कलुषता पूर्ण और स्वार्थ पूर्ण है तथापि परम वीतराग निर्ग्रंथ मुनि अब भी इस कालमें विहार करते हैं और आगे पंचम कालके अन्त तक विहार करते रहेंगे। वे मुनि चतुर्थ कालके मुनियोंके समान धीर वीर होते हैं समस्त तत्त्वोंके जानकार होते हैं, समस्त परिग्रहोंसे रहित होते हैं, संसारके बंधनोंको और कर्मोंके बंधनोंको नष्ट करनेवाले होते हैं, अपने

आत्मोंमें लीन रहते हैं, अत्यन्त शुद्ध होते हैं और परिग्रह वा उपसर्ग सहन करनेमें वा व्रत उपवास करनेमें अत्यन्त बलवान् वा धीर-वीर होते हैं। यद्यपि उनका संहनन उत्कृष्ट संहनन नहीं होता, इस लिए वे निर्जन वनोंमें नहीं रह सकते तथापि व्रत उपवास करनेमें वा परिषह सहन करनेमें वा उपसर्ग सहन करनेमें वे किसी प्रकारकी कमी नहीं करते। वे मुनि इन्द्रियजन्य विषयोंके सर्वथा त्यागी होते हैं और आत्मजन्य सच्चिदानन्दकी मूर्ति होते हैं। उनके चरण कमल अत्यन्त पवित्र होते हैं और उनमें भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त कराने तककी शक्ति विद्यमान रहती है। इसीलिए अनेक भव्यजीव सदाकाल उनकी सेवा-भक्ति किया करते हैं और महापुण्यका उपार्जन कर तथा सम्यग्दर्शन धारण कर मोक्षका यथाथमार्ग धारण कर लेते हैं। वर्तमानमें बहुतसे श्रावक वर्तमानके मुनियोंमें सशंकित रहते हैं उनकी धारणा है कि वर्तमानके मुनि अट्ठाईस मूलगुण धारण नहीं कर सकते। परन्तु यह उनकी भूल है। वर्तमानमें अनेक मुनियोंके द्वारा अट्ठाईस मूलगुण निर्दोष रीतिसे पालन किए जा रहे हैं तथा साथमें उत्तरगुण भी पालन किए जा रहे हैं। वर्तमानके कितने ही आचार्य और मुनि घोर उपसर्गोंको सहन करते हैं कठिन परिषहोंको सहन करते हैं और कितने ही व्रत उपवास कर घोर तपश्चरण करते हैं। यदि उनकी भावना और अंतरंग परिणामोंकी ओर देखा जाय तो उनकी भावना सदा आत्म-कल्याणमें लगी रहती है अथवा समस्त भव्यजीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिए उनकी भावना रहती है। उनके परिणाम सदाकाल आत्म-चिंतवनमें लगे रहते हैं अथवा अन्य जीवोंके कल्याण करनेमें लगे रहते हैं। यही सब देख कर बडे-बडे राजा महाराजा भी उनकी सेवा-भक्ति करते हैं और उनका उपदेश सुन कर अपने आत्माका हित करते हैं। इसलिए उन मुनियोंके विषयमें किसी प्रकारकी शंका करना अपने आत्माको वंचित करना है, अपने पुण्य कमानेके साधनको नष्ट करना है और अपने आत्मकल्याणके समयको खो देना है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपनी समस्त शंकाएं दूर कर

देनी चाहिए और उन मुनियोंकी सेवा-भक्ति कर तथा उनको आहार दान देकर, ग्रंथ दान देकर तथा जिस तरह बने उनकी वैयावृत्य कर पुण्य प्राप्त करना चाहिए और अपना मनुष्य जन्म सफल कर लेना चाहिए। यही मनुष्य जन्मका सार है।

प्रश्न—शोभा जनानां वद मे गुरो का ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मनुष्योंकी शोभा क्या है ?

उत्तर—शोभा जनानां प्रियसत्यवाणी वाण्याश्च शोभा गुरुदेवभक्तिः ।
भक्त्यादिशोभा स्वपरात्मबोधो बोधस्य शोभा समता सुशान्तिः ॥२५०॥

अर्थ—इस संसारमें मनुष्योंकी शोभा मधुर और सत्य वाणी बोलना है, वाणीकी शोभा भगवान अरहन्त देवकी भक्ति करना और निर्ग्रंथ गुरुकी भक्ति करना है तथा देवभक्ति और गुरुभक्तिकी शोभा स्वपरभेदविज्ञान है और स्वपरभेदविज्ञानकी शोभा समता धारण करना और अपने आत्मामें शांति स्थापन करना है।

भावार्थ—बहुतसे लोग अपनी शोभा बढानेके लिए अनेक प्रकारके बहुमूल्य वस्त्र पहनते हैं, बहुमूल्य आभूषण पहनते हैं और केशर चन्दन आदि लगाकर अपनी शोभा बढाते हैं, परन्तु जब वे कडवे वचन बोलते हैं अथवा मिथ्या वचन बोलते हैं तब उनकी वह सब शोभा नष्ट हो जाती है, सब लोग उनको बुरा कहते हैं और सब लोग उनको धिक्कार देते हैं इसलिए मनुष्यकी शोभा सत्य और मधुर भाषण करनेमें ही है। सत्य और मधुर भाषण करनेवालेको सब लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और सब लोग उसका विश्वास करते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो सत्य भाषण करना ही मनुष्यकी मनुष्यता है, इसलिए प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सत्य भाषण ही करना चाहिए। इसी प्रकार उस सत्य

भाषणकी शोभा भगवान अरहन्तदेवकी भक्ति करनेसे, उनकी स्तुति करनेसे वा उनकी पूजा करनेसे होती है अथवा निर्ग्रंथ वीतराग गुरुओंकी स्तुति भक्ति करनेसे होती है। जो मनुष्य सत्य भाषण करता हुआ भी देव और गुरुओंकी स्तुति नहीं करता उसका वह सत्य भाषण भी सफल नहीं माना जाता। सत्य भाषणकी सफलता देव, गुरुकी स्तुति करनेमें ही है तथा देव, गुरुकी स्तुति वा भक्ति करनेकी शोभा अपने आत्माका तथा अन्य जीवोंके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। जो पुरुष देव, गुरु भक्ति करता हुआ भी अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझता तथा अन्य जीवोंके स्वरूपको अपने आत्माके समान नहीं समझता उसकी देव, गुरु भक्ति वा स्तुति व्यर्थ ही समझनी चाहिए। इसका भी कारण यह है कि देव भक्ति वा गुरु सेवा आत्मज्ञानके लिए ही की जाती है। देव गुरु भक्ति करते हुए भी जिसको आत्मज्ञान प्रगट न हो उसकी वह भक्ति सफल नहीं कही जा सकती इसलिए देव गुरु भक्ति करते हुए आत्मज्ञान प्रगट करना मनुष्यका कर्तव्य है तथा उस आत्मज्ञानकी शोभा समता और शांतिसे है। किसीसे मोह न करना और सुख दुःख वा हानि-लाभ सबको समान मानना वा जीवन-मरणको भी समान मानना समता है तथा क्रोधादिक कषायोंका त्याग कर देना और आत्माको अपने आत्मामें लीन रखना शांति है। यह समता और शांति आत्मज्ञानका फल है। आत्मज्ञान उसीको समझना चाहिए जिसके आत्मामें समता और शांति हो। यही समता और शांति मोक्षका कारण है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको प्राप्त कर लेना उसका कर्तव्य है।

प्रश्न–चिन्ता स्वरूपं वद मेत्र देव ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर मेरे लिए चिन्ताका स्वरूप कहिए?

उत्तर–धनस्य चिन्ता प्रथमं हि पश्चाद् गृहस्य नार्याश्च सुसेवकस्य।
तेषां च लाभोपि भवेत्सुपुण्यात् तथाप्यलाभात्तनयस्य चिन्ता ॥२५१

भवेत्सुपुण्याद्धूरपुत्रलाभस्तथापि पापाद्धि सरोगदेहः ।
नीरोगदेहोपि भवेत्सुपुण्यात् कन्याद्यलाभाद्धि पुनश्च चिन्ता ।२५२।
तासां च लाभोपि भवेत्सुपुण्याद् राज्याद्यलाभाद्धि पुनश्च चिन्ता ।
तस्यापि लाभश्च भवेत्सुपुण्यात् तारुण्यहानेश्च पुनर्हि चिन्ता ।२५३।
न स्याद्धि चिन्तान्त इतीह लोके तत्त्यागतो ह्येव भवेत्तदन्तः ।
ज्ञात्वेति तत्त्यागविधिर्विधेयो यतो भवेत्स्वात्मसुखं स्वराज्यम् ।२५४।

अर्थ—देखो इस संसारमें इस गृहस्थको सबसे पहले धनकी चिन्ता होती है यदि पुण्योदयसे धन मिल जाता है तो फिर घरकी चिन्ता होती है। यदि पुण्योदयसे घर भी बन जाय तो फिर स्त्रीके प्राप्त होनेकी चिन्ता होती है। यदि पुण्योदयसे स्त्रीकी भी प्राप्ति हो जाय तो फिर सेवक मिलनेकी चिन्ता होती है। यदि विशेष पुण्यके उदयसे इन सबकी प्राप्ति हो जाय तो फिर पुत्र न होनेकी चिन्ता बनी रहती है। यदि कदाचित् पुण्यके उदयसे पुत्र भी प्राप्त हो जाय और उसका शरीर नीरोग न हो तो उसके रोगको दूर करनेके लिए दिन रात चिन्ता बनी रहता है। यदि पुण्योदयसे उस पुत्रका शरीर भी नीरोग हो जाय तो फिर कन्या आदिके न होनेकी चिन्ता बनी रहती है। यदि शुभकर्मके उदयसे कन्याएं भी हो जांय तो राज्यादिके प्राप्त न होनेकी चिन्ता लग जाती है। यदि विशेष पुण्यकर्मके उदयसे राज्यकी प्राप्ति भी हो जाती है तो फिर अपने तारुण्यके नष्ट होनेकी महा चिन्ता लग जाती है। इस प्रकार संसारमें चिन्ताका कभी अन्त नहीं होता। यदि इस संसारमें चिन्ताका अन्त होता है तो परिग्रहका त्याग कर देनेसे ही होता है। इसलिए भव्यजीवोंको समस्त परिग्रहोंका त्याग कर

चिन्ताओंका अंत कर देना चाहिए, जिससे कि आत्माका अनंत सुख और आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्य प्राप्त हो जाय।

भावार्थ—इस संसारमें अनन्त पदार्थ भरे हुए हैं और प्रत्येक जीवके साथ अनन्तानन्त पदार्थोंका मोह लगा हुआ है तथा जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है। यदि सब जीवोंका मोह इकट्ठा किया जाय और प्रत्येक जीवके मोहके लिए अलग-अलग पदार्थका बांट किया जाय तो एक-एक जीवके मोहके भागमें प्रत्येक पदार्थका एक भाग भी नहीं पडता है। फिर भला अनन्तानन्त जीवोंके मोहसे उत्पन्न हुई इच्छाओंकी पूर्ति कैसे हो सकती है? इस संसारमें किसी भी जीवकी इच्छाएं कभी पूर्ण नहीं हो सकतीं तथा इच्छाओंका पूर्ण न होना ही दुःख है। इस संसारमें सबसे अधिक विभूति चक्रवर्तीकी होती है, परन्तु यदि उसकी भी इच्छा न मिटे तो उसे भी महा दुःखी समझना चाहिए। सुभौम चक्रवर्तीने छहों खंड जीत लिए थे परन्तु उसके किसी पहले भवके शत्रु देवने एक बहुत मीठा फल लाकर दिया और चक्रवर्तीके पूछनेपर उसने किसी द्वीपका फल बतलाया। इस चक्रवर्तीकी तृष्णा और इच्छा बहुत अधिक थी इसलिए वह फल लेनेकी इच्छासे और उस देशको जीतनेकी इच्छासे उसके साथ चल पडा। जब वह बीच समुद्रमें पहुँचा तो देवने उस जहाजको डुबानेका प्रयत्न किया परन्तु चक्रवर्ती उस समय णमोकार मंत्रका स्मरण करने लगा, इसलिए वह जहाज डूब नहीं सका। जब देवने भी यह बात जान ली तब चक्रवर्तीसे कहा कि—महाराज! यदि आप णमोकार मंत्र लिखकर उसको पांवके अंगूठेसे मिटावेंगे तो उस द्वीपमें पहुँच सकेंगे, नहीं तो नहीं। चक्रवर्तीको उस फलके खानेका और उस द्वीपको जीतनेकी तीव्र इच्छा थी, इसलिए उसने यह महापाप करना भी स्वीकार कर लिया। उस चक्रवर्तीने ज्यों ही णमोकार मंत्र लिखकर पांवके अंगूठेसे मिटाया त्यों ही उस देवने वह जहाज डुबोकर अपने पहले भवकी शत्रुताका बदला ले लिया। चक्रवर्ती सुभौम उसी समय मरकर सातवें नरकमें पहुंचा।

यह उसकी तीव्र लालसाओंका ही फल है। इस संसारमें जो-जो लालसाएं पूर्ण नहीं होतीं उन्हींकी चिन्ता रात-दिन बनी रहती है। ये चिन्ताएं समस्त शरीरको सुखा देती हैं और रात-दिन संक्लेश परिणाम उत्पन्न किया करती हैं। यदि किसी पुरुषकी कोई चिन्ता मिट जाती है तो उसके लिए दो नई चिन्ताएं उत्पन्न हो जाती हैं, यदि वे दोनों पूर्ण होती हैं तो चार नई चिन्ताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार यह मनुष्य चिन्ताओंका पुतला बन जाता है और शीघ्र ही निर्बल होकर मरनेके सन्मुख हो जाता है। यदि इन चिन्ताओंके दूर करनेका कोई उपाय है तो एकमात्र मोहका त्याग है। जो मनुष्य मोहका त्याग कर समस्त पदार्थोंको समान भावसे देखता है, सबमें समता धारण करता है, धनकी प्राप्ति तथा निर्धनतामें समानता धारण करता है, दुःख सुखमें समता धारण करता है, जीवन मरणमें समता धारण करता है तथा किसीसे भी मोह वा किसी प्रकारका संबंध नहीं रखता वह पुरुष समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होकर महासुखी हो जाता है। फिर उसको आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अनुपम सुख प्राप्त हो जाता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको मोहका त्याग कर समस्त चिन्ताओंका त्याग कर देना चाहिए और इस प्रकार सुखी होकर आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—क्व नैव तिष्ठेद् वद मे गुरो कौ ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें कहां-कहां नहीं रहना चाहिए?

उत्तर—यस्मिन् प्रदेशेऽक्षसुखप्रदेपि न शुद्धवृत्तिर्न मुनेर्निवासः।
न ह्यात्मबुद्धिर्न कृती न धर्मी न प्रेमभावो न च तत्त्वचर्चा ॥२५५॥
न मोक्षदः संयमशीललाभो न स्यात्सनीतिः सुखदश्च राजा।
स्वप्नेपि तस्मिन्न वसेत्प्रदेशे मोक्षार्थिभव्यः स्वरसं पिपासुः ॥२५६॥

अर्थ—जो प्रदेश इंद्रियोंको सुख देनेवाला हो तथापि जिस प्रदेशमें शुद्ध चारित्रका पालन न हो सकता हो, जिसमें मुनियोंका निवास न हो, जिसमें आत्माके कल्याण करनेवाली बुद्धि न हो, जिसमें आत्माका कल्याण करनेवाला कोई न रहता हो, जिसमें कोई धर्मात्मा न रहता हो, जिसमें कोई धर्मसे प्रेम न रखता हो, जिसमें तत्त्वोंकी चर्चा न की जाती हो, जिसमें मोक्ष देनेवाले संयम और शीलकी प्राप्ति न होती हो और जिसमें न्याय और नीतिको पालन करनेवाला तथा सुख देनेवाला राजा न हो, ऐसे देशमें अपने आत्मजन्य आनंदको पीनेकी इच्छा करनेवाले और मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य-जीवोंको स्वप्नमें भी कभी नहीं रहना चाहिए।

भावार्थ—यह मनुष्य जन्म मोक्ष प्राप्त करनेके लिए और उसके कारणभूत धर्मको साधन करनेके लिए है। इंद्रियोंके सुख तो पशु योनिमें भी प्राप्त होते हैं, परंतु मोक्षकी प्राप्ति और उसके कारणभूत धर्मका साधन पशु योनिमें नहीं है। देव योनिमें इंद्रियोंके सुख सबसे अधिक हैं, परंतु मोक्षकी प्राप्ति और चारित्र धारण करनेका साधन वहां भी नहीं है। एक मनुष्य पर्यायमें ही मोक्षकी प्राप्ति और उसके कारणभूत धर्मका साधन हो सकता है अन्य किसी पर्यायमें नहीं। मनुष्य पर्यायमें भी म्लेच्छखंडोंमें मोक्षका कोई साधन नहीं है, क्योंकि आर्यखंडमें ही मोक्षके साधन हैं आर्यखंडमें ही तीर्थंकरोंका विहार होता है और आर्यखंडमें ही शुद्ध चारित्र धारण किया जा सकता है। आर्यखंडमें भी शूद्रादिकोंको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है उच्च वर्णकी सज्जातिमें जन्म लेनेवाले मनुष्योंको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा वे ही लोग मोक्षके साधनभूत चारित्रको धारण कर सकते हैं। इन्द्रियसुख तो अनादिकालसे यह जीव भोगता ही आ रहा है और उसके लिए महा पाप करता हुआ परिभ्रमण करता आ रहा है इस लिए बडी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले इस मनुष्य पर्यायको पाकर इन्द्रियोंके सुखोंकी लालसाका त्याग कर देना चाहिए और धर्मको धारण करनेके लिए ऐसे स्थानमें ही रहना चाहिये जहां धर्मके सब साधन

हों, जहांपर जिनालय हों, जैन शास्त्रोंके विद्वान् हों, मुनियोंका विहार हो, संयम, शील, चारित्र, व्रत, उपवास, प्रभावना आदिके साधन अधिक रूपमें मिलते हों और राजा भी धर्मात्मा हो। जहांपर धर्मके ये साधन न हों वहांपर न तो कभी जाना चाहिए और न कभी रहना चाहिए। अधार्मिक देशसे तो बहुत दूर रहना ही अच्छा है। स्वप्नमें भी ऐसे देशमें रहनेकी लालसा नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न–कस्य समागमः स्वामिन् न कार्यो मे वद प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि किसकी संगति नहीं करनी चाहिए ?

उत्तर–यस्मिन् हि जीवे सुखदो न धर्मो, न न्यायनीतिः परलोकचर्चा।
न लोकलज्जा न च कर्मभीति, न त्यागभावो न कुलादिरक्षा॥२५७
शास्त्रज्ञता दीर्घविचारता न, विज्ञानता नैव गुणज्ञतास्ति।
समागमस्तस्य नराधमस्य, कार्यो न भव्यैर्निजसाधकैश्च ॥२५८॥

अर्थ–जो मनुष्य न तो सुख देनेवाले धर्मको पालन करता हो, न न्याय वो नीतिका पालन करता हो, न परलोककी चर्चा करता हो. जिसको न तो लोकलज्जा हो, न कर्मोंका डर हो, न पाप कार्योंके त्याग करनेके भाव हों, न अपने श्रेष्ठकुलकी अथवा सज्जातित्वकी रक्षा करनेके भाव हों, जो मनुष्य न तो जैन शास्त्रोंका जानकार हो, न आगे पीछेका विचार करनेवाला दूरदर्शी हो, न किसी विज्ञानको वा स्वपरभेदविज्ञानको धारण करता हो और जो गुणोंका जानकार भी न हो ऐसा मनुष्य नीच मनुष्य कहलाता है। अपने आत्माकी सिद्धि करनेवाले भव्यपुरुषोंको ऐसे नीच मनुष्योंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए।

भावार्थ–यह मनुष्य जैसे मनुष्योंकी संगति करता है वैसे ही इसके भाव हो जाते हैं। यदि यह

मनुष्य धर्मात्मा मनुष्योंकी संगतिमें रहता है तो धर्मात्मा बन जाता है, यदि जुआरियोंकी संगतिमें रहता है तो जुआ खेलना सीख जाता है, यदि चोरोंकी संगतिमें रहता है तो चोरी करना सीख जाता है, यदि मुनियोंके निवासमें रहता है तो संसारसे विरक्त होनेका प्रयत्न करता है, यदि कुटुंबमें रहता है तो उनसे मोह बढा लेता है। कहां तक कहा जाय ? यह अनुभूत निश्चित सिद्धांत है कि यह मनुष्य जैसी संगतिमें रहता है वैसा ही हो जाता है इसलिए धर्मात्मा मनुष्योंको ऐसे ही मनुष्योंकी संगतिमें रहना चाहिए जो धर्मात्मा हों। धर्मात्माओंके साथ रहनेमें दिन रात धर्मकी वृद्धि होती रहती है और पुण्यका साधन बढता रहता है। न्यायवान् और नीतिवान् लोगोंकी संगतिमें रहनेसे इस मनुष्यको कभी दुःख नहीं पहुंच सकता और न यह मनुष्य दूसरोंको दुःख देकर पाप उपार्जन कर सकता है। जो लोग रात दिन परलोककी चर्चा करते रहते हैं, परलोकके दुःखोंसे डरते रहते हैं उनकी संगति करनेसे यह मनुष्य अपना परलोक भी सुधार लेता है। इस संसारमें लोक लज्जा रखनेसे भी बहुतसे पाप छूट जाते हैं। जो मनुष्य लोक लज्जा छोड देते हैं वे निर्लज्ज होकर अनेक प्रकारके दुष्कृत्य और पाप किया करते हैं। इसलिए निर्लज्ज लोगोंकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार जो मनुष्य अशुभ कर्मोंसे डरते रहते हैं उनकी संगति करनेसे यह मनुष्य भी अशुभ कर्मोंसे डरता रहता है तथा पुण्य कार्योंमें ही लग जाता है। अपने श्रेष्ठ कुल और सज्जाति की रक्षा करना प्रत्येक धर्मात्मा मनुष्यका कर्त्तव्य है। श्रेष्ठ कुलकी रक्षा और सज्जातित्वकी रक्षा सदाचार पालन करनेसे होती है। व्यभिचार सेवन करनेसे वा धरेजा, विधवा-विवाह वा विजातीय-विवाह करनेसे सज्जातित्व नष्ट हो जाता है। पश्चिमी सभ्यतासे रंगे हुए कुछ लोग इस विजातीय-विवाहको ही अन्तर्जातीय-विवाह कहते हैं, परन्तु यह मायाचारी है। ये जातियां अनादि कालसे चली आ रही हैं तथा विवाह सम्बन्ध अपनी जातिमें ही होता है। विजातिमें नहीं। विजातिकी कन्या लेनेसे वा विजातीय पुरुषको देनेसे भिन्न-भिन्न

जातियां नहीं रह सकतीं तथा भिन्न भिन्न जातियां न रहनेसे किसी भी पापके लिए जातीय दंड नहीं हो सकता। जातीय दंड न होनेसे उच्छृंखलता और दुराचारकी वृद्धि होती है। इसलिए इस मनुष्यको कुल और जातिकी रक्षा करनेके लिए ऐसे ही मनुष्योंकी संगतिमें रहना चाहिए जो सदाचार पालन कर जाति और कुलकी रक्षा करते हों। इसी प्रकार जो मनुष्य शास्त्रोंके जानकार हैं उनकी संगति करनेमे शास्त्रोंकी चर्चाका आनन्द आता है, और शास्त्रोंका ज्ञान बढता है। विचारशील मनुष्योंके पास बैठनेसे यह मनुष्य भी अपने हित अहितका विचार कर सकता है। गुणी और गुणज्ञ मनुष्योंके पास बैठनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है। ज्ञानी मनुष्योंके पास बैठनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और स्वपर-भेदविज्ञानको धारण करनेवाले मनुष्योंके पास बैठनेसे आत्माका कल्याण होता है, आत्माका ज्ञान होता है और अनेक पापोंका त्याग होता है इसलिए भव्यपुरुषोंको उत्तम धर्मात्मा मनुष्योंकी संगतिमें ही बैठना चाहिए। निर्लज्ज, अधार्मिक, निर्गुणी, मूर्ख, अविचारी और धार्मिक संस्कारोंसे रहित मनुष्योंके समीप कभी नहीं बैठना चाहिए।

प्रश्न—केषां कदा परीक्षा स्याद्वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब मुझे यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि किन-किन लोगोंकी कब-कब परीक्षा हो जाती है?

उत्तर—प्रभोः परीक्षा गुणदोषभेदे स्मृतेः परीक्षा सदसद्विचारे।
साधोः परीक्षाद्युपसर्गकाले नारी परीक्षापि विपत्प्रकीर्णे ॥२५९॥
सुक्तेः परीक्षापि यथार्थमार्गेऽसुरक्षणे स्यान्नृपतेः परीक्षा।
शास्त्रार्थकालेऽखिलशास्त्रिणः स्यात् मुख्या परीक्षा सुलभान्यकाले॥

अर्थ—देवकी परीक्षा गुण और दोपके भेद करनेसे होती है, स्मृतिकी परीक्षा सत् और असत्के विचार करनेमें होती है, साधुकी परीक्षा उपसर्गके समय होती है, स्त्रीकी परीक्षा विपत्तिके समयमें होती है, मोक्षकी परीक्षा यथार्थ मार्गपर चलनेसे होती है, राजाकी परीक्षा प्राणियोंकी रक्षा करनेमें होती है और समस्त शास्त्री लोगोंकी परीक्षा शास्त्रार्थके समयमें होती है। यह सबकी मुख्य परीक्षाका समय बतलाया है। सरल परीक्षा किसी अन्य समयमें भी हो सकती है।

भावार्थ—जो वीतराग हों, सर्वज्ञ हों और हितोपदेशी हों उनको देव कहते हैं। जिनमें ये गुण न हों उनको देव कभी नहीं कह सकते हैं। जिनमें राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि किसी प्रकारके विकार न हों तथा स्त्री शस्त्र अस्त्र वस्त्र आभूषण आदि किसी प्रकारका परिग्रह न हो उनको वीतराग कहते हैं। जो वीतराग होता है, वही सर्वज्ञ होता है। जो वीतराग नहीं होता वह कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो वीतराग और सर्वज्ञ होता है वही हितोपदेशी होता है जो वीतराग और सर्वज्ञ नहीं होता वह कभी हितोपदेशी नहीं होता। इसलिए देवकी परीक्षा करनेके लिए वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन गुण देखने चाहिए। जिनमें ये तीन गुण हों वही देव है। जिनमें ये तीनों गुण न हों, काम, क्रोध आदि विकार हों वा स्त्री अस्त्र शस्त्र वा वस्त्राभूषण परिग्रह हों वा भूख, प्यास आदि दोप हों तो उनको देव कभी नहीं मानना चाहिए। देवकी परीक्षा इसी प्रकार हो सकती है। इसी प्रकार स्मृतिकी परीक्षा सत् और असत्के विचार करनेमें होती है। जो मनुष्य अपने हित और अहितका विचार नहीं कर सकते अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सकते उनकी स्मृति वा बुद्धि ठीक नहीं समझनी चाहिए। साधुकी परीक्षा उपसर्गके समय होती है। यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधुको गाली देता है वा मारता है तो उस समय समता धारण करना साधुका काम है। यदि किसी समय कोई आकस्मिक आपत्ति आ जावे तो उस समय भी साधुओंको समता और शांति धारण करना

चाहिए। जो साधु किसी उपसर्गके समय अथवा आकस्मिक आपत्तिके समय व्यग्र हो जाता है वा क्रोध करने लगता है वह कभी साधु नहीं हो सकता। अपने आत्माके ध्यानमें लीन रहनेवाले साधुके हृदयमें भारीसे भारी आपत्ति आनेपर भी कभी किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे यथार्थ साधुकी परीक्षा हो सकती है। इसी प्रकार स्त्रीकी परीक्षा विपत्तिके समय की जाती है। जो स्त्री विपत्तिके समयमें भी पतिकी सेवा करती है वही स्त्री पतिपरायणा कहलाती है, अन्य नहीं। मुक्तिकी परीक्षा उसके यथार्थ मार्गमें चलनेसे होती है। जो साधु कामादिक समस्त विकारोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण कर लेता है तथा अनुक्रमसे चारित्रकी पूर्णता करता हुआ वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है वही साधु मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जो पुरुष साधु होकर भी परिग्रह धारण करता है तथा आत्मज्ञानसे वंचित रहता है वह साधु साधु नहीं कहला सकता ऐसे साधुको कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्मोंका सर्वथा नाश होना मोक्ष है तथा कर्मोंके नाश करनेके ध्यान तपश्चरण आदि जितने साधन हैं वे सब उसके मार्ग हैं। ऐसे साधनोंसे ही मोक्षकी प्राप्तिका अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार राजाकी परीक्षा प्राणियोंकी रक्षा करनेसे होती है। जो राजा अपनी प्रजाको दुःखी करता है वा शिकार आदिके द्वारा निरपराध जीवोंको मारता है वह श्रेष्ठ राजा कभी नहीं कहला सकता। राजा अपनी प्रजाका पिता कहलाता है तथा प्रजा उसकी सन्तानके समान मानी जाती है। जिस प्रकार उसके राज्यमें रहनेवाले मनुष्य सब उसकी प्रजा कहलाते हैं, उसी प्रकार उसके राज्यमें रहनेवाले पशु पक्षी वा जलचर जीव भी सब उसकी प्रजा कहलाते हैं। इसलिए जिस प्रकार पिता अपनी सन्तानका पालन पोषण कर उसको सुखी रखता है उसी प्रकार राजाको भी पशु पक्षी मनुष्य आदि समस्त प्रजाको पालन पोषण करते हुए सुखी रखना चाहिए। जो राजा इस प्रकार अपनी प्रजाको सुखी रखता है वही राजा श्रेष्ठ कहलाता है। जो राजा अपनी

प्रजाको दुःखी रखता है वह राजा राजा कहलाने योग्य कभी नहीं हो सकता। यही राजाकी परीक्षाका उपाय है। इसी प्रकार शास्त्री लोगोंकी परीक्षा शास्त्रार्थमें होती है। शास्त्रार्थ करते समय जो शास्त्री दूसरेकी असत् युक्तियोंका खंडन कर दे और अपनी सत्युक्तियोंका मंडन कर पदार्थके यथार्थ स्वरूपको सिद्ध कर देवे वही श्रेष्ठ शास्त्री कहलाता है। इसके लिए अनेक शास्त्रोंके पठन-पाठन करनेकी आवश्यकता होती है। जो शास्त्री अनेक प्रकारके अनेक शास्त्रोंका पठन-पाठन कर आत्मा आदि पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे जान लेता है और फिर श्रेष्ठ युक्तियोंके द्वारा पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका खंडन कर अपने यथार्थ स्वरूपका मंडन करनेमें चतुर होता है वही शास्त्री श्रेष्ठ शास्त्री कहलाता है। जो शास्त्री थोडेसे खंडशास्त्रोंको पढकर अपनी असत् युक्तियोंके द्वारा पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका मंडन करता है वह श्रेष्ठ शास्त्री कभी नहीं कहला सकता। यह सब मुख्य परीक्षाका उपाय बतलाया है। अन्य सरल परीक्षाका उपाय चाहे जिस समय और चाहे जिस प्रकार किया जा सकता है।

प्रश्न–राजा पिता च पापी कः संसारे वद मे गुरो ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें कौनसा राजा पापी कहलाता है और कौनसा पिता पापी कहलाता है ?

उत्तर–सद्धर्मसंस्कारकलादिकैर्यैरिहान्यलोके सुखशान्तिदैश्च ।
संस्कारिता न प्रकृतिः प्रजा च येन स्वपुत्रो विमलाक्रियाभिः ॥२६१॥
स एव पापी च पितापि माता राजापि पापी प्रमुखः प्रवीरः ।
ज्ञात्वेति तद्दोषविनाशनार्थं संस्कारणीयस्तनयः प्रजापि ॥२६२॥

अर्थ–जो माता पिता इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख और शान्ति देनेवाले धार्मिक

संस्कारोंसे तथा अनेक प्रकारकी कलाओंसे और निर्मल क्रियाओंसे अपने पुत्र पौत्रोंका संस्कार नहीं करते वे माता पिता महा पापी समझने चाहिए। इसी प्रकार जो शूर-वीर और मुख्य राजा होकर भी इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख और शान्ति देनेवाले धार्मिक संस्कारों तथा अनेक प्रकारकी विद्या वा कलाओंसे और निर्मल क्रियाओंसे अपनी स्वाभाविक प्रजाका संस्कार नहीं करता वह राजा भी पापी समझना चाहिए। यही समझ कर संस्कार न होनेके दोषोंको नाश करनेके लिए माता पिताको अपने पुत्रका संस्कार करना चाहिए और राजाको प्रजाका संस्कार करना चाहिए।

भावार्थ—जिस प्रकार हीरा आदि रत्नोंका संस्कार शाणपर रख कर किया जाता है और संस्कार होनेपर उनका मूल्य बढ जाता है और चमक-दमक वा प्रभाव बढ जाता है उसी प्रकार सन्तान वा प्रजाका संस्कार करनेसे उसकी योग्यता बढ जाती है तथा जिस प्रकार अग्निके द्वारा कच्चे घडेका संस्कार किया जाता है और संस्कार करनेसे ही उसमें जलधारण आदि क्रिया हो सकती है। यदि घडेका अग्नि संस्कार नहीं किया जाय तो फिर उसमें न तो जल भरा जा सकता है और न वह किसी और काममें आ सकता है। इसी प्रकार प्रजा वा सन्तान भी संस्कारोंके होनेपर ही चारों पुरुषार्थोंका सेवन करनेमें तत्पर हो सकती है। यदि उनका संस्कार न किया जाय तो फिर उनसे कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। यह निश्चित सिद्धान्त है कि जिसके संस्कार होते हैं वही पुरुष चारों पुरुषार्थोंका वा विशेष कर मोक्ष पुरुषार्थका पात्र होता है। जिसके संस्कार नहीं होते वह किसी भी पुरुषार्थको सिद्ध नहीं कर सकता। देखो! शूद्रोंके संस्कार नहीं होते तथा स्त्रियोंके संस्कार नहीं होते, इसलिए उनसे कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। स्त्रियां मोक्ष तो जा ही नहीं सकतीं तथा कामका फल सन्तान है वह स्त्रियोंकी कहलाती नहीं, वह पुरुषकी ही कहलाती है। इसलिए काम पुरुषार्थकी मुख्यता पुरुषके ही मानी जाती है। अर्थ पुरुषार्थ स्त्रियोंसे होता नहीं वह भी मुख्यतासे पुरुषोंसे ही सिद्ध किया

जाता है और धर्म पुरुषार्थमें भी स्त्रियां सहायक मात्र हैं। दान देनेमें सहायक हैं, पूजा करनेमें सहायक हैं वा अन्य समस्त धार्मिक कार्योंमें वे पुरुषकी सहायक मानी जाती हैं। इसलिए धर्म पुरुषार्थकी मुख्यता भी पुरुषोंके ही कही जाती है। इसी प्रकार शूद्रोंके भी पुरुषार्थोंकी सिद्धि नहीं होती इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जिनके संस्कार होते हैं वे ही पुरुष चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकते हैं। चारों पुरुषार्थोंमें लौकिक कार्य भी सब आ जाते हैं और पारलौकिक कार्य भी सब आ जाते हैं। इसलिए जिसके संस्कार होते हैं वे दोनों लोकोंके कर्मोंको सिद्ध कर लेते हैं। यज्ञोपवीत आदि धर्मशास्त्रोंमें कहे हुए समस्त संस्कारोंको करा देना तथा विद्या-कला आदि सीखनेके लिए गुरुकुलमें भेज देना माता पिताका काम है। तथा लोगोंके धार्मिक कार्योंमें किसी प्रकारका विघ्न न आने देना, धार्मिक कार्योंके सब सुभीते कर देना, गुरु कुलोंका यथेष्ट प्रबन्ध करना तथा पठन-पाठन कला उद्योग धंधे आदि सबके साधन मिला देना राजाका काम है। गर्भमें आते ही बालकके संस्कार प्रारम्भ हो जाते हैं। जैसे संस्कार होते हैं वैसा ही प्रभाव बालकपर पडता है यदि संस्कार धार्मिक होते हैं और पंच परमेष्ठीके वाचक यथार्थ मंत्रोंसे किये जाते हैं तो बालकपर धार्मिक प्रभाव पडता है और वह बालक धर्मात्मा ही होता है यदि संस्कार मिथ्यामंत्रोंके द्वारा किए जाते हैं तो उनका प्रभाव उस बालकपर मिथ्यारूप ही पडता है और वह बालक मिथ्यादृष्टि होता है। यदि उस बालकके कोई किसी प्रकारके संस्कार नहीं होते तो वह बालक सब संस्कारोंसे रहित अबोध होता है। यदि दुराचार आदिके द्वारा निकृष्ट और नीचतापूर्ण संस्कार किए जाते हैं तो वह बालक निकृष्ट और नीच ही होता है इसलिए प्रत्येक माता पिताको अपनी सन्तानके धार्मिक संस्कार करना चाहिए और प्रत्येक राजाको उन संस्कारोंके साधन मिला देना चाहिए। जो माता पिता अपने बालकोंका संस्कार नहीं करते वे उस सन्तानके द्वारा होनेवाले अनेक पापोंके साधक बन जाते हैं और इसीलिए महापापी कहलाते हैं।

प्रश्न–पाश्चात्य वायुना स्पृष्टः कीदृशो विद्यते नरः ।

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि जिस मनुष्यको पश्चिमी वायुका स्पर्श हो जाता है वह कैसा होता है।

उत्तर–पाश्चात्यवायुना स्पृष्टाः पाश्चात्यवेषधारकाः ।
पाश्चात्यक्रमकीर्णाश्च पाश्चात्यज्ञानवंचिताः ॥ २६३॥
प्रारम्भे भान्ति मूर्खास्तेऽन्ते निस्तेजाश्च दुःखिनः ।
ज्ञात्वेति बुद्धिर्वेषादिः कार्यो धर्मानुकूलकः ॥२६४॥

अर्थ–जिन लोगोंको पश्चिमी वायुने स्पर्श कर लिया है, जिन्होंने पश्चिमी वेष धारण कर लिया है, जो पद-पदपर पश्चिमी लोगोंके अनुसार चलते हैं और जो पश्चिमी ज्ञानसे ठगे गये हैं ऐसे मूर्ख लोग प्रारम्भमें तो अच्छे जान पडते हैं परन्तु अन्तमें जाकर प्रभाव रहित और दुःखी हो जाते हैं। यही समझकर भव्य-जीवोंको अपनी बुद्धि और अपना वेष सब धर्मानुकूल ही रखना चाहिए।

भावार्थ—वर्तमानमें पश्चिमके लोग किसी धर्मपर श्रद्धा नहीं रखते। वे लोग खाना-पीना और मौज उडाना ही मनुष्यता समझते हैं। यही कारण है कि उनमें न तो किसी प्रकारका इन्द्रिय दमन है और न किसी प्रकारका विषयोंका त्याग है। वे लोग खाने-पीनेमें निरंकुश होते हैं और सदाचारकी वासना तक उनके हृदयमें नहीं रहती, विधवा-विवाह ही इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है। उनके विवाहादिक संस्कार भी धर्मानुकूल नहीं होते और ये ही सब उनके अधार्मिक होनेके कारण हैं। शौच शुद्धि, दन्तधावन, स्नान आदि कोई भी क्रियाएं वहां नियमानुकूल नहीं होतीं। इसीलिए धर्महीन देश कहलाता है। वहांका वेष वहांके शीतपूर्ण देशके योग्य भले ही हो परन्तु उस वेषसे धार्मिक क्रियाएं कोई

नहीं हो सकती। इसीलिए उस वेषको अधार्मिक कहा जाता है। उनका ज्ञान इतना मिथ्या है कि वह अपने आत्माका भी अनुभव नहीं कर सकता। यही कारण है कि वे लोग आत्मतत्त्वको भी नहीं मानते हैं। उनका लौकिकज्ञान भी इतना विपरीत है कि वे मनुष्योंको भी परम्परासे बन्दरोंकी सन्तान मानते हैं। मनुष्योंकी सन्तान मनुष्य ही होती है और बन्दरोंकी सन्तान बन्दर ही होते हैं इस अत्यंत साधारण और रात दिन देखी हुई बातको भी वे विपरीत मानते हैं। यह भारतवर्ष अनादिकालसे धर्म प्राण चला आ रहा है। इसके धार्मिकतत्त्व और धार्मिक क्रियाएं सब सर्वोत्कृष्ट और अचल हैं। पश्चिममें रहनेवाले भी कुछ विद्वान् इस बातको स्वीकार करते हैं तथापि पश्चिमी वायुमें रंगे हुए कुछ अज्ञानी लोग अपनी धार्मिक क्रियाओंको छोडकर तथा अपने धार्मिकवेष वा धार्मिकज्ञानको छोडकर उन्हीं पश्चिमी लोगोंके समान अधार्मिक क्रियाएं करने लगते हैं अधार्मिक वेष धारण कर लेते हैं और भोजन पान आदि भी सब उन्हींके समान करने लगते हैं। यद्यपि राज्यके प्रभावसे पहले ही, पहले वे कुछ प्रभावशाली दिखाई पडते हैं परन्तु अन्तमें उन्हें पछताना अवश्य पडता है और दुःखी होना पडता है इसलिए भव्यजीवोंको अपना वेष और अपने विचार सब धर्मानुकूल ही रखने चाहिए। यही आत्माके कल्याणका यथार्थ-मार्ग है।

प्रश्न–क स्नेहकरणेनैव दुःखं नश्यति मे वद ?

अर्थ–हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किसमें अनुराग करनेसे अपना दुःख नष्ट होता है ?

उत्तर–देवे हि चाष्टादशदोषमुक्ते स्याद्वादशुद्धे सुखदे सुशास्त्रे।
स्वानन्दतुष्टे सुगुरौ ह्यसंगे स्नेहं तनोत्येव च तद्गुणार्थी ॥२६५॥

स एव तत्पुण्यभवं सुखादिं भुक्त्वा स्वराज्यं लभते स्वसद्म ।
यस्ताद्विरुद्धश्च करोति कार्यं प्राप्नोति दुःखं विषमं निगोदे ॥२६६॥

अर्थ—अठारह दोषोंसे रहित वीतराग सर्वज्ञको देव कहते हैं, स्याद्वाद सिद्धान्तसे सुशोभित होने वाले तथा सब जीवोंको सुख देनेवाले जिन प्रणीत शास्त्रोंको शास्त्र कहते हैं और समस्त परिग्रहोंसे रहित तथा अपने आत्मजन्य आनन्दमें मग्न रहनेवाले साधुको गुरु कहते हैं। जो भव्यपुरुष इन देव शास्त्र गुरुके वीतराग आदि गुणोंको धारण करनेकी इच्छा करता है वही पुरुष इन यथार्थ देव शास्त्र गुरुमें अनुराग करता है तथा ऐसा पुरुष उस देव शास्त्र गुरुके अनुरागसे उत्पन्न होने वाले पुण्यसे स्वर्गादिकोंके सुखोंको भोग कर अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यको प्राप्त हो जाता है और अन्तमें अपने मोक्षस्थानमें जा विराजमान होता है तथा जो पुरुष इसके विपरीत कार्य करता है, यथार्थ देव-शास्त्र गुरुमें अनुराग नहीं रखता वह पुरुष सदाकाल संसारमें परिभ्रमण करता हुआ नरक निगोदके विषम दुःख सहन किया करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री पुत्र आदि कुटुंबी लोगोंमें वा धन धान्यादिक बाह्य पदार्थोंमें अनुराग करनेसे अनेक प्रकारके महापाप करने पडते हैं और उन पापोंके कारण नरक निगोदके दुःख सहन करने पडते हैं उसी प्रकार भगवान अरहंत देवमें अनुराग करनेसे अनन्त पुण्यकी वृद्धि होती है। इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंत देव समस्त पापोंसे रहित हैं। घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे उनका आत्मा अत्यन्त निर्मल और शुद्ध हो जाता है। उनके अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं, चौतीस अतिशय प्रगट हो जाते हैं और आठ प्रातिहार्य प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार वे भगवान अपने कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माका यथार्थ कल्याण कर लेते हैं। जो पुरुष इसी प्रकार अपने पाप कर्मोंको

आत्मामें प्रगट करना चाहता है वही पुरुष भगवान अरहंत देवमें भक्ति वा अनुराग करना चाहता है। भगवान अरहंत देवके गुणोंको वार-वार स्मरण करना भक्ति है और उनको प्रगट करनेकी लालसा रखना अनुराग है। जो पुरुष अपने अनन्त चतुष्टय प्रगट करनेकी लालसासे उन गुणोंको वार-वार स्मरण करता है और फिर उनको प्रगट करनेके लिए क्रोधादिक कषायोंको सर्वथा त्याग कर पूर्ण चारित्र धारण करता है वह अवश्य ही पाप कर्मोंको नष्ट कर आत्मजन्य सुखमें मग्न हो जाता है। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। इसी प्रकार उन भगवान अरहंत देवके गुणोंको प्रगट करने वाले और उन गुणोंको प्रगट करनेके उपाय बतलानेवाले उन अरहंत देवके कहे हुए शास्त्र हैं। अथवा वीतराग निर्ग्रंथ गुरु हैं। शास्त्रोंको विनयके साथ पढ़नेसे तथा गुरुकी सेवा करनेसे मोक्षका यथार्थ मार्ग प्राप्त हो जाता है और धीरे-धीरे वह सेवा करनेवाला भव्यजीव अपने आत्माका कल्याण कर लेता है। इसलिए देव शास्त्र गुरुकी सेवा करनेमें स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। जो पुरुष देव शास्त्र गुरुकी सेवा-भक्ति नहीं करता केवल स्त्री पुत्रादिकके मोहमें लगा रहता है वह पुरुष अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता हुआ अवश्य ही नरक निगोदके महा दुःख सहन किया करता है। इसलिए भव्यजीवोंको देव शास्त्र गुरुमें ही अनुराग रखकर उनकी सेवा-भक्ति करते रहना चाहिए। यही आत्म कल्याणका सरल उपाय है।

प्रश्न—योस्ति सत्कर्मकार्ये भो निरुद्यमी स कीदृशः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष श्रेष्ठ कार्योंके करनेमें निरुद्यमी होता है वह कैसा गिना जाता है ?

उत्तर—निरुद्यमी स्यान्नरजन्म लब्ध्वा सत्कर्मकार्ये सुखदे सदा यः।
स एव पापी चतुरोपि मूर्खः श्रीमान् दरिद्रः सुजनोपि दुष्टः ॥२६७॥

प्रमोदसिंधोः परिलंघनार्थं सदुद्यमो वै पुरुषार्थसिद्धयै ।
ज्ञात्वेति भव्यो ह्यलसं विहाय सत्कर्मकार्ये च भवोद्यमी त्वम् ॥२६८॥

अर्थ—जो पुरुष मनुष्य जन्म पाकरके भी सुख देनेवाले श्रेष्ठ कार्योंके करनेमें सदाकाल निरुद्यमी बना रहता है उसे पापी ही समझना चाहिए। वह पुरुष चतुर होकर भी मूर्ख माना जाता है, धनी होकर भी दरिद्र गिना जाता है और सज्जन होकर भी दुष्ट कहा जाता है। यही समझकर हे भव्य! तू प्रमादरूपी समुद्रको लंघन करनेके लिए और मोक्षरूप पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिए अपने आलसका त्याग कर और दान, पूजा, व्रत, उपवास आदि श्रेष्ठ कार्योंके करनेमें सदाकाल उद्यमी बन।

भावार्थ—यह जीव इस संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण करता चला आ रहा है और चारों गतियोंके महा दुःख भोगता आ रहा है। इन चारों गतियोंके परिभ्रमणमें मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि यह मनुष्य जन्म प्राप्त होकर भी व्यर्थ चला जाता है तो फिर दूसरी बार उसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है तथा यह भी निश्चित सिद्धांत है कि इस संसारमें मोक्ष प्राप्त करनेके जितने श्रेष्ठ साधन हैं और पुण्य प्राप्त करनेके जितने श्रेष्ठ कार्य हैं वे सब इस मनुष्य-पर्यायमें ही हो सकते हैं। दूसरी कोई ऐसी पर्याय नहीं है जिसमें मोक्ष और पुण्यके पूर्ण साधन बन सकें। इसलिए मनुष्य जन्मको पाकरके व्रत, उपवास वा दान, पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमें कभी आलस नहीं करना चाहिए। जो पुरुष अत्यन्त दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्मको पाकरके भी पात्रदान वा जिनपूजा आदि कार्योंमें उद्यम नहीं करते उनके समान इस संसारमें अन्य कोई मूर्ख नहीं हो सकता। मनुष्य-जन्मका फल धन दान, पूजा आदिके द्वारा पुण्य उपार्जन करना है। जो पुरुष मनुष्य जन्म पाकरके तथा श्रेष्ठ कुल, निरोग देह आदि पाकरके भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेता वा चारित्र धारण कर महा पुण्य उपार्जन नहीं कर लेता वह धनी होकर भी आगेके जन्मके लिए निर्धन ही बना रहता है।

इसी प्रकार मनुष्य जन्म पाकरके स्वर्ग मोक्षके साधनभूत व्रत उपवास कर लेना वा ब्रह्मचर्य धारण कर चारित्र पालना ही सज्जनता है। जो पुरुष ऐसा नहीं करता वह कभी सज्जन नहीं कहला सकता। फिर तो उसे दुष्ट ही कहना चाहिए। इसलिए हे भव्य! तू आलसको सर्वथा छोड और सम्यक्चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सदाकाल उद्यम करता रह। यही मनुष्य जन्मका सार है और यही आत्मकल्याणका मार्ग है।

प्रश्न—स्वात्महितः कदा कार्यः स्वामिन् मे वद साम्प्रतम् ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस जीवको अपने आत्माका हित कब कर लेना चाहिए.?

उत्तर—कामाग्निकोपः प्रबलो न यावत पापी प्रलोभो हृदि न प्रविष्टः।
देहोस्ति यावत्सुदृढो विरोगी मृत्युस्तथा दूरतरोस्ति दुष्टः॥२६९॥
तावत्प्रकुर्युः स्वहितं प्रयत्नात् पूर्वोक्तदुष्टाः प्रबलाश्च न स्युः।
पश्चान्न शक्ताः किमपि स्वकृत्यं कर्तुं भवन्त्येव कदापि केपि॥२७०॥

अर्थ—जब तक यह कामदेवरूपी अग्नि और क्रोधरूपी कषाय प्रबल नहीं होता, जब तक यह तीव्र और महापापी लोभ हृदयमें प्रवेश नहीं करता, जब तक यह शरीर बलवान् और निरोग रहता है तथा जब तक यह दुष्ट मृत्यु अत्यन्त दूर बनी रहती है, इस प्रकार ये ऊपर कहे हुए दुष्ट जब तक प्रबल नहीं होते तब तक ही इस जीवको प्रयत्नपूर्वक अपने आत्माका हित कर लेना चाहिए। जब ये दुष्ट काम क्रोधादिक प्रबल हो जाते हैं वा शरीर जर्जरित हो जाता है अथवा मृत्यु समीप आ जाती है तब इस संसारमें कोई भी जीव अपना आत्मकल्याण करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता।

भावार्थ-ज्यों ज्यों विषय सेवन किए जाते हैं त्यों-त्यों उनकी तृष्णा बढती ही जाती है। यदि उनसे अपना मन हटा लिया वा उनका त्याग कर दिया जाय तो वह तृष्णा घट जाती है वा नष्ट हो जाती है इसलिए मनुष्योंको अपनी इस धारणाका त्याग कर देना चाहिए कि हम लोग थोडे दिन और गृहस्थीमें रहलें फिर इनका त्यागकर आत्माका हित कर लेंगे, क्योंकि थोडे दिन और रहलें, थोडे दिन और ठहर जांय यही विचार करते-करते दिन पूरे हो जाते हैं और यह जीव मृत्युके मुखमें पडकर परिभ्रमणमें लग जाता है इसलिए इन विषयोंका त्याग पहलेसे ही कर देना चाहिए। पहलेसे त्याग कर देनेसे इनकी प्रबलता नहीं बढ सकती। इसी प्रकार धन कमाते-कमाते लोभकी वृद्धि होती रहती है। वह लोभकी वृद्धि न हो उसके पहले ही आत्माके हितमें लग जाना चाहिए। आत्माका हित करनेके लिए वा व्रत उपवास करनेके लिए शरीरका बलवान् होना और नीरोग होना अत्यावश्यक है। निर्बल शरीरसे व्रत उपवास करना कठिन हो जाता है। इसलिए जबतक शरीर नीरोग और बलवान् रहता है तबतक ही इस जीवको अपने आत्माका हित कर लेना चाहिए। वृद्धावस्था आने पर फिर शरीर निर्बल हो जाता है और वृद्धावस्थामें अनेक रोग आकर घेर लेते हैं इसलिए वृद्धावस्थाके पहले ही अपने आत्माका हित करना अत्यावश्यक है। इस संसारमें इस जीवकी आयु कब पूर्ण होती है वा मरण कब होता है यह किसीको मालूम नहीं होता। यह शरीर अत्यन्त क्षण-भंगुर है, बैठे, बैठे, चलते, चलते, वा खडे, खडे चाहे जब यह शरीर नष्ट हो जाता है और मरण हो जाता है वा आयु पूर्ण हो जाती है यही समझ कर मृत्यु होनेके पहले ही अपने आत्माका कल्याण कर लेना श्रेयस्कर है। विषय कषायोंकी तीव्रता होनेपर वा वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर फिर यह जीव अपने आत्माका कल्याण कभी नहीं कर सकता।

प्रश्न-मूर्तिः पूज्या कियत्कालं गुरो धात्वादिनिर्मिता ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि धातु वा पाषाणकी बनी हुई भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा इस जीवको कब तक पूजनी चाहिए ?

उत्तर—भ्रान्तिप्रदे क्लेशकरे व्यथादे, गृहप्रपंचे विषयेऽपि यावत् ।
हर्षो विषादः क्रियते रुचिर्यैस्तैरेव तत्पापविनाशनार्थम् ॥२७१॥
तावत्प्रपूज्या प्रतिमा प्रयत्नात् सदैव वन्द्या हृदि चिन्तनीया ।
वा तीर्थयात्रा यजनप्रतिष्ठा, कार्या सदा वांछितदा स्तुतिश्च ॥२७२॥
गृहप्रपंचो विषयो यदा यैर्दुःखप्रदस्त्यज्यत एव मोहः ।
स्वात्मैव तत्त्वात्प्रतिमास्ति पूज्या वन्द्यातिमान्यापि तदेति नान्या ॥२७३॥

अर्थ—इस संसारमें यह जीव महा भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले, महा क्लेश उत्पन्न करनेवाले और घोर दुःख देनेवाले घरके प्रपंचोंमें जब तक हर्ष-विषाद करता रहता है वा उनमें रुचि करता रहता है अथवा इन्द्रियोंके विषयोंमें जब तक हर्ष-विषाद करता रहता है वा रुचि करता रहता है तब तक उस गृहस्थीके प्रपंचोंसे उत्पन्न होनेवाले पापोंको नाश करनेके लिए प्रयत्न पूर्वक प्रतिमाका पूजन करते रहना चाहिये तथा सदाकाल उसकी वन्दना करनी चाहिए और अपने हृदयमें चिंतवन करते रहना चाहिए अथवा तब तक तीर्थयात्रा करते रहना चाहिए वा पूजा प्रतिष्ठा करते रहना चाहिए अथवा सदाकाल इच्छानुसार फल देनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेवकी स्तुति करते रहना चाहिए। परन्तु जब यह जीव महा दुःख देनेवाले घरके प्रपंचोंका त्याग कर दे, अथवा इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर दे और मोहका सर्वथा त्याग कर दे उस समय उसका शुद्ध आत्मा ही प्रतिमाके समान पूज्य, वन्दनीय और अत्यंत मान्य माना जाता है। उस समय धातु पाषाणकी प्रतिमाकी आवश्यकता नहीं रहती है।

भावार्थ—धर्मके दो भेद हैं एक गृहस्थ धर्म और दूसरा मुनि धर्म। मुनिधर्म मोक्षका साक्षात् साधन है और गृहस्थ धर्म मोक्षका परंपरा साधन है। गृहस्थ धर्ममें जीविकाके साधनोंमें भी हिंसादिक पाप लगते रहते हैं और चक्की उखली चूलि बुहारी आदिसे महापाप उत्पन्न होते रहते हैं। उन समस्त पापोंको नाश करनेके लिए भगवान जिनन्द्रदेवने देव पुजा, गुरूपास्ति, पात्र दान आदि गृहस्थोंका धर्म बतलाया है। गृहस्थ धर्मके जितने साधन हैं उन सबमें देव पूजा मुख्य बतलाई है। देव पूजा भी दो प्रकारकी है, एक प्रत्यक्ष पूजा और दूसरी परोक्ष पूजा। समवशरणमें विराजमान भगवान अरंहत देवकी पूजा करना प्रत्यक्ष पूजा है तथा उनके अभावमें उनकी प्रतिमाकी पूजा करना परोक्षपूजा कहलाती है। प्रतिमाकी पूजा अभिषेक पूर्वक ही होती है और अभिषेक पंचामृतभिषेक सर्वोत्कृष्ट होता है। अभिषेकके अनन्तर आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजा और विसर्जनके भेदसे पूजाके पांच अंग कहलाते हैं। इनमें से पूजाके जितने अंग कम होते हैं उतनी ही फलमें कमी हो जाती है। अथवा भगवान अरहंत देवकी वा उनके शरीरकी वा उनकी प्रतिमाकी पूजा करना द्रव्य पूजा है। भगवान तीर्थंकर परमदेवके जहां-जहां कल्याणक हुए हैं वहां-वहांकी पूजा करना वा उनकी वन्दना करना क्षेत्र पूजा कहलाती है तथा भगवान तीर्थंकर परमदेवके कल्याणक जिस-जिस समय हुए हैं उसकी पूजा करना वा अष्टान्हिकाके दिनोंमें नंदीश्वर द्वीपके जिनालयोंकी पूजा करना काल पूजा है। इसके सिवाय विधान करना, प्रतिष्ठा करना. स्तुति करना, प्रभावना अंगकी वृद्धिके लिए रथोत्सव करना आदि सब पूजा कहलाती है। यह सब प्रकारकी पूजा पापोंको नाश करनेवाली है और पुण्यको बढानेवाली है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थी श्रावकोंको प्रतिदिन पूजा करना अत्यावश्यक है। भगवान समवशरणमें चैत्य वृक्षोंके पीठपर तथा मानस्तंभकी पीठपर तथा और भी अनेक स्थानोंपर भगवान जिनन्द्रदेवकी प्रतिमा विराजमान रहती है और भव्यजीव पहले उन प्रतिमाओंकी पूजन कर फिर गंधकुटीमें भग-

वानके दर्शन करनेके लिए जाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि गृहस्थोंके लिए जिन प्रतिमाका पूजन अत्यावश्यक है। बिना जिन प्रतिमाका पूजन किए उनका गृहस्थ सम्बन्धी पाप कभी नष्ट नहीं हो सकता। हां ! जो लोग अपने मोहका त्याग कर गृहस्थ अवस्थाका त्याग कर देते हैं और निर्ग्रंथ दीक्षा लेकर मुनिव्रत धारण कर लेते हैं वे भी भगवान अरहंत देवकी प्रतिमाको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं परन्तु अष्टद्रव्यका अभाव होनेसे द्रव्यपूजा नहीं करते किंतु भाव पुजा किया करते हैं तथा जो मुनि आत्मध्यानमें लीन रहते हैं वे मुनि अपने आत्माको ही अत्यन्त शुद्ध बनाकर उसे सिद्धोंके समान मान लेते हैं और फिर उसीका ध्यान और उसीकी स्तुति आदि किया करते हैं।

प्रश्न–मान्यतादिः कुतो देव नरपार्श्वे च तिष्ठति ?

अर्थ–हे देव ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस मनुष्यके पास मान्यता वा शान्ति आदि किस कारणसे ठहर सकती है ?

उत्तर–मान्यता वस्तुतो लोके जिनाज्ञापालनात्सदा।
अधीता स्मरणाद्विद्या शुचिता लोभनाशतः ॥२७४॥
स्थिरताक्षसुखत्यागाच्छान्तिः स्वात्मान्यबोधतः।
स्वरसास्वादनान्मुक्तिः पार्श्वे दासीव सा वसेत् ॥२७५॥

अर्थ–वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेसे अपनी मान्यता बढती है, अध्ययन की हुई विद्या स्मरण करनेसे ही स्थिर बनी रहती है, शुचिता वा पवित्रता लोभके नाश करनेसे ठहरती है, इन्द्रियोंके सुखोंका त्यागकर देनेसे स्थिरता वा निश्चलता

निराकुलता बनी रहती है, अपने आत्माका ज्ञान होनेसे तथा अन्य पदार्थोंका ज्ञान होनेसे आत्मामें शान्ति बनी रहती है और अपने आत्माका शुद्ध स्वरूप चिंतवन करनेसे वा उस शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेसे यह मुक्ति सदाकाल दासीके समान अपने समीप बनी रहती है।

भावार्थ—बडप्पन प्राप्त होनेको मान्यता कहते हैं। यह मान्यता पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होती है तथा पुण्यकर्मका बंध भगवान अरहन्तदेवकी आज्ञाका पालन करनेसे होता है। भगवान अरहन्त देव सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं इसलिए उनकी आज्ञा भी सर्वोत्कृष्ट और आत्माका सर्वोत्कृष्ट कल्याण करनेवाली कही जाती है। जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्र देवकी ऐसी आज्ञाका पालन करता है वह अवश्य सर्वोत्कृष्ट पुण्यका बंध करता है तथा उसी पुण्यके उदयसे वह मनुष्य जगतमान्य और उत्कृष्ट मनुष्य बन जाता है। यहां तक कि वह स्वयं वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है। इससे बढकर मान्यता और कहीं नहीं हो सकती। इसी प्रकार अध्ययन की हुई विद्या स्मरण करनेसे ही ठहरती है यदि उस विद्याका बार-बार स्मरण न किया जाय तो वह विद्या नष्ट हो जाती है इसीलिए विद्याको स्थिर रखनेके लिए बार-बार स्मरण करते रहना चाहिए तथा पवित्रता लोभके नाश होनेसे ही ठहरती है। यहांपर पवित्रताका अर्थ आत्माकी पवित्रता है। यह आत्मा लोभके कारण ही अनेक पापोंको उत्पन्न करता हुआ अपने आत्माको मलिन और अपवित्र बना लेता है। जब यह आत्मा अपने लोभको नष्ट कर देता है तब उस लोभके नाश होनेसे पापोंका अभाव हो जाता है और पापोंका अभाव होनेसे आत्मामें पवित्रता आ जाती है। इसी प्रकार इन्द्रियोंके सुखमें लीन हुआ यह मनुष्य सदा काल व्याकुल और चंचल बना रहता है। जब यह मनुष्य इन्द्रियोंके सुखका त्याग कर देता है तब उसकी व्याकुलता वा चंचलता भी नष्ट हो जाती है और फिर यह आत्मा अपने स्वभावमें स्थित हो जाता है तथा यह आत्मा अपने अज्ञानके कारण सदा उद्विग्न बना रहता है। अपनी अज्ञानताके कारण परपदार्थोंसे

मोह करने लगता है और फिर उनके संयोग-वियोग होनेपर दुःखी होता है। जब इसका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है और यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको तथा अन्य पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जान लेता है तब फिर उनसे मोहका त्यागकर निराकुल वा शान्त हो जाता है और वह शान्ति सदाकाल बनी रहती है। इसी प्रकार अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका अनुभव करनेसे मुक्ति भी दासीके समान सदाकाल पास ही बनी रहती है। जो मनुष्य अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव करता है वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यही समझकर भव्यजीवोंको भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करते रहना चाहिए, लोभका त्यागकर पवित्रता धारण करनी चाहिए, इन्द्रिय सुखोंका त्याग कर निश्चल हो जाना चाहिए, आत्मज्ञान प्रगटकर आत्माको शान्त बना लेना चाहिए और आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभवकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रश्न—विभाति कामधेन्वादिः स्वलीनाय च कीदृशः ?

हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मुनिराज अपने आत्मामें लीन रहते हैं उनको कामधेनु आदि सर्वोत्कृष्ट और अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ कैसे जान पडते हैं ?

उत्तर—स्वानन्दतृप्ताय मुनीश्वराय देवेन्द्रलक्ष्मीर्धरणेन्द्रसम्पत् ।
नरेन्द्रराज्यं वरकामधेनुश्चिन्तामणिः कल्पतरोः वनादि ॥२७६॥
सुभोगभूमिस्तृणवद्विभाति तथा मनोवांछितभोजनादिः ।
कथैव साधारणवस्तुनः का लोके मुनीनां महिमाह्यचिन्त्यः ॥२७७॥

अर्थ—जो मुनिराज सदाकाल अपने आत्मजन्य आनन्दमें तृप्त बने रहते हैं उनके लिए साधारण पदार्थोंकी तो बात ही क्या है, उनके लिए इन्द्रकी महाविभूति भी तृणके समान जान पडती है,

धरणेन्द्रकी सम्पदा भी तृणके समान जान पडती है, चक्रवर्तीका साम्राज्य भी तृणके समान जान पडता है, श्रेष्ठ कामधेनु भी तृणके समान जान पडती है, चिन्तामणि रत्न भी तृणके समान जान पडता है, कल्पवृक्षोंका वन भी तृणके समान जान पडता है, उत्तम भोगभूमि भी तृणके समान जान पडती है और मनके अनुकूल बना हुआ भोजन-पान भी तृणके समान जान पडता है। कहां तक कहा जाय, इस संसारमें मुनियोंकी महिमा अवश्य ही अचिन्तनीय है।

भावार्थ—इन्द्रकी विभूति बहुत बडी विभूति है और वह विशाल सुखकी कारण है। उस इन्द्रके अनेक देवियां, अनेक अप्सराएं और अनेक देव सदाकाल सेवामें उपस्थित रहते हैं। उसके यहां सैकडों कल्प वृक्ष होते हैं जो इच्छानुसार फल देते हैं। इसी प्रकार धरणीन्द्रकी सम्पत्ति चक्रवर्तीकी नौनिधि चौदह रत्नरूप सम्पत्ति महासुख देनेवाली है। कामधेनु चिंतामणिरत्न और कल्पवृक्षोंका वन इच्छानुसार सुख देनेवाला है। उत्तम भोगभूमिके सुख भी बहुत उत्तम है और इच्छानुसार भोजन भी सबको अच्छा लगता है। यह एक-एक सामग्री महा सुख देनेवाली है यदि ये सब सम्पत्तियां एक साथ मिल जायं तो फिर उस सुखका क्या पूछना है। वह सुख तो इस संसारमें सर्वोत्कृष्ट सुख होगा परन्तु केवल अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न हुआ सुख उस संसारके सर्वोत्कृष्ट सुखसे भी अनन्त गुणा सुख होता हैं। इन्द्र चक्रवर्ती आदिके जितने सुख हैं वे सब पराधीन हैं वे सुख पुण्य कर्मके आधीन हैं और बाह्य सामग्रीके आधीन हैं। यदि इन दोनोंमें से किसी एकका अभाव हो जाता है तो उस सुखका अभाव हो जाता है। इसके सिवाय वह सुख क्षणभंगुर है, अवश्य नष्ट होने वाला है परन्तु आत्मजन्य सुख न तो किसीके आधीन है और न कभी नष्ट होता है। वह सुख तो केवल अपने ही शुद्ध आत्मा से प्राप्त होता है और अनन्तकाल तक बराबर बना रहता है। इसीलिए वे मुनिराज अपने आत्मजन्य सुखके सामने इन्द्र, चक्रवर्ती, कामधेनु आदिके सुखोंको तृणके समान ही समझते हैं और वास्तवमें

वे सब सुख आत्मसुखके सामने तृणके ही समान हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि मुनियोंकी महिमाको इस संसारमें कोई भी चिंतवन तक नहीं कर सकता, उनकी महिमा अचिंत्य है।

प्रश्न–अशक्तता च लज्जा क्व दर्शनीया न वा वद ?

अर्थ–हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस भव्यजीवको अपनी अशक्तता और अपनी लज्जा कहां दिखलानी चाहिए और कहां नहीं दिखलानी चाहिए ?

उत्तर–पापार्जने स्वान्यविघातके च निंद्ये कुकृत्ये जनवंचने च।
स्वात्मप्रशंसान्यविनिन्दनादौ निजागुणोद्योतन एव लज्जा ॥२७८॥
वाच्छादने श्रेष्ठगुणस्य लोके प्रदर्शनीयाऽमतिता ह्यशक्तिः।
धर्मार्जने कर्मविनाशनादौ लज्जा न कार्या स्वपरोपकारे ॥२७९॥

अर्थ–इस संसारमें इस जीवको पापोंका संग्रह करनेमें अपनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए, अपने आत्माका घात करने और अन्य जीवोंके घात करनेमें अपनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए, निंदा करने योग्य नीच कार्योंके करनेमें और अन्य जीवोंके ठगनेमें अमनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए, अपनी प्रशंसा करने और अन्य जीवोंकी निंदा करनेमें अमनी असमर्थता और लज्जा दिखानी चाहिए और अपने अवगुण दिखलानेमें भी लज्जा करनी चाहिए। इसके सिवाय श्रेष्ठ गुणोंको आच्छादन करनेमें भी अपनी बुद्धि हीनता और असमर्थता दिखलानी चाहिए परन्तु धर्मका उपार्जन करनेमें कर्मोंको नाश करनेमें, अपने आत्माका हित करनेमें और अन्य जीवोंका हित करनेमें कभी लज्जा और असमर्थता नहीं दिखलानी चाहिए।

भावार्थ–संसारमें जितने पापके काम हैं उन सबमें अपनी असमर्थता और लज्जा दिखलानी

चाहिए। इस मनुष्यमें लज्जा एक ऐसा गुण है कि जिसके होनेसे बहुतसे पाप आप छूट जाते हैं। लज्जालु मनुष्य अपने गुरुजनोंके सामने वा सर्वसाधारणकी जानकारीमें कोई भी बुरा काम नहीं कर सकता इसीलिए आचार्योंने श्रेष्ठ श्रावकके लिए लज्जा एक गुण बतलाया है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पांच पाप तो हैं ही। इसके सिवाय दूसरोंको ठगना, मायाचारी करना, निंदा करना आदि भी पाप ही कहलाते हैं। इनके करनेमें भी उत्तम श्रावकोंको लज्जा और असमर्थता दिखलाते रहना चाहिए। परन्तु आत्माका हित करनेमें पात्र दान देनेमें जिन पूजन करनेमें व्रत उपवास करनेमें और समाधिमरण धारण करनेमें कभी असमर्थता नहीं दिखलानी चाहिए तथा इन कामोंके करनेमें कभी लज्जा नहीं करनी चाहिए। इन कामोंको तो बडे उत्साहके साथ करना चाहिए।

प्रश्न—कीर्त्यादिप्राप्तिहेतुः कः तद्बोधाय प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कीर्ति ऐश्वर्य आदि विभूति और गुणोंका विशेष हेतु क्या है ?

उत्तर—ऐश्वर्यकीर्तेस्तपसः कृपायाः संवेगवैराग्यदयादिकस्य।
औदार्यसौजन्यगुणादिकादेः ऋद्धेश्च सिद्धेर्विनयादिकानाम् ॥२८०॥
धैर्यस्य शान्तेः सुगतेः स्थितेश्च स्वराज्यलक्ष्म्याः परतंत्रहंत्र्याः।
प्राप्तेः सुहेतुः कथितं समर्थं विज्ञानमेकं मुनिनायकेन ॥२८१॥

अर्थ—ऐश्वर्य, कीर्ति, तपश्चरण, दया, कृपा, संवेग, वैराग्य, औदार्य, सज्जनता, ऋद्धि, सिद्धि, विनय, धैर्य, शान्ति, सुगति, स्थिति और परतंत्रताको हरण करनेवाली स्वराज्यरूपी लक्ष्मीका एक समर्थ हेतु आचार्योंने एक विज्ञान अर्थात् स्वपरभेदविज्ञान ही बतलाया है।

भावार्थ—ऊपर लिखी हुई विभूति और गुण सब श्रेष्ठ पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं तथा पुण्यकर्मके कारणोंमें सबसे श्रेष्ठ कारण सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर ही स्वपरभेद-विज्ञान प्रगट होता है। स्वपरभेद-विज्ञान प्रगट होनेसे यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको जान लेता है तथा राग, द्वेष मोह, कर्म, पुद्गल आदि आत्मासे भिन्न पदार्थोंका स्वरूप भी समझने लगता है इसलिए वह परपदार्थोंका त्यागकर तथा राग, द्वेष, मोह आदिका सर्वथा त्यागकर अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार वह दया, कृपा आदि गुणोंको प्रगट कर लेता है, उदारता सज्जनता आदि गुणोंको प्रगट कर लेता है और संवेग वैराग्य गुणोंको धारण कर लेता है। संवेग वैराग्य गुणोंको धारण करनेके कारण तपश्चरण धारण करता है और तपश्चरण धारण करनेके कारण ऋद्धि सिद्धि आदि गुण प्रगट हो जाते हैं, आत्माकी निश्चलता प्रगट हो जाती है, परलोककी गति सुधर जाती है, संसार-भरमें उसकी कीर्ति फैल जाती है और आत्माकी अलौकिक विभूति प्राप्त हो जाती है। अन्तमें इसी स्वपरभेदविज्ञानके कारण परतन्त्रताको नाश करनेवाली मोक्षरूप स्वराज्य-लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है इसीलिए भव्यजीवोंको जिस प्रकार बने उसीप्रकार स्वपरभेदविज्ञान प्रगट कर लेना चाहिए। मोक्ष प्राप्त करनेका यह सबसे मुख्य कारण है।

प्रश्न—म्रियतेत्र बिना पुण्यैरमुत्र किं करोति सः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि जो मनुष्य इस लोकमें पुण्य उपार्जन नहीं करता, बिना पुण्यके ही मर जाता है वह परलोकमें क्या करता है ?

उत्तर—पुण्यं न कृत्वात्र सुखस्य मूलं यः कोपि जीवो म्रियते ह्यमुत्र ।
स एव कौ कुक्करवत्परस्य मुखं सदा पश्यति दीनबुद्ध्या ॥२८२॥

यतः सुरक्षा भवतां भवेत्को ह्याचन्द्रसूर्यं खलु विघ्नहीना ॥२८३॥

अर्थ—इस संसारमें एक पुण्य ही सुखका कारण है। जो पुरुष बिना पुण्य किए मर जाता है वह परलोकमें कुत्तेके समान अत्यंत दीन होकर सदाकाल दूसरोंका मुख देखता रहता है। यही समझकर भव्यजीवोंको पापकार्योंका त्याग कर देना चाहिए और प्रत्येक स्थानपर पुण्यकार्य करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे ही जब तक इस संसारमें सूर्य चंद्रमा विद्यमान हैं तब तक बिना किसी विघ्नके भव्य जीवोंकी रक्षा हो सकती है।

भावार्थ—कर्म आठ हैं उनमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म तो सर्वथा पापकर्म हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार कर्मोंके शुभ अशुभके भेदसे दो दो भेद हैं। वेदनीय कर्ममें सातावेदनीय पुण्य है, असातावेदनीय पाप है। शुभ आयु पुण्य है अशुभ आयु पाप है। शुभ नामकर्म पुण्य है, अशुभ नामकर्म पाप है तथा ऊंच गोत्र पुण्य है और नीच गोत्र पाप है। इनमेंसे पुण्यकर्म सुख देनेवाले हैं और पापकर्म दुःख देनेवाले हैं। इस संसारमें जितने कार्य हैं वे भी सब पुण्य पाप इन दो भागोंमें ही बटे हुए हैं। यह मनुष्य प्रत्येक समयमें कुछ न कुछ करता ही रहता है। वह या तो पुण्यकार्य करता रहता है या पापकार्य करता रहता है। जिस प्रकार सेठ लोग अपने बही खातेका हिसाब ठीक रखते हैं और अपने हानि लाभका पूरा ध्यान रखते हैं, जहां तक बनता है वहां तक हानि नहीं होने देते। इसी प्रकार प्रत्येक भव्य जीवको अपने पुण्य पापका भी हिसाब रखना चाहिए और पाप अधिक न होने पावे इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिए। जीवोंकी हिंसा नहीं करना, दया पालन करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, अधिक लालसा नहीं रखना, राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंका त्याग कर देना, मद्य मांस मधुका त्याग कर देना, सप्त व्यसनोंका त्याग कर देना

किसी प्रकारका अन्याय नहीं करना, अभक्ष्य भक्षण नहीं करना आदि सब पुण्यकार्य कहलाते हैं। इनके सिवाय प्रतिदिन जिनपूजन करना, पात्रदान देना, निर्ग्रंथ गुरुकी उपासना करना, शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनी प्रवृत्ति करना आदि सब पुण्यकार्य हैं तथा इनके विपरीत सब पापकार्य है। जो मनुष्य पुण्यकार्योंसे वंचित रहता है वह पापकार्य ही करता रहता है और फिर परलोकमें वह पराधीन होकर अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहता है। इसलिए इस जीवको पापोंसे बचनेके लिए और अपने आत्मा का दुखोंसे बचानेके लिए सदाकाल पुण्यकार्य करते रहना चाहिए इसीसे इस जीवके सुखमें कभी विघ्न नहीं हो सकता। फिर वह जीव सदा सुखी रहता है।

प्रश्न–हानिः स्याद्वा धनत्यागाद्धनवृद्धिर्गुरो वद ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि धनको दानादिकमें खर्च करनेसे धनको हानि ही होती है अथवा वृद्धि भी होती है ?

उत्तर–विद्यादिबुद्धेः सरसश्च वाप्याः सुलब्धलक्ष्म्याश्च सदाऽव्ययेन।
समूलहानिश्च जिनागमस्य व्ययात्समन्तात्परिवर्द्धते कौ ॥२८४॥
ज्ञात्वेत्यवश्यं धनबुद्धिलक्ष्म्याः व्ययश्च कार्यो न च रक्षणीयः।
यतः सुबुद्धिश्च धनं सुविद्या धर्मोपि वर्द्धेत सदैव लोके ॥२८५॥

अर्थ–इस संसारमें विद्या, बुद्धि, सरोवर बावडी, और प्राप्त हुई लक्ष्मी का व्यय न करनेसे उनकी सर्वथा हानि हो जाती है। इसी प्रकार जैन सिद्धान्तके रहस्योंको न बतलाने भी जैन सिद्धान्तोंकी हानि हो जाती है। तथा इनका यदि व्यय किया जाय तो संसारमें सदाकाल इनकी वृद्धि होती रहती है। यही समझकर धन, बुद्धि, लक्ष्मी आदिका सदाकाल व्यय ही करते रहना चाहिए। इनको भूमिमें

गाढकर सुरक्षित नहीं रखना चाहिए। विद्या बुद्धि और धनका व्यय करनेसे इस संसारमें सदाकाल इनकी वृद्धि होती रहती है।

भावार्थ—विद्या और बुद्धि ये दोनों ही ज्यों-ज्यों खर्च किये जाते हैं त्यों-त्यों बढते हैं। यदि इनको खर्च न किया जाय तो ये दोनों ही मन्द पड जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। विद्याका खर्च उसका दान देना है वा पढाना है। विद्या पढानेसे बढती है और न पढानेसे घट जाती है वा नष्ट हो जाती है। बुद्धिका खर्च परमार्थका विचार है। परमार्थका विचार करनेसे वा आत्माके हित अहितका विचार करनेसे बुद्धि तीव्र हो जाती है तथा परमार्थका विचार न करनेसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है वा नष्ट हो जाती है। बडी-बडी बावडियोंका जल ज्यों-ज्यों खर्च किया जाता है त्यों-त्यों बढता रहता है। यदि उनका जल खर्च न किया जाय तो वह सड जाता है इसलिए विद्या बुद्धि वा जलका खर्च करना ही अच्छा है। बडे-बडे तालावोंका जल भी खर्च करनेसे ही बढता है। यदि तालावोंका जल खर्च न किया जाय तो वह तालाव सड जाता है और बन्द कर देना पडता है। इसीलिए बडे-बडे तालावोंमेंसे नहरें निकालते हैं वा अन्य किसी रीतिसे खर्च करते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी भी कुएके जलके समान रहती है, जितना खर्च करते जाओ उतनी ही बढती रहती है। इसका भी कारण यह है कि यह लक्ष्मी पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होती है। जितना पुण्यकर्मोंका उदय होता है उतनी ही लक्ष्मी बनी रहती है। लक्ष्मीका घटना बढना पुण्यकर्मके घटने बढनेके आधीन है, खर्चके आधीन नहीं है। यदि खर्च न किया जाय तो उतनी ही बनी रहती है और यदि खर्च किया जाय तो उस पुण्यकर्मके उदयसे फिर बढ जाती है। इसलिए लक्ष्मीको खर्च करना ही चाहिए। भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा प्रतिष्ठामें खर्च करना, मुनिराजके रत्नत्रयकी वृद्धि करनेमें खर्च करना, प्रभावना अंगमें खर्च करना, चारों प्रकारके दान देनेमें खर्च करना, दीन-दुखियोंके दुःख दूर करनेमें खर्च करना, श्रावकोंके रत्नत्रयकी वृद्धि करनेमें वा

वात्सल्य अंगके पालन करनेमें खर्च करना, मोक्षमार्गको पुष्ट करनेवाली विद्याके दान देनेमें खर्च करना तथा और भी ऐसे ही पुण्य कार्योंमें खर्च करना खर्च कहलाता है। केवल भोग विलासोंमें खर्च करना लक्ष्मीका अपव्यय कहलाता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवोंको विद्या बुद्धि धनका सदुपयोग करना चाहिए, पुण्य कार्योंमें ही उनका खर्च करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही इनकी वृद्धि होती रहती है। जिनागमका पठन पाठन करनेसे वा प्रचार करनेसे जिनागमकी वृद्धि होती है। वर्तमानमें बहुतसे लोग जिनागमका प्रचार तो करते हैं परन्तु उसका अपने किसी स्वार्थके लिए वा मिथ्यात्व कर्मके तीव्र उदयसे उसका विपरीत अर्थ लगाकर प्रचार करते हैं। उससे पुण्य कर्मकी वृद्धि नहीं होती किन्तु तीव्र मिथ्यात्व कर्मोंका बंध होता है। इसलिए जिनागमका प्रचार पूर्वाचार्योंकी परम्पराके अनुसार ही करना चाहिए। उसका विपरीत अर्थ नहीं करना चाहिए। विपरीत अर्थ करनेसे महापापका बंध होता है। जिस प्रकार तीर्थंकर परमदेव यथार्थ मार्गका प्रचार करनेसे सर्व पुज्य होते हैं उसी प्रकार विपरीत अर्थ कर अयथार्थ मार्गका प्रचार करनेसे सबसे निकृष्ट अवस्था प्राप्त हो जाती है अर्थात् नरक वा निगोदके दुःख अवश्य भोगने पडते हैं। इसीलिए जिनागमका प्रचार यथार्थ रीतिसे ही करना चाहिए। अयथार्थ रीतिसे कभी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न–रथारूढा व्रतिश्राद्धाः भवन्ति भे न वा वद ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि रथ, गाडी, मोटर, रेल आदि सबारियोंपर चलनेवाले श्रावक व्रती हो सकते हैं वा नहीं ?

उत्तर–प्रथमाद्यष्टमश्राद्धाः काले धर्मक्रियारताः ।
रथारूढाश्च सर्वत्र भ्रमन्ति कार्यसिद्धये ॥२८६॥

नवाद्येकादशश्राद्धा ध्यानस्वाध्यायतत्पराः ।
चित्तवशंकरा धीरा याचनादोषभीरवः ॥२८७॥
सर्वरथं परित्यज्य जिनाज्ञाप्रतिपालकाः ।
धर्मार्थं धीधना यान्ति पादाभ्यां पुरतः पुरम् ॥२८८॥

अर्थ—पहली प्रतिमासे लेकर आठवीं प्रतिमा तकके श्रावक अपने नियत समयपर धर्म कार्योंको किया करते हैं और इसीलिए वे अपने कार्योंकी सिद्धिके लिए किसी भी सवारीपर चढकर सर्वत्र भ्रमण किया करते हैं। परन्तु नौवीं प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तकके श्रावक सदाकाल धर्मध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं, बडे बुद्धिमान होते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन किया करते हैं और अपने चित्तको वशमें रक्खा करते हैं। इसीलिए वे महापुरुष याचना करनेके दोषसे भयभीत रहते हैं और सब प्रकारकी सवारियोंका त्याग कर धर्मकार्यके लिए पैदल ही एक गांवसे दूसरे गांवको जाया करते हैं।

भावार्थ—जहां तक गृहस्थाश्रम है वहां तक तो सवारीका त्याग नहीं होता है; क्योंकि गृहस्थ लोग अपने व्यापार आदिके लिए परदेश गमन करते ही हैं। यद्यपि उन श्रावकोंको दूर देशमें भी गमन करना पडता है तथापि वे ऐसे देशमें नहीं जाते जहां धर्मकार्य न बन सकें अथवा रत्नत्रयमें हानि पहुंचनेकी सम्भावना हो तथा ऐसी ही सवारीसे जाते हैं, जिससे धर्मकी हानि न हो। इससे ऊपरकी आठवीं प्रतिमावाले श्रावक यद्यपि आरम्भके त्यागी होते हैं तथापि परिग्रहके त्यागी न होनेके कारण वे सवारीपर चढ सकते हैं। नौवीं प्रतिमामें परिग्रहका त्याग हो जाता है इसलिए यहांसे सवारीका त्याग हो जाता है। परिग्रहका त्याग हो जानेके कारण तथा आरम्भका भी त्याग हो जानेके

कारण वे श्रावक अपने व्यापार आदिके लिए गमन नहीं करते, किंतु धर्मकार्यके ही लिए गमन करते हैं और पैदल ही गमन करते हैं। वे श्रावक अपने परिग्रहका त्याग कर देते हैं इसलिए यदि वे सवारी पर चढना चाहें तो उन्हें याचना ही करनी पडेगी तथा याचना करना उनके पदस्थके विरुद्ध है इसलिए वे याचना करनेसे बहुत डरते हैं। इसके सिवाय वे ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं इसलिए उन्हें चलनेका काम भी बहुत थोडा पडता है। शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार वे एक गांवमें नहीं रह सकते। इसलिए एक गांवसे दूसरे गांव तक जाते हैं फिर दो चार दिन धर्मोपदेश देकर दूसरे गांवमें चले जाते हैं। वे त्यागी श्रावक अपनी इन्द्रियोंको भी वशमें रखते हैं तथा मनको भी वशमें रखते हैं इसलिए उनके हृदयमें आने जानेकी कभी इच्छा भी नहीं होती है इसलिए वे समस्त सवारियोंका त्याग कर देते है और पैदल ही गमन करते हैं। पैदल गमन करनेसे ईर्यापथ शुद्धि ठीक रीतिसे बन सकती है और इसीलिए अहिंसाव्रत ठीक रीतिसे पल सकता है। अतएव नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावालोंको पैदल ही गमन करना चाहिए, किसी सवारीपर चढकर नहीं जाना चाहिए।

प्रश्न–जीवास्तुष्यन्ति कौ क क साम्प्रतं मे वद प्रभो?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें कौन कौन जीव किस किस काममें सन्तुष्ट होते हैं?

उत्तर–हृत्वा धनं चान्यजनस्य चौरास्तुष्यन्ति मूर्खाः कुकृतिं च कृत्वा।
क्रीडामसारां शिशवोपि कृत्वा तुष्यन्ति लब्ध्वा कृपणाः परान्नम्॥
कृत्वा हि धूर्ताः परपीडनादिं तुष्यन्ति सन्तः स्वरसेऽन्यसिद्धौ।
जातिर्विचित्रास्ति कुकर्मणः कौ जानाति तत्त्वं विरलास्ततश्च।२९०।

अर्थ-चोर लोग दूसरोंके धनको चुराकर सन्तुष्ट होते हैं, मूर्ख लोग किसी भी प्रकारके कुकर्मको करते हुए सन्तुष्ट होते हैं. बालक सब असार खेल कूदको करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं, कृपण व कंजूस लोग दूसरोंके अन्नको खाकर ही सन्तुष्ट होते हैं। धूर्त लोग अन्य जीवोंको दुःख देकर सन्तुष्ट होते हैं और सज्जन लोग या तो अपने आत्मजन्य आनन्दमें सन्तोष धारण करते हैं अथवा अन्य जीवोंके सिद्ध होनेपर वा अन्य जीवोंके किसी धर्मकार्यकी सिद्धि हो जानेपर सन्तोष धारण करते हैं। सो ठीक है इस संसारमें अशुभ कर्मोंकी गति बडी ही विचित्र है। इस संसारमें ऐसे मनुष्य बहुत ही थोडे हैं जो पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हों।

भावार्थ-चोर लोग जबतक चोरी नहीं कर लेते तबतक उन्हें कभी सन्तोष नहीं होता है। मूर्ख लोग जबतक कोई दुष्कृत्य नहीं कर लेते, जबतक किसीका काम नहीं बिगाड लेते, जबतक कोई अन्याय नहीं कर लेते, तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता है। बालक लोग जबतक खेल कूद नहीं लेते तबतक उन्हें कभी सन्तोष नहीं होता है। कंजूस लोग जबतक किसी दूसरेका अन्न नहीं खा लेते जबतक अपने संग्रहमें एक दो पैसा नहीं डाल लेते तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता है। धूर्त और नीच लोग जबतक किसीको दुःख नहीं दे लेते, जबतक कोई पाप नहीं कर लेते तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता है। इसी प्रकार सज्जन लोगोंको अपने आत्मजन्य आनन्दमें ही सन्तोष होता है अथवा अन्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगा देनेसे सन्तोष होता है अथवा दूसरोंकी कार्यसिद्धि हो जानेपर सन्तोष होता है अतएव भव्य जीवोंको इस प्रकार अपने अपने कर्मोंका उदय समझ लेना चाहिए और अशुभ कार्योंका त्याग कर पुण्य कार्योंका सम्पादन करना चाहिए अथवा आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करना चाहिए यही संसारमें सार है, और सब असार है।

प्रश्न-पंचभूतं विना जीवः क्वापि स्यान्मे न वा वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश इन पंचभूतमय शरीरके बिना यह जीव कहीं अन्यत्र रहता है वा नहीं ?

उत्तर—पुष्पे सुगंधश्च तिलेपि तैलं रसोहि चेक्षौ कनकं शिलायाम् ।
काष्ठेपि वन्हिर्घृतमेव दुग्धे निम्बे कटुत्वं च विषं च सर्पे ॥२९१॥
सजीवदेहेस्ति तथात्मरामः सुखी च दुःखी सुजनः सदाहम् ।
रोगी विरोगी ह्यहमेव दुष्टो ह्येवं ह्यबोधाद् हृदि मन्यमानः ॥२९२॥
संसारसिंधौ भ्रमतीह कोपि स एव जीवोऽस्त्यवगम्य चैवं ।
गम्यः स्वसंवेदनतः स शुद्धः स्यात्पंचभूतादिविकारबाह्यः ।२९३॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पमें सुगंध रहती है, तिलोंमें तैल रहता है. ईखमें रस रहता है, कनक पाषाणमें सुवर्ण रहता है, लकडीमें अग्नि रहती है दूधमें घी रहता है, नीममें कडवापन रहता है और सर्पमें विष रहता है उसी प्रकार सजीव शरीरमें यह आत्मा रहता है। जो पुरुष अज्ञानी है वह अपने अज्ञानके कारण यही समझता है कि शरीर विशिष्ट मैं सुखी हूं, मैं ही दुःखी हूं, मैं ही सज्जन हूं, मैं ही रोगी हूं, मैं ही नीरोग हूं और मैं ही दुष्ट हूं। इस प्रकार अपने अज्ञानके कारण मानता हुआ यह जीव संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण किया करता है। इस प्रकार मानता हुआ जो जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता है उसीको जीव समझना चाहिए। इस जीवका शुद्ध स्वरूप पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश आदि पंचभूतोंके विकारसे सर्वथा भिन्न है अथवा पंचभूतस्वरूप शरीरसे भी सर्वथा भिन्न है और उसका ज्ञान स्वसंवेदनसे होता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ अनादिकालसे कर्मोंका सम्बन्ध लग रहा है। इन कर्मोंके निमित्तसे ही

यह जीव अनादिकालसे अशुद्ध अवस्था धारण कर रहा हैं और किसी न किसी शरीरमें रह रहा है। उन कर्मोंके उदयसे ही इस जीवमें राग, द्वेष, मोह आदि विकार लग रहे हैं। उन मोहादिक विकारोंके कारण ही यह जीव जिस शरीरमें रहता है उसीको अपना वा अपने आत्माका स्वरूप मान लेता है इसीलिए वह शरीरके सुखी होनेपर मैं सुखी हूं ऐसा मान लेता है, शरीरके दुःखी होनेपर मैं दुःखी हूं ऐसा मान लेता है, शरीरमें कोई रोग होनेपर मैं रोगी हूं ऐसा मान लेता है, शरीर नीरोग होनेपर मैं नीरोग हूं ऐसा मान लेता है। इस प्रकार वह शरीरकी अवस्थाको अपनी अवस्था मान लेता है। कभी कभी वह आत्माके विकारोंको भी अपनी अवस्था वा अपना स्वभाव मान लेता है तथा इसी कारण वह मैं सज्जन हूं, मैं दुष्ट हूं, मैं रागी हूं, मैं द्वेषी हूं, इस प्रकार अपने विकारोंको ही अपना स्वरूप मान लेता है, परन्तु यह सब मानना उसका अज्ञान है तथा इस अज्ञानके ही कारण यह जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता आ रहा है। जब यह जीव अपने कर्मोंके मन्द उदय होनेपर तथा किसी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुका समागम होनेपर अपने आत्माके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करता है और काल लब्धिके अनुसार दर्शन मोहनीयकर्मका क्षयोपशमादिक हो जाता है तब जिस प्रकार बादलका थोडा भाग हट जानेपर सूर्यकी एक दो किरणें ही संसारका समस्त अन्धकार दूरकर पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित कर देती हैं उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके हट जानेसे आत्मासे ही एक प्रकारका प्रकाश उत्पन्न होता है इस प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनरूप प्रकाशके प्रगट होते ही यह आत्मा अपने आत्माका दर्शन करने लगता है और उसी समय स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है और फिर यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको पहचानने लगता है। उसी समय वह पर पदार्थोंको हेय समझने लगता है तथा शरीर और राग द्वेष आदि विकारोंको भी पर पदार्थ समझकर उनका त्याग कर देता हैं। इस प्रकार विकारोंका त्याग हो जानेसे और शरीरसे ममत्व छूट जानेसे फिर यह आत्मा शरीरमें

रोगादिक हो जानेपर अपने आत्माको रोगी वा सुखी दुःखी नहीं समझता। फिर तो वह अपने आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझने लगता है और फिर आत्माके समस्त विकारोंका त्यागकर अपने आत्माको शुद्ध बना लेता है। तदनन्तर तपश्चरण और ध्यानके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही आत्माका सर्वोत्कृष्ट कल्याण है।

प्रश्न—कः पवित्रोस्ति जीवः कौ वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें कौनसा जीव पवित्र है ?

उत्तर—दीने दया धर्मरते च भक्तिः प्रीतिर्गुरौ निस्पृहता च सौख्ये।
सुसाम्यता सर्वतनौ विचारे कार्पण्यता कर्मविवर्धने च ॥२९४॥
सदैव वाण्यां मृदुता च सत्यं विज्ञानता बन्धविभेदने च।
स्वर्मोक्षमार्गे रुचिता च यस्य स एव चोक्तो भुवने पवित्रः ॥२९५॥

अर्थ—जो मनुष्य दीन जीवोंपर दया धारण करता है, धर्मात्मा लोगोंमें भक्ति करता है, गुरुमें प्रेम धारण करता है, इन्द्रियजन्य सुखोंमें निस्पृहता धारण करता है, समस्त प्राणियोंमें तथा समस्त विचारोंमें समानता धारण करता है, कर्म-बन्धनोंके बढानेमें कृपणता धारण करता है, वाणीमें सदा काल मीठापन और सत्यता धारण करता है, कर्मोंको नष्ट करनेमें जो विज्ञानता धारण करता है और जो स्वर्ग और मोक्षमार्गमें रुचि धारण करता है वही मनुष्य इस संसारमें पवित्र माना जाता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ अनादिकालसे जो कर्मोंका समुदाय लगा हुआ है वही इस जीवको अपवित्र बना रहा है। कर्मोंके उदय होनेसे इस जीवके परिणाम रागद्वेष वा मोहरूप परिणत हो जाते हैं और राग द्वेष वा मोह ही इस आत्माको अपवित्र बना देते हैं। जब यह आत्मा कर्मोंके मंद उदय होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेता है तथा सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे यह जीव राग द्वेष वा मोहका त्याग

कर देता है तब यह आत्मा पवित्र कहलाता है। यही कारण है कि जो सम्यग्दर्शनके चिन्ह हैं वे ही सब इस आत्माकी पवित्रताके चिन्ह हैं। समस्त जीवोंकी दया पालन करना तथा दीन दरिद्री जीवोंकी विशेषकर दया पालन करना सम्यग्दर्शनका चिन्ह है और इसीलिए यही पवित्रताका चिन्ह बतलाया है। धर्मात्मा पुरुषोंमें भक्ति व प्रेम होना सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अंगका कार्य है। अतएव यही धर्मात्माओंमें भक्ति व प्रेम होना पवित्रताका कारण आचार्योंने बतलाया है। वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंमें प्रेम होना तथा उन गुरुओंको तरणतारण मानकर उनकी सेवा सुश्रूषा करना, भक्ति करना, वैयावृत्य करना आदि सब सम्यग्दृष्टिका कार्य है। इसीलिए यह गुरुसेवा, गुरुभक्ति वा गुरुप्रेम आचार्योंने पवित्रताका चिन्ह बतलाया है। इसी प्रकार इंद्रियजन्य सुखोंमें निस्पृहता धारण करना, इंद्रियजन्य सुखोंसे उदास होना, उनका त्याग कर देना सम्यग्दर्शनका कार्य है तथा इन्हीं इंद्रियजन्य सुखोंका त्याग कर देनेसे आत्मा पवित्र हो जाता है, इसलिए यह भी आत्माकी पवित्रताका कारण है। इसी प्रकार समस्त जीवोंमें समानता धारण करना, दूसरे जीवोंके समस्त शुभ अशुभ विचारोंमें समानता धारण करना, किसीसे राग वा द्वेष नहीं करना सम्यग्दर्शनका भी कार्य है और आत्माकी पवित्रताका भी कार्य है। कर्मोंको न बढने देना, आस्रवके कारणोंको नष्ट कर देना वा अशुभ कर्मोंको नष्ट करते जाना सम्यग्दर्शनका भी कार्य है और आत्माकी पवित्रताका भी कार्य है। मधुर और सत्य भाषण करना आत्माकी पवित्रताका ही सूचक है। कर्मबंधनोंका नाश करनेके लिए स्वपरभेदविज्ञान ही प्रधान कारण है। आत्मा और अन्य पदार्थोंका यथार्थज्ञान होनेसे यह आत्मा कर्मबंधनोंके कारणभूत राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देता है और फिर समता धारण कर कर्मोंको नष्ट करता जाता है। इस प्रकार कर्मोंको नष्ट करनेमें स्वपरभेदविज्ञान कारण है और इसीलिए वह आत्माकी पवित्रताका चिन्ह है। इसी प्रकार स्वर्ग मोक्षके मार्गमें वा रत्नत्रयमें प्रेम धारण करना, रुचिपूर्वक उनका पालन करना आत्माकी पवित्रताका विशेष चिन्ह है। रत्नत्रयका पालन

श्रु २२५

करना और आत्माकी पवित्रताका होना इन दोनोंमें परस्पर अविनाभावी संबंध है। पवित्र आत्मा ही रत्नत्रयका पालन कर सकता है और रत्नत्रयका पालन करनेसे आत्माकी पवित्रता और अधिक बढ जाती है। इस प्रकार आचार्योंने ये सब पवित्र आत्माके चिन्ह बतलाए हैं। इनको धारण करना प्रत्येक भव्य जीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—ज्ञानहीना क्रिया देव सफला विफला वद् ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि बिना ज्ञानके जो क्रिया की जाती है वह सफल होती है वा निष्फल होती है?

उत्तर—सुबोधहीना विफला क्रिया स्यात् निंद्यास्ति चान्धादिगतेः समाना।
प्रोक्तं ततो बोधफलं चरित्रं विश्वासयोग्यं सुखशान्तिमूलम् ॥२९६॥
ब्रूते यथा यश्च तथा करोति स्यात्तस्य पूजापि यशस्त्रिलोके।
ततः क्रिया बोधयुता भवेयुर्यतो भवेन्मोक्षरमा स्वदासी ॥२९७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई अंधा मनुष्य गमन करनेकी क्रिया करता परंतु उसकी वह क्रिया निंदनीय और निष्फल कहलाती है उसी प्रकार विना ज्ञानके जो क्रिया की जाती है वह भी निष्फल और निंदनीय ही गिनी जाती है। इसीलिए आचार्योंने सम्यग्ज्ञानका फल सम्यक्चारित्र बतलाया है। यह सम्यक्चारित्र ही आत्मकल्याणके लिए विश्वासके योग्य है और सुख तथा शांतिका मूलकारण है। जिस प्रकार जो मनुष्य जैसा कहता है वैसा ही करता है इसीलिए उसकी तीनों लोकोंमें पूजा होती है और तीनों लोकोंमें उसका यश फैल जाता है। अतएव आचार्योंका उपदेश है कि क्रियाएं सब ज्ञानसहित ही होना चाहिए जिससे कि मोक्षरूपी स्त्री अपनी दासीके समान बन जाय।

भावार्थ—यहांपर ज्ञान शब्दसे आत्मज्ञान समझना चाहिए। इस संसारमें जितनी क्रियाएं की जाती हैं उन सबसे कर्मोंका बंध होता है परंतु आत्मज्ञानके साथ-साथ जो क्रियाएं की जाती हैं वे सब शुभ वा अशुभके विचारपूर्वक की जाती हैं। आत्मज्ञानी पुरुष आत्माको दुःख देनेवाली अशुभ क्रियाओंका त्याग कर देता है और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगता है। इस प्रकार वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष पापक्रियाओंका त्याग कर देता है और पापरहित क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगता है तथा पापरहित क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है। इसीलिए आचार्य महाराजने सम्यग्ज्ञानका फल सम्यक्चारित्र बतलाया है। सम्यक्चारित्रको पालन करनेवाला मनुष्य पापकार्योंका त्याग कर देता है इसीलिए वह विश्वासपूर्वक सुख और शांति प्राप्त कर लेता है तथा अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसीलिए सम्यक्चारित्रको विश्वासके योग्य और सुख शांतिका मूलकारण बतलाया है। जो मनुष्य जैसा कहता है वैसा ही करता है उसकी जो इस संसारमें पूजा प्रशंसा होती है उसका कारण यही है कि उसकी क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है। ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेसे ही वह प्रशंसनीय माना जाता है। जब साधारण ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेवाला प्रशंसनीय माना जाता है तो फिर आत्मज्ञानी पुरुषकी क्रियाएं अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करनेवाली होती हैं इसलिए भव्य पुरुषोंको सबसे पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और फिर उस आत्मज्ञानके साथ-साथ ध्यान तपश्चरण आदि मोक्ष प्राप्त करा देनेवाली क्रियाएं करनी चाहिए आत्मकल्याणका यही एक सबसे उत्तम साधन है।

प्रश्न—विद्यादिः शोभते केन कृपाब्धे वद मे गुरो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें विद्या धन आदिकी शोभा किस किससे होती है ?

उत्तर–क्षमया शोभते विद्या कुलं शीलेन शोभते ।
गुणेन शोभते रूपं धनं त्यागेन शोभते ॥२९८॥
सौम्येन शोभते लक्ष्मीः सुखं पुण्येन शोभते ।
नीत्यैव शोभते राज्यं पाणि दानेन शोभते॥२९९॥
सत्येन शोभते कण्ठः कायो व्रतेन शोभते ।
ज्ञात्वेति पूर्वकृत्यं हि कार्यं स्वमोक्षहेतवे ॥३००॥

अर्थ–इस संसारमें विद्या क्षमासे सुशोभित होती है, कुल शीलसे सुशोभित होता है, रूपकी शोभा गुणोंसे होती है, धनकी शोभा त्याग वा दानसे होती है, लक्ष्मीकी शोभा शान्त परिणामोंसे होती है, सुखकी शोभा पुण्यकार्य करनेसे होती है, राज्यकी शोभा नीतिपूर्वक राज्य पालन करनेसे होती है, हाथकी शोभा दान देनेसे होती है, कंठकी शोभा सत्यभाषण करनेसे होती है और शरीरकी शोभा व्रत करनेसे होती है। यही समझ कर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए क्षमाशील आदि आत्माके गुणोंको धारण कर विद्या कुल आदिकी शोभा बढानी चाहिए ।

भावार्थ–विद्या प्राप्त करके क्रोध मान आदि कषायोंकी वृद्धि करना बुद्धिमत्ताका कार्य नहीं है। क्योंकि क्रोधादि कषायोंके उत्पन्न होनेसे विद्याका सदुपयोग नहीं होता है। कषायोंकी तीव्रताके कारण यह मनुष्य उस विद्याका दुरुपयोग कर बैठता है। उसे हिंसा वा मायाचारी आदि पाप कार्योंमें लगा देता है। क्षमावान् मनुष्य शांत चित्त होकर उस विद्याका परिशीलन करता है और फिर अपने आत्माके कल्याण करनेमें लगता है। यही विद्याकी शोभा है। इससे सिद्ध होता है कि विद्याकी शोभा क्षमासे ही होती है। इसी प्रकार कुलकी शोभा शील पालन करनेसे होती है। जिस कुलमें शील पालन नहीं

होता, व्यभिचार सेवन होता है अथवा विधवाविवाह वा धरेजा होता है वा धरेजाके समान विजातीय विवाह होता है वह कुल न तो बढ सकता है और न संसारमें वह प्रशंसनीय वा उत्तम माना जाता है। व्यभिचार सेवन करनेसे, अथवा धरेजा वा विजातीय विवाह करनेसे सज्जातित्व नष्ट हो जाता है। जिन कुलोंमें परम्परापूर्वक सदाचार चला आता है, धरेजा वा विजातीय विवाह नहीं होता वा व्यभिचार सेवन नहीं होता उन कुलोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सज्जाति वाले कहलाते हैं इसका भी कारण यह है कि कुल परम्परासे व्यभिचार सेवन न होनेके कारण उनके रजोवीर्यमें शुद्धता बनी रहती है। व्यभिचार सेवन करनेसे वा धरेजा विजातीय विवाहसे रजोवीर्यमें अशुद्धता आ जाती है तथा रजोवीर्यमें अशुद्धता होनेसे सज्जातित्व अवश्य नष्ट हो जाता है। इसलिए कुलकी शोभा शील पालन करनेसे ही होती है। यह निश्चित सिद्धान्त है। इसी प्रकार रूपकी शोभा गुणोंसे होती है सुन्दर रूपवान होकर भी जो विद्या आदि गुणोंको धारण नहीं करता वह बगुलाके समान ऊपरसे अच्छा दिखलाई देनेवाला होता है। वह हंसके समान प्रशंसनीय और सुशोभित नहीं हो सकता। इसलिए रूपकी शोभा गुणोंसे ही मानी जाती है। धनकी शोभा त्यागसे ही होती है। जो पुरुष धनी होकर दान नहीं देता वह मनुष्य कृपण कहलाता है और फिर उसका मुंह देखना भी कोई पसन्द नहीं करता। दान देनेसे इस लोकमें सर्वत्र कीर्ति फैल जाती है, दान देनेसे शत्रु भी अपना दास हो जाता है। दानसे इस लोकके भी सब काम सिद्ध हो जाते हैं और परलोक भी सुधर जाता है। इसलिए धन पाकर दानमें खर्च करना ही उसकी शोभा है। इसी प्रकार लक्ष्मीकी शोभा सौम्यता वा शान्तितासे होती है। जो पुरुष लक्ष्मीको पाकरके उग्र परिणाम धारण करता है वह अनेक आपत्तियोंमें फंस जाता है तथा उसका सब धन इसीसे नष्ट हो जाता है। जो पुरुष लक्ष्मी पाकरके शांत रहता है सौम्यता धारण करता है, वह लक्ष्मीका सदुपयोग कर लेता है। फिर वह लक्ष्मीको श्रेष्ठ पुण्यकार्योंमें ही लगाता है। इसलिए लक्ष्मीकी शोभा

सौम्यता धारण करनेसे ही होती है। इसी प्रकार सुखकी शोभा पुण्यकर्म करनेसे ही होती है। सुखकी प्राप्ति पुण्यकर्मके उदयसे होती है। उस सुखकी प्राप्ति होकर भी जो आगेके लिए पुण्यकार्य नहीं करता उसका वह सुख चिरकाल तक नहीं रह सकता इसलिए सुखी जीवोंको सदाकाल सुखी रहनेके लिए जिनपूजन, पात्रदान आदि पुण्यकार्य करते रहना चाहिए इससे सुखकी शोभा है। राज्यकी शोभा न्याय और नीतिके पालन करनेसे होती है। जो राजा न्याय और नीतिका पालन नहीं करता उसका वह राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है। अन्याय और अनीतिका आश्रय लेनेसे प्रजा दुःखी हो जाती है तथा दुःखी होकर वह या तो राजाको राज-सिंहासनसे उतार देती है अथवा अन्य किसी प्रबल राजासे मिलकर उस राज्यको उसके आधीन करा देती है इसीलिए आचार्य महाराजने राज्यकी शोभा नीति और न्यायके ही आश्रय बतलाई है। हाथकी शोभा दानसे है। दान देनेसे हाथ पवित्र हो जाते हैं तथा हजारों प्राणी उन पवित्र हाथोंके दर्शन करनेके लिए सदाकाल लालायित रहते हैं। जो लोग कडे कंकणोंसे हाथोंकी शोभा मानते हैं वे भूलते हैं क्योंकि अनेक चोर लुटेरे उन कडे वा कंकणोंके ग्राहक हो जाते हैं और वे उस पहननेवालेको मारकर भी लेनेकी इच्छा कर लेते हैं इसलिए हाथकी शोभा कडे कंकणोंसे नहीं है किंतु दानसे है। जो लोग उस हाथसे दान लेते हैं वे मनुष्य वा जीव उस हाथको सदाकाल सुखी देखनेकी इच्छा करते हैं। इसी प्रकार कंठकी शोभा सत्य भाषण करनेसे होती है। सत्य भाषण करनेवाला मनुष्य सबके द्वारा विश्वसनीय और प्रशंसनीय गिना जाता है। असत्य भाषण करनेवाले मनुष्यका कोई विश्वास नहीं करता वह निन्दनीय गिना जाता है और परलोकमें भी दुःख पाता है इसलिए कंठकी शोभा सत्यभाषणसे है। हार आदि आभरणोंसे कंठकी शोभा नहीं होती। इसी प्रकार शरीरकी शोभा व्रत उपवास वा तपश्चरण करनेसे होती है। वस्त्राभूषणोंसे नहीं। व्रत उपवास वा तपश्चरण करनेसे शरीर पूज्य और देदीप्यमान हो जाता है। अतएव भव्यजीवोंको

क्षमा शील दान आदि गुणोंके द्वारा अपनी विद्या कुल वा धनकी शोभा बढानी चाहिए। यही मनुष्यका कर्तव्य है और यही स्वर्ग मोक्षका कारण है।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे वस्तुस्वरूपवर्णनो नाम तृतीयोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु नामके महाग्रन्थकी 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें वस्तु स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय।

हेयोपादेय स्वरूपका वर्णन।

प्रश्न—कः स्वं सर्वत्र मन्यते ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौनसा मनुष्य अपने आपको सर्वत्र समझता है ?

उत्तर—स्वानन्दतुष्टसाधुश्च नीतिनिष्ठः प्रजापतिः।
तथा विद्वान् क्षमाधारी श्रीमान् दाता रमा सती॥३०१॥
सत्यवादी स्पृहात्यागी कषायविषयोज्झितः।
यः स्वसम्बन्धहीनोपि स स्वं सर्वत्र मन्यते॥३०२॥

अर्थ—अपने आत्मजन्य आनन्दमें सन्तुष्ट रहनेवाले साधु यद्यपि किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखते तथापि वे अपनेको सर्वत्र समान समझते हैं। इसी प्रकार न्याय और नीतिमें तत्पर रहनेवाला राजा, क्षमा धारण करनेवाला विद्वान्, दान देनेवाला धनी, पतिव्रता स्त्री और कषाय विषयोंसे सर्वथा रहित तथा इच्छाओंसे सर्वथा रहित सत्य भाषण करनेवाला महापुरुष ये लोग किसीसे कुछ सम्बन्ध न रखनेपर भी अपनेको सर्वत्र समान समझते हैं।

भावार्थ—वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु यद्यपि किसीसे कोई किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखते, सबसे समानभाव धारण करते हैं तथापि वे अपनेको सर्वत्र समान समझते हैं न तो उन्हें कहीं किसी शत्रुसे डर लगता है और न किसी भक्त पुरुषसे किसी भी प्रकारकी इच्छा रखते हैं। वे साधु तो जहां पहुंच जाते हैं वहीं अपने आत्माका चिंतवन करने लगते हैं। वे साधु सिवाय अपने आत्माके और किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते इसीलिए वे किसी गांवमें वा नगरमें अथवा वनमें सर्वत्र समता धारण करते हुए विहार करते हैं। इसी प्रकार नीति और न्यायमें तत्पर रहनेवाले राजाका कोई शत्रु नहीं होता, वह चाहे जहां आ-जा सकता है। क्षमा धारण करनेवाला विद्वान् भी सर्वत्र आदरणीय होता है इसलिए उसके आने-जानेका स्थान सर्वत्र समान रहता है। इसी प्रकार दानी धनीका भी सर्वत्र आदर होता है। दान देनेवालेको सब लोग मानते हैं, इसलिए वह भी सर्वत्र समानरूपसे गमनागमन करता है। पतिव्रता स्त्रीका महत्व सर्वत्र विदित है, वह सर्वत्र महत्वशालिनी मानी जाती है इसलिए वह भी सर्वत्र समानरूपसे आ-जा सकती है। इसी प्रकार इच्छा और कषाय विषयोंसे रहित सत्यवादी पुरुष सर्वत्र पूज्य माना जाता है इसलिए किसीसे सम्बन्ध न रखनेपर भी प्रत्येक मनुष्य उसका आदर-सत्कार करता है इसलिए वह भी सर्वत्र समानरूपसे विहार कर सकता है। अभिप्राय यह है कि साधु, राजा, विद्वान्, धनी, स्त्री आदि जितने पदस्थ मनुष्य हैं; यदि वे अपने कर्तव्य पालन करनेमें कभी नहीं

चूकते हैं तो फिर समस्त संसार उनका आदर करता है। उनका किसीके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी सब लोग उनकी पूजा प्रतिष्ठा करते हैं इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपना कर्तव्य पालन करनेमें कभी नहीं चूकना चाहिए।

प्रश्न—विज्ञानादिसमा विद्यात्रान्यास्ति मे न वा वद ?

अर्थ—हे स्वामिन ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें विज्ञान आदिके समान अन्य विद्याएं हैं वा नहीं ?

उत्तर—क्षमासमं नास्ति तपोऽपरं च दयासमो नास्त्यपरो हि धर्मः।
चिन्ता समो नास्त्यपरश्च रोगो रसोऽपरो न स्वरसस्य तुल्यः ।३०३।
सुखं न सम्यक्त्वसमं त्रिलोके विज्ञानतुल्या ह्यपरा न विद्या।
चारित्र तुल्येत्यपरा न शान्तिर्ज्ञात्वा तदर्थं सततं यतन्ताम् ।३०४

अर्थ—इस संसारमें क्षमाके समान अन्य कोई तपश्चरण नहीं है, दयाके समान अन्य कोई धर्म नहीं है, चिन्ताके समान अन्य कोई रोग नहीं है, अपने आत्मजन्य आनन्दरसके समान अन्य कोई रस नहीं है सम्यग्दर्शनके समान तीनों लोकोंमें अन्य कोई सुख नहीं है, स्वपरभेदविज्ञानके समान अन्य कोई विद्या नहीं है और सम्यक्चारित्रके समान अन्य कोई शान्ति नहीं है। यही समझकर स्व-परभेदविज्ञान, चारित्र और क्षमा, दया आदिके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—इच्छाओंके रोकनेको तपश्चरण कहते हैं। क्षमा धारण करनेसे भी समस्त इच्छाओंका निरोध हो जाता है इसलिए क्षमाको सबसे उत्तम तपश्चरण बतलाया है। धर्मोंमें सबसे उत्तम धर्म दया है। दया आत्माका स्वभाव है और आत्माके स्वभावको ही धर्म कहते हैं इसलिए दयाको सबसे उत्तम

धर्म बतलाया है। रोगोंमें सबसे प्रबल रोग चिंता है, अन्य रोग तो पचकर नष्ट हो जाते हैं वा उपचारसे नष्ट हो जाते हैं परंतु चिंतारूपी रोग सहज नष्ट नहीं होता। यदि किसी कारणसे एक चिंता मिट जाती है तो दूसरी दो चिंताएं खडी हो जाती हैं। रोग बाहरसे दिखाई पडते हैं परंतु चिंतारूपी रोग बाहरसे दिखाई भी नहीं पडता और भीतर ही भीतर शरीरको जला देता है। इसीलिए चिंताको सबसे प्रबल रोग बतलाया है। इसीप्रकार आत्मजन्य आनंदरस सबसे उत्तम रस कहलाता है। इस रसके प्राप्त होने पर अनंत सुख प्राप्त हो जाता है। अन्य सब रस क्षणभंगुर हैं और यह रस सदाकाल रहनेवाला है। इसी लिए इसको सबसे उत्तम रस बतलाया है। सम्यग्दर्शनको सबसे उत्तम सुख बतलाया है इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन अनंत सुखोंका मूल कारण है। मोक्ष प्राप्तिका मूलकारण सम्यग्दर्शन ही है। इसीलिए सम्यग्दर्शनको सबसे उत्तम सुख बतलाया है। इसीप्रकार स्वपरभेदविज्ञान ही सबसे उत्तम विद्या है। यह विज्ञान मोक्षका कारण है, इसके सिवाय अन्य सब विद्याएं संसारकी कारण हैं। इसलिए विद्याओंमें सबसे उत्तम विद्या स्वपरभेदविज्ञान है। इसके समान अन्य एक भी विद्या नहीं है। इसी प्रकार शांति त्यागमें है चारित्रमें है परिग्रहका त्याग कर देनेसे फिर किसी प्रकारकी चिंता ही नहीं रहती। फिर तो केवल आत्मजन्य आनंदका आस्वादन होता रहता है। इसीलिए भव्यजीवोंको चिंताका त्याग कर अन्य दया क्षमा आदि आत्माके गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—क्व तिष्ठति गुरो देवो मूर्खः कान्विष्यति प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि देव कहां रहता है और मूर्ख वा अज्ञानी लोग उसे कहां ढूंढते हैं ?

उत्तर—यात्रादितीर्थे यजने न देहे देवो न काष्ठे न वने शिलायाम् ।
शैले श्मशाने भुवने न हर्म्ये जले स्थले खे रजते न रत्ने ॥३०५॥

यथार्थदृष्टया यदि तिष्ठतीह देवाधिदेवे न च देवरूपे।
देवः सदा तिष्ठति शुद्धबुद्धो मोहादिमुक्तैः प्रविलोकनीयः ॥३०६॥

अर्थ—देव न तो किसी यात्रामें है, न किसी तीर्थमें है, न किसी पूजामें है, न किसी शरीरमें है न किसी लकडीमें है, न वनमें है, न किसी पत्थरमें है, न किसी पर्वतपर है, न किसी श्मशानमें है, न किसी लोकमें है, न किसी मकानमें है, न किसी जलमें है, न किसी स्थलमें है, न आकाशमें है, न चांदीमें है और न किसी रत्नमें है। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो देव इनमें किसीमें नहीं रहता। यदि रहता है तो देवाधिदेव भगवान अरहंतदेवमें ही रहता है। अरहंतदेवके सिवाय अन्य देव कहलानेवाले किसीमें नहीं रहता। वह देव कर्ममल कलंकरहित अत्यंत शुद्ध है और बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ है। वह ऐसा देव मोह मद वा कषायोंसे रहित मनुष्योंके द्वारा ही देखा जाता है।

भावार्थ—जो अठारह दोषोंसे रहित वीतराग हो, जो समस्त पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञानमय सर्वज्ञ हो और जो समस्त जीवोंका कल्याण करनेके लिए हितमय उपदेश देता हो उसको देव कहते हैं। वह शुद्ध बुद्धमय देव अपने ही शुद्धस्वरूप आत्मामें रहता है अपने आत्माको छोडकर अन्यत्र कहीं नहीं रहता जो लोग इस बातको नहीं समझते हैं वे उस देवको वनमें ढूंढते हैं, पर्वतपर ढूंढते हैं तथा और-और अनेक स्थानोंमें ढूंढते फिरते हैं परंतु वह देव इन स्थानोंमें कहीं नहीं मिलता। यद्यपि जैसे देव पूज्य हैं वैसे ही तीर्थ भी पूज्य हैं और इसीलिए सब लोग जिस प्रकार देवकी पूजा करते हैं उसी प्रकार तीर्थोंकी पूजा करते हैं तथापि देव और तीर्थोंमें अंतर है। जिस प्रकार गुड मीठा होता है परंतु उस गुडसे बने हुए आटेके पूए उस गुडसे भी अधिक स्वादिष्ट और अधिक मीठे होते हैं। इसी प्रकार भगवान अरहंत देव तो पूज्य हैं ही, इसमें तो किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है परंतु वे परमपूज्य अरहंतदेव अपने पूज्य चरणोंको जहांपर रख देते हैं वही स्थान तीर्थ हो जाता है अथवा वे भगवान जहांसे मोक्ष जाते हैं वह

स्थान भी तीर्थ हो जाता है। अथवा भगवानके पंचकल्याणक स्थानोंको भी तीर्थ कहते हैं। ये सब तीर्थ स्थान उन भगवान अरहंतदेवके स्पर्शमात्रसे ही अत्यंत पवित्र हो जाते हैं। इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंतदेवका आतमा अत्यंत शुद्ध एवं पवित्र और समस्त दोषोंसे रहित है। उस आत्माके संबंधसे उनका शरीर भी परम पवित्र और पूज्य हो जाता है। इसीलिए उस पवित्र और पूज्य शरीरके संबंधसे स्थान भी पूज्य हो जाता है। यद्यपि वह स्थान वा तीर्थ स्वयं देव नहीं है तथापि देवके संबंधसे पूज्य और पवित्र अवश्य है।

देवका लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है उन परमदेवका दर्शन उन्हीं महापुरुषोंको होता है जो अपने मोहको नष्ट कर स्वयं पवित्र हो जाते हैं। जिनका मोहनीय कर्म नष्ट नहीं हुआ है ऐसे जीव प्रायः उन भगवानके दर्शन करनेसे वंचित रहते हैं। इसलिए भगवान अरहंतदेवके दर्शन करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको सबसे पहले अपने मोहको नष्ट कर देना चाहिए अथवा मोहनीय कर्म नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिए। यही उसका कर्तव्य है।

प्रश्न—नरोपि पशुवद् भाति कीदृक् स वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौनसा मनुष्य मनुष्य होकर भी पशुके समान माना जाता है ?

उत्तर—यो मांससेवी मधुमद्यपायी, वाऽभक्ष्यभक्षी विषयाभिलाषी।
निंद्ये च नीचोच्चगृहेपि भोजी, विद्याविहीनश्च विवेकशून्यः॥३०७॥
दयादिहीनो जनवंचकः स, नरोपि लोके पशुतुल्यवृत्तिः।
ज्ञात्वेति मुक्त्वा पशुतुल्यवृत्तिं, कुर्वन्तु कार्यं सुखदं पवित्रम्॥३०८॥

अर्थ—जो मनुष्य मांस सेवन करता है, शहद भक्षण करता है, मद्य पीता है, अथवा अन्य समस्त अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करता है, जो विषयोंमें तीव्र लालसा रखता है, जो निंदनीय वा ऊंच, नीच सबके घरमें भोजन करता है, जो विद्या रहित है, विवेक रहित है, दया क्षमा आदि उत्तम गुणोंसे रहित है और जो लोगोंको ठगता फिरता है वह मनुष्य मनुष्य होकर भी इस संसारमें पशुओंके समान आचरणोंको धारण करनेवाला माना जाता है। यही समझकर पशुओंके समान आचरणोंका त्याग कर देना चाहिए और सुख देनेवाले पवित्र कार्य करते रहना चाहिएं।

भावार्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवको मनुष्य जन्म बडी कठिनतासे प्राप्त होता है तथा यह मनुष्यपर्याय ही एक ऐसी पर्याय है जिसमें यह प्राणी विवेकपूर्वक अपना कार्य कर सकता है, अपने आत्माका कल्याण कर सकता है और पापकर्मोंसे बच सकता है। मद्य, मांस, मधुका सेवन करना महापाप कार्य है। जो गाय आदि उत्तम पशु कहलाते हैं, वे भी इस मद्य मांसादिकका सेवन नहीं करते। फिर भला मनुष्य होकर मद्य मांसादिकका सेवन किस प्रकार करना चाहिए। मनुष्य होकर मद्य मांसादिकका सेवन करना पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय कार्य माना जाता है इसलिए मद्य मांसादिकका त्याग कर देना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार सदाकाल विषयोंकी अभिलाषा रखना पशुओंसे भी बढकर निंद्य कार्य है। पशु भी सदाकाल इसमें नहीं लगे रहते। तिसपर भी वे विवेकहीन कहलाते हैं। यह मनुष्य विवेकी कहलाता है। विवेकी होकर भी सदा काल विषयोंकी अभिलाषा करते रहना पशुवृत्तिसे भी बढकर है। इस संसारमें अभक्ष्य भक्षण पशु भी नहीं करते। पशुओंके लिए जो अभक्ष्य होता है उसे वे सूंघकर ही छोड देते, हैं परन्तु यह मनुष्य विवेकी होकर भी सब कुछ खा जाता है इससे बढकर पशुओंसे भी अधिक निंद्यपना और क्या हो सकता है। इसी प्रकार ऊंच नीच वा निन्दनीय आदि सब घरोंमें भोजन कर लेना वा सबके साथ

भोजन कर लेना पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय है। भोजन करना एकान्त कर्तव्य है। यदि किसीके साथ करना पडे तो समान वर्णका समान जाति और समान धर्मवालेके ही साथ किया जाता है। अन्यके साथ नहीं। क्या कभी किसीने किसी सिंहको गीदडके साथ खाते देखा है? फिर भला उच्च वर्ण, उच्च जाति और उच्च धर्मके होकर भी नीच जातियोंके साथ भोजन करना सिंह आदि पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय कर्तव्य है। इसी प्रकार विवेकशून्य होना, दया रहित होना, विद्या रहित होना और लोगोंको ठगना आदि सब कार्य निन्दनीय हैं और पशुओंके समान हैं। पशु कभी किसीको नहीं ठगते हैं परन्तु मनुष्य पशुओंको भी ठगता है और मनुष्योंको भी ठगता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इन पशुओंके समान वा पशुओंसे भी अधिक निन्दनीय आचरणोंका त्याग कर देना चाहिए और दया, क्षमा, सदाचार आदि मनुष्योचित गुणोंको धारणकर अपने आत्माको पवित्र बना लेना चाहिए जिससे कि परलोकमें श्रेष्ठ सुखकी प्राप्ति हो।

प्रश्न—अध्यात्मविद्याया कः कः दासः स्याद्वद मे गुरो ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि अध्यात्मविद्याकी जानकारीसे कौन-कौन पदार्थ अपने दास हो जाते हैं?

उत्तर—चिन्तामणिः कल्पतरुः सुरेशो दासो नरेशोपि भवेत्फणीशः।
सुभोगभूमिर्वरकामधेनुः सुखप्रदो स्वर्गमही स्वदासी ॥३०९॥
अध्यात्मविद्याकृपया तथा स्यात् स्वानन्दसाम्राज्यसुखं समीपम्।
ज्ञात्वेत्यविद्यां प्रविहाय भव्यैरध्यात्मविद्या हृदि धारणीया ॥३१०॥

अर्थ—इस अध्यात्म विद्याकी कृपासे चिंतामणि रत्न अपना दास बन जाता है, कल्पवृक्ष भी दास

बन जाता है, इन्द्र भी दास बन जाता है, राजा भी दास बन जाता है और धरणीन्द्र वा नागेन्द्र भी दास बन जाता है। इसी प्रकार उत्तम भोगभूमि और कामधेनु भी दासी हो जाती है तथा सुख देने-वाली स्वर्गकी पृथ्वी भी दासी बन जाती है और आत्मजन्य साम्राज्यका अनन्त सुख अपने समीप आ जाता है। यही समझकर भव्यजीवोंको अपनी अविद्याका त्याग कर देना चाहिए और अध्यात्म-विद्या अपने हृदयमें धारण कर लेनी चाहिए।

भावार्थ—आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानको अध्यात्म विद्या कहते हैं। अथवा आत्माके शुद्ध स्वरूपके ज्ञानको अध्यात्म विद्या कहते हैं। जब यह जीव अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको समझ लेता है और उसपर निश्चल श्रद्धान कर लेता है फिर उस जीवको मोक्ष प्राप्त कर लेनेमें देर नहीं लगती। आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान होते ही वह आत्माके साथ लगे हुए राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंका त्याग कर देता है, बाह्य परिग्रहोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझ कर उनका भी सर्वथा त्याग कर देता है और फिर ध्यान तपश्चरणके द्वारा वह अपने आत्माके साथ अनादि कालसे लगे हुए कर्मोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जिस समय वह अपने ध्यान तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट करता हुआ लब्धियोंको प्राप्त होता है उस समय इन्द्र भी उसके चरणोंमें मस्तक झुकाता है। फिर भला चिंतमणि, कल्पवृक्ष, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती, कामधेनु, भोगभूमि, और स्वर्गकी तो बात ही क्या है ? यह अध्यात्म विद्या केवल ज्ञानको प्राप्त करा देती है और इस प्रकार अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चारों अनन्त चतुष्टयोंको प्राप्त करा कर उस जीवको जगत वंद्य बनाकर तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान कर देती है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको सब काम छोडकर इस अध्यात्म विद्याका अध्ययन करना चाहिए। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि अध्यात्म विद्याको अध्ययन करनेवाला पुरुष ज्यों-ज्यों अध्यात्म विद्याका अध्य-

यन करता जाता हैं त्यों-त्यों व्यवहार चारित्रकी वृद्धि करता जाता है। इसका भी कारण यह है कि यह व्यवहार चारित्र अध्यात्म विद्याका ही फल है। व्यवहार चारित्र से ही गुण स्थानोंकी वृद्धि होती है और व्यवहार चारित्रसे हीं कर्मोंका नाश होता है। जहांपर इस व्यवहार चारित्रकी पूर्णता होती है वहींपर निश्चय चारित्रकी पूर्णता होकर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए जो लोग अध्यात्म विद्याका अध्ययन करते हुए व्यवहार चारित्रका त्याग कर देते हैं वे दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर केवल पापोंका ही उपार्जन किया करते हैं। अतएव जिस विद्याके पढनेसे व्यवहार चारित्र छूट जाय उसको अध्यात्म विद्या कभी नहीं कह सकते। जिस विद्याके अध्ययन करनेसे यह आत्मा व्यवहार चारित्र छोडकर अपने आत्मकल्याणसे ठगा जाय उसे अध्यात्म विद्या कैसे कह सकते हैं उसे तो फिर ठग विद्या कहना चाहिए। इसलिए जिस विद्याके अध्ययन करनेसे व्यवहार चारित्रकी वृद्धि और शुद्धि होती रहे उसीको अध्यात्म विद्या कहते हैं और ऐसी अध्यात्म विद्यासे ही सुखकी समस्त सामग्री दासीके समान सदाकाल सामने खडी रहती है।

प्रश्न—कौमूर्तकर्मणाऽमूर्तो जीवः सः बध्यते कथम् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जब यह जीव अमूर्त है तब यह मूर्त कर्मोंसे किस प्रकार बंध जाता है?

उत्तर—जीवो न सर्वथाऽमूर्तो रागद्वेषयुतो भुवि।
यद्यमूर्तो भवेत्तर्हि बंधमोक्षविधिर्वृथा ॥३११॥
साधुश्रावकभेदोपि तथा दानार्चनादिकम्।
पुण्यपापादिभेदश्च न स्यात्तत्त्वादिचिन्तनम् ॥३१२॥

तद्विना घटते नैव कर्ताकर्मादिकारकम् ॥३१३॥
ततश्च मन्यते यावद् बद्धो जीवोस्ति कर्मणा ।
तावन्मूर्तो भवेत्पश्चादमूर्तश्च निरंजनः ॥३१४॥

अर्थ—इस संसारमें जो रागद्वेष आदि विकारोंको धारण करनेवाला जीव है वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। यदि राग द्वेष विशिष्ट जीवको अमूर्त माना जायगा तो फिर बंध और मोक्षकी व्यवस्था व्यर्थ माननी पडेगी, मुनि और श्रावकका भेद भी व्यर्थ मानना पडेगा, दान पूजा व्रत उपवास आदि भी सब व्यर्थ मानने पडेंगे, पुण्य पापका भेद भी व्यर्थ मानना पडेगा और तत्त्वोंका चिंतवन भी व्यर्थ मानना पडेगा। यह आत्मा स्वयं कर्मोंको करता है और तन्मय होकर उनके फलोंको भोगता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो कर्ता कर्म आदि क्रिया कारकोंका सम्बन्ध भी कभी नहीं बन सकेगा। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जबतक यह जीव कर्मोंसे बंधा हुआ है तबतक यह जीव मूर्त माना जाता है और जब यह जीव अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है तब यह जीव अमूर्त कहलाता है और तभी यह जीव समस्त कर्मोंसे रहित निरंजन हो जाता है और फिर वह कभी भी कर्मोंसे नहीं बंध सकता।

भावार्थ—यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका यथार्थ स्वरूप अमूर्त है, परंतु यह संसारी आत्मा अनादिकालसे सुवर्ण पाषाणके समान कर्मबंधन विशिष्ट ही चला आ रहा है। जो आत्मा कर्मबंधनविशिष्ट होता है वह व्यवहारनयमें मूर्त माना जाता है। जिस प्रकार सुवर्ण पाषाणमें शुद्ध सुवर्ण होता है परंतु वह खानिमें अनादिकालसे पाषाण सहित चला आ रहा है। जिस प्रकार उस सुवर्ण पाषाणको अग्निमें तपाकर शुद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार वह अनादिकालसे कर्मसहित चला आ रहा आत्मा ध्यान

तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर शुद्ध अमूर्त बन जाता है तथा शुद्ध अमूर्त होनेपर वह फिर कभी भी कर्मबंधनमें नहीं पडता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जो आत्मा अमूर्त और शुद्ध होता है वह फिर कभी भी कर्मबंधनोंसे बद्ध नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि कर्मोंका बंधन राग द्वेष मोह काम आदि विकारोंसे होता है तथा राग द्वेष आदि विकार कर्मोंके उदयसे होते हैं। जब यह आत्मा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है तब न तो उसके कर्मोंका उदय हो सकता है, न राग द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं और न कर्मोंका बंधन हो सकता है। इसलिए अमूर्त आत्मा कभी भी कर्मबंधनबद्ध नहीं होता। यह निश्चित सिद्धांत है परंतु यह संसारी आत्मा अनादिकालसे कर्मबंधनबद्ध चला आ रहा है और इसीलिये व्यवहारनयसे मूर्त कहलाता है ऐसा यह कथंचित् मूर्त आत्मा कर्मोंके बंधनोंसे बंधता रहता है। जो लोग इस आत्माको सर्वथा अमूर्त मानते हैं वे भूलते हैं। क्योंकि यदि संसारी आत्माको भी अमूर्त माना जायगा तो फिर उसे मुक्त जीवके समान शुद्ध और राग द्वेष रहित मानना पडेगा क्योंकि यह भी निश्चित सिद्धांत है कि जो-जो आत्मा सर्वथा अमूर्त होता है वह शुद्ध और निर्दोष वा वीतराग ही होता है और ऐसा आत्मा फिर कर्मोंसे कभी नहीं बंध सकता। इसी प्रकार वह वीतराग निर्दोष और अत्यंत शुद्ध होता है और मुक्त आत्मा भी ऐसा ही होता है इसलिए वह सर्वथा अमूर्त आत्मा मुक्त ही होता है तथा मुक्त आत्माको फिर मुक्त होनेकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि बंधा हुआ आत्मा ही मुक्त हो सकता है, जो बंधा हुआ नहीं है वह तो मुक्त ही है। इस प्रकार विचार करनेसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि यदि संसारी आत्माको सर्वथा अमूर्त मान लिया जायगा तो न तो कर्म-बंधनकी व्यवस्था ठीक बन सकती है और न मोक्ष होनेकी व्यवस्था ठीक बन सकती है तथा जब बंध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती तो फिर मुनि और श्रावकोंका भेद भी नहीं बन सकता न सामायिक, ध्यान, तपश्चरण वा दान, पूजन आदिकी व्यवस्था बन सकती है, न पुण्य पापका भेद बन

सकता है और न तत्त्वोंका चिंतवन बन सकता है, क्योंकि कर्मबंधन और शरीर विशिष्ट आत्मा ही कर्मोंका बंध कर सकता है, वही मोक्षप्राप्तिके लिए अणुव्रत महाव्रत धारण कर सकता है, वही आत्मा तत्त्वोंका चिंतवन कर सकता है और वही पुण्य व पापका आस्रव वा संवर कर सकता है। कर्मोंसे बंधा हुआ शरीर विशिष्ट आत्मा ही कर्मोंको करता है और वही आत्मा उन कर्मोंके फलको भोगता है। इस प्रकार माननेसे कर्ता कर्म आदि कारकोंका सम्बन्ध भी ठीक बैठ जाता है। यदि संसारी आत्माको भी सर्वथा अमूर्त मान लिया जाता है तो फिर अमूर्त आत्मा न तो कुछ कर सकता है और न कर्मोंका फल भोग सकता है। क्योंकि शरीरके द्वारा ही कोई कार्य किया जाता है और शरीरके द्वारा कर्मोंका सुख दुःख रूप फल भोगा जाता है तथा शरीर विशिष्ट आत्मा कथंचित् मूर्त ही होता है। इसलिए कथंचित् मूर्त संसारी आत्मा ही कर्मोंसे बंधता है, अमूर्त आत्मा कभी कर्मोंसे नहीं बंध सकता। यह निश्चित सिद्धांत है।

प्रश्न—मोक्षार्थिभिश्च किं कार्यं सुखार्थं वद मे गुरो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यपुरुषोंको अनंत सुख प्राप्त करनेके लिए क्या-क्या कार्य करना चाहिए ?

उत्तर—सुखात्मकं ज्ञानमयं पवित्रं मोक्षं प्रयातुं हृदि यश्च वांच्छेत्।
संसारमोहः प्रथमं च तेन त्याज्यस्तथा क्रोधरिपुः कुटुम्बः ॥३१५॥
पश्चात्सदा चात्मनि चात्मने चात्मानं चिदानन्दमयं सुखार्थम्।
विलोकनं बोधनमेव कार्यं मूढक्रियां बाह्यविधिं विहाय ॥३१६॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने हृदयमें अनन्त सुखमय तथा अनन्त ज्ञानमय और अत्यन्त पवित्र ऐसे

मोक्षस्थानमें पहुंचना चाहता है उसको सबसे पहले संसारके मोहका त्याग कर देना चाहिए, क्रोधरूपी शत्रुका त्याग कर देना चाहिए और कुटुम्बका त्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर अनन्त सुख प्राप्त करनेके लिए तथा अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने ही आत्मामें अपने चिदानन्दमय आत्माको देखना चाहिए तथा अज्ञानी जीवोंके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका त्याग कर तथा समस्त बाह्य विधियोंका त्याग कर उसी चिदानन्दमय आत्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

भावार्थ–इस संसारमें इस आत्माका मोह ही सबसे प्रबल शत्रु है। इस मोहके ही कारण इस आत्माको नरक वा निगोदमें जाना पडता है तथा मोहके ही कारण समस्त पाप करने पडते हैं। जो शेठ लोग किसी अन्यके पुत्रको दत्तक लेते हैं वे दत्तक लेनेके अनन्तर ही उससे मोह करने लगते हैं। दत्तक लेनेके पहले वे उस बालकके लिए कुछ भी करनेके लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि दत्तक लेनेके पहले वे उससे कोई किसी प्रकारका मोह नहीं करते थे। दत्तक लेने और मोह करनेके अनन्तर वे शेठ लोग उस बालकके लिए सब कुछ करनेको तैयार हो जाते हैं। उसके लिए अनेक प्रकारके दुःख सहन करते हैं, अनेक प्रकारके पाप करते हैं और अपना सब धन खर्च करनेको तैयार हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि समस्त पाप और दुःखोंका कारण एक मोह ही है। जो लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं उन्हें सबसे पहले इस मोहका त्याग कर देना चाहिए। मोहका त्याग कर देनेसे क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर, काम आदि आत्माके समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं इसीप्रकार मोहका त्याग कर देनेसे कुटुम्बका त्याग भी अपने आप हो जाता है। क्योंकि मोहके ही कारण कुटुम्बमें प्रेम होता है। मोहके छूट जानेसे कुटुम्बका प्रेम अपने आप छूट जाता है। इसप्रकार जब यह आत्मा अपने मोहका त्याग कर देता है तथा कषायादिक समस्त विकारोंका त्याग कर देता है तब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है। शुद्ध होनेके कारण अपने ही आत्माके द्वारा अपने शुद्ध आत्माका दर्शन करने लगता है

और शुद्ध आत्माका स्वरूप जानने लगता है। उस समय इसकी समस्त बाह्य क्रियाएं छूट जाती हैं और यह आत्मा अपने आत्मामें लीन होकर अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करने लगता है। इस प्रकार अपने शुद्ध आत्माके चिंतवनके द्वारा यह आत्मा अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर डालता है और अनन्त सुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य इन अनन्त चतुष्टयको प्राप्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपने मोहका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रश्न—यदि जीवाः सदाकालं मोक्षं प्रयान्ति विश्वतः।
सर्वं विश्वं भवेत्तर्हि जीवशून्यं भयंकरम्।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यदि ये संसारी जीव इस संसारसे सदाकाल मोक्ष जाते रहेंगे तो फिर किसी न किसी दिन यह समस्त संसार समस्त जीवोंसे रहित होकर भयंकर हो जायगा वा नहीं?

उत्तर—यथा यथा पदार्थाः स्युर्दृष्टा ज्ञातास्तथा तथा।
जीवाः स्युश्चाक्षयानन्ताः प्रोक्ताः केवलिनेति कौ ॥३१७॥
गतास्ततोपि मोक्षं च किंतु रिक्ता मही न सा।
अकृत्रिमपदार्थानां सूक्ष्माणां दूरवर्तिनाम् ॥३१८॥
स्यादभावो न बुद्ध्वेति तत्त्वज्ञा भवभीरवः।
विश्वरिक्तभयं त्यक्त्वा कुर्वन्तु मोक्षसाधनम् ॥३१९॥

अर्थ—वीतराग केवली भगवान् अरहंतदेवने जो-जो पदार्थ जिस-जिसरूपसे देखे हैं वा जिस जिस रूपसे जाने हैं वे पदार्थ उसी-उसी रूपसे बतलाये हैं। उनमेंसे जीव पदार्थोंकी संख्या अक्षय अनन्त

बतलाई है। अनादिकालसे लेकर आजतक अनन्तानन्तकाल व्यतीत हो चुका और इस अनन्तानन्तकालमें जीव बराबर सदाकाल मोक्ष जाते रहे हैं तथापि यह पृथ्वी आज तक जीवोंसे खाली नहीं हुई है, इसलिए जो सूक्ष्म पदार्थ हैं वा दूरवर्ती अकृत्रिम पदार्थ हैं वा दूर कालवर्ती पदार्थ हैं उनका कभी अभाव नहीं कहा जा सकता। अतएव संसारके दुःखोंसे भयभीत रहनेवाले और तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले भव्यजीवोंको इस संसारके खाली होनेके भयका त्याग कर देना चाहिए और मोक्षके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—भगवान् अरहंतदेव राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित वीतराग होते हैं तथा चर-अचर सूक्ष्म स्थूल आदि समस्त पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञ होते हैं। जो-जो वीतराग सर्वज्ञ होते हैं वे कभी भी पदार्थोंका मिथ्या स्वरूप नहीं कह सकते। जो राग द्वेषको धारण करता है वह अपने राग द्वेषके कारण पदार्थोंका मिथ्या स्वरूप कह सकता है तथा जो सर्वज्ञ नहीं होता वह भी अल्पज्ञ होनेके कारण पदार्थोंका मिथ्यास्वरूप कह सकता है। परन्तु जो वीतराग होता हुआ सर्वज्ञ होता है वह कभी भी पदार्थोंका मिथ्यास्वरूप नहीं कह सकता, इसलिए भगवान् अरहंतदेवने जो कहा है वह सर्वथा यथार्थ है। उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड सकता। भगवान् अरहंतदेवने जीवोंकी संख्या अक्षय अनन्त बतलाई है, इसलिए वह जीवोंकी संख्या कभी समाप्त नहीं हो सकती है। मान लीजिये कि किसीके पास दस करोड रुपए हैं और इसीलिए वह करोडपति कहलाता है, यदि उसके पाससे ५) रु० प्रतिदिन निकाल लिए जांय और वह जब तक जीवित रहे तब तक निकालते जांय तो भी वह करोडपति ही बना रहेगा। यद्यपि उसके रुपयोंमेंसे दस-बीस लाख रुपये कम हो जांयगे तथापि वह करोडपति अवश्य बना रहेगा। इसीप्रकार जीवोंकी संख्या अक्षय-अनन्त है उसमेंसे बहुतसे जीव मोक्ष पहुंचते रहते हैं तथापि उसकी अक्षय अनन्त संख्यामें किसी प्रकारकी कमी नहीं

हो सकती। इसके एक दो उदाहरण और देख लीजिये। आकाश अनन्त है। यदि हम किसी एक स्थानको नियत स्थान मानलें और उस स्थानसे हवाई जहाजके द्वारा पूर्व दिशाकी ओर गमन करते जांय तो क्या पूर्व दिशाका अन्त आ सकता है? यद्यपि जितना गमन करते जाते हैं उतना भाग नियत स्थानसे पूर्व दिशाकी ओरका भाग कम-कम होता जाता है, परन्तु पूर्व दिशाका अन्त नहीं आ सकता। यदि कोई मनुष्य उस दिशाका अन्त मान ले तो आकाश अनन्त नहीं ठहरता है तथा फिर उस अंतिम भागके आगे क्या है सो बतलाना चाहिए, परन्तु ये दोनों ही बातें असम्भव हैं। न तो आकाशका अन्त आ सकता है और न आकाशका अभाव होकर दूसरा पदार्थ रह सकता है इसलिए जिस प्रकार आकाशके एक दिशाकी ओर गमन करते हुए आकाशका बहुभाग घट जाता है तथापि उसका अन्त नहीं आता उसी प्रकार उन जीवोंकी अक्षय अनन्त संख्यामेंसे जो जीव मोक्ष चले जाते हैं उतनी संख्या कम अवश्य हो जाती है तथापि वह अक्षय अनन्त संख्या ही बनी रहती है। दूसरा उदाहरण—मनुष्य अपनी मातासे ही उत्पन्न होता है तथा उसकी माता अपनी मातासे उत्पन्न होती है और उसकी माता अपनी मातासे उत्पन्न होती है। इस प्रकारकी समस्त माताएं यदि कल्पनाशक्तिके द्वारा एक स्थानपर इकट्ठी कर ली जांय और उसमेंसे फिर एक-एक घटाते जांय वा अलग करते जांय तो क्या उन माताओंका कभी अंत आ सकता है? यदि कोई मनुष्य किसी माता तक गिनकर उसको अन्तिम माता कहेगा तो फिर यह प्रश्न सहज रीतिसे उत्पन्न हो जायगा कि वह अंतिम माता किससे उत्पन्न हुई थी और फिर उसकी माता किससे उत्पन्न हुई थी? इस प्रकार विचार करनेसे उन माताओं का अन्त कभी नहीं आ सकता। उसी प्रकार मोक्ष जाते हुए भी जीवोंकी संख्या कभी समाप्त नहीं हो सकती। इस संसारमें निगोदराशि अनन्तानन्त भरी हुई है। एक सुईके अग्र भागपर वा उससे भी बहुत कम भागपर एक निगोदिया शरीर रहता है और उस शरीरमें अनन्तानन्त निगोदराशिके जीव

रहते हैं तथा इस प्रकारके जीवोंसे यह समस्त लोकाकाश भरा हुआ है। फिर भला उन जीवोंकी संख्या समाप्त कैसे हो सकती है। हां! जितने जीव मोक्ष चले जाते हैं उतने जीवोंकी संख्या संसारी जीवोंकी संख्यामेंसे कम अवश्य हो जाती है परन्तु वह कभी किसी कालमें भी समाप्त नहीं हो सकती इसलिए संसारके दुःखोंसे डरनेवाले भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस संसारमें बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जिनको हम नहीं देख सकते। राम रावण आदिको हुए बहुत काल व्यतीत हो गया, मेरु पर्वत आदि अकृत्रिम पदार्थ बहुत दूर हैं अथवा निगोदराशि बहुत सूक्ष्म है इन सबको हम देख नहीं सकते तथापि इनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यद्यपि हमने अपने दस-बीस पीढीके पहलेके लोग देखे नहीं है तथापि उनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए भगवान अरहंतदेवने जो कहा है वह मिथ्या वा विपरीत नहीं हो सकता यही समझकर उनके वचनोंपर अटल विश्वास रखना चाहिए और समस्त संकल्प-विकल्पोंका त्याग कर मोक्षमार्गके सिद्ध करनेमें लग जाना चाहिए। यही मनुष्यका कर्तव्य है।

प्रश्न—कौ वदाभव्यजीवे स्यात्स्वरुचिः शर्मदा न वा ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें अभव्य जीवोंके आत्माका कल्याण करनेवाली आत्मरुचि होती है वा नहीं ?

उत्तर—लोहे सुगंधश्च खले सुनीतिरिक्षौ फलं लोभिनरे शुचित्वम् ।
स्वर्गेपि पीडा स्वसुखेपि दुःखं स्यादर्थचिन्ता वरभोगभूम्याम् ॥३२०॥
अग्नौ च शीतं गगनेपि पुष्पं मोक्षे ह्यशान्तिर्नरके च शान्तिः ।
पूर्वोक्तरीतिश्च भवेत्तथापि स्वात्मानुभूतिर्न भवेदभव्ये ॥३२१॥

अर्थ—यद्यपि लोहेमें सुगंध नहीं होती, दुष्ट पुरुष नीति और न्यायका पालन नहीं कर सकता, ईखपर कभी भी फल नहीं लग सकते, लोभी पुरुष कभी पवित्रता धारण नहीं कर सकते, स्वर्गमें कभी पीडा नहीं होती. आत्मजन्य सुखमें कभी दुःख नहीं होता, उत्तम भोगभूमिमें कभी भी धनकी चिन्ता नहीं होती, अग्निमें कभी शीतलता नहीं होती, आकाशमें कभी फूल नहीं लगता, मोक्षमें कभी अशान्ति नहीं होती और नरकमें कभी शान्ति नहीं होती तथापि यदि ये सब बातें हो जांय, लोहेमें सुगंध भी आ जाय, दुष्ट पुरुष नीति और न्यायका भी पालन करने लगे, ईखमें फल भी लग जांय, लोभी मनुष्यमें पवित्रता भी आ जाय, स्वर्गमें भी पीडा होने लगे, आत्मजन्य सुखमें भी दुःख मालूम होने लगे, उत्तम भोगभूमिमें भी धनकी चिन्ता करनी पडे, अग्निमें भी शीतलता आ जाय, आकाशमें भी पुष्प लग जांय, मोक्षमें भी अशांति हो जाय और नरकमें भी शांति हो जाय तथापि अभव्य जीवके स्वात्मानुभूति कभी किसी कालमें भी नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होनेकी योग्यता होती है उसको भव्य कहते हैं और जिसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होनेकी योग्यता न हो उसको अभव्य कहते हैं। यह भव्यत्व और अभव्यत्व जीवका स्वभाव है। जैसे उबालनेसे कोई मूग गल जाती है और कोई नहीं गलती। यद्यपि दोनों ही मूग कहलाती हैं तथापि एकका स्वभाव गल जानेका है और एकका हजार प्रयत्न करनेपर भी न गलनेका है। इसीप्रकार कारण सामग्री मिलनेपर भव्यजीवके सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वात्मानुभूति भी प्रगट हो जाती है तथा उस स्वात्मानुभूतिके होनेपर वह भव्य जीव सम्यक्चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परंतु अभव्य जीवका स्वभाव सम्यग्दर्शनको प्रगट करनेकी योग्यता नहीं रखता। यद्यपि वह सम्यग्दर्शन उस आत्माका एक गुण है और वह उस आत्मामें विद्यमान है तथापि उस सम्यग्दर्शनको ढकनेवाले दर्शनमोहनीय कर्मको नष्ट कर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेना उसके

स्वभावसे बाहर है। इस संसारमें जिस-जिस पदार्थके जो-जो स्वभाव हैं उनमें किसीका तर्क-वितर्क नहीं चल सकता। नीम कडवा क्यों है, ईख मीठी क्यों है, अग्नि गर्म क्यों है, इनका कोई कुछ उत्तर नहीं दे सकता और न इसमें कोई किसी प्रकारका तर्क-वितर्क कर सकता है। इसीप्रकार भव्यत्व और अभव्यत्व भी भव्य और अभव्य जीवोंके स्वभाव हैं। इनमें कोई किसीका तर्क-वितर्क नहीं चल सकता। ऊपर बता चुके हैं कि अभव्य जीवोंका स्वभाव सम्यग्दर्शनको प्रगट न होनेकी योग्यता रखना है। इसलिए न तो कभी उसके सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है और न कभी सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाली स्वात्मानुभूति ही प्रगट हो सकती है। इसलिए वह कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, यद्यपि वह अभव्य जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तथापि वह पुण्यकार्य करता हुआ सुखी रह सकता है। इसलिए पुण्य उपार्जन करना प्रत्येक जीवमात्रका कार्य है। इसमें किसीको भी नहीं चूकना चाहिए।

प्रश्न—गुरोराज्ञां विना शिष्यो यत्र कुत्रापि स्वेच्छया।
यदि स्वपेत्तथा गच्छेद् वद मे कीदृशोऽस्ति सः।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि जो शिष्य विना अपने गुरुकी आज्ञाके अपनी इच्छानुसार जहां कहीं सो जाता है अथवा जहां कहीं चला जाता है वह कैसा शिष्य कहलाता है।

उत्तर—गुरोराज्ञां विना शिष्यः स्वपूजाख्यातिहेतवे।
स्वेच्छया यत्र कुत्रापि स्वपिति गच्छतीति यः ॥३२२॥
स एव मार्गलोपी स्यात्स्वच्छन्दमार्गपोषकः।
जैनधर्मविरोधी स मिथ्यामतप्रचारकः ॥३२३॥

स्वयं पतेद् भवाब्धौ स तथान्यान् पातयेत्खलः ।
ज्ञात्वा गुरुविरोधीति तं त्यजेद् दूरतः सुधीः ॥३२४॥

अर्थ—जो शिष्य अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढानेके लिए बिना अपने गुरुकी आज्ञाके अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जाकर सो जाता है वा चाहे जहां चला जाता है उस शिष्यको मोक्षमार्गका लोप करनेवाला समझना चाहिए, मोक्षमार्गसे भिन्न किसी स्वतंत्र मार्गकी पुष्टि करनेवाला समझना चाहिए, जैनधर्मका विरोधी समझना चाहिए और मिथ्यामतका प्रचार करनेवाला समझना चाहिए। ऐसा दुष्ट शिष्य इस संसाररूपी महासागरमें स्वयं पडकर परिभ्रमण करता है और अन्य जीवोंको भी इसी संसार सागरमें परिभ्रमण कराता है। इस प्रकार ऐसे शिष्यको गुरुविरोधी समझकर बुद्धिमानोंको दूरसे ही त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यव्रतको पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिये गुरुके समीप ही शिष्योंको निवास करना चाहिए। गुरुके समीप रहनेसे ब्रह्मचर्यका भी पालन होता है और अन्य समस्त व्रतोंका पालन हो सकता है। दूसरी बात यह है कि गुरु स्वभावसे ही सब जीवोंके परम हितकारी हैं। फिर भला शिष्योंका कल्याण तो चाहते ही रहते हैं। यदि शिष्य गुरुके समीप रहता है और सदाकाल उनकी आज्ञानुसार चलता है तो फिर गुरु भी उसके व्रतोंमें किसी प्रकारका दोष नहीं लगने देते। गुरु शिष्यका परम उपकार करते हैं तथा शिष्यसे कुछ चाहते भी नहीं। ऐसी अवस्थामें वह शिष्य उन गुरुकी सेवा-सुश्रूषा कर सकता है और उनकी आज्ञानुसार चलकर उन्हें प्रसन्न कर सकता है। गुरु स्वयं मोक्षमार्गमें लगे रहते हैं और शिष्योंको लगाते रहते हैं। अतएव अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए भी शिष्योंको उनकी आज्ञामें रहना अत्यावश्यक है। जो शिष्य ऐसे गुरुओंकी आज्ञाको भी नहीं मानता है उसे तो फिर मोक्षमार्गका लोप करनेवाला समझना ही चाहिए, गुरुका विरोधी और उच्छृंखल

समझना ही चाहिए, तथा मिथ्यामतका प्रचार करनेवाला समझना ही चाहिए। साधारण गृहस्थोंका कोई लडका यदि माता-पिताकी आज्ञाके बिना कहीं बाहर जाकर सोता है तो वह भी अयोग्य समझा जाता है, लोग उसके सदाचारमें सन्देह करने लग जाते हैं फिर भला गुरुकुलमें रहनेवाला आचार्योंका शिष्य यदि गुरुकी आज्ञाके बिना बाहर जाकर सो जाता है वा अन्यत्र चला जाता है तो फिर उसका ब्रह्मचर्य वा उसके व्रत निर्दोष रीतिसे कैसे पल सकते हैं और वह शिष्य सुशिष्य कैसे कहला सकता है? ऐसा कुशिष्य तो उच्छृंखल होकर मोक्षमार्गका वा जैनधर्मका लोप कर देता है। इसलिए ऐसे शिष्यका दूरसे ही त्याग कर देना अच्छा है। किसी शिष्यका न होना अच्छा परन्तु ऐसे कुशिष्य का होना कभी कल्याणकारी नहीं कहला सकता।

प्रश्न—रक्षाति केवलं बंधून् धनेन स कथं वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो पुरुष अपने धनसे केवल भाई बन्धुओंको ही रक्षा करता है वह कैसा है ?

उत्तर—धनेन धर्मस्य जिनालयस्य देवस्य शास्त्रस्य गुरोः क्षमाब्धेः।
भक्त्या सुधर्मायतनादिकानां रक्षां न कृत्वा शिवसौख्यदानाम् ।३२५।
धनेन भृत्यान् स्वकुटुंबवर्गान् यः केवलं रक्षति मोहबुद्ध्या।
प्रत्यक्षमेव प्रतिभाति कौ स पशुश्च पापी नरकप्रवासी ॥३२६॥

अर्थ—पुण्य कर्मके उदयसे इस धनको पाकरके धर्मकी रक्षा करनी चाहिए, जिनालयकी रक्षा करनी चाहिए, देवकी रक्षा करनी चाहिए, शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिए और क्षमाके सागर ऐसे निर्ग्रंथ गुरुओंकी सेवा कर रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार मोक्षके सुख देनेवाले जितने श्रेष्ठ धर्मायतन हैं

उनकी रक्षा भक्तिपूर्वक करनी चाहिए। जो पुरुष अपने धनसे इन धर्मायतनोंकी रक्षा नहीं करता और केवल मोहके वशीभूत होकर अपने सेवकोंकी वा अपने कुटुम्बकी ही रक्षा करता है वह इस संसारमें पशु, पापी और नरकगामी प्रत्यक्ष जान पडता है।

भावार्थ—यह धन पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। वह पुण्य दो प्रकारका होता है एक पुण्यानुबन्धी पुण्य और दूसरा पापानुबन्धी पुण्य। दान देना पुण्य कार्य है परन्तु रत्नत्रयको धारण करनेवाले श्रेष्ठ पात्रोंको दान देनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसको पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं। ऐसे पुण्यके उदयसे जो धन प्राप्त होता है वह पुण्य कार्यमें ही लगता हैं और आगेके लिए भी पुण्यकर्मोंका संपादन करता है। परन्तु जो दान कुपात्रोंको दिया जाता है उस दानसे होनेवाला पुण्य पापानुबन्धी पुण्यकर्म प्राप्त होता है। उस पापानुबन्धी पुण्यकर्मके उदयसे जो धन प्राप्त होता है वह पाप कार्यमें ही लगता है। इसका भी कारण यह है कि श्रेष्ठ पात्रोंको जो दान दिया जाता है वह रत्नत्रयके साधनमें ही लगता है। किसी मुनिको दिया हुआ आहारदान उनके तपश्चरण और ध्यानकी वृद्धिमें ही लगता है इसलिए उस दानसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसके उदयसे होनेवाली धनादिक सामग्री आगामी कालके लिए भी श्रेष्ठ पुण्यको बढानेवाली होती है। ऐसे पुण्यको ही पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं तथा कुपात्रको जो दान दिया जाता है उससे कषाय और विषयोंकी पुष्टि होती है। इसलिए उस दानसे जो धनादिक सामग्री प्राप्त होती है वह पाप कार्योंमें ही लगती है वा विषय कषायोंकी पुष्टिमें ही लगती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि धन प्राप्त करनेका फल धर्मायतनोंकी रक्षा करना ही है। धन पाकरके प्रभावना अंगकी वृद्धि कर स्वयं पुण्य प्राप्त करना चाहिए और अन्य हजारों मनुष्योंको पुण्य प्राप्त कराना चाहिए। भगवान् अरहंत देवकी जिन प्रतिमाका पंचामृताभिषेक कराकर वा वेदी प्रतिष्ठा बिम्ब प्रतिष्ठा अथवा रथोत्सव गजरथोत्सव कराकर स्वयं पुण्य प्राप्त करना चाहिए और अन्य हजारों मनुष्योंको पुण्य

प्राप्त कराना चाहिए। इन सब कामोंको देखकर हजारों मनुष्य जयजयकार करते हैं और और पुण्य प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य धन पाकरके भी ऐसे पुण्य कार्योंको नहीं करते हैं और अपना सब धन केवल कुटुम्बके-पालन पोषण करनेमें वा विषय कार्योंमें ही लगा देते हैं वे महापापी गिने जाते हैं, पशुओंके समान अज्ञानी कहलाते हैं और तीव्र मोहके कारण अथवा केवल पाप ही उपार्जन करनेके कारण अवश्य नरकगामी होते हैं। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपना धन केवल पुण्य कामोंमें ही खर्च करना चाहिए। जो लोग अपना सब धन पुण्य काममें खर्च करना नहीं चाहते उनको एक भाग धर्ममें खर्च करना चाहिए और दूसरा भाग कुटुम्बके पोषण आदि व्यवहार कार्योंमें खर्च करना चाहिए। साथमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो धन कमाया जाय वह न्यायपूर्वक ही कमाना चाहिए। अन्यायसे आया हुआ धन कभी भी श्रेष्ठ कामोंमें नहीं लग सकता।

प्रश्न—वसति को धनं पार्श्वे कस्य मे वद सिद्धये ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें यह धन किसके समीप रहता है?

उत्तर—यावद्धि येषां हृदि जैनधर्मस्तिष्ठेदलभ्यो भुवि सारभूतः।
तावद्धि तेषां सुखशान्तिदात्री तिष्ठेत्स्वपार्श्वेऽखिलराज्यलक्ष्मीः ।३२७
भार्यादिबन्धुर्निजबन्धुभावैर्दासोपि दासी तनयोपि तिष्ठेत्।
ज्ञात्वेति धर्मो हृदि धारणीयः पूर्वोक्तलक्ष्मीश्च वसेत्स्वपार्श्वे ॥३२८॥

अर्थ—इस संसारमें यह जैनधर्म अलभ्य है और सारभूत है, ऐसा यह जैनधर्म जिसके हृदयमें विराजमान रहता है और जब तक विराजमान रहता है तब तक उसके समीप सुख और शांतिको

देनेवाली समस्त भूमण्डलकी राज्यलक्ष्मी अवश्य विद्यमान रहती है। इसके सिवाय उसके भाई बन्धु भी अपने बन्धुभावको धारण करते हुए अर्थात् उसका हित करते हुए उसके समीप रहते हैं तथा दास दासी पुत्र आदि सब सुखकी सामग्री उसके समीप रहती है। यही समझकर प्रत्येक भव्यजीवको अपने हृदयमें इस पवित्र जैनधर्मको धारण करना चाहिए जिससे कि ऊपर लिखी हुई समस्त सुखकी सामग्री सदाकाल उसके समीप बनी रहे।

भावार्थ—यह बात पहले बता चुके हैं कि लक्ष्मी वा धनकी प्राप्ति पुण्य कर्मके उदयसे होती है तथा पुण्य कर्मोंमें सर्वोत्तम पुण्यकर्म सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होता है और वह सम्यग्दर्शन जैनधर्मके धारण करनेसे वा यथार्थ देव शास्त्र गुरुके श्रद्धान करनेसे ही होता है इसीलिए आचार्य महाराजने जैन धर्मके धारण करनेसे ही धनादिककी प्राप्ति बतलाई है। यह जैनधर्म अहिंसामय धर्म है और इसीलिए समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला है। इसी कारण यह पवित्र है, मोक्ष प्राप्त करनेवाला है और संसारके समस्त सुख देनेवाला है। ऐसा यह जैनधर्म बहुत बड़े पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है। यह जैनधर्म वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ऐसे भगवान् अरहंतदेवका कहा हुआ है ऐसे जैनधर्मको पाकर भी जो भाग्यहीन पुरुष उसको छोड देते हैं अथवा उसमें झूठ-मूठके दोष लगाते हैं अथवा उसके उद्देशोंको बदलकर सर्व साधारणमें उपदेश देते हैं उन्हें महापापी समझना चाहिए। ऐसे लोग अकेले ही पापकर्म नहीं कमाते किंतु अन्य लोगोंको उपदेश देकर उनसे भी पापकर्म कराते रहते हैं इसीलिए ऐसे मिथ्या उपदेश देनेवाले पुरुष महापापी कहलाते हैं। जहांपर ऐसे लोग उत्पन्न हो जाते हैं वहांपर धनकी, जनकी अवश्य हानि होती है। इसलिए ऐसे अलभ्य जैनधर्मको पाकर उसकी वृद्धि करनेमें उसका यथार्थ प्रचार करनेमें कभी आलस नहीं करना चाहिए। जैनधर्म धारणकर विशेष पुण्य प्राप्त कर लेना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—सद्धर्मवृद्धिहेतोर्वै भाषा भाष्या च कीदृशी ?

अर्थ—हे स्वामिन् अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस श्रेष्ठ जैनधर्मकी वृद्धिके लिए कैसी भाषा बोलनी चाहिए ?

उत्तर—भव्येन धर्मस्थितिवृद्धिहेतोः सर्वैण सार्द्धं निजबंधु बुद्धया ।
कार्या प्रवृत्तिः सुखदा पवित्रा भाषापि भाष्या मधुरा यथार्था ।३२९।
श्रीजैनधर्मे सुखशान्तिमूले श्रद्धा यतः स्यात्परधार्मिकाणाम् ।
सत्यार्थधर्मेण विना न सिद्धिस्तत्सिद्धिहेतोः कथितं मयेति ॥३३०॥

अर्थ—प्रत्येक भव्यजीवको इस पवित्र जैनधर्मको स्थिर रखनेके लिए और इसको वृद्धि करनेके लिए समस्त जीवोंके साथ अपने भाई-बन्धुओंके समान प्रवृत्ति रखनी चाहिए, सब जीवोंके साथ सुख देनेवाली पवित्र प्रवृत्ति रखनी चाहिए और उनके साथ भाषा मधुर और यथार्थ वोलनी चाहिए। ऐसा करनेसे ही सुख और शान्तिके मूल कारण ऐसे इस जैनधर्ममें अन्य धर्मियोंकी श्रद्धा हो सकती है। इस संसारमें बिना यथार्थ धर्मको धारण किए किसीके आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक आत्माकी सिद्धिके लिए ही मैंने यह निरूपण किया है।

भावार्थ—प्रत्येक भव्यजीवको हित मित भाषण करना चाहिए। जिस भाषणके करनेसे किसी भी जीवको बाधा न पहुंचे तथा जिस भाषणसे सब जीवोंकी आत्माओंका यथार्थ कल्याण हो, पुण्यकी प्राप्ति हो, पापोंका नाश हो ऐसे भाषणको हितरूप भाषण कहते हैं तथा जहांपर जितने भाषणकी आवश्यकता हो उतना ही भाषण करना, बिना प्रयोजनके अधिक भाषण न करना मितभाषण कहलाता है। जो मनुष्य हित-मित भाषण करता है और वह भी मीठे शब्दोंमें यथार्थ बात कहता है



उसका प्रभाव संसारके समस्त जीवोंपर पडता है। जैनधर्म वैसे ही पवित्र और यथार्थ धर्म है उसमें भी यदि मिष्ट और यथार्थ भाषण करनेवाले मनुष्य हों तो अन्य धर्मियोंपर उस भाषणका गहरा प्रभाव पडता है तथा उस प्रभावके कारण वे लोग इस पवित्र धर्मपर श्रद्धा करने लग जाते हैं। चार प्रकारके धर्मध्यानमें एक अपाय-विचय नामका धर्मध्यान बतलाया है। उसका भी अभिप्राय यही है कि जो जीव यथार्थ धर्मसे विमुख हो रहे हैं वे कब और किस प्रकार यथार्थ धर्मको धारण कर अपने आत्माका कल्याण करें। यदि यह अपाय-विचय नामके धर्मध्यानका कार्य मिष्ट और यथार्थ भाषण करनेसे ही हो जाय तो इससे बढकर और क्या बात हो सकती है, इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको मिष्ट और यथार्थ भाषण करना चाहिए जिससे कि अनेक जीव यथार्थ धर्मको धारण कर अपने आत्माका कल्याण कर सकें। यही आचार्य महाराजका आदेश है।

प्रश्न—किं किं विचारणीयं कौ वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जीवको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने हृदयमें क्या-क्या विचार करते रहना चाहिए ?

उत्तर—मृत्युः कदा स्याद् भुवि बुध्यते न धनस्य नाशोपि तथात्मजानाम् ।
भावो यथा स्याद्धि तथापि चायुः प्रबध्यते वै सुखदुःखदं च ।३३१।
ज्ञात्वेति शुद्धः सुखदः स्वभावः कार्यो यतः स्यात्सुखशान्तिलाभः ।
वायुर्न केषामपि बध्यते न न स्यात्तथा कर्मपराश्रयत्वम् ॥३३२॥

अर्थ—इस संसारमें मृत्यु कब होती है इस बातको हम लोग नहीं जान सकते। इसी प्रकार धनका नाश कब होता है वा पुत्र-पौत्रादिकोंका नाश कब होता है इस बातको भी हम लोग नहीं जान सकते।



यह जीव अपने शुभ वा अशुभ जैसे परिणामोंको धारण करते हैं वैसे ही सुख वा दुःख देनेवाले आयुकर्मका बंध करते हैं। इस प्रकार निरंतर विचार करते हुए इस जीवको सुख देनेवाले अपने शुद्ध स्वभावको धारण करना चाहिए जिससे कि सुख और शांतिकी प्राप्ति हो, आयुकर्मका कभी बंध न हो और यह जीव कर्मोंके आधीन न रहे।

भावार्थ—इस जीवको अपना कल्याण करनेके लिए बारह भावनाओंका चिंतवन करते रहना चाहिए। अपनी मृत्युको समीप जानकर संसार और विषय कषायोंका त्याग कर वैराग्य धारण करना चाहिए। परलोकके लिए आयुकर्मका बंध कब होता है यह बात किसीको मालूम नहीं हो सकती। इसलिए परलोकके लिए शुभ आयुकर्मका ही बंध हो, अशुभ आयुकर्मका बंध न हो इस बातका ध्यान रखते हुए इस जीवको सदाकाल अपने परिणामोंको शुभ वा शुद्ध ही रखना चाहिए। यदि सदाकाल शुभ परिणाम रहेंगे तो शुभ आयुका ही बंध होगा। यदि शुद्ध परिणाम होंगे तो आयुकर्मका बंध होगा ही नहीं। आयुकर्मका बंध न होनेसे यह जीव अत्यंत शुद्ध और सर्वथा स्वतंत्र हो जाता है तथा मोक्षमें विराजमान होकर सदाकाल अनंत सुखका अनुभव करता रहता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको प्रत्येक क्षणमें अपने आत्माके कल्याण करनेका चिंतवन करते रहना चाहिए। मृत्युसे बचनेके लिए वैराग्य धारण कर अपने परिणामोंको शुद्ध बनानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे फिर कभी आयुकमका बंध न हो तथा कभी मृत्यु न हो और यह जीव मोक्ष प्राप्त कर सदाके लिए अनंत सुखी हो जाय।

प्रश्न—सर्वकृत्यकरो जीवः स्याद्वान्यः कोपि मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि समस्त कार्योंको करनेवाला यह जीव ही है अथवा अन्य कोई है ?

उत्तर–पापं स्वयं ह्येव करोति जीवो लब्ध्वा कुसंगं च तथा प्रभुंक्ते।
तथा स्वयं मुच्यत एव बंधाद् भक्त्या जिनं प्राप्य गुरुं पवित्रम् ॥
यथा मतिः स्याद्धि तथा गतिश्च जिनागमे रीतिरियं प्रसिद्धा।
ज्ञात्वेति भव्यैः स्वमतिश्च शुद्धा कार्या यतः स्यात्स्वसुखस्य लाभः ॥

अर्थ–यह जीव अपनी कुसंगतिको पाकर स्वयं पापकर्मोंको करता है और स्वयं उन कर्मोंके फलको भोगता है। इसी प्रकार अपनी भक्तिके द्वारा भगवान् जिनेंद्रदेवको पाकर अथवा पवित्र निर्ग्रंथ गुरुको पाकर उन कर्मबंधनोंसे स्वयं मुक्त हो जाता है। इस जिनागममें यही रीति और यही नीति प्रसिद्ध है कि जिसको जैसी मति होती है उसको वैसी ही गति होती है। यही समझकर भव्यजीवोंको अपनी मति वा बुद्धि सदा शुद्ध रखनी चाहिए जिससे कि शीघ्र ही आत्मसुखकी प्राप्ति हो जाय।

भावार्थ–यह मनुष्य जैसी संगतिमें बैठता है वैसी ही बुद्धि बना लेता है तथा जैसी बुद्धि बना लेता है वैसे ही कार्य करता है और जैसे कार्य करता है वैसा ही उनका फल भोगता है। यदि यह जीव कुसंगतिमें बैठता है तो इसकी बुद्धि कुबुद्धि हो जाती है और उस कुबुद्धिके कारण काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष, मायाचारी आदि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न किया करता है तथा उन विकारोंके कारण अनेक प्रकारके महापाप उत्पन्न किया करता है। उन पापोंके कारण तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध किया करता है और उनके उदय होनेपर नरक निगोदके महादुःख भोगा करता है। इसीप्रकार जब यह जीव मुनि साधु वा ब्रह्मचारी अथवा धर्मात्मा श्रावकोंकी संगतिमें बैठा करता है तब इसकी बुद्धि पापोंसे डरनेवाली हो जाती है। पाप कार्योंसे डरकर वह सब विकारोंको और पापोंको छोड देता है तथा दान पूजन आदि शुभ कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करने लगता है। इसप्रकार वह अशुभ भावोंका

त्याग कर शुभ भावोंकी प्रवृत्ति करने लगता है और धीरे-धीरे शुभ भावोंकी प्रवृत्तिको हटाकर शुद्ध भावोंको धारण करने लगता है। उन शुद्ध परिणामोंके साथ ध्यान और तपश्चरण धारण करता है और फिर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अशुभ भावोंका त्याग कर शुभ भाव धारण करना चाहिए और फिर शुद्ध भावोंके धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मोक्षका साधन है और मनुष्य पर्यायका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—को ददाति सुखं दुःखं लीलेयं कस्य मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सुख वा दुःख कौन देता है तथा यह सुख वा दुःख देना किसकी लीला है ?

उत्तर—मोहोद्भवः कर्मरिपुर्हठात्कौ राजानमेवापि करोति रंकम् ।
रंकं तथा राज्यपदान्वितं च करोति मूढं चतुरं क्षणाद्धिं ॥३३५॥
श्रीमन्तमेवाप्यपरं दरिद्रं करोत्ययोग्यं सुखिनं सुयोग्यम् ।
लीलास्त्यहो कर्मरिपोर्विचित्रा दृष्टान्यजन्तोश्च किलेदृशी न ॥३३६

अर्थ—मोहसे उत्पन्न हुआ मोहनीय कर्मरूपी शत्रु इस संसारमें हठ पूर्वक राजाको रंक बना देता है, किसी रंकको राज्य सिंहासनपर बिठा देता है, अत्यन्त अज्ञानी और मूर्ख मनुष्यको क्षणभरमें चतुर बना देता है, अन्य किसी अत्यन्त धनी मनुष्यको दरिद्र बना देता है और किसी अयोग्य मनुष्यको सुखी और सुयोग्य बना देता है। यह विचित्र लीला कर्मरूपी शत्रुकी ही है, अन्य किसी जीवकी ऐसी लीला कभी नहीं देखी जाती।

भावार्थ—यद्यपि सुख-दुःख देना वेदनीयकर्मका कार्य है तथापि वेदनीयकर्म मोहनीकर्मके रहते हुए

उत्तर–निर्गर्वता धनाढ्यस्य नीतिर्भूपस्य भूषणम् ।
कुलस्य नम्रता शोभा विदुषामृजुता मता ॥ ३३९ ॥
धनस्य भूषणं दानं साधोः शान्तिश्च भूषणम् ।
अन्धस्य भूषणं विद्या क्षमा वीरस्य भूषणम् ॥ ३४० ॥
भूषणं तपसोऽवांच्छाऽहिंसा धर्मस्य भूषणम् ।
सम्यक्त्वभूषणं जन्तोर्ज्ञानं सम्यक्त्वभूषणम् ॥ ३४१ ॥
ज्ञानस्य भूषणं वृत्तं मोक्षो वृत्तस्य भूषणम् ।
यतन्तां तत्त्वतो ज्ञात्वा पूर्वोक्तधर्मसिद्धये ॥ ३४२ ॥

अर्थ–धनाढ्यकी शोभा अभिमान न करना है, राजाकी शोभा नीतिसे राज्य पालन करना है, कुलकी शोभा नम्रता है, विद्वानोंकी शोभा सरलता है, धनकी शोभा दान देना है, साधुकी शोभा शान्ति है, अन्धेकी शोभा विद्या है, शूर-वीरकी शोभा क्षमा धारण करना है, तपश्चरणकी शोभा किसी प्रकारकी इच्छा न करना है, धर्मकी शोभा अहिंसा है, जीवोंकी शोभा सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शनकी शोभा सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी शोभा सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्रकी शोभा मोक्षकी प्राप्ति है। यह सब समझकर भव्य पुरुषोंको अपनी शोभा बढानेके लिए ऊपर लिखे धर्मोंको धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—धन प्राप्त होनेपर अभिमान आ ही जाता है। परन्तु वह अभिमान अन्य लोगोंकी दृष्टिमें सदा खटकता रहता है तथा बहुतसे लोग उस अभिमानको गिरानेके लिए उस धनीको नीचा दिखानेका प्रयत्न करते रहते हैं जिससे उसका सब अभिमान चूर-चूर हो जाता है। यही समझकर

त्याग कर शुभ भावोंकी प्रवृत्ति करने लगता है और धीरे-धीरे शुभ भावोंकी प्रवृत्तिको हटाकर शुद्ध भावोंको धारण करने लगता है। उन शुद्ध परिणामोंके साथ ध्यान और तपश्चरण धारण करता है और फिर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अशुभ भावोंका त्याग कर शुभ भाव धारण करना चाहिए और फिर शुद्ध भावोंके धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मोक्षका साधन है और मनुष्य पर्यायका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—को ददाति सुखं दुःखं लीलेयं कस्य मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें सुख वा दुःख कौन देता है तथा यह सुख वा दुःख देना किसकी लीला है ?

उत्तर—मोहोद्भवः कर्मरिपुर्हठात्कौ राजानमेवापि करोति रंकम् ।
रंकं तथा राज्यपदान्वितं च करोति मूढं चतुरं क्षणाद्धिं ॥३३५॥
श्रीमन्तमेवाप्यपरं दरिद्रं करोत्ययोग्यं सुखिनं सुयोग्यम् ।
लीलास्त्यहो कर्मरिपोर्विचित्रा दृष्टान्यजन्तोश्च किलेदृशी न ॥३३६

अर्थ—मोहसे उत्पन्न हुआ मोहनीय कर्मरूपी शत्रु इस संसारमें हठ पूर्वक राजाको रंक बना देता है, किसी रंकको राज्य सिंहासनपर बिठा देता है, अत्यन्त अज्ञानी और मूर्ख मनुष्यको क्षणभरमें चतुर बना देता है, अन्य किसी अत्यन्त धनी मनुष्यको दरिद्र बना देता है और किसी अयोग्य मनुष्यको सुखी और सुयोग्य बना देता है। यह विचित्र लीला कर्मरूपी शत्रुकी ही है, अन्य किसी जीवकी ऐसी लीला कभी नहीं देखी जाती।

भावार्थ—यद्यपि सुख-दुःख देना वेदनीयकर्मका कार्य है तथापि वेदनीयकर्म मोहनीकर्मके रहते हुए

ही सुख दुख दे सकता है। यदि मोहनीयकर्म न हो तो वेदनीयकर्म कुछ नहीं कर सकता इसीलिए सुख दुःख देनेवाला मुख्यतया मोहनीयकर्मको ही माना हैं। इस संसारमें जितने अशुभ कर्म हैं उन सबमें सबसे प्रबल मोहनीयकर्म ही है इसलिए समस्त अशुभ कर्मोंका राजा मोहनीयकर्म ही है। इस मोहनीयकर्मके प्रबल उदयसे राजा भी रंक हो जाता है और यदि इसी मोहनीयकर्मका मंद उदय हो जाय तो कोई रंक भी राजसिंहासनपर विराजमान हो जाय। रामचन्द्र ऐसे पराक्रमी और त्रिखंडी राजा भी वनमें घूमते फिरे यह अशुभ कर्मकी ही प्रबलता है। इतने पराक्रमी कृष्ण अपने भाईके वाणसे निर्जन वनमें मारे गये यह अशुभ कर्मकी ही प्रबलता है। इसीप्रकार परशुरामको मारनेवाला चक्रवर्ती राजा रंकके समान भोजन करनेके लिए आया था, परन्तु शुभकर्मके प्रबल उदयसे जिस थालमें भोजन परोसा गया था वह थाल ही चक्र बन गया था। कर्मोंकी लीला बडी ही विचित्र है। इन कर्मोंकी ही कृपासे श्रीमती अंजना ऐसी सतीको भी वन-वनमें फिरना पडा और अनेक कष्ट सहने पडे। इन कर्मोंकी ही कृपासे सती सीताको अग्निकुण्डमें प्रवेश करना पडा। अन्य साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है इन कर्मोंकी ही कृपासे भगवान् पार्श्वनाथको भी अनेक प्रकारके उपसर्ग सहन करने पडे। इसीप्रकार शुभ कर्मोंके उदयसे प्रद्युम्नकुमारको अनेक विद्याएं सिद्ध हो गईं, शुभ कर्मोंके उदयसे ही लक्ष्मणके अमोघ शक्ति लगनेपर विशल्यादेवी अपने आप आ गईं और शुभ कर्मोंके ही उदयसे विभीषण रामचन्द्रसे आ मिला। आज जो मूर्ख कहलाता है वही पुरुष शुभ कर्मके उदय होनेपर चतुर और धनी हो जाता है और अयोग्य पुरुष भी शुभ कर्मके उदयसे सुयोग्य हो जाता है। कहां तक कहा जाय? इन कर्मोंकी लीला वडी विचित्र है। जो कार्य कर्म कर सकते हैं उसको अन्य कोई भी नहीं कर सकता। यही समझकर इन दुष्ट कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे कि मोक्षके अनंत सुखकी प्राप्ति हो जाय। यही भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न–लोके कस्य रिपुः कोऽस्ति वद मे शान्तये प्रभो ?

अर्थ–हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइये कि इस संसारमें कौन किसका शत्रु है ?

उत्तर–मूर्खस्य शत्रुः प्रबलश्च विद्वान् लोकेस्ति भिक्षुः कृपणस्य शत्रुः ।
चौरस्य शत्रुर्नृपतिः सदैवाऽधर्मस्य शत्रुश्च निजात्मधर्मः ॥३३७॥
जारास्त्रियः शीलवती च शत्रुः दुष्टस्य शत्रुः सुजनश्च तिर्यक् ।
स्वर्गस्य मोक्षो नरकस्य शत्रुः पूर्वोक्तरीतिश्च निसर्गतोऽस्ति ॥३३८॥

अर्थ–इस संसारमें मूर्ख मनुष्योंका शत्रु प्रबल विद्वान् होता है, कृपण मनुष्योंका शत्रु भिक्षुक होता है, चोरोंका शत्रु राजा होता है, अधर्मका शत्रु आत्माका स्वभाव होता है, व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी शत्रु शीलवती स्त्रियां होती हैं, दुष्टोंका शत्रु सज्जन होता है, स्वर्गका शत्रु तिर्यंच है और नरकका शत्रु मोक्ष है। ये सब परस्पर एक दूसरेके स्वाभाविक शत्रु होते हैं।

भावार्थ–इस संसारमें बहुतसी शत्रुता तो किसी कर्तव्यसे बन जाती है, जैसे कोई पुरुष अपने स्वार्थके लिए किसीका धन दबा लेना चाहता है वा किसीकी भूमि दबा लेना चाहता है तो उस अवस्थामें वह धनी वा उस भूमिका स्वामी उस स्वार्थीका शत्रु बन जाता है। यह कृत्रिम शत्रुता है। यदि वह स्वार्थी उस धनीका धन न दबाता वा भूमि न दबाता तो उस स्वामीको उसके साथ शत्रुता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि परस्परके मित्र भी वा भाई भी वा पिता पुत्र भी अपने अपने स्वार्थके कारण परस्पर शत्रु बन जाते हैं परंतु यह सब शत्रुता किसी विशेष कारणसे बन जाती है। स्वाभाविक नहीं है। जिस प्रकार स्वाभाविक शत्रुता चूहे बिल्लीकी होती है वा भेड भेडियाकी होती है उसी प्रकार मूर्ख और विद्वान्की स्वाभाविक शत्रुता होती है। मूर्ख पुरुष अज्ञानी होनेके कारण ठीक

मार्गसे नहीं चल सकता परंतु विद्वान् पुरुष ठीक मार्गको ढूंढ निकालता है और फिर उसीके अनुसार चलता है। यही उन दोनोंकी शत्रुताका कारण है। भिक्षुक अपने पेटके लिए कुछ मांगना चाहता है और कृपण पुरुष एक कौडी भी देना नहीं चाहता, बस यही दोनोंकी शत्रुताका कारण होता है। चोर चोरी करके प्रजाको दुःखी करना चाहता है और राजा प्रजाका दुःख सहन नहीं कर सकता, इसलिए वह चोरको पकडकर उसे दंड देता है। यही उन दोनोंकी शत्रुताका कारण है। संसारमें जितने पाप हैं वे सब अधर्मसे होते हैं तथा आत्माके स्वभावसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं इसीलिए धर्म और अधर्मकी शत्रुता है। व्यभिचारिणी स्त्रियां अधर्म करती हैं और शीलवती स्त्रियां अपने पातिव्रत धर्मपर दृढ रहती हैं इसी धर्म अधर्मके कारण उन दोनोंमें शत्रुता बनी रहती है। दुष्ट पुरुष सदाकाल अपनी दुष्टता करता रहता है और सज्जन पुरुष अपनी सज्जनताको सदा काल स्थिर रखते हैं। इस दुष्टता और सज्जनताके कारण ही दोनोंमें शत्रुता बनी रहती है। स्वर्गमें सुख ही सुख है और तिर्यंच योनिमें दुःख ही दुःख हैं। स्वर्गके कारण पुण्यकार्य हैं और तिर्यंच योनिके कारण पापकार्य हैं। यही इन दोनोंकी परस्पर विरुद्धताका कारण है। नरककी प्राप्ति तीव्र पापकर्मोंसे होती है और मोक्षकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके नाश होनेसे होती है। इसीलिए दोनोंमें तीव्र विरोध है। इस प्रकार इनमें जो विरोध वा शत्रुता है वह सकारण है और फिर भी स्वाभाविक है। यही समझकर मूर्खता, कृपणता आदि दोषोंका त्याग कर देना चाहिए और विद्वत्ता उदारता सज्जनता आदि श्रेष्ठ गुणोंको धारण करना चाहिए। यही भव्यजीवोंका कर्तव्य है।

प्रश्न—कस्य स्यात्कीदृशी शोभा कल्याणाय गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब मेरे कल्याणके लिए कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किसकी शोभा किस किससे होती है। २६३

उत्तर–निर्गर्वता धनाढ्यस्य नीतिर्भूपस्य भूषणम् ।
कुलस्य नम्रता शोभा विदुषामृजुता मता ॥ ३३९ ॥
धनस्य भूषणं दानं साधोः शान्तिश्च भूषणम् ।
अन्धस्य भूषणं विद्या क्षमा वीरस्य भूषणम् ॥ ३४० ॥
भूषणं तपसोऽवांच्छाऽहिंसा धर्मस्य भूषणम् ।
सम्यक्त्वभूषणं जन्तोर्ज्ञानं सम्यक्त्वभूषणम् ॥ ३४१ ॥
ज्ञानस्य भूषणं वृत्तं मोक्षो वृत्तस्य भूषणम् ।
यतन्तां तत्त्वतो ज्ञात्वा पूर्वोक्तधर्मसिद्धये ॥ ३४२ ॥

अर्थ–धनाढ्यकी शोभा अभिमान न करना है, राजाकी शोभा नीतिसे राज्य पालन करना है, कुलकी शोभा नम्रता है, विद्वानोंकी शोभा सरलता है, धनकी शोभा दान देना है, साधुकी शोभा शान्ति है, अन्धेकी शोभा विद्या है, शूर-वीरकी शोभा क्षमा धारण करना है, तपश्चरणकी शोभा किसी प्रकारकी इच्छा न करना है, धर्मकी शोभा अहिंसा है, जीवोंकी शोभा सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शनकी शोभा सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी शोभा सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्रकी शोभा मोक्षकी प्राप्ति है। यह सब समझकर भव्य पुरुषोंको अपनी शोभा बढानेके लिए ऊपर लिखे धर्मोंको धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—धन प्राप्त होनेपर अभिमान आ ही जाता है। परन्तु वह अभिमान अन्य लोगोंकी दृष्टिमें सदा खटकता रहता है तथा बहुतसे लोग उस अभिमानको गिरानेके लिए उस धनीको नीचा दिखानेका प्रयत्न करते रहते हैं जिससे उसका सब अभिमान चूर-चूर हो जाता है। यही समझकर

प्रत्येक धनी पुरुषको अपने अभिमानका त्याग कर देना चाहिए। धन पाकरके अभिमान न करना ही उस धनकी शोभा है। इसीप्रकार नीति और न्याय पूर्वक प्रजाका पालन करना राजाकी शोभा है। जो राजा नीति पूर्वक वा न्याय पूर्वक प्रजाका पालन नहीं करता, वह बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है। अन्याय और अनीतिके कारण उसकी प्रजा उससे असन्तुष्ट हो जाती है और उपद्रव मचाकर उसे राज्य सिंहासनसे उतार देता हैं। अथवा प्रजाको राजाका विरोधी समझ कर कोई शत्रु राजा उसको घेर लेता है और युद्धमें उसको मारकर वा पकडकर उस राज्यपर अपना अधिकार जमा लेता है। यही समझ कर प्रत्येक राजाको न्याय और नीतिसे ही राज्यका पालन करते रहना चाहिए। इसीमें राजाकी शोभा है। कुलकी शोभा नम्रता है, जो पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होता है वह नम्र ही होता है। जिस-प्रकार फल लगनेपर वृक्ष नम्र हो जाते हैं उसीप्रकार उत्तम कुलके मनुष्य सदा नम्र ही बने रहते हैं। इसीप्रकार विद्वानोंकी शोभा सरलतासे है। जो विद्वान् विद्वान् होकर भी मायाचारी करता है उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और इसीलिए वह यथार्थ विद्वान् नहीं कहला सकता। विद्याका फल ही सरलता है। इसीलिए विद्वान्की शोभा सरलता है। धनकी शोभा दान देनेसे होती है। दानसे कीर्ति बढता है, दान देनेसे शत्रु भी अपने आधीन हो जाता है, तथा संसारके समस्त कार्य दान देनेसे सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग धन पाकर भी दान नहीं देते उनका धन ईंट पत्थरोंके समान यों ही व्यर्थ पडा रहता है और अन्तमें वह दूसरोंका हो जाता है। इसलिए धन पाकरके दान देकर अपनी कीर्ति और शोभा अवश्य बढा लेनी चाहिए। साधु पुरुषोंकी शोभा शान्ति है। जो पुरुष साधु होकर भी अपने क्रोधादिक कषायोंको तीव्र रखता है वह पुरुष साधारण गृहस्थोंसे भी बुरा समझा जाता है। आत्माका कल्याण शान्तिसे ही हो सकता है तथा आत्माका कल्याण करनेके लिए ही साधु अवस्था धारण की जाता है। इसलिए साधु महात्माओंको क्रोधादिक कषायोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और

शान्ति धारण कर आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए। इसीमें उनकी शोभा है। अन्धा पुरुष अशोभन हो जाता है। परन्तु यदि वह विद्वान है तो वह अशोभनता भी उसका आभूषण कहलाता है। इसीप्रकार शूर-वीर पुरुषोंकी शोभा क्षमा है शूर-वीर पुरुष बिना कारण युद्ध नहीं करते। यदि कारणवश उन्हें युद्ध करना पडता है तो वे शत्रुको जीतकर उसे पकड लेते हैं और फिर उसको अपने आधीन कर उसको क्षमा कर देते हैं, उसका राज्य लौटा देते हैं और उसको उसके राज्यसिंहासनपर बिठा देते हैं, इसीमें उनकी शोभा और कीर्ति बढती है। तपश्चरणकी शोभा इच्छाओंका नाश होना है। जिन पुरुषोंकी लालसाएं नष्ट नहीं होती उनका तपश्चरण करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि इच्छाओंको रोक लेना ही तपश्चरण कहलाता है। यदि तपस्वी होकर भी इच्छाओंका अभाव न हुआ तो वह तपस्वी अनेक प्रकारके पापोंको उत्पन्न करता रहता है, परंतु तपश्चरण पापोंका नाश करनेके लिए धारण किया जाता है। इसलिए इच्छाओंका नाश कर लेना ही तपश्चरणकी शोभा है। धर्मकी शोभा अहिंसा है। इस संसारमें सबसे बडा पाप हिंसा है। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अन्य सब पाप हिंसाके अंतर्गत हैं, क्योंकि झूठ चोरी आदि सबमें हिंसा होती है। इस प्रकार हिंसा करना महापापमय कहलाती है यदि वही हिंसा किसी धर्मके नामपर की जाय तो उसके समान अन्य कोई भी घोर और वज्र पाप नहीं हो सकता। इसलिए धर्मकी शोभा अहिंसासे ही होती है। इसी प्रकार जीवकी शोभा सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन आत्माका ही एक गुण है जो अनादिकालसे कर्मोंसे ढक रहा है। उस सम्यग्दर्शनरूप गुणको ढकनेवाले मोहनीयकर्मको नष्ट कर उस गुणको प्रगट कर लेना इस जीवके लिए शोभाका परम स्थान हो जाता है। विना सम्यग्दर्शनके यह जीव अपने स्वरूपको भी नहीं जान सकता और अंधेरेमें पडे रहनेके समान चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है। इसलिए अपनी शोभा बढानेके लिए और अपना गौरव प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका

प्रयत्न करते रहना चाहिए तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर सम्यग्ज्ञानको बढानेका प्रयत्न करना चाहिए और सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि कर सम्यक्चारित्रको बढाना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं। मोक्ष प्राप्त कर लेना ही इनकी शोभा है और यही जीवका सर्वोत्कृष्ट परम कर्तव्य है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको रत्नत्रय धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेनेका सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए, यही भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—वर्द्धते साधुतादिः कौ कस्य संगेन मे वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें साधुता वा दुष्टता आदि गुण वा अवगुण किस-किसकी संगतिसे बढते हैं ?

उत्तर—दुष्टता दुष्टसंगाद्धि नीचता नीचसंगतः।
पापिता पापिसंगाच्च क्रूरता क्रूरसंगतः॥ ३४३॥

साधुता साधुसंगात् स्याद्दातृत्वं दानिसंगतः।
वक्तृता वक्तृसंगाच्च ध्यानिता ध्यानिसंगतः॥ ३४४॥
वीरता वीरसंगाद्धि धीरता धीरसंगतः।
यथार्हन्नामसंस्काराच्छिलापि देवतायते॥ ३४५॥
संसर्गाज्जायते किं किं न वेद्मि भुवनत्रये।
ज्ञात्वेति योग्यसंगश्च कार्यो मोक्षार्थिभिस्ततः॥ ३४६॥

अर्थ—इस संसारमें दुष्टता दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें बैठनेसे आ जाती है, नीचता नीच लोगोंकी

संगतिमें बैठनेसे आ जाती है, पापीपना पापी लोगोंके संसर्गसे आ जाता है, क्रूरता क्रूर लोगोंकी संगतिसे आ जाती है, साधुपना साधुओंकी संगतिसे आता है, दानीपना दानियोंके संगसे आ जाता है, वक्तृता वक्ताओंकी संगतिसे आती है, ध्यानकी प्राप्ति ध्यान करनेवालोंकी संगतिसे होती है, वीरता वीर पुरुषोंकी संगतिसे आती है और धीरता धीर-वीर पुरुषोंकी संगतिसे आती है। जिस प्रकार किसी पाषाणकी मूर्ति बनाकर उसका नाम किसी भी अरहंतके नामपर रख दिया जाता है और फिर उसपर अरहंतदेवके सब संस्कार कर दिए जाते हैं तब वह पाषाणकी मूर्ति ही देव बन जाती है। उसी प्रकार संस्कार वा संसर्गसे समस्त गुण आ जाते हैं और समस्त अवगुण आ जाते हैं। इन तीनों लोकोंमें संसर्गके कारण क्या-क्या गुण वा अवगुण प्राप्त होते हैं इस बातको हम लोग भी नहीं जान सकते। यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यजीवोंको नीच और दुष्ट संगतियोंका त्याग कर देना चाहिए और धीर-वीर साधु पुरुषोंकी संगति करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—जो पुरुष जुआरियोंकी संगतिमें बैठता है वह जुआरी अवश्य हो जाता है, जो चोरोंकी संगतिमें बैठता है वह चोर हो जाता है, जो शिकारियोंकी संगतिमें बैठता है वह शिकारी बन जाता है, जो मायाचारियोंकी संगतिमें बैठता है वह मायाचारी हो जाता है, जो हिंसकोंकी वा घातकोंकी संगतिमें बैठता है वह हिंसक वा घातक हो जाता है। जो क्रूर बधिकोंकी संगतिमें रहता है वह क्रूर वा बधिक बन जाता है। जो पुरुष प्रति दिन साधुओंकी सेवा-सुश्रूषा करता है उसके परिणाम अवश्य शान्त हो जाते हैं। साधुओंके समीप रहनेसे वह साधुओं ऐसी क्रियाएं करने लगता है, वह धीरे धीरे पापोंका त्याग कर देता है और पुण्य कार्योंको बढाता रहता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे साधु बन जाता है। इसी प्रकार दानी पुरुषके पास रहनेसे उसमें उदारता आ जाती है। दानके गुण और लाभ उसके हृदयमें समा जाते हैं और फिर वह स्वयं भी दान देनेके लिए तत्पर हो जाता है और अच्छा

दानी बन जाता है। उत्तम भाषण देनेवाले वक्ता लोगोंकी संगति करनेसे यह चतुर पुरुष भाषण देनेकी शैली, उसके नियम, उपनियम, उदाहरण, युक्तियां भाषाका चढाव, उतार, वाक्यरचना, क्रियाकारक-संबंध, वर्णन करनेकी क्षमता वा दक्षता आदि सब गुणोंको सीख लेता है तथा भाषण सुनते-सुनते वह वैसे ही शब्द कहने लगता है, वैसी ही युक्तियां देने लगता है वैसे ही उदाहरण देने लगता है और वही शैली सीख लेता है। इस प्रकार वह थोडे ही दिनोंमें एक अच्छा वक्ता बन जाता है। इसीप्रकार ध्यान करनेवाले मुनिराजोंकी सेवा सुश्रूषा करनेसे वा उनके समीप रहनेसे ध्यानके आसन समझ लेता है, शरीर किस प्रकार निश्चल रक्खा जाता है और ध्यानमें क्या-क्या क्रियाएं करनी पडती हैं यह सब जान लेता है। तदनंतर वह समयानुसार ध्यान करनेकी रीति, ध्यानके विषय, मनको एकाग्र करनेके साधन आदि ध्यानके समस्त विषयोंको पूछ-पूछकर जान लेता है। तदनंतर वह उनके साथ ध्यान करने लगता है और धीर पुरुषोंके साथ रहकर धीरता धारण कर लेता है और ध्यानी बन जाता है। इसी प्रकार यह मनुष्य वीर पुरुषोंके साथ रहकर धीरता धारण कर लेता है। यह सब संसर्ग और संस्कारोंका फल है। जिस प्रकार किसी खानिमेंसे नियमानुसार पत्थर निकालते हैं, नियमानुसार उसकी मूर्ति बनाते हैं और फिर उसमें देवमें होनेवाले सब संस्कार करते हैं। यद्यपि वह खानिसे निकला पत्थर देव नहीं था मूर्ति बननेपर भी वह देव नहीं था, किंतु उसपर देवके संस्कार हो जानेसे वह देव हो जाता है और देवके समान ही पूज्य माना जाता है। जिस प्रकार खानिमेंसे निकला हुआ हीरा अंगूठीमें जडने योग्य नहीं होता और न उतना मूल्यवान होता है किंतु शाणपर रखकर जब उसका संस्कार किया जाता है तब वह बहुत अधिक मूल्यवान हो जाता है और अंगूठीमें जडने योग्य हो जाता है। यदि मिट्टीके घडेका अग्नि संस्कार न किया जाय तो उससे जल धारण (उसमें जल भरना) आदि कोई भी क्रिया नहीं कर सकते। अग्नि संस्कारके होनेपर ही उससे जलधारण आदि क्रिया हो सकती है। इस संसारमें

संस्कारोंका वा संसर्गका अपूर्व माहात्म्य है। यही समझकर प्रत्येक भव्य जीवको अपना योग्य संसर्ग रखना चाहिए और योग्य संस्कारपूर्वक रहना चाहिए, जिससे कि यह जीव आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको धारण कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर ले।

प्रश्न—धर्मैर्बिना धनं जीवाः लभन्ते मे न वा प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि ये जीव विना धर्मके धन प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ?

उत्तर—वृष्टिर्न दृष्टास्ति विना हि मेघैर्वृक्षो न दृष्टश्च विना सुबीजैः।
छाया न दृष्टास्ति विना सुछत्रैः पुत्रो न दृष्टो जनकैर्विना हि॥३४७॥
न जन्म दृष्टं मरणैर्विना च कीर्तिर्न दृष्टा वरविद्यया कौ।
शान्तिर्न दृष्टास्ति विना विवेकैर्दीपो न दृष्टश्च विना सुतैलैः॥३४८॥
दिनं न दृष्टं रविणा विना हि, ज्योत्स्ना न दृष्टा शशिना विना च।
स्वात्मानुभूत्या हि विना न मोक्षः तथा धनं नैव विना सुधर्मैः॥३४९॥

अर्थ—इस संसारमें विना बादलोंके वर्षा नहीं होती, विना अच्छे बीजके वृक्ष नहीं होता, विना छत्रके छाया नहीं होती, विना पिताके पुत्र नहीं होता, विना मरणके जन्म नहीं होता, विना श्रेष्ठ विद्याके कीर्ति नहीं होती, विना विवेकके शान्ति नहीं होती, विना तेलके दीपक नहीं जलता, विना सूर्यके दिन नहीं होता, विना चन्द्रमाके चांदनी नहीं होती और विना स्वात्मानुभवके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार विना श्रेष्ठ धर्मके धनकी प्राप्ति भी कभी नहीं होती।

भावार्थ—धनकी प्राप्ति पुण्यकर्मके उदयसे होती है। विना पुण्यकर्मके उदयके धनकी प्राप्ति कभी

नहीं होती तथा पुण्यकी प्राप्ति श्रेष्ठ धर्म धारण करनेसे होती है। बिना धर्मके आज तक कभी किसी को पुण्यकी प्राप्ति न हुई है और न कभी हो सकती है। इस बातको सब लोग जानते हैं दान देनेसे धन मिलता है अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे धनकी प्राप्ति होती है। भगवान् जिनेन्द्र-देवकी पूजा करना और पात्र दान देना ये दोनों ही कार्य गृहस्थोंके लिए सर्वोत्तम धार्मिक कार्य हैं। ये ही पुण्यके साधन हैं और ये ही धन वा लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण, हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो पात्रदान और जिन पूजन इन दोनों ही कार्योंमें अभिरुचि होना सम्यग्दर्शनका कार्य हैं तथा सम्यक् दर्शनके समान अन्य कोई कार्य पुण्य उपार्जन करनेवाला नहीं है इसीलिए जिस प्रकार मेघोंके होनेपर ही वर्षा होती है, बीजके होनेपर ही वृक्ष होते हैं छत्रके होनेपर छाया अवश्य होती है. पिता कहलाने पर पुत्र अवश्य होता है, मरनेके अनन्तर इस जीवका जन्म अवश्य होता है, श्रेष्ठ विद्यासे कीर्ति अवश्य फैलती है, विवेक होनेपर शान्ति अवश्य होती है, तेल होनेपर दीपक अवश्य जलता है, सूर्यके होनेपर दिन अवश्य कहलाता है, चन्द्रमाके होनेपर चांदनी अवश्य होती है और स्वात्मानुभूतिके होनेपर मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है उसी प्रकार पात्रदान वा जिनपूजन आदि धर्मके धारण करनेसे धनकी प्राप्ति अवश्य होती है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको धनादिक सुखकी सामग्री प्राप्त करनेके लिए धर्मको अवश्य धारण करना चाहिए।

प्रश्न—ब्राह्मणादिचतुर्वर्णचिन्हं मे वद कीदृशम् ?

अर्थ—अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णोंके क्या-क्या चिन्ह हैं ?

उत्तर—स ब्राह्मणो ब्रह्म च यः सुवेत्ति, ब्रवीति वा धर्मविधिं जनाय।
क्षात्रः प्रजानां सुखदः स एव, यः कर्मशत्रुं जयति स्वशक्त्या॥३५०॥

स एव वैश्योपि मनःकृतिं यः, पुण्यं सदा तोलयतीति पापम् ।
धर्माय द्रव्याय सदेति निंद्यां, त्रिवर्गसेवां कुरुते स शूद्रः ॥३५१॥

अर्थ—जो पुरुष ब्रह्म वा आत्माके शुद्ध स्वरूपको अच्छी तरह जानता है उसको ब्राह्मण कहते हैं अथवा जो भव्य श्रावकोंके लिए धर्म विधिका निरूपण करता है उनको ब्राह्मण कहते हैं। जो प्रजाको सुख दे उसको क्षत्रिय कहते हैं अथवा जो अपनी आत्मशक्तिके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको जीत ले उसको क्षत्रिय कहते हैं। जो अपने मनके परिणामोंको वा पुण्य पापको सदाकाल तोलता रहे उसको वैश्य कहते हैं और जो धर्मके लिए वा द्रव्य उपार्जनके लिए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवा करता रहे उसको शूद्र कहते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें कर्मभूमिमें अनादिकालसे क्षत्रिय, वैश्य शूद्र ये तीन वर्ण चले आते हैं विदेह क्षेत्रकी कर्मभूमिमें भी सदाकाल तीन ही वर्ण रहते हैं। इस हुंडावसर्पिणी कालमें जब भोगभूमिकासा समय व्यतीत होकर कर्मभूमि प्रारंभ हुई थी तब भगवान् ऋषभदेवने विदेहक्षेत्रके समान यहां भी तीन ही वर्ण स्थापन किये थे, परंतु उनके दीक्षा ले जानेपर उनके पुत्र भरत चक्रवर्तीने जब छहों खंड जीत लिए थे तब अपने अपार धनको दान देनेकी उनकी इच्छा हुई थी। उस समय क्षत्रिय वर्णमेंसे जो व्रती श्रावक थे उनकी परीक्षा करके उनको ब्राह्मण वर्णकी दीक्षा दी थी, अर्थात् यह ब्राह्मण वर्ण महाराज भरतने बनाया था। इस संसारमें दान लेनेयोग्य सुयोग्य पात्र ही होते हैं उन पात्रोंके तीन भेद होते हैं समस्त पापोंको त्याग करनेवाले तथा पांच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति आदि पूर्ण चारित्रको पालन करनेवाले मुनिराज उत्तम पात्र कहलाते हैं। इन मुनिराजोंमें भी आचार्य उपाध्याय साधुके भेदसे तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदि श्रावकोंके व्रतोंके पालन करनेवाले व्रती श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं। इन मध्यम पात्रोंमें जो विशेष व्रती होते हैं, जिनको दान देने

योग्य समझकर भरतने ब्राह्मण संज्ञा दी थी, जो यजन याजन करनेका ही मुख्य काम करते हैं, धर्मविधि कराना जिनका मुख्य कर्तव्य है, सिवाय इसके जिनकी और कोई जीविका नहीं है उनको ब्राह्मण कहते हैं। ये ब्राह्मण मध्यम पात्र ही कहलाते हैं तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र कहलाते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणोंका लक्षण बतलाया है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्म शब्दसे बना है। ब्रह्म शब्दका अर्थ आत्मा है, जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाने उसको ब्राह्मण कहते हैं। जो अपने आत्माके स्वरूपको जान लेता है, वह अपने आत्माका कल्याण भी शीघ्र ही कर लेता है। जिस प्रकार भगवान अरहंतदेव अपने आत्माका कल्याण कर लेनेके कारण पूज्य कहलाते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण भी अपने आत्माके कल्याणमें लगे रहते हैं तथा अन्य श्रावकोंको आत्मकल्याणमें लगाते रहते हैं इसीलिए वे ब्राह्मण भी मान्य और पूज्य कहलाते हैं। इसी प्रकार जो प्रजाकी रक्षा करते रहते हैं, प्रजाको सुख पहुंचाते हैं, सब प्रकारके उपद्रवोंसे प्रजाकी रक्षा करते रहते हैं, परराष्ट्रसे प्रजाकी रक्षा करते रहते हैं और अपने प्रजाके व्यापार आदिको बढाते रहते हैं उनको क्षत्रिय कहते हैं। अथवा जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उनको भी यथार्थ क्षत्रिय कहते हैं। वास्तवमें क्षत्रियका अर्थ शूर वीर होता है और शूर वीर वही कहलाता है जो सबसे प्रबल कर्म-शत्रुओंको जीत ले अर्थात् कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर ले। योद्धाओंको जीतनेवाले तो बहुत मिलते हैं परन्तु कर्मोंको जीतनेवाले बहुत थोडे मिलते हैं इसलिए कर्मोंको जीतनेवाले ही यथार्थ क्षत्रिय कहलाते हैं। इसीप्रकार जो पुण्य पापको सदाकाल तोलता रहे कभी पापका बोझ अधिक न होने दे अथवा जो मनके परिणामोंको सदा तोलता रहे, अशुभ परिणाम न होने दे, शुभ परिणाममें ही सदाकाल अपनी प्रवृत्ति रक्खे उसको वैश्य कहते हैं। जिसप्रकार वैश्य अपना हिसाब बराबर रखता है उसमें घाटा नहीं होने देता उसीप्रकार जो अपने मन वचन कायसे पाप कार्योंको नहीं होने देता, सदा पुण्य कार्यमें ही लगा रहता है उसको वैश्य कहते हैं।

इसीप्रकार जो धर्मके लिए ब्रह्मणादिकोंकी सेवा करते हैं तथा जीविकाके लिए भी क्षत्रिय वैश्योंकी सेवा करता रहता है। सेवा करना ही जिसकी मुख्य जीविका है उसको शूद्र कहते हैं।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिए कि ये वर्ण जीविकाके हिसाबसे निर्माण होते हैं तथा जातियां अनादि कालसे चली आती है। विवाह सम्बन्ध अपनी-अपनी जातिमें होता है और जीविका वर्णानुसार होती है। वर्णके साथ विवाहका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय महाराज भरतने क्षत्रियोंमेंसे ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की थी उससे पहले जाति व्यवस्था नियत थी। ब्राह्मण वर्णकी स्थापना करते समय व्रतित्वका ही ध्यान रक्खा गया था जो क्षत्रिय अहिंसा व्रतको धारण करनेवाले व्रती थे उनको ही ब्राह्मण संज्ञा दी थी। उसमें जातियोंका कोई ध्यान नहीं रक्खा गया था। इसलिए उन ब्राह्मणोंमें क्षत्रियोंकी कितनी ही जातियां आ गई थीं तथा उन्हीं जातियोंका शेष भाग क्षत्रिय वर्णमें ही बना रहा था। इसप्रकार एक ही जातिके लोग ब्राह्मण वर्णमें भी आ गये थे और क्षत्रियवर्णमें भी बने रहे थे तथा एक ही जाति होनेके कारण उन दोनों वर्णोंमें विवाह सम्बन्ध बना रहा था। इसीप्रकार जब भगवान वृषभदेवने वर्ण व्यवस्था नियत की थी-तब अनादि कालसे चले आये एक-एक जातिके लोगोंमेंसे कुछ भाग वैश्य वर्णमें रह गया था और कुछ भाग क्षत्रिय वर्णमें जा मिला था तथा एक ही जाति होनेके कारण उन दोनोंमें विवाह सम्बन्ध बना रहा था। इसप्रकार जाति व्यवस्था भिन्न है और वर्ण व्यवस्था भिन्न है। विवाहादिक जाति व्यवस्थाके आधीन है और जीविका वर्ण व्यवस्थाके आधीन है।

प्रश्न–अन्तर्विशुद्धिहीनाश्च जना मे वद कीदृशाः ?

अर्थ–अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो लोग अन्तरंग विशुद्धिको धारण नहीं करते वे कैसे हैं ?

उत्तर—अन्तर्विशुद्धिः खलु यस्य बाह्या शुद्धिर्भवेत् सौख्यकरा यथार्था।
अन्तर्विशुद्धिः प्रथमं च कार्या स्याद्बाह्यशुद्धिश्च यथाक्रमेण ॥३५२॥
ये केपि मूढा गमयन्ति कालं अन्तर्विशुद्धया हि विना वराकाः।
वृथैव तेषां च भवेद्विचारः क्रिया कलापो विफलं नृजन्म ॥३५३॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तरंग शुद्धिको धारण कर लेता है उसके सुख देनेवाली और यथार्थ बाह्य विशुद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अन्तरंग विशुद्धि धारण करनी चाहिए जिससे यथाक्रमसे बाह्य विशुद्धि भी पूर्ण हो जाय जो मूर्ख और नीच मनुष्य अपने अन्तरंगको बिना विशुद्ध किये अपना समय व्यतीत कर देते हैं उनके सब विचार व्यर्थ हो जाते हैं, उनकी सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं और उनका मनुष्य जन्म निष्फल हो जाता है।

भावार्थ—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि विकारोंका त्याग कर देना अन्तरंग शुद्धि कहलाती है तथा शरीरको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, क्षेत्रको शुद्ध रखना, द्रव्यको शुद्ध रखना आदि बाह्य शुद्धि कहलाती है। इनमेंसे अन्तरंग शुद्धिके होनेपर बाह्य शुद्धि अवश्य होती है परन्तु बाह्य शुद्धिके होते हुए अन्तरंग शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अन्तरंग शुद्धि धारण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। अन्तरंग शुद्धिको धारण करनेसे आत्मा पवित्र होता है, आत्माके पवित्र होनेसे अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता, केवल शुभ कर्मोंका बंध होता रहता है तथा कषायोंकी तीव्रता न होनेसे उस बंधकी स्थिति भी बहुत कम पडती है। इसप्रकार अन्तरंग शुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषके कर्मोंका समुदाय बहुत कम रह जाता है तथा उस बचे हुए कर्मोंके समुदायको भी वह पुरुष अपने ध्यान तपश्चरणके द्वारा बहुत शीघ्र नष्ट

कर देता है और इसप्रकार वह बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अन्तरंग शुद्धि धारण करनी चाहिए। काम क्रोधादिक समस्त विकारोंका त्याग कर आत्माको शुद्ध और पवित्र बना लेना चाहिए। ऐसा करनेसे ही मनुष्य जन्म सफल होता है, समस्त क्रियाएं सफल होती हैं और शुभ परिणाम भी सफल होते हैं। जो लोग अन्तरंगमें तो तीव्र कषाय रखते हैं परन्तु दूसरोंको ठगनेके लिए ऊपरसे कषायोंका अभाव दिखलाते हैं वे लोग दूसरोंको जितना ठगते हैं उससे बहुत अधिक अपने आत्माको ठगते हैं। क्योंकि तीव्र कषाय होते हुए भी अपने आत्मामें कषायोंका अभाव दिखलाना तीव्र मायाचारी है और उस तीव्र मायाचारीका फल निगोदमें जा पडना है। अतएव मायाचारीमें न पडकर यथार्थ दृटिसे अपने कषायोंका त्याग कर देना प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है, और यही मोक्षका साधन है।

प्रश्न—बाह्यान्तःशुद्धिचिन्हं किं वद मे शर्मद प्रभो ?

अर्थ—हे कल्याण करनेवाले भगवन्! अब कृपाकर बाह्य शुद्धि और अंतरंग शुद्धिका लक्षण बतलाइए ?

उत्तर—त्यागेन कोपादिचतुष्टयानां मिथ्यात्वहास्यादिविमोहकानाम्।
अन्तर्विशुद्धिः सुखदा सदैव क्षेत्रादिवास्तुत्यजनेन बाह्या ॥५४॥

अर्थ— क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद और मोह आदि कषाय नो कषायोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे सुख देनेवाली अंतरंग शुद्धि होती है तथा खेत, मकान, सोना, चांदी आदि बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग कर देनेसे बाह्य शुद्धि होती है।

भावार्थ—चौदह प्रकारके अंतरंग परिग्रहोंका त्याग कर देना अंतरंग शुद्धि है और दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका त्याग कर देना बाह्य शुद्धि कहलाती है। इस संसारमें जितने पाप होते हैं वे सब इन परिग्रहोंसे ही होते हैं। जो मनुष्य इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसका आत्मा भी पवित्र हो जाता है और शरीर भी पवित्र हो जाता है। दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे आगामी कालमें आनेवाले कर्म सब रुक जाते हैं और शेष कर्म ध्यानादिकके द्वारा नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अंतरंग और बाह्य शुद्धिको धारण करनेवाला पुरुष शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको दोनों प्रकारकी शुद्धियां धारणकर शीघ्र ही अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए। यही मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका मुख्य फल है।

प्रश्न—कोऽधर्मो वास्ति तद्धारी वद मे सिद्धये विभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब मेरा कल्याण करनेके लिए अधर्मका स्वरूप कहिए और अधर्मको धारण करनेवालेका स्वरूप कहिए ?

उत्तर—त्यक्त्वा स्वधर्मं परधर्ममेव गृह्णाति यः कोपि विवेकशून्यः।
स एव लोके चतुरोपि मूर्खो धीरोपि भीरुः परमार्थदृष्ट्या ॥३५५॥
दुःखप्रदः क्रोधचतुष्टयः को प्रोक्तः प्रमोहः परधर्म एव।
समस्तसंतापविकारहेतुः ज्ञात्वेति न स्यात्परधर्मधारी ।३५६।

अर्थ—जो कोई विवेक रहित मनुष्य अपने आत्माके यथार्थ धर्म वा स्वभावको छोडकर पुद्गलादिक परपदार्थोंके धर्मको स्वीकार कर लेता है वह पुरुष इस संसारमें परमार्थ दृष्टिसे चतुर होकर भी मूर्ख कहलाता है अथवा धीर-वीर होकर भी भयभीत वा डरपोक कहलाता है। इस संसारमें सब प्रकारके

दुःख देनेवाले सब प्रकारके संताप तथा विकार उत्पन्न करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह परधम कहलाते हैं। इस प्रकार परधर्मका स्वरूप समझ कर परधर्मको कभी धारण नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—जीवके दो भेद हैं, एक संसारी और दूसरा मुक्त। जो अपने-अपने कर्मोंके उदयसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाला जीव है उसको संसारी जीव कहते हैं तथा जो जीव अपने समस्त कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माको अत्यन्त शुद्ध बनाकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है उसको मुक्त जीव कहते हैं। मुक्त जीवका स्वभाव आत्माका निज स्वभाव निजधर्म कहलाता है और संसारी जीवोंका स्वभाव-विभाव वा आत्माका परधम कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि जो स्वभाव बिना किसी दूसरेके निमित्तके केवल आत्माके शुद्ध स्वरूपसे उत्पन्न होता है उसको ही स्वभाव कहते हैं तथा जो भाव दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे आत्माके अशुद्ध स्वरूपमें उत्पन्न होता है उसको विभाव वा परधर्म कहते हैं। जैसे स्फटिककी जो सफेद आभा दिखलाई पडती है वह उसकी निजकी आभा है परन्तु यदि उस स्फटिकके पीछे लाल रंगका कोई पदार्थ रख देते हैं तो उस स्फटिककी आभा लाल दिखलाई पडती है। यदि उस स्फटिकके पीछे पीले रंगका कोई पदार्थ रख देते हैं तो उस स्फटिककी आभा पीली दिखाई देने लगती है। इस प्रकार उस स्फटिककी जो लाल व पीली आभा है वह स्फटिककी आभा नहीं है किंतु उस स्फटिकसे सर्वथा भिन्न ऐसे उस लाल वा पीले पदार्थकी आभा है इसलिए वह आभा दूसरेकी आभा कहलाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्माका स्वभाव स्वभाव वा स्वधर्म कहलाता है और अशुद्ध आत्माका स्वभाव विभाव वा परधर्म कहलाता है। इसका भी कारण यह है कि अशुद्ध आत्माका स्वभाव क्रोध मान माया लोभ मोह काम आदि विकार कहलाते हैं और वे सब विकार कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं। जिस आत्मामें कर्मोंका उदय नहीं होता उस आत्मामें क्रोधादिक विकार कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। क्रोधादिक विकार जब उत्पन्न होंगे तब कर्मोंके उदयसे ही होंगे। इसलिए वे विकार आत्माके

नहीं कहला सकते। यदि वे विकार आत्माके कहलाने लगे तो शुद्ध आत्मोंमें भी उत्पन्न होने चाहिए। परंतु शुद्ध आत्मामें वा कर्मरहित आत्मामें ये विकार उत्पन्न नहीं होते। वे विकार कर्मोंके उदयसे ही होते हैं इसलिए वे विकार कर्मोंके ही कहलाते हैं। कर्म पौद्गलिक हैं इसलिए उन विकारोंको भी पौद्गलिक कहते हैं और इसीलिए उन क्रोधादिक विकारोंको परधर्म वा विभाव कहते हैं। परपदार्थको ग्रहण करना अपराध कहलाता है इसीलिए क्रोधादिक परधर्मोंको धारण करनेवाला जीव इस संसारमें अपराधी गिना जाता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहता है। इसलिए क्रोधादिक परधर्मको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। इनका सर्वथा त्याग कर आत्माके निज स्वभावमें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे कि यह आत्मा निराकुल होकर सुखी हो जाय।

प्रश्न—कस्मै जीवाय कः स्वामिन्न रोचते वदाऽधुना ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर मेरे लिए यह बतलाइए कि किस-किस जीवको क्या-क्या अच्छा नहीं लगता?

उत्तर—सुरक्तपायै च पयो द्रुणाय श्वभ्रस्य वै गामिन एव वृत्तम्।
पतिः कुपत्न्यै किरये खराय न रोचते मोदक एव मिष्टः ॥३५७॥
भोगः सरोगाय खलाय नीतिः शुने न सर्पिर्वधिराय गीतम्।
न रोचतेऽर्कः किल कौशिकाय तथैव मूर्खाय निजात्मधर्मः ॥३५८॥

अर्थ—जिस प्रकार जोंक और बीछूको दूध अच्छा नहीं लगता, नरकगामी पुरुषको सम्यक्चारित्र अच्छा नहीं लगता, कुपत्नी वा व्यभिचारिणी स्त्रीको पति अच्छा नहीं लगता शूकर और गधेको मीठे लाडू अच्छे नहीं लगते, रोगी पुरुषको भोग अच्छे नहीं लगते, दुष्ट पुरुषको न्याय और नीति अच्छी

नहीं लगती, कुत्तेको घी अच्छा नहीं लगता, बहरेको गीत अच्छे नहीं लगते और उल्लूकको सूर्य अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार मूर्ख पुरुषको अपने आत्माका स्वभाव अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ—जोंकको चाहे दूधपर ही लगा दिया जाय तो भी वह दूध छोड देती है और खून ही पीती है, बीछू भी दूध छोड देता है। इसी प्रकार नरकगामी पुरुषको पाप ही अच्छे लगते हैं, पापोंका त्याग वा सम्यक्चारित्रको वह कभी धारण नहीं कर सकता। व्यभिचारिणी स्त्रीको अपना जार पुरुष ही अच्छा लगता है, यदि अपना पति सुंदर गुणवान हो तो भी अच्छा नहीं लगता। सूअर और गधेको लड्डू अच्छे नहीं लगते, उनको तो घूरेपर चरना ही अच्छा लगता है। रोगी पुरुषको भोग कभी अच्छे नहीं लग सकते। दुष्ट पुरुषोंको न्याय व नीति कभी अच्छी नहीं लगती उनको तो अन्याय और उपद्रव ही अच्छे लगते हैं। इसी प्रकार कुत्ता घीको अच्छा नहीं समझता, बहिरा पुरुष गीत बाजे आदिको अच्छा नहीं समझता और उल्लूको सूर्य अच्छा नहीं लगता, उल्लूको तो रात ही अच्छी लगती है। उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुषको आत्माका शुद्ध स्वरूप कभी अच्छा नहीं लगता। उसको तो क्रोधादिक कषाय ही अच्छे लग सकते हैं। इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको अपने आत्माके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही अपना अज्ञान नष्ट होकर आत्माका कल्याण हो।

प्रश्न—भ्रमत्ययं गुरो जीवः किमर्थं संसृतौ वद ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यह जीव इस संसारमें किस कारणसे परिभ्रमण करता है?

उत्तर—जिह्वायोनिप्रसंगेनाष्टांगुलमानकेन च।
शूरो वीरश्च धीरोपि शक्तोपि चतुरोपि च ॥ ३५९ ॥

धर्मं स्वर्मोक्षदं त्यक्त्वा करोति भवदां कृतिम् ।
ततस्तन्मोचनार्थं भो सद्बुद्धिं हृदि धारय ॥ ३६० ॥

अर्थ—यद्यपि इस संसारमें पांचों इंद्रियोंके विषय दुःख देनेवाले और संसारमें परिभ्रमण करानेवाले हैं तथापि इन पांचों इंद्रियोंमेंसे जिह्वा इंद्रिय और योनि वा लिंग इंद्रिय ये दो इंद्रियां बहुत प्रबल हैं। यद्यपि दोनों इंद्रियां चार-चार अंगुलकी हैं तथापि इन दोनों इंद्रियोंके ही कारण शूरवीर, धीरवीर, समर्थ और चतुर मनुष्य भी स्वर्ग मोक्ष देनेवाले धर्मका त्याग कर देता है और जन्म मरणरूप संसारको बढानेवाले कार्य किया करता है। इसलिए हे भव्य ! अब तू इन इन्द्रियोंके विषयोंके त्याग करनेके लिए अपने हृदयमें सद्बुद्धि धारण कर।

भावार्थ—यद्यपि पांचों इन्द्रियोंके विषय अत्यन्त प्रबल हैं और इनके विषयोंमें फंसकर यह प्राणी अपने जीवनतकको भी गंवा देता है। देखो स्पर्शनेन्द्रियके विषयके वशीभूत होकर हाथी अपनी स्वतंत्रता खो देता है, तथा भूख प्यास आदिकी वेदना सहन करता हुआ जन्मभरके लिए परतंत्र हो जाता है, रसना इन्द्रियके वशीभूत होकर मछली अपना कंठ छिदाकर मर जाती है, घ्राण इन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमर कमलमें दबकर मर जाता है, चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर पतंगा दीपकमें जल मर जाता है और कर्ण इन्द्रियके वशीभूत होकर हिरण अपना जीवन गंवा देता है। इसप्रकार एक-एक इन्द्रियके वशीभूत होकर भी अनेक प्राणी महादुःख पाते हैं, परन्तु जो लोग पांचों इन्द्रियोंके वशीभूत हो जाते हैं उनकी क्या दशा होती होगी इस बातको सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। यद्यपि यह मनुष्य पांचों इन्द्रियोंके वशीभूत होता है तथापि चार अंगुल जिह्वा इन्द्रियके कारण यह मनुष्य अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है। जिह्वा इन्द्रियके कारण यह मनुष्य अनेक प्रकारक अभक्ष्य भक्षण करता है, मद्य, मांस, मधुका सेवन करता है, बड पीपर गूलर आदि अनेक जीवोंसे भरे हुए फलोंको

भक्षण करता है, आलू, रतालू, सकरकन्द, मूली, गाजर आदि कितने ही प्रकारके कन्द मूलोंको भक्षण करता है और न जाने क्या-क्या पदार्थ व किस-किस हाथके बने हुए पदार्थ भक्षण कर जाता है। इन अभक्ष्य पदार्थोंके भक्षण करनेसे अनेक जीवोंकी हिंसा होती है, उससे महापाप उत्पन्न होता है। इसके सिवाय अभक्ष्य भक्षण करनेवालोंकी लालसाएं सदाकाल बढती रहती हैं। उन लालसाओंके कारण वह तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करता रहता है और उनके उदय होनेपर महादुःख भोगा करता है। इसीप्रकार स्पर्शनेन्द्रिय वा लिंगेन्द्रियके कारण यह जीव अनेक प्रकारके अनर्थ करता रहता है। इसी इन्द्रियके वशीभूत होकर वह वेश्या सेवन करता है, परस्त्री सेवन करता है और न जाने क्या-क्या अनर्थ और अन्याय करता है। इतना सब करनेपर भी उसकी तृष्णा दिन-रात बढती रहती है और तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करती हुई महादुःख दिया करती है। वेश्या सेवन करनेवाला पुरुष अपने सूतक पातकको कभी बन्द नहीं कर सकता। वेश्या सेवन करनेवाला तथा परस्त्री सेवन करनेवाला पुरुष स्थान-स्थानपर अपमान सहन करता है, स्थान-स्थानपर मार खाता है और कभी-कभी अपना जीवन भी गंवा देता है। इसलिए ये दोनों इन्द्रियां यद्यपि बहुत छोटी हैं तथापि नरक निगोदके महादुःख देनेवाली हैं। इसलिए हे भव्य! अब तू भी इन इन्द्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग कर और अपने हृदयमें श्रेष्ठ बुद्धि धारण कर अपने आत्माका कल्याण कर। यही प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—कियत्कालं भवेत् क्रोधः कस्य जन्तोर्वद क्रमात् ?

अर्थ—हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किस जीवका क्रोध कितने-कितने काल तक रहता है?

उत्तर—कार्यवशात्क्षणंक्रोधो मुनीनां दुःखदो भवेत् ।
व्रतिनां पक्षमात्रोऽह्यव्रतिनां मासषड्युतः ॥३६१॥
मिथ्यात्वमूढजन्तूनां चिरं तिष्ठेद् भवप्रदः ।
ज्ञात्वेति पूर्ववृत्तान्तं क्रोधः कार्यो न दुःखदः ॥३६२॥
बंधहेतुर्भवेन्मोहः कोध एव प्रमाणतः ।
ततो हेयः सदा निंद्यः प्राणघाती प्रतिक्षणम् ॥३६३॥

अर्थ—इस संसारमें दुःख देनेवाला यह क्रोध मुनियोंके किसी विशेष कारणसे ही होता है और वह क्षण-भर ही ठहरता है। इसी प्रकार व्रती श्रावकोंका क्रोध पन्द्रह दिन तक ठहरता है, अव्रती श्रावकोंका क्रोध छह महीने तक ठहरता है और जन्म मरणरूप संसारको बढानेवाला मिथ्या-दृष्टियोंका क्रोध चिरकाल तक ठहरता है। यही समझकर भव्यजीवोंको दुःख देनेवाला यह क्रोध कभी नहीं करना चाहिए। इस संसारमें तीव्र अशुभकर्मोंका बंध करनेवाला मोह तथा क्रोध ही है और यह मोह वा क्रोध ही प्रतिक्षणमें आत्माका घात करनेवाला है और अत्यन्त निंद्य है इसलिए इन क्रोध और मोह दोनोंका ही त्यागकर देना चाहिए।

भावार्थ—क्रोधके चार भेद हैं, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध। अनन्तानुबंधी क्रोध मिथ्यादृष्टियोंके होता है, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध अव्रती श्रावकोंके होता है, प्रत्याख्यानावरण क्रोध व्रती श्रावकोंके होता है और संज्वलन क्रोध मुनियों-के होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध पत्थरकी रेखाके समान बहुत दिन तक रहनेवाला होता है। अप्र-त्याख्यानावरण क्रोध हलकी रेखाके समान छह महीने तक रहनेवाला होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध

गाडीकी लकीरके समान पन्द्रह दिन तक रहनेवाला होता है और संज्वलन क्रोध पानीकी लकीरके समान उसी क्षणमें नष्ट हो जानेवाला होता है। मुनि लोग कभी क्रोध नहीं करते। यदि किसी विशेष कारणसे उन्हें क्रोध आ जाता है तो वह क्षणभर ही ठहरता है। क्षणभरके बाद अवश्य नष्ट हो जाता है क्योंकि वह संज्वलन क्रोध ही होता है। उसकी स्थिति भी पानीकी लकीरके समान क्षणभर है। इसीप्रकार व्रती श्रावकोंका क्रोध पन्द्रह दिन ठहरता है, अव्रती सम्यग्दृष्टीका क्रोध छह महीने तक ठहरता है और मिथ्यादृष्टीका क्रोध अनन्तकाल तक ठहरता है। यही सब समझकर क्रोधका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यह क्रोध परजीवोंका तो घात करता ही है किंतु अपने आत्माका भी घात करता है। यही समझकर इसका त्याग करना कल्याणकारी है।

प्रश्न—कस्यास्तित्वाद् गुरो ब्रूहि सर्व विश्वो वशीभवेत ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किस-किसके होनेसे यह समस्त संसार अपने वशमें हो जाता है?

उत्तर—करुणा शान्तिदा शक्तिः भक्तिश्च भवनाशिनी।
धीरता चोद्यमः शान्तिः शौर्यं च दक्षता शुचिः ॥३६४॥
तत्त्वज्ञतात्मबुद्धिः स्यान्मिथः मैत्री सुखप्रदा।
इत्यादि भावना यत्र तत्र विश्वो वशी भवेत ॥ ३६५॥

अर्थ—करुणा, शान्ति देनेवाली शक्ति, संसारको नाश करनेवाली भक्ति, धीरता, उद्यम, शांति, शूरता, चतुरता, पवित्रता, तत्त्वज्ञता, आत्मबुद्धि, सुख देनेवाली परस्परकी मित्रता आदि भावनाएं जहां जहां रहती हैं वहांपर यह समस्त संसार अपने वशमें हो जाता है।

भावार्थ–करुणा दयाको कहते हैं। जहांपर समस्त जीवोंपर दया धारण की जाती है वहांपर समस्त जीव अपने वशमें हो जाते हैं। यह दया गुण समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला है और इसीलिए सब जीव दयाके आधीन हो जाते हैं। शक्तिके आधीन भी सब जीव हो जाते हैं यदि वह शक्ति शान्ति उत्पन्न करनेवाली हो तो फिर उसके बाहर कोई जीव हो ही नहीं सकता। भगवान् अरहंत देवमें अनन्त शक्ति होती है और वह समस्त जीवोंको शांति उत्पन्न करनेवाली होती है इसीलिए भगवान् अरहंत देवकी आज्ञाके विरुद्ध इन्द्रादिक देव भी नहीं चल सकते हैं किन्तु इन्द्रादिक देव सदाकाल उनकी भक्तिमें लगे रहते हैं। इससे सिद्ध होता है शांति उत्पन्न करनेवाली शक्ति भी समस्त संसारको वश करनेवाली होती है। देव शास्त्र गुरुकी भक्ति जन्म मरणरूप संसारको नाश करनेवाली होती है। जहां देव शास्त्र गुरुकी अचल भक्ति होती है वहांपर शत्रु अपने वशमें हो जाते हैं। इसका उदाहरण स्वामी समंतभद्रकी भक्ति है। जिस समय स्वामी समंतभद्रको भस्मव्याधि हो गई थी और वे बनारस जाकर वहांके राजा शिवकोटिके शिवमंदिरमें पुजारी बनकर शिवके लिए आया हुआ सब अन्न भक्षण कर जाते थे तब पहले पुजारियोंने किसी तरह यह बात जान ली थी और राजाको सब समाचार कह दिया था। उस समय राजाने समंतभद्रसे कहा था कि हम इस अपराधके बदले और कुछ नहीं चाहते, केवल हमारे सामने महादेवको एक बार नमस्कार कर लो। यदि तुम महादेवको नमस्कार न करोगे तो तुमको कठिन दंड दिया जायगा। उस समय स्वामी समंतभद्रने बडे आत्मगौरवके साथ कहा था कि मैं नमस्कार तो कर लूंगा परंतु तुम्हारा यह महादेव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता। मेरे नमस्कारसे वह फट जायगा। इसपर राजाने कहा था कि अच्छा महादेवको फट जाने दो परंतु तुम नमस्कार अवश्य करो। स्वामी समंतभद्रने इस बातको स्वीकार कर लिया और उस महादेवको लोहेकी मोटी जंजीरोंसे जकडवा दिया। स्वामी समंतभद्रको अपनी देवभक्तिका अटल विश्वास था और इसी-

लिए उन्होंने ऐसा किया। तदनंतर समस्त राजा प्रजाके सामने वे स्वयंभूस्तोत्रकी रचना करने लगे। स्वयंभूस्तोत्रमें चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति है और एक-एक तीर्थंकरकी स्तुतिमें पांच-पांच वा दस-दस श्लोक हैं। इस प्रकार स्तुति करते-करते उन्होंने सात तीर्थंकरोंकी स्तुति कर डाली परंतु इतने श्लोकोंमें नमस्कार वाचक कोई शब्द नहीं आया। जब उन्होंने भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति करना प्रारंभ किया और पहले ही श्लोकमें वंदना करनेवाला शब्द आया उसी समय वह महादेवकी मूर्ति फट गई और उसमेंसे भगवान चन्द्रप्रभकी चतुर्मुखी प्रतिमा प्रगट हो गई। यह देवभक्तिका उमडता हुआ महासागर कितना अगाध है यह ऊपर लिखी घटनासे मालूम होता है। यह देवभक्तिका अतिशय देखकर महाराज शिवकोटिके परिणाम बदल गये थे और उन्होंने जिनदीक्षा लेकर आराधनासार नामके महाग्रंथकी रचना की थी। जिस देव शास्त्र गुरुकी भक्तिसे वडे-वडे देव भी वश हो जाते हैं उस भक्तिसे समस्त संसार वश हो जाय इसमें आश्चर्य ही क्या है। इसीप्रकार धीरता, उद्यम, शांति, शौर्य, चतुरता, पवित्रता, तत्त्वज्ञता, आत्म बुद्धि, परस्परमैत्री आदि आत्माके बहुतसे ऐसे गुण हैं जिनके आधीन यह समस्त संसार हो जाता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इन गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए जिससे यह समस्त संसार भी वशमें हो जाय और मोक्ष भी अपने आप आकर प्राप्त हो जाय।

प्रश्न—ये परान् तोषणार्थं कौ यतन्ते वद कीदृशाः ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो लोग अन्य सब जीवोंको संतुष्ट करनेका प्रयत्न करते रहते हैं वे कैसे हैं?

उत्तर—जीवो न दृष्टोऽखिलतोषकारी, हेतुस्तथा न प्रबलो ह्यसूनाम्।
तथापि ये तोषयितुं यतन्ते, ते मूर्खमुख्याः प्रतिभान्त्यनाथाः॥३६६

१ बनारसमें अब भी महादेवका एक मन्दिर फटे महादेवके नामसे प्रसिद्ध है।

भक्त्यैकजीवे साति तोषितेऽन्यः, करोति कोपं खलु निन्दतीह ।
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिं तथैव, चिन्तां च मुक्त्वाऽखिलजन्तुशान्तेः ॥३६७
निजात्मसिद्धिं परिणामशुद्धिं, कुर्वन्तु नित्यं स्वरसस्य पानम् ।
निन्दन्तु कुप्यन्तु नमन्तु कोपि, तथापि धीरा न चलन्तु धर्मात् ॥३६८

अर्थ–इस संसारमें कोई भी ऐसा जीव दिखाई नहीं पड सकता जो समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेवाला हो। क्योंकि समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेवाला कोई प्रवल हेतु नहीं है तथापि जो जीव समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं वे मूर्खोंमें मुख्य कहलाते हैं और अनाथसे जान पडते हैं। इसका भी कारण यह है कि यदि अत्यन्त भक्तिके द्वारा किसी एक जीवको संतुष्ट करता है तो अन्य जीव उसपर क्रोध करता है अथवा उसकी निंदा करता है। इसप्रकार ऊपर लिखी नीतिको समझकर समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेकी चिन्ताका त्याग कर देना चाहिए तथा अपने आत्माकी सिद्धि, अपने परिणामोंकी शुद्धि और अपने आत्मरसका वा अपने आत्म-जन्य आनन्दरसका पान सदाकाल करते रहना चाहिए। ऐसा करते हुए चाहे कोई निंदा करे, चाहे कोई क्रोध करे और चाहे कोई नमस्कार करे तथापि धीर-वीर पुरुषोंको अपने धर्मसे कभी चलायमान नहीं होना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें सभी तरहके मनुष्य हैं। कितने ही सज्जन हैं और कितने ही दुर्जन हैं। कितने ही मूर्ख हैं और कितने ही विद्वान् हैं। कितने ही धनी हैं और कितने ही निर्धन हैं। यदि कोई पुरुष सज्जनोंको संतुष्ट करता है तो दुर्जन रुष्ट हो जाते हैं। यदि कोई किसी विद्वान्को संतुष्ट करता है तो मूर्ख रुष्ट हो जाते हैं। यदि कोई किसी निर्धनको संतुष्ट करता है तो धनी रुष्ट हो जाते हैं तथा इस संसारमें ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे सज्जन दुर्जन दोनों संतुष्ट हो जांय, अथवा धनी निर्धनी

दोनों संतुष्ट हो जांय, अथवा विद्वान् मूर्ख दोनों संतुष्ट हो जांय। क्योंकि जिस कार्यसे विद्वान् संतुष्ट होते हैं उससे मूर्ख कभी संतुष्ट नहीं हो सकते, जिससे सज्जन संतुष्ट होते हैं उसीसे दुर्जन लोग कभी संतुष्ट नहीं हो सकते। इसप्रकार विचार करनेसे यही मालूम होता है कि इस संसारमें कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे सभी लोग संतुष्ट हो जांय। इसलिए सबको संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करना मूर्खता है। प्रत्येक भव्यजीवको सबको संतुष्ट करनेकी चिंता छोड देनी चाहिए तथा अपने आत्माके कल्याण करनेका प्रयत्न करना चाहिए। अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए अपने परिणामोंको शुद्ध रखना चाहिए, समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिए और शुद्ध परिणामोंसे अपने शुद्ध आत्माका ध्यानकर आत्मजन्य आनन्दका स्वाद ले लेना चाहिए। यही मोक्षका उपाय है। भव्यजीवको यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कोई भी अपनी निंदा करे वा प्रशंसा करे अथवा क्रोध करे अथवा कृपा रक्खे परन्तु अपने आत्म-धर्मसे कभी चलायमान नहीं होना चाहिए। यही भव्यजीवका मुख्य कर्त्तव्य है।

प्रश्न—स्वात्मरसेन शून्यो यः स वद मेऽस्ति कीदृशः?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर मेरे लिये यह बतलाइए कि जो मनुष्य अपने आत्मजन्य आनंद-रसका स्वाद नहीं लेता वह कैसा है?

उत्तर—कौ यो यदि स्यात्स्वरसेन रिक्तः स ध्यान लीनोपि वकप्रमाणः।
मासोपवासेन युतोपि भोगी सुसत्यवक्तानृतभाषको हि ॥३६९॥
वने निवासीत्यपि हर्म्यवासी सन्तोषशीलोपि सदाभिलाषी।
स्याद्ब्रह्मचारी मिथुनाभिलाषी ज्ञात्वेति न स्यात्स्वरसेन रिक्तः ॥३७०

अर्थ—इस संसारमें जो पुरुष अपने आत्मजन्य आनन्द रसका आस्वादन नहीं करता वह यदि

ध्यानमें तत्पर रहता है तो भी बगुलाके समान समझा जाता है। यदि वह महीनें दो महीनेका उपवास धारण करता है तो भी वह भोग करनेवाला ही माना जाता है। यदि वह सत्यभाषण करता है तो भी वह मिथ्याभाषण करनेवाला ही माना जाता है, यदि वह वनमें रहता है तो भी घरमें रहनेवालेके समान गृहस्थ ही कहलाता है, यदि वह संतोष धारण करता है तो भी वह अभिलाषी ही कहलाता है, और यदि वह ब्रह्मचारी है तो भी वह मैथुन सेवन करनेकी इच्छा करनेवाला ही कहलाता है। यही समझ कर प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्मजन्य आनन्दरसका आस्वाद लेनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, आत्मजन्य आनन्द रससे शून्य कभी नहीं रहना चाहिए।

भावार्थ—ध्यान करना, तपश्चरण करना, उपवास करना, सत्य भाषण करना, वनमें निवास करना, संतोष धारण करना और ब्रह्मचर्य पालन करना आदि जितने मोक्षके साधन हैं वे सब आत्माकी सिद्धिके लिए किये जाते हैं। आत्माकी सिद्धि आत्माको शुद्ध कर लेनेसे होती है और जब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है तब ही इस जीवको आत्मजन्य आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। जो पुरुष ध्यान करता हुआ भी आत्मजन्य आनन्दका आस्वादन नहीं करता वह बगुलाके समान ही समझा जाता है। बगुला भी ध्यान करता है परन्तु उसे भी आत्माका आनन्दरस प्राप्त नहीं होता। इसीप्रकार आत्मानन्दरससे रहित ध्यानी पुरुषको समझना चाहिए। उपवास भी काय और कषायोंको नष्ट करनेके लिए किया जाता है। जब कायका ममत्व नष्ट हो जाता है और कषाय नष्ट हो जाते हैं तब चिदानन्दरसका आस्वादन आना ही चाहिए। यदि उपवास करते हुए भी चिदानन्द रसकी प्राप्ति नहीं होती है तो समझना चाहिए कि उसकी कषायें वा ममत्व भी नष्ट नहीं होता है और इसलिए वह उपवास केवल लंघन गिना जाता है। इसीप्रकार ब्रह्मचर्यका पालन, सत्य-भाषण, संतोष-धारण आदि सब कार्य चिदानन्द रसके लिए ही किए जाते हैं। इसलिए आत्मजन्य आनन्दरसका आस्वा-

दन करना ही आत्माका कल्याण करना है। मोक्षमें भी यही सुख है। अतएव भव्यजीवोंको सबसे पहले इसीके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न—स्यात्केन हेतुना लोके श्रेष्ठवस्तुसमागमः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें उत्तम पदार्थोंका समागम वा प्राप्ति किस कारणसे होती है ?

उत्तर—गृहं सदा मंगल कार्ययुक्तं, पुत्रोपि विद्या रमणी सुरक्तः।
भार्या सुशीला गृहकार्यदक्षा, दानार्चनार्थं च धनं यथेष्टम् ॥३७१॥
स्वदारतुष्टः परदारमुक्तः, स्वाज्ञानुकूलोऽखिलमित्रवर्गः।
पूर्वोक्तभावस्य सुवस्तुनः कौ, समागमः स्याद् वरपुण्यभाजाम् ॥३७२॥

अर्थ—इस संसारमें सदाकाल मंगल कार्योंसे सुशोभित रहनेवाले घरकी प्राप्ति उत्तम पुण्यवान पुरुषोंको ही होती है। सदाकाल विद्यारूपी ललनामें लीन रहनेवाले पुत्रकी प्राप्ति भी उत्तम पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है। घरके कामोंमें अत्यन्त चतुर और शीलवती स्त्रीकी प्राप्ति उत्तम पुण्यवानोंको ही होती है। दान पूजा आदि धर्मके साधनोंके लिए यथेष्ट धनकी प्राप्ति भी पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है। स्वदारसंतोषव्रतको धारण करनेवाले, परस्त्रीका सर्वथा त्याग करनेवाले और अपनी आज्ञाके अनुकूल चलनेवाले मित्रवर्गकी प्राप्ति भी पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है। इसप्रकार ऊपर जितने पदार्थ बतलाये हैं अथवा इस संसारमें जो-जो उत्तम पदार्थ हैं उन सबकी प्राप्ति पुण्यवान् पुरुषोंको ही होती है।

भावार्थ—इस संसारमें गृहस्थ लोगोंके लिए पुत्र, स्त्री, धन, घर और मित्रवर्ग ही सुखकी सामग्री

गिनी जाती है। वह सुखकी सब सामग्री पुण्यकर्मके उदयसे ही होती है। जिस पुरुषके जितने पुण्य-कर्मका उदय होता है उतनी ही सुखकी सामग्री उसको प्राप्त होती है। पुण्यकर्मका सबसे अधिक उदय चक्रवर्तीके होता है, इसलिए चक्रवर्तीको सबसे उत्तम संपत्तियां प्राप्त होती हैं। इस संसारमें पुत्र, स्त्री, धन आदिकी प्राप्ति होना सरल है प्रायः सबके ही होते हैं, घर भी सब गृहस्थोंके होता है। धन भी सबके होता है और पुत्र स्त्री भी प्रायः सबके होती है, परंतु पात्रदान और जिनपूजामें काम आनेवाला धन विरलोंके ही होता है। दान और जिनपुजनके काममें आनेवाला धन बीजके समान समझा जाता है। जैसे एक बीजके बोनेसे उस वृक्षपर सैकडों फल लगते हैं उसीप्रकार पात्रदान और जिनपूजनके काम आनेवाला अनन्त विभूतिका कारण होता है। वास्तवमें देखा जाय तो ऐसा ही महा पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। जो धन पापकार्योंमें लगता है वह नरक-निगोदमें डुबानेवाला होता है इसलिए उस धनका कारण श्रेष्ठ पुण्य नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार जो स्त्री सुशीला नहीं होती वह स्वयं नरकमें जाती है और घरके अन्य कितने ही लोगोंको इसी लोकमें अनेक दुःख देकर नरक ले जाती है इसलिए ऐसी स्त्रीसे स्त्रीका न होना ही अच्छा है। जो सुशील स्त्री होती है वह स्वयं पुण्य उपार्जन करती है और रानी चेलनाके समान अपने पतिको वा घरके अन्य लोगोंको भी अपने आत्माके कल्याणमें लगा देती है इसलिए ऐसी स्त्री श्रेष्ठ पुण्य कर्मके उदयसे ही प्राप्त होती है। घरमें सब गृहस्थ रहते हैं परंतु घर वही धन्य गिना जाता है जिसमें आहारके लिए मुनियोंके चरणकमल सुशोभित होते हैं अथवा जिसमें पुजा प्रतिष्ठा सदाकाल होती रहती है ऐसा घर बहुत बडे पुण्यकर्मके उदयसे ही प्राप्त होता है। इसीप्रकार पुत्र भी कुपुत्र होते हैं जो माता-पिताको दुःख पहुंचाते हुए स्वयं नरक जाते हैं और माता-पिताको भी ले जाते हैं। ऐसे पुत्रोंसे कभी सुख नहीं मिल सकता। जो पुत्र विद्वान् होते हैं और सगर चक्रवर्तीके पुत्रोंके समान आत्मकल्याणमें लग जाते हैं ऐसे पुत्र ही श्रेष्ठ पुण्यकर्मके उदयसे

प्राप्त होते हैं। तीर्थंकरके माता पिता महा पुण्यवान् गिने जाते हैं। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों ही उनकी सेवा करते हैं इसका एकमात्र कारण उनके तीर्थंकर ऐसे संसारभरको उद्धार करनेवाले पुत्रका होना है। ऐसा पुत्र महा पुण्यकर्मके उदयसे ही होता है। इसी प्रकार बहुतसे मित्रवर्ग अपने स्वार्थमें फंसकर अपने मित्रसे अनेक प्रकारके पापकार्य कराते रहते हैं। ऐसे मित्रोंको शत्रु ही समझना चाहिए। जो मित्र स्वयं सदाचारी हों और अपने मित्रको मोक्षमार्गमें ही लगाते हों ऐसे वारिषेणके समान मित्रकी प्राप्ति होना बहुत बडे पुण्यकर्मके उदयसे होती है। इसीलिए आचार्य महाराजने कहा है कि सुखकी सब सामग्री पुण्यकर्मके उदयसे ही होती है अन्य किसीसे नहीं हो सकती इसलिए सुखकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक भव्यजीवको पुण्यकर्मोंका सम्पादन करना चाहिए।

प्रश्न–शीघ्रं नश्यति जीवः कः कस्यवद् वद मे गुरो ?

अर्थ–हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कौनसा जीव किसके समान अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो जाता है ?

उत्तर–धनं ददाति ह्यविचार्य चात्ति, यो वाऽसहायो च कषायकीर्णः।
स्याच्छीघ्रगामी सकलप्रदेशे, कुकार्यकर्ता विषयाभिलाषी ॥३७३॥
मिथ्याभिमानी मदनेन मत्तो, वा केवलं वैरविरोधधारी।
विरुद्धवेषी ममकारकारी, प्रध्वंसते कीटकवत् स शीघ्रम् ॥३७४॥

अर्थ–जो पुरुष विना विचार किये ही चाहे जिसको धन दे देता है, जो विना कुछ विचार किये ही भोजन कर लेता है, जिसका इस संसारमें कोई सहायक नहीं है, जो तीव्र कषायोंको धारण करता है, जो विना देखे सर्वत्र शीघ्रताके साथ चलता है, जो सदाकाल कुकर्म वा अशुभ कार्य करता रहता

है, जो सदाकाल विषय सेवनकी इच्छा करता रहता है, जो मिथ्या अभिमान धारण करता है, जो कामदेवके वशीभूत होकर सदाकाल उन्मत्त बना रहता है, जो सदाकाल वैर-विरोध धारण करता रहता है, जो अपना वेष और भूषा विरुद्ध रखता है और जो तीव्र ममत्व धारण करता है वह पुरुष कीडे मकोडोंके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रथम तो कीडे मकोडोंकी आयु ही बहुत कम होती है दूसरे उनकी मृत्युके साधन प्रति समय बने रहते हैं। मार्गमें चलते हुए किसीका पैर भी पड जाता है तो भी उनकी मृत्यु हो जाती है। इनके सिवाय मोर आदि कितने ही जीव उनके स्वाभाविक शत्रु होते हैं। इसलिए उन कीडे मकोडोंका अपनी छोटीसी आयु पर्यंत भी बचे रहना अत्यंत कठिन होता है। इसीप्रकार जो पुरुष विना विचार किये चाहे जिसको धन दे देता है वह अपनी मृत्यु ही खरीद लेता है। महाराज जीवंधरके पिताने विना कुछ विचार किये ही अपने राज्यका सब प्रबंध अपने मंत्री काष्ठांगारको दे दिया था उसका कडवा फल बहुत शीघ्र राजाको भोगना पडा था। दुष्ट काष्ठांगारने राज्यका सब प्रबंध लेकर सज्जन आदमियोंको राज्यसे अलग कर दिया था और फिर अपनी सब सेना लेकर राजभवन घेर लिया था। यद्यपि राजाने बाहर आकर युद्ध किया था परंतु ऐसे राज्यसे विरक्त होकर उसने समाधि धारण करली थी। इतना होनेपर भी उस दुष्ट काष्ठांगारने उस राजाको मार दिया था। इसलिये विना विचार किये धनका देना भी मृत्युका कारण है। इसीप्रकार विना विचार किये भोजन करना भी मृत्युका कारण है। विचार पूर्वक भोजन करनेसे स्वास्थ्य ठीक रहता है, विना विचारे भोजन करनेसे स्वास्थ्य भी बिगड जाता है और कभी-कभी विषैला कोई पदार्थ भोजनमें आ जानेसे मृत्यु भी हो जाती है। अतएव विना विचारे भोजन करना भी मृत्युका कारण है। इस संसारमें जिस पुरुषका कोई सहायक नहीं है उसकी असमयमें ही मृत्यु हो जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। न जाने कब कोई आक-

स्मिक आपत्ति आ जाती है और यह जीव मर जाता है। इसलिए सहायकका न होना भी मृत्युका कारण है। यद्यपि मुनिराज भी वनोंमें अकेले रहते हैं तथापि उनका श्रेष्ठ धर्म और तपश्चरण ही उनका प्रबल सहायक होता है। जो जीव तीव्र कषायी होता है वह दूसरे किसी तीव्र कषायीके द्वारा अवश्य मारा जाता है। अथवा तीव्र कषायके कारण कभी-कभी वह स्वयं अपना घात कर लेता है। इसलिए तीव्र कषायका होना मृत्युका कारण है। जो पुरुष ऊंचे नीचे सब स्थानोंमें शीघ्र गमन करता है वह कभी किसी गड्ढेमें गिर जाता है और कभी ठोकर खाकर गिर जाता है और मर जाता है। इसलिए शीघ्र-गमन भी मृत्युका कारण है। जो जीव कुकर्म करता रहता है उसके लिए एक दो नहीं किन्तु सैकडों मृत्युके कारण मिल जाते हैं। वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, जूआ, चोरी आदि कुकर्म करनेवालोंके परस्पर भी एक दूसरेके शत्रु हो जाते हैं और राजकर्मचारी भी शत्रु हो जाते हैं। इसीप्रकार विषयाभिलाषी पुरुष न जाने किन-किन पदार्थोंका सेवन करते हैं और विपरीत योग मिलनेसे मर जाते हैं। मिथ्या अभिमान करनेवालोंको छोटे लोग भी नीचा दिखा देते हैं अथवा मार देते हैं। कामदेवके वशीभूत हुए उन्मत्त लोग न जाने कहां मारे जाते हैं। कभी कभी तो उनका शरीरतक नहीं मिलता है। इसीप्रकार सबके साथ वैर-विरोध रखनेवाले पुरुष भी शीघ्र मारे जाते हैं। विरुद्ध वेष धारण करनेवाले कभी-कभी धोखेमें ही मारे जाते हैं और अत्यन्त तीव्र ममत्व करनेवाले कंजूस लोग या तो चोर डाकुओंसे मारे जाते हैं अथवा किसी कारणसे वे स्वयं मारे जाते हैं। इसलिए ऊपर लिखे समस्त कार्योंका त्याग कर विचारपूर्वक आगमके अनुकूल सब काम करने चाहिए जिससे कि अपने आत्माका कल्याण हो। यही भव्यजीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—कथं भो क्रियते स्वामिन् वद मे गुणसंग्रहः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब मेरे लिए कृपाकर यह बतलाइए कि गुणोंका संग्रह किसप्रकार किया जाता है ?

उत्तर–प्रपूर्यंते कौ जल विन्दुपाताद्, यथा समुद्रश्च नदी तडागः।
त्यजन् ह्यधर्मं च भजन् स्वधर्मं, गृह्णन् गुणान् वावगुणांस्त्यजन् हि॥
जीवस्तथायं सुगुणेन पूर्णो, भवत्यवश्यं क्रमतः प्रपूज्यः।
ज्ञात्वेति मुक्त्वा विषमप्रदोषात्, गृह्णन्तु भव्याः सुखदान् गुणान् हि॥

अर्थ—इस संसारमें जिसप्रकार जलकी एक-एक बून्दसे बडे-बडे समुद्र भर जाते हैं, बडी-बडी नदियां भर जाती हैं और बडे बडे सरोवर भर जाते हैं, उसीप्रकार जब यह जीव अधर्मका त्याग कर देता है तथा अपने आत्माके स्वभाव रूप दयाधर्मको धारण कर लेता है। इसीप्रकार जब यह जीव अपने समस्त अवगुणोंका त्याग कर देता है और अपने आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको धारण कर लेता है उस समय यह जीव अवश्य ही अपने समस्त श्रेष्ठ गुणोंसे परिपूर्ण हो जाता है और फिर यह जीव तीनों लोकोंके जीवोंके द्वारा पूज्य हो जाता है। यही समझ कर प्रत्येक भव्यजीवको अपने विषम दोषोंका त्याग कर देना चाहिए और सुख देनेवाले श्रेष्ठ गुणोंको ग्रहण करते रहना चाहिए।

भावार्थ—गुणोंका संग्रह एक-एक गुणके ग्रहण करनेसे होता है। जो मनुष्य सबसे पहले अवगुणोंका त्याग कर देता है और फिर एक-एक गुणको ग्रहण करता जाता है वह किसी न किसी दिन अवश्य पूर्णगुणी हो जाता है। गुणोंको ग्रहण करनेके लिए अवगुणोंका त्याग कर देना परमावश्यक है। इसके साथ एक बात यह ध्यानमें रखने योग्य है कि यहां पर गुण शब्दसे आत्माके गुण ग्रहण करने चाहिए तथा आत्माके गुण और आत्माका धर्म सदा साथ रहनेवाले हैं। जहां-जहां आत्माका धर्म रहता है वहीं आत्माके गुण रहते हैं और जहां जहां आत्माके गुण रहते हैं वहां वहां आत्माका धर्म अवश्य रहता है। अतएव गुणोंका संग्रह करनेके लिए अधर्मका त्याग करना और धर्मका ग्रहण करना अनि-

वार्य है। जो मनुष्य अधर्मका त्याग नहीं कर सकता वह पुरुष अवगुणोंका त्याग भी नहीं कर सकता तथा विना अधर्म और अवगुणोंका त्याग किए धर्म वा गुणोंका संग्रह कभी नहीं हो सकता इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अधर्म और अवगुणोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये और फिर एक-एक गुणका संग्रह करते रहना चाहिए। जिस प्रकार एक-एक बूंद बरसते हुए पानीसे नदी समुद्र सरोवर आदि सब भर जाते हैं उसी प्रकार एक-एक गुण ग्रहण करनेसे ही समस्त गुण पूर्ण हो जाते हैं गुणोंको संग्रह करनेका सबसे सरल उपाय यही है।

प्रश्न—किमर्थं जीवनं स्वामिन् वद मे भुवनेऽधुना ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें यह जीवन किसलिए धारण किया जाता है ?

उत्तर—जीवन्ति ये के स्वापरात्मसिद्ध्यै, सदा यतन्ते स्वपरात्मशुद्ध्यै।
त एव जीवन्ति यथार्थदृष्ट्या, तदन्यजीवाश्च गतासुतुल्याः ।३७७
मन्ये मनुष्या अपि राक्षसास्ते, सन्त्यत्र लोके पशवश्च शुद्धाः।
ज्ञात्वेति जीवन्तु सदात्मशुद्ध्यै, ततः परेषां सुखशान्तिहेतोः ॥३७८॥

अर्थ—जो जीव इस संसारमें अपने आत्माकी शुद्धि और सिद्धि करनेके लिए तथा अन्य जीवोंकी शुद्धि और सिद्धि करनेके लिये जीवित रहते हैं वे ही जीव यथार्थ दृष्टिसे जीवित रहते हैं। उनके सिवाय अन्य जो जीव हैं उनको मृतकके समान समझना चाहिए। ऐसे मनुष्योंको हम लोग राक्षसोंके समान समझते हैं। ऐसे मनुष्योंकी अपेक्षा तो बहुतसे पशु भी शुद्ध होते हैं। यही समझ कर प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए और अन्य जीवोंको सुख और शान्ति प्राप्त करानेके लिए ही जीवित रहना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें अनन्त पर्यायें धारण करनी पडती हैं परन्तु मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी पर्याय है कि जिसमें यह जीव मोक्ष प्राप्तिका उपाय कर सकता है तथा अन्य अनेक जीवोंसे मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करा सकता है। काम, क्रोध, मोह, मद, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि समस्त विकारोंका त्याग कर तथा बाह्य परिग्रहका त्याग कर जो मनुष्य अपने आत्माको शुद्ध कर लेता है वही मनुष्य दूसरे जीवोंके आत्माओंको शुद्ध कर सकता है। जो स्वयं कृतकृत्य होता है वही मनुष्य दूसरोंको कृतकृत्य होनेका उपदेश कर सकता है तथा उसीका प्रभाव पड सकता है, दूसरेका नहीं। अतएव मनुष्य जन्मकी सार्थकता अपने आत्माको शुद्ध कर लेना और फिर अन्य जीवोंको कल्याणका मार्ग बता देना ही है और ऐसे लोगोंका ही जीवन सार्थक है। जो जीव मनुष्य जन्म पाकरके भी अपने आत्माका कल्याण नहीं करते, केवल भोग-विलासमें ही अपना जीवन बिता देते हैं उनको फिर मृतकके समान ही समझना चाहिये। भोग-विलासमें लगे रहनेके कारण वे रात-दिन अनेक प्रकारके महापाप उत्पन्न करते रहते हैं और उन पापोंके कारण नरक निगोदमें जाकर पडते हैं, इसीलिए ऐसे मनुष्य राक्षसके समान कहलाते हैं राक्षस भी पाप करता है और ऐसे मनुष्य भी रात-दिन पाप करते हैं इसलिए दोनों समान माने जाते हैं। इस संसारमें बहुतसे पशु भी पापोंका त्याग कर देते हैं वा मांसादिकका सेवन नहीं करते। इसलिए रात दिन पापमें लगे रहनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा उन पशुओंको भी उत्तम समझना चाहिए। अतएव मनुष्यजन्म पाकरके समस्त पापोंका त्याग कर आत्माको शुद्ध कर लेना और फिर अन्य जीवोंको कल्याणका मार्ग बताना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है और वह प्रत्येक भव्यजीवको करना चाहिए।

प्रश्न—भोगे यथा मतिर्दक्षा धर्मे भवति किं न सा ? २९७

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि यह मनुष्योंकी बुद्धि जैसी भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें चतुर होती है उसी प्रकार धर्मके धारण करनेमें चतुर क्यों नहीं होती ?

उत्तर—धनार्जने बन्धुजने कलत्रे भोगोपभोगे विषवद् व्यथादे ।
यथा मतिः कार्यकरी च दक्षा मिथोविरोधे भवतीति शक्ता ॥३७९॥
तथा स्वधर्मे स्वपरोपकारे मिथ्यात्वमोहादिविनाशने हि ।
स्यात्तर्हि चानन्दपदप्रदात्री स्वर्मोक्षलक्ष्मीः सुखदा स्वदासी ॥३८०॥

अर्थ—इस मनुष्यकी बुद्धि जिस प्रकार धन संग्रह करनेमें चतुर होती है, भाई-बन्धुओंके मोहमें चतुर होती है वा स्त्रीके मोहमें चतुर होती है, अथवा विषके समान महा दुःख देनेवाले भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें चतुर होती है वा इन समस्त कार्योंके सम्पादन करनेमें चतुर होती है और एक दूसरेके साथ विरोध करनेमें समर्थ होती है उसी प्रकार यदि यह बुद्धि अपने आत्मधर्मको प्राप्त करनेमें लग जाय अथवा अपने आत्माके कल्याण करनेमें वा अन्य जीवोंके कल्याण करनेमें लग जाय अथवा मिथ्यात्व मोह आदि आत्माके विकारोंके नाश करनेमें लग जाय तो फिर सच्चिदानन्द पदको देनेवाली तथा अनन्त सुखको देनेवाली स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मी अवश्य ही अपनी दासी बन जाती है।

भावार्थ—यह जीव इस संसारमें अनादि कालसे परिभ्रमण करता चला आ रहा है। अनादि कालसे ही भोगोपभोगोंमें लगा हुआ है, अनादि कालसे ही स्त्री पुत्र वा परिग्रहके संग्रहमें लगा हुआ है और अनादि कालसे ही परस्परके वैर विरोधमें लगा हुआ है। अतएव उसे अनादि कालसे इन सब कर्मोंका अभ्यास हो रहा है। यह सब मिथ्यात्वकर्मके उदयका कार्य है। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवकी बुद्धि मिथ्या हो जाती है, और इसीलिए वह संसारके मार्गमें ही लगी रहती है। जब यह जीव

किसी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुके सदुपदेशसे अपने मोह और मिथ्यात्वको मन्द कर देता है और अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझने लगता है तब यह जीव मोह और मिथ्यात्वको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है। काल लब्धिके अनुसार जब यह जीव अपने मोह और मिथ्यात्वको नष्ट कर देता है तब आत्माके स्वरूपको प्रगट कर देनेवाला सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही स्व-परभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है। स्वपरभेदविज्ञानसे यह जीव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। उसके लिए वह समस्त विकारोंका त्याग कर देता है और ध्यान तपश्चरणके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही इस जीवकी बुद्धि धर्म धारण करनेकी ओर नहीं झुकती। मिथ्यात्व कर्मको नष्ट कर देनेपर अवश्य ही धर्मकार्यमें लग जाती है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको सबसे पहले अपने मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए और फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, मोह तथा कषायोंका सर्वथा त्याग कर तथा समस्त परि-ग्रहोंका त्याग कर ध्यान तपश्चरणके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही मनुष्य जीवनका यथार्थ फल है।

प्रश्न—धर्मिणोऽधर्मिणश्चिन्हं विद्यते कीदृशं वद ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि धर्मात्माका चिन्ह क्या है और अधार्मिक पुरुषका चिन्ह क्या है?

उत्तर—यः स्वात्मशुद्धयै च करोति धर्मं व्रतोपवासं च जपं तपश्च।
स एव धर्मो भुवने यथार्थोऽभिमानशून्ये गुणदोषवेदी ॥३८१॥
ख्यात्यादिहेतोश्च करोति धर्मं ध्यानोपवासं खलु यश्च दानम्।
स एव नीचो जनवंचकः स्यात् पापी विधर्मी न च शंकनीयः ।३८२

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए धर्मको धारण करता है, वा व्रत उपवास करता है अथवा जप वा तप करता है वही पुरुष इस संसारमें अभिमान रहित और गुण दोषोंको जाननेवाला यथार्थ धर्मात्मा कहलाता है। परन्तु जो पुरुष अपनी प्रसिद्धिके लिए वा द्रव्य उपार्जन करनेके लिए धर्म धारण करता है वा ध्यान करता है, उपवास करता है अथवा दान देता है उस पुरुषको नीच लोगोंको ठगनेवाला, पापी और अधर्मात्मा समझना चाहिए। इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है।

भावार्थ—इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवको जो सबसे उत्तम मोक्ष स्थानमें जाकर विराजमान कर दे उसको धर्म कहते हैं। धर्मकी इस व्याख्यासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि मोक्ष प्राप्त करनेके जितने साधन हैं उन सबको धर्म कहते हैं तथा उस धर्मको अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके साधनोंको जो धारण करता है उसको धर्मात्मा कहते हैं। मोक्षकी प्राप्ति आठों कर्मोंके नाश करनेसे होती है तथा कर्मोंके उदयसे ही इस जीवके काम क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हैं। जब इस जीवके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं तब यह आत्मा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस आत्माका कर्मरहित हो जाना ही मोक्ष कहलाती है। इसीलिए आचार्य महाराज कहते हैं कि जो पुरुष अपने आत्माको अत्यंत शुद्ध करनेके लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उसके साधनभूत धर्मको धारण करता है, व्रत, उपवास करता है, तपश्चरण करता है, बारह भावनाओंका चिंतवन करता है, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका पालन करता है वा रत्नत्रयको पूर्ण करनेका प्रयत्न करता है वा ध्यान करता है उसको धर्मात्मा कहते हैं। जो पुरुष इससे विपरीत चलता है केवल अपनी प्रसिद्धिके लिए ध्यान वा उपवास करता है, वा द्रव्य उपार्जन करनेके लिए वेष बनाकर ध्यान उपवास करता है उसको नीच ठग और अधर्मात्मा समझना चाहिए। ऐसा पुरुष मायाचारी होनेके कारण अनन्तकाल तक निगोदके दुःख भोगता रहता

है। इसलिए किसी भी भव्यजीवको धार्मिक कार्यों में कभी भी मायाचारी नहीं करनी चाहिए। धर्मका धारण तो आत्माकी शुद्धताके लिए ही है। अथवा जो आत्माकी शुद्धताके लिए किया जाता है। उसीको धर्म कहते हैं इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

प्रश्न—नरोभूत्वा नृणां कृत्यं न करोति स कीदृशः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मनुष्य होकर भी जो मनुष्योंका कर्तव्य पालन नहीं करता वह कैसा मनुष्य है ?

उत्तर—मानापमानो निजलाभपूजा त्यक्तो न मोहो मदनः प्रमादः।
ध्याता न देवो पठिता न विद्या कृतो न धर्मोऽखिलसौख्यदाता।३८३
तेन प्रमूढेन नृजन्मरत्नं प्रक्षिप्यते सिंधुजले ह्यपारे।
ततो नरो वापि स नारकीव प्रत्यक्षमेव प्रतिभात्यभागी ॥३८४॥

अर्थ—जिस मनुष्यने मनुष्य पर्याय पाकर भी मान अपमानके विचारका त्याग नहीं किया, अपना लाभ और अपनी प्रतिष्ठाके विचारका त्याग नहीं किया, जिसने न तो मोहका त्याग किया, न काम सेवनका त्याग किया, न प्रमादका त्याग किया, न भगवान् अरहंत देवका ध्यान किया, न अध्यात्म विद्याका पठन-पाठन किया और न समस्त सुखोंको देनेवाले धर्मको धारण किया, उस अज्ञानी मनुष्यने मनुष्यजन्म रूपी रत्नको पाकरके भी इस संसाररूपी महासागरके अगाध जलमें फेंक दिया इसलिए वह अभागी मनुष्य प्रत्यक्ष नारकीके समान जान पडता है।

भावार्थ—इस जीवके साथ जब तक यह प्रबल मोह लगा रहता है तब तक उस मोहके उदयसे ही सदाकाल मान वा अपमानका ध्यान रक्खा करता है तथा उसी मोहके कारण अपने लाभ और प्रतिष्ठा

आदिका ध्यान रक्खा करता है। अमुक मनुष्य मुझसे ऊंचा न हो जाय, अमुक मनुष्यको मुझसे अधिक लाभ न हो जाय, अमुक मनुष्यकी प्रतिष्ठा क्यों अधिक हो गई, मेरी क्यों नहीं हुई इस प्रकारके मान अपमानका ध्यान वा लाभ वा प्रतिष्ठाका ध्यान तीव्र मोहकर्मके उदयसे ही होता है। यदि मोह-कर्मका नाश होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय तो यह मनुष्य अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जान लेनेके कारण मोहके समस्त विकारोंको आत्मासे भिन्न समझने लगता है और फिर उन समस्त विकारोंका त्यागकर आत्माको अत्यन्त शुद्ध बनानेका प्रयत्न करता है। उस समय वह मनुष्य पर्यायके जितने कर्तव्य हैं उन सबका पालन करता है। काम, क्रोध, मोह, प्रमाद आदि सब विकारोंका त्याग कर अध्यात्म विद्याके अध्ययन करनेमें लग जाता है और अनन्त सुखको देनेवाले आत्माके स्वभावरूप धर्मको धारण कर लेता है। यही मनुष्य जन्मका सर्वोत्तम कर्तव्य है, परन्तु जो मनुष्य ऐसा नहीं करता वह अज्ञानी कहलाता है और रत्नके समान इस बहुमूल्य बडी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य मनुष्य जन्मको भोगोपभोगोंके द्वारा संसार सागरमें डुबो देता है। ऐसा मनुष्य कभी भी योग्य मनुष्य नहीं कहलाता, किंतु भाग्यहीन और अज्ञानी कहलाता है तथा नारकीके समान महादुःखी होता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको मनुष्य पर्याय पाकरके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना चाहिए और फिर मोहादिक समस्त विकारोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही मनुष्य पर्यायका कर्तव्य है।

प्रश्न—कः कुशलोस्ति जीवः कौ वद मे सिद्धये प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब मेरे आत्माकी सिद्धिके लिए कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें सबसे अधिक कुशल मनुष्य कौनसा है ?

उत्तर—लब्ध्वा धनं झटिति यो विकृतिं न याति
लिप्तो न तत्र विषयं परिसेव्यमानः।

ताभिर्हतो न सततं ललनारतोपि
जातो न तस्य वशगः समयाश्रितोपि ॥३८५॥
ग्रस्तश्च नैव भुवने भुवनस्थितोपि
चारित्रमोहवशगोपि ततोतिदूरः ।
धर्मार्थकार्यनिरतोपि निजे निमग्नः
पूर्वोक्तकार्यकुशलो विरलोस्ति वीरः ॥३८६॥

अर्थ—जो पुरुष धन पाकरके भी अपने हृदयमें शीघ्र ही विकारभाव धारण नहीं कर लेता है, जो विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, निरन्तर स्त्रियोंके साथ क्रीडा करता हुआ भी उनसे ताडित नहीं होता अर्थात् उनके वशीभूत नहीं होता, जो समयके अनुसार कार्य करता हुआ भी उसके आधीन नहीं होता, संसारमें रहता हुआ भी जो संसारमें लीन नहीं होता, जो चारित्रमोहनीय कर्मके वशीभूत होकर भी उससे अत्यन्त दूर रहता है और जो धर्मकी वृद्धिके लिए अनेक कार्य करता हुआ भी सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहता है। इसप्रकार इन सब कामोंको करनेवाला पुरुष सबसे अधिक कुशल कहलाता है। ऐसा शूर-वीर कुशल पुरुष इस संसारमें विरला ही होता है।

भावार्थ—प्रायः धन पाकरके सब पुरुष मदोन्मत्त हो जाते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो यह धन ही समस्त अनर्थोंकी जड है। प्रायः धनी पुरुष ही सब प्रकारके अन्याय और अनर्थ करते हुए देखे जाते हैं तथा अनेक प्रकारके अभक्ष्य भक्षण करते हुए देखे जाते हैं इसलिए ऐसे धनको पाकरके भी जो पुरुष अपने हृदयमें किसी प्रकारके विकार धारण नहीं करता उसी मनुष्यको अत्यन्त कुशल कहना

चाहिए। इसीप्रकार इन्द्रियोंके विषयोंको सेवन करनेवाले पुरुष उन विषयोंमें लीन हो जाते हैं और फिर अपने आत्माका स्वरूप सर्वथा भूल जाते हैं इसलिए इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन न होना ही कुशलता है, जो पुरुष सदाकाल स्त्रियोंमें क्रीडा करते रहते हैं वे पुरुष प्रायः उन्हींके वशीभूत हो जाते हैं। स्त्रियोंके वशीभूत होकर फिर वे अनेक प्रकारके अनर्थ करते हैं और अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कर नरक-निगोदके दुःख भोगते हैं इसलिए स्त्रियोंके वशीभूत न होना ही कुशलता है। जो समयके अनुसार चलते हैं वे समयके प्रवाहमें बहकर अपने आत्माका स्वरूप और अपने आत्माका कल्याण करना भूल जाते हैं। यह उनकी अज्ञानता है। जो पुरुष समयके अनुसार अन्य सब काम करते हुए भी आत्माका कल्याण करना नहीं भूलते, समयके प्रवाहमें नहीं बहते उन्हींको कुशल पुरुष समझना चाहिए। जो पुरुष संसारमें रहता हुआ भी सांसारिक कार्योंमें लीन नहीं होता, चक्रवर्ती महाराज भरतके समान जो छहों खडोंका राज्य करता हुआ भी उसमें कभी लिप्त नहीं होता, जो इतने बडे साम्राज्यका पालन करते हुए भी सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहता है वही महापुरुष कुशल गिना जाता है जो पुरुष चारित्रमोहनीयकर्मके वशीभूत होता हुआ भी चारित्रमोहनीयकर्मसे दूर रहता है, अर्थात् जो संज्वलन वा प्रत्याख्यानावरण कषायके वशीभूत होता हुआ भी अप्रत्याख्यानावरण और अनन्तानुबन्धी कषायसे अत्यन्त दूर रहता है तथा धीरे-धीरे उस प्रत्याख्यानावरण वा संज्वलनका भी त्याग कर देता है, ऐसा पुरुष सबसे अधिक कुशल गिना जाता है। इसीप्रकार जो पात्रदान, जिनपूजन आदि धार्मिक कार्योंको करता हुआ भी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है वही पुरुष कुशल कहलाता है। ऐसे-ऐसे कुशलपुरुष इस संसारमें बहुत थोडे होते हैं और ऐसे कुशलपुरुष ही अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको ऐसा ही कुशल बनकर आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—कौ धर्माचरणेन स्यात्किं किं मे वद भो गुरो ?

अर्थ—हे गुरो ! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस संसारमें धर्मरूप आचरण धारण करनेसे किस किस पदार्थकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर—दूरः सदा दूरतरोस्ति यश्च, स एव सर्वोपि भवेत्समीपः ।
सुदुर्लभो यः सुलभः स एवाऽसाध्यः स साध्योऽप्यवशो वशी स्यात् ॥
सुदुःखदः कौ सुखदः स एव, दुष्टोपि शिष्टो हि रिपुः सखा स्यात् ।
सर्पोपि माला हि विषं सुधा स्यात् पत्नीव धर्माचरणेन लक्ष्मीः ॥३८८॥

अर्थ—धर्मका आचरणकरनेसे जो पदार्थ दूर वा अत्यंत दूर होते हैं वे भी सब पदार्थ अपने समीप आ जाते हैं, जो पदार्थ अत्यंत दुर्लभ होते हैं वे भी सुलभ हो जाते हैं, जो पदार्थ असाध्य होते हैं वे भी साध्य हो जाते हैं, जो पदार्थ किसीके वश नहीं होते वे भी वशमें हो जाते हैं, जो पदार्थ दुःख देनेवाले होते हैं वे भी सुख देनेवाले हो जाते हैं, जो दुष्ट होते हैं वे सज्जन हो जाते हैं, शत्रु मित्र हो जाते हैं, सर्प माला बन जाता है विष अमृत हो जाता है और लक्ष्मी पत्नीके समान हो जाती है ।

भावार्थ—धर्म सेवन करनेका फल अत्यंत विचित्र होता है, उसको कोई चिन्तवन भी नहीं कर सकता । देखो ! सेठ सुदर्शनको शूलीपर चढाया था तथापि धर्मके प्रसादसे वह शूली भी सिंहासन बन गया । सती सीताने जब अग्निकुंडमें प्रवेश किया था तब सब लोग हा-हाकार करने लगे थे परन्तु धर्मके प्रसादसे वह अग्निकुंड भी कमलोंसे सुशोभित सरोवर बन गया था । सोमा सतीने जब नमस्कार मंत्र पढकर घडेमें से सर्प निकालनेके लिए हाथ डाला था तब वह सर्प धर्मके प्रसादसे ही माला बन गया था । पर्वके दिन जब राजपुत्र वारिषण श्मशानमें ध्यान धारण किए विराजमान थे तब कोइ चोर चुराया हुआ हार उनके आगे डाल गया था । चोरका पीछा करनेवाले पहरेदारने जब

वारिषेणके आगे पडा हुआ हार देखा तो उसने उसी समय राजासे कहा। राजाने उसी समय चांडालको भेजकर उसके मारनेकी आज्ञा दी। चांडालने ज्यों ही तलवार मारी त्यों ही वह तलवार पुष्पमाला बनकर वारिषेणके गलेमें पड गई। उसी समय वहींपर राजा आया और वह छिपा हुआ चोर भी सामने आया। चोरने हार चुरानेका सब अपराध स्वीकार कर लिया। तब राजाने अपने पुत्रसे क्षमा मागी। परन्तु इस कृत्यको देखकर पुत्रने पहले ही प्रतिज्ञा कर ली थी कि यदि मैं इस आपत्तिसे बच जाऊंगा तो दीक्षा धारण कर लूंगा। उस प्रतिज्ञाके अनुसार राजपुत्र वारिषेणने जिन दीक्षा धारण कर ली। यह सब धर्मका ही प्रभाव था। धर्मके ही प्रसादसे आचार्य मानतुंगके बंधन कट गये थे और धर्मके ही प्रसादसे मुनिराज श्रीवादिराजका कोढी शरीर सुवर्णमय हो गया था। कहांतक कहा जाय इस धर्मांचरणकी अद्भुत महिमा है। जो मेंडक एक फूलकी पंखडी लेकर भगवान् महावीर स्वामीकी पूजा करने चला था किन्तु मार्गमें ही हाथीके पैरके नीचे दबकर मर गया था और उसी समय उत्तम देदीप्यमान देव हुआ था वह देव उसी समय भगवान् महावीर स्वामीकी पूजा करनेके लिए समवशरणमें आया था और सब लोगोंके लिए भगवान् महावीर स्वामीकी पूजा करनेका माहात्म्य उसने प्रगट कर दिखाया था। अतएव भव्यजीवोंको सदाकाल धर्मका सेवन करते रहना चाहिए।

प्रश्न—को नरजन्मयोग्योस्ति वद मे साम्प्रतं गुरो ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मनुष्य जन्म प्राप्त करनेके योग्य कौनसा जीव समझा जाता है?

उत्तर—कौ यः सदा परगुणस्तवनेतिदक्षः निःस्वार्थतः स्वगुणनिंदन एव धीरः।
सिद्धयै निजस्य निजदोषविलोकनारिः ज्ञानी स एव परदोषविलोकने वा॥

सत्यार्थदेवगुरुशास्त्रविधेर्विधाता सन्तोषशान्तिनिलये सततं निवासी ।
पूर्वोक्तकार्यनिरतो नरजन्मयोग्यो यस्तद्विना पशुसमः प्रतिभाति मत्तः ।।

अर्थ—जो पुरुष इस संसारमें दूसरेके गुणोंकी स्तुति करनेमें अत्यन्त चतुर होता है, जो बिना किसी स्वार्थके अपने गुणोंकी निंदा करनेमें शूर-वीर होता है, जो अपने आत्माकी सिद्धिके लिए अपने दोषोंको देखनमें भी शत्रुका काम करता है, जो दूसरोंके दोषोंको देखनेमें ज्ञानी बन जाता है, जो यथार्थ देव शास्त्र गुरुकी पूजा सेवा आदि विधियोंका विधान करता रहता है और जो संतोष तथा शांतिके स्थानमें ही सदाकाल निवास करता है । इसप्रकार जो ऊपर लिखे हुए कार्योंमें तल्लीन रहता है वही मनुष्य मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका अधिकारी माना जाता है । जो पुरुष ऊपर लिखे कार्योंमें अपनी अभिरुचि नहीं रखता वह मदोन्मत्त पुरुष पशुके समान कहलाता है ।

भावार्थ—जो पुरुष मनुष्य पर्याय पाकरके भी दूसरोंके गुणोंको प्रशंसनीय नहीं समझता वह गुणज्ञ नहीं कहलाता । फिर तो उसे दोषोंको ही ग्रहण करनेवाला ही समझना चाहिए । दोषोंको गृहण करना मनुष्यताकी योग्यताके बाहर है । इसलिए गुणोंकी स्तुति करना और गुणोंको गृहण करना मनुष्यताके योग्य है । इसीप्रकार अपने गुणोंकी प्रशंसा करना भी मनुष्यताके बाहर है । इसलिए अपने गुणोंकी प्रशंसा न करना वा अपने गुणोंकी निंदा करना मनुष्यताका योग्य कर्त्तव्य है । अपने दोषोंको देखनेके लिए जो शत्रुका काम करता है अर्थात् जिसप्रकार हमारा शत्रु हमारे दोषोंको देखा करता है उसीप्रकार जो स्वयं अपने दोषोंको देखा करता है और फिर उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है वही मनुष्य जन्मके कर्त्तव्यको पालन करता है । इसीप्रकार जो पुरुष दूसरोंके दोष देखनेमें ज्ञानी बन जाता है अर्थात् ज्ञानी पुरुष जिसप्रकार दूसरोंके दोषोंको देखता हुआ भी न देखनेके समान बन जाता है उसी-प्रकार जो मनुष्य दूसरोंके दोषोंको देखता हुआ भी नहीं देखनेके समान आचरण करता है वह मनुष्य

अवश्य ही मनुष्य जन्मके योग्य माना जाता है। इसीप्रकार जो पुरुष भगवान् अरहंतदेवकी ही पूजा करता है, उनके कहे हुए शास्त्रोंको ही आत्माका कल्याण करनेवाला समझता है और वीतराग निर्ग्रंथ गुरुको ही अपना गुरु मानकर उनकी सेवा-भक्ति करता है वही पुरुष अपने मनुष्य जन्मका कर्त्तव्य पालन करता है तथा जो पुरुष संतोष और शांतिके ही स्थानमें रहता है अन्य कलहके स्थानों-का सर्वथा त्याग कर देता है। अथवा जो आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही निवास करता है वही मनुष्य मनुष्य जन्मके कर्त्तव्यको पालन करता है। इसलिए ऊपर लिखे कर्त्तव्यको पालन करनेवाले मनुष्य ही मनुष्य जन्मके प्राप्त करनेके अधिकारी माने जाते हैं! अतएव भव्यजीवको इनका पालन अवश्य करते रहना चाहिए। जो पुरुष इनका पालन नहीं करता वह पशुओंके समान आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित कहलाता है।

प्रश्न—कथं स्यात्स्वात्मतृप्त्यादिः वद मे शर्मद प्रभो ?

अर्थ—हे कल्याण करनेवाले स्वामिन्! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि आत्माकी तृप्ति वा शुद्धि आदि किस प्रकार हो सकती है?

उत्तर—स्वरसपानतस्तृप्तिर्न तु दुग्धादिपानतः।
लोभत्यागेन शुद्धिः स्यान्न तु स्नानेन केवलम् ॥३९१॥
स्यात्स्वात्मध्यानतः सिद्धिस्तपसा न च केवलम्।
स्वात्मनिवासतः शान्तिर्न गृहवनवासतः ॥३९२॥
परवस्तुपरित्यागान्मुक्तिर्ज्ञानान्न केवलम्।
ज्ञात्वेति ममतां त्यक्त्वा कुर्वन्तु शर्मदं विधिम् ॥३९३॥

अर्थ—इस संसारमें अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले आनन्दके अनुपमरससे ही आत्माकी तृप्ति होती है, दूध वा शर्बत आदिके पीनेसे आत्माकी तृप्ति कभी नहीं होती। लोभके त्याग कर देनेसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, केवल स्नान कर लेने मात्रसे आत्माकी शुद्धि कभी नहीं होती। इसीप्रकार अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेसे ही आत्माकी सिद्धि होती है, केवल तपश्चरण कर लेने मात्रसे आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती। अपने आत्मामें निवास करनेसे वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे आत्माको अनन्तशांतिकी प्राप्ति होती है, घरमें वा वनमें रहनेसे आत्माको शांति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसीप्रकार परपदार्थोंका त्याग कर देनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती। यही समझकर सबसे पहले ममत्वका त्याग कर देना चाहिए और कल्याण करनेवाली ध्यानादिककी विधि करते रहना चाहिए।

भावार्थ—मूर्त पदार्थसे मूर्त पदार्थकी ही तृप्ति होती है मूर्त पदार्थसे अमूर्त पदार्थकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। दूध आदि जितने दिखनेवाले पदार्थ हैं वे मूर्त हैं उनसे मूर्त शरीर ही तृप्त हो सकता है दूध आदि मूर्त पदार्थोंसे अमूर्त आत्मा कभी तृप्त नहीं हो सकता। यदि अमूर्त आत्माकी तृप्ति होती है तो अमूर्त आत्माके आनन्दरससे ही आत्माकी तृप्ति होती है। दूध पीनेसे थोडी देर बाद ही फिर भूख लग जाती है परन्तु आत्मजन्य आनन्दरससे तृप्त होनेपर फिर कभी भी उसकी लालसा नहीं होती। वास्तवमें देखा जाय तो तृप्ति इसीको कहते हैं। इसीप्रकार शुद्धि उसीको कहते हैं जिसमे फिर कभी अशुद्धि न हो। आत्मामें ऐसी शुद्धि लोभादिक समस्त कषायोंका त्याग कर देनेसे ही होती है। स्नान करनेसे आत्माकी यथार्थ शुद्धि नहीं होती। इसीप्रकार आत्माकी सिद्धि [illegible] [illegible]नकी प्राप्ति केवल तपश्चरणसे नहीं होती किंतु अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेसे होती है। जिस तपश्चरणमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान किया जाता है उसीको तपश्चरण कहते हैं। जिस तपश्चरणमें

आत्माका चिन्तवन नहीं होता उसको तपश्चरण कभी नहीं कह सकते और न ऐसे तपश्चरणसे आत्माकी सिद्धि होती है। इसीप्रकार न तो घरमें रहनेसे शांति प्राप्त होती है और न वनमें रहनेसे शांति प्राप्त होती है, किंतु यथार्थ शांतिकी प्राप्ति अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे होती है। इसका भी कारण यह है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे निराकुलता प्राप्त होती है और निराकुलताको ही शांति कहते हैं। वह निराकुलता घर वा वनमें रहनेसे कभी नहीं होती। इसीप्रकार मोक्षकी प्राप्ति समस्त परपदार्थोंके सर्वथा त्याग कर देनेसे होती है। केवल उन पदार्थोंको जान लेने मात्रसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती। मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना है। यह जीव अनादिकालसे कर्मोंसे बंध रहा है। तथा कर्म सब आत्मासे भिन्न हैं और इसीलिए उनको पर कहते हैं उन समस्त कर्मोंका नाश हो जाना ही मोक्ष है इसीलिए आचार्य महाराजने परपदार्थोंके परित्याग करनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति बतलाई है। उन कर्मोंका स्वरूप जान लेने मात्रसे वे कर्म नष्ट नहीं होते, किंतु ध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश किया जाता है इसलिए कर्मोंका नाश होना ही मोक्ष है। केवल उनको जान लेना मोक्ष नहीं है। यही सब समझ करके प्रत्येक भव्यजीवको परपदार्थोंके ममत्वका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और समस्त कर्मोंका नाश कर आत्माका कल्याण करनेवाली मोक्षकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए। यही भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—कस्य वृद्धिः कलौ काले तथा हानिर्भवेद् वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस कलिकालमें किस-किसकी तो वृद्धि होती है और किस-किसकी हानि होती है ?

उत्तर—काले कलौ कैतवता पशुत्वं निर्लज्जता दाम्भिकता व्यथादा।
सुदुष्टता वाऽमतिता विशेषात् प्रबर्द्धते लोभकषायतापि ॥३९४॥

धर्मज्ञता स्वात्मविचारतापि कारुण्यता कोमलता नरत्वम् ।
सत्साधुता दीर्घविचारतापि प्रतिक्षणं नश्यति चैव नृणाम् ॥३९५॥

अर्थ—इस कलिकालमें छल-कपट, पशुपना, निर्लज्जता, दुःख देनेवाले अनेक प्रकारके ढोंग दुष्टता, निर्बुद्धिपना और विशेषकर लोभ कषायता बढती जाती है तथा धर्मज्ञता, अपने आत्माका विचार करना, करुणा, कोमलता, मनुष्यपना, सज्जनता और दीर्घ विचार करना आदि मनुष्योंके गुण सब नष्ट होते जाते हैं।

भावार्थ—इस कलिकालमें छल-कपट बहुत बढ गया है, वर्तमान कालके मनुष्य कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। ऊपरसे बहुत अच्छी-अच्छी मीठी बातें बनाते हैं, अपने ही स्वार्थमें दूसरोंका उपकार दिखलाते हैं और अन्तमें सबका गला घोंटकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। इसीप्रकार पशुपना बढता जाता है। मनुष्योचित सदाचार छूटता जाता है और पशुओंके समान असदाचारता बढती जाती है। भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं रहा है। पशुओंके समान रात दिन खाते रहते हैं और चाहे जो खा जाते हैं। पशु तो खाने योग्य पदार्थको सूंघ लेता है। यदि वह खाने योग्य नहीं हुआ तो उसे वह छोड देता है परन्तु वर्तमानके मनुष्य कुछ नहीं देखते चाहे जहां जो कुछ मिलता है सब खा जाते हैं। यह पशुओंसे भी बढकर पशुपना है। निर्लज्जताका कुछ ठिकाना नहीं रहा है। चाहे जिस जातिकी और चाहे जिसकी स्त्री को अपनी स्त्री बना लेते हैं और फिर बहुरूपियाके समान चाहे जैसा वेष बनाकर बाजारमें भी उस स्त्रीको साथ लिए फिरते हैं। खडे होकर पेशाव करना आदि सब निर्लज्जताके ही साधन इकट्ठे हो रहे हैं और उन्हींको इस कलिकालके मनुष्य अपनाते जाते हैं। इसीप्रकार इस कलिकालमें दांभिकता वा ढोंग भी खूब बढ गये हैं। अनेक त्यागी ब्रह्मचारी अपनी लालसाएं पूर्ण करनेके लिए ही त्यागी ब्रह्मचारी बन गये हैं, अनेक ब्रह्मचारी पैसा कमानेके लिए ब्रह्मचारी बन गये

है। जो रातभर मद्य मांसमय औषधियां खाते रहते हैं वे भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं और विधवा-विवाह वा घरेजाके पुरोहित भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं। शास्त्री और विद्वान् कहलानेवाले भी शास्त्रोंका विपरीत अर्थ लगाकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं, जैनी कहलाकर भी जिनवाणीका खंडन कर रहे हैं। कहांतक कहा जाय ? दांभिकता और दुष्टता बहुत बढ गई है। वर्तमानमें दुष्ट लोग अपनी दुष्टताके कारण अपना आतंक जमा लेते हैं और शिष्ट लोग किसी एकांतमें पडे-पडे सडते रहते हैं। लोभ कषाय और निर्बुद्धिता इतनी बढ गई है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं है। लोभ कषायके वशीभूत होकर लोग चाहे जैसा हिंसामय व्यापार कर लेते हैं। न कुछ विचार रहा है और न संतोष रहा है। जहां देखो ! वहां दुर्गुण ही बढते जाते हैं। लोग धर्म कार्योंको छोडते जा रहे हैं। वर्तमानके लोग पैसा कमानेके लिए चाहे जितने ढोंग करते हैं परन्तु वे अपने उन ढोंगोंको ठीक ही समझते हैं और धर्म कार्योंको ढोंग बतलाते हैं मेरा आत्मा कैसा है उसका स्वरूप क्या है उसके सांसारिक दुःख कैसे दूर हो सकते हैं उसका कल्याण किस प्रकार हो सकता है इत्यादि विचार सर्वथा नष्ट हो गये हैं। इन्हीं सब विचारोंके नष्ट होनेसे करुणा और कोमलता भी नष्ट हो गई है और मनुष्यपना तथा सज्जनता भी नष्ट हो गई है। मैं जो यह काम करता हूं इसका क्या फल होगा, अच्छा फल होगा या बुरा फल होगा, इससे मुझे सुख मिलेगा वा दुःख मिलेगा, इसप्रकारका विचार सर्वथा नष्ट होता जाता है। कोई भी अयोग्य वा स्वार्थी मनुष्य जो कुछ कह देता है उसी कामको बिना कुछ सोचे विचारे करने लग जाते हैं। इसीप्रकार लोग सब दुःखी हो रहे हैं परस्पर वात्सल्यभाव नष्ट हो गया है और लोगोंके हृदयमें स्वार्थ और दुर्भावनाओंने घर कर लिया है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माका हिताहित देखकर धर्मानुकूल काम करना चाहिए, कलिकालकी वायुमें नहीं बह जाना चाहिए। वायुमें बह जाना मच्छर वा पतंगोंका काम है मनुष्योंका काम नहीं है।

प्रश्न—स्यात्केन हेतुना सिद्धिः स्वात्मनो वद मे गुरो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर मेरे लिए यह बतलाइए कि अपने आत्माकी सिद्धि किन-किन कारणोंसे होती है ?

उत्तर—वांच्छादिनाशतो नृणां वनितासंगत्यागतः ।
गृहसंसर्गदूराद्वा सन्तोषधैर्यतो ध्रुवम् ॥ ३९६ ॥
रागद्वेषविनाशाद्धि सर्वसंकल्पनाशतः ।
हेयोपादेयबोधात्स्यात्सिद्धिः स्वानन्ददर्शिनी ॥ ३९७ ॥
ज्ञात्वेति तत्त्वतस्तत्त्वं पूर्वोक्तधर्मसिद्धये ।
यतन्तां यत्नतो भव्याः संसारबंधभेदिनः ॥ ३९८ ॥

अर्थ—इस संसारमें मनुष्योंको अपने आत्माकी सिद्धि वांछा इच्छा वा लालसाओंका नाश कर देनेसे होती है, स्त्रीसमागमका त्याग कर देनेसे होती है, घरका सबका संबंध छोड देनेसे आत्माकी सिद्धि होती है, संतोष तथा धैर्य धारण करनेसे आत्माकी सिद्धि होती है, राग द्वेषका त्याग कर देनेसे आत्माकी सिद्धि होती है, सब प्रकारके संकल्प विकल्पोंका त्याग कर देनेसे आत्माकी सिद्धि होती है और हेय तथा उपादेयका ज्ञान होनेसे आत्मजन्य आनंदको प्रगट करनेवाली आत्माकी सिद्धि होती है। अतएव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर अपने आत्माकी सिद्धि करनेके लिए रागद्वेषादिकका सर्वथा त्याग कर हेयोपादेयका ज्ञान प्राप्त करनेके बंधनोंको नाश करनेवाले भव्यजीवोंको सदाकाल अपनी समस्त शक्ति लगाकर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

सिधु
३१३

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा है तथा उस परिभ्रमणका कारण राग द्वेष है वा स्त्री घरका संबंध वा अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प हैं। यह जीव इन राग द्वेषके कारण वा अनेक प्रकारकी लालसाओंके कारण अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न किया करता है और अनेक प्रकारके अशुभ कर्मोंका बंध किया करता है तथा उस कर्मबंधके कारण फिर इस संसारमें परिभ्रमण किया करता है। घर गृहस्थीमें रहता हुआ यह मनुष्य अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है, व्यापारमें अनेक प्रकारके पाप करता है, भोगोपभोगोंकी सामग्री इकट्ठी करनेमें अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है तथा उन पापोंके ही कारण अशुभ कर्मोंका बंध करता हुआ संसारमें परिभ्रमण किया करता है। संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कभी नरकमें जाता है कभी निगोदके दुःख भोगता है कभी पशुओंमें जन्म लेता है और कभी देव वा मनुष्य होता है। इसप्रकार यह जीव सदाकाल दुःख भोगा करता है। यदि यह जीव अपने आत्माको इन दुःखोंसे बचाकर सदाके लिए सुखी बनाना चाहता है और आत्माकी सिद्धि वा मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहता है तो उसको सबसे पहले समस्त इच्छाओंका नाश कर तपश्चरण धारण कर लेना चाहिए, स्त्रीसमागम और घरके समस्त संबंधोंका त्याग कर महाव्रत धारण कर लेने चाहिए, राग द्वेषका त्याग कर वीतराग अवस्था धारण कर लेनी चाहिए और संकल्प विकल्पोंका त्याग कर मन और इंद्रियोंको अपने वशमें कर लेना चाहिए। तदनंतर संतोष और धैर्य धारण कर हेयोपादेयका विचार करना चाहिए। जो हेय अर्थात् त्याग करने योग्य हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए और जो उपादेय वा ग्रहण करने योग्य हैं उनको ग्रहण कर लेना चाहिए। आत्माका शुद्ध स्वरूप ग्रहण करने योग्य है और उसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ वा आत्माके विकार सब त्याग करने योग्य हैं। इसप्रकार तत्त्वोंका स्वरूप समझ कर आत्मजन्य अनंत आनंदको प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको प्रयत्न करते रहना चाहिए। आत्मजन्य अनंत आनंदके प्राप्त होनेपर ही इस जीवका

संसार परिभ्रमण वा कर्मोंका बंधन नष्ट हो सकता है। संसार और कर्मबंधनोंके नाशका अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न–काले कलौ मुनिः कुत्र निवसेन्मे वद प्रभो ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपा कर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस कलिकालमें मुनि लोग कहां-कहां निवास करते हैं ?

उत्तर–ग्रामे नगर्यां विपिने श्मशाने गिरौ गुहायां निलये जिनानाम्।
नदीतटेऽहं निवसामि नित्यं त्यक्त्वेति निंद्यं कुदुराग्रहादिम् ॥३९९॥
द्रव्यादिभावं स्वबलं च बुद्ध्वा यदा यथा यत्र च योग्यता स्यात्।
त्यक्त्वा प्रमोहं निवसेद्धि तत्र निःस्वार्थबुद्ध्या स्वपरात्मसिद्ध्यै॥४००॥

अर्थ–प्रत्येक मुनिको सबसे पहले द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रभाव देख लेना चाहिए और फिर अपना बल वा अबल देख लेना चाहिए। यह सब समझ कर अपने रहनेके लिए तथा अपने आत्माका कल्याण और अन्य भव्यजीवोंका कल्याण करनेके लिए जहां योग्यता मिल जाय वहीं रह जाना चाहिए किसी भी स्थानके रहनेमें अपना कोइ स्वार्थ नहीं देखना चाहिए तथा किसीप्रकारका दुराग्रह नहीं करना चाहिए। वह रहनेकी और स्वपरकल्याणकी योग्यता यदि किसी गांवमें मिल जाय तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी नगरमें मिल जाय तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी सूने मकानमें ऐसी योग्यता मिल जाय तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी श्मशानमें ऐसी योग्यता मिले तो वहां रह जाना चाहिए। यदि किसी पर्वतपर वा किसी गुफामें ऐसी योग्यता मिले तो वहां रह जाना चाहिए और यदि किसी वनमें वा जिनालयमें ऐसी योग्यता मिले तो वहां रहजाना चाहिए। स्वपरकल्याणकी

योग्यता जहां मिलती हो वहींपर अपना स्वार्थ वा मोहका त्याग कर निवास कर लेना चाहिए।

भावार्थ—जब यह मनुष्य भोगोपभोगोंसे वा इंद्रियोंके विषयोंसे और संसारसे विरक्त हो जाता है तब यह जीव अपने सब मोह और ममत्वका त्याग कर मुनिदीक्षा धारण करता है। मुनि होनेपर यह मनुष्य अपने गुरुसे शिक्षा प्राप्त करता रहता है और उनकी आज्ञानुसार सम्यक्चारित्रका पालन करता रहता है। वह मनुष्य अपने घरकी सुख सामग्रीका त्याग कर आत्माका कल्याण करनेके लिए ही मुनि दीक्षा धारण करता है इसलिए वह अपने आत्मकल्याणका सर्वत्र ध्यान रखता है। मोहका त्याग उसके हो ही जाता है और राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देनेके कारण वह वीतराग हो ही जाता है। इसलिए वह मुनि दीक्षा लेनेके अनन्तर चाहे तो किसी नगरमें रहे वा किसी गांवमें निवास करे अथवा किसी वनमें निवास करे उसके लिए सब स्थान समान होते हैं। मुनि लोग तो अपने आत्मासे ही विशेष प्रयोजन रखते हैं फिर वे न तो राजमहलकी सुन्दरता देखते हैं और न वनकी स्वाभाविक शोभा देखते हैं। उनके लिए जैसा राजभवन वैसा पर्वत वा वन। वे मुनिराज न तो वनमें रहनेका दुराग्रह करते हैं और न गांव वा नगरमें रहनेका दुराग्रह करते हैं। जहां उनको तपश्चरण करनेकी योग्य सामग्री मिल जाती है वहीं रह जाते हैं। हां! पहलेके समयमें और कलिकालके समयमें शारीरिक शक्तिका अन्तर अवश्य है। पहलेके संहनन अच्छे सुदृढ थे अब इस कालमें संहनन सुदृढ नहीं है। इसलिए पहले अनेक मुनि एक-एक दो-दो महीनेका उपवास धारण कर वनमें ही रहते थे यह बात अब नहीं हो सकती। यद्यपि वे मुनिराज मोह व ममत्वसे रहित हैं तथापि संहननकी हीनता होनेके कारण वे मुनिराज इसप्रकार महीने दो महीनेका उपवास धारण कर वनमें नहीं रह सकते। इसलिए वर्तमान कालमें मुनिराज गांव वा नगरके निकट ही निवास करते हैं। पहलेके कितने ही मुनिराज भी किसी जिनालयमें ही वर्षायोग धारण करते थे तथा वर्षायोग पूर्ण होनेपर फिर किसी दूसरे जिना-

लयमें चले जाते थे। शास्त्रोंमें इनके अनेक उदाहरण हैं। इसलिए मोह और ममत्वका त्याग करनेवाले मुनि अपने स्वपरकल्याणकी योग्यता देख कर वनमें नगरमें गांवमें जिनालयमें वा पर्वतपर गुफामें वा वनमें चाहे जहां रह सकते हैं।

प्रश्न-केवलं जनवृद्धयै ये यतन्ते ते च कीदृशाः ?

अर्थ-हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि जो लोग केवल जनसंख्या बढानेके लिए यत्न करते हैं वे कैसे हैं ?

उत्तर-केवलं जनवृद्धयै कौ यतन्ते यावदेव ये।
नाचारो नरता तेषां तावत्सिद्धिर्न कामदा ॥४०१॥
ज्ञात्वेति कुमतिं त्यक्त्वा यतन्तां धर्मवृद्धये।
सद्वस्त्वन्वेषणार्थं वा मोक्षसिद्धिर्भवेद्यतः ॥४०२॥

अर्थ—इस संसारमें जो लोग जबतक केवल जनसंख्याकी वृद्धिके लिए प्रयत्न करते रहते हैं तब-तक उनके न तो आचार विचार रहते हैं न मनुष्यता रहती है और न इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली आत्माकी सिद्धि ही होती है। यही समझ कर जनसंख्याकी वृद्धिकी कुबुद्धिका त्याग कर देना चाहिए और धर्मकी वृद्धिके लिए अथवा श्रेष्ठ पदार्थोंके अन्वेषणके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे कि शीघ्र ही मोक्षकी सिद्धि हो जाय।

भावार्थ—जो लोग जनसंख्याकी वृद्धि करना चाहते हैं वे वास्तवमें जनसंख्या बढाना नहीं चाहते किन्तु अपनी दुर्वासनाएं पूर्ण करना चाहते हैं। संसारमें बेकारी बढ रही है लोगोंको पेटभर अन्न कठि-नतासे मिलता है, लाखों करोडों मनुष्य विना खाये सो जाते हैं और यही सब कृत्य देखकर कुछ लोग

सन्ताननिग्रहका प्रश्न खडा कर देते हैं। ऐसी अवस्थामें जनसंख्याकी वृद्धिकी बात कहना केवल दुर्वासनाको पूर्ण करनेका बहाना बनाना है। शास्त्रानुकूल विवाहके अनन्तर होनेवाली सन्तानको तो कोई रोकता ही नहीं है परन्तु शास्त्रोंकी आज्ञानुसार विधवाओंके सन्तानका होना अवश्य रुका हुआ है और जनसंख्याकी वृद्धिके बहानेसे इसीको वे लोग प्रचलित करना चाहते हैं। विधवाओंसे सन्तान उत्पन्न कराना महा निर्लज्जताका और महापापका काम है। ऐसे महापापका उपदेश देना स्वयं पतित होनेकी अपेक्षा भी महापाप है। स्वयं पतित होनेवाला मनुष्य नरक जाय वा न जाय किन्तु पतित होनेका उपदेश देनेवाला मनुष्य राजा वसुके समान अवश्य नरक जाता है। ऐसे मनुष्यके न तो कोई आचार विचार रहता है न मनुष्यपना रहता है और न वह किसी भी सांसारिक कार्यकी भी सिद्धि कर सकता है। इसलिए समझदार मनुष्योंको अपनी इस नरकके दुःख देनेवाली महा कुबुद्धिका त्याग कर देना चाहिए और धर्मकी वृद्धिके लिए वा मोक्षके समान उत्तम पदार्थोंकी खोजके लिए प्रयत्न करना चाहिए। धर्मकी वृद्धि करनेसे वा मोक्षकी वा मोक्षके कारणोंकी खोज करनेसे मोक्षकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। प्रत्येक भव्यजीवको पापोंसे डरते रहना चाहिए और ऐसा उपदेश कभी नहीं देना चाहिए जिससे पापोंकी वा महापापोंकी वृद्धि हो। प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मनुष्य पर्यायका यथार्थ फल है।

प्रश्न–यावत्साम्राज्यलोभोस्ति सिद्धिर्नृणां भवेन्नवा ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें जब तक किसी मनुष्यको साम्राज्यका लोभ विद्यमान है तब तक उसके आत्माकी सिद्धि होती है वा नहीं ?

उत्तर–साम्राज्यवादी भुवि यावदेव साम्राज्यलोभं भयदं त्यजेन्न ।
तावन्न सिद्धिर्न निजात्मचर्चा स्नेहोपि न स्याद्धि मिथो जनानाम् ॥ ३१८

ज्ञात्वेति भूपाः परमार्थहेतुं साम्राज्यलोभेन भवां च हानिम् ।
त्यक्त्वा यतन्तां यतिवर्गतुल्याः निःस्वार्थबुद्ध्याऽखिलविश्वसिद्ध्यै ॥

अर्थ—इस संसारमें साम्राज्यकी इच्छा करनेवाला मनुष्य जब तक महाभय उत्पन्न करनेवाले साम्राज्यके लोभका त्याग नहीं कर देता है तब तक न तो आत्माकी सिद्धि हो सकती है न आत्मतत्त्वकी चर्चा हो सकती है और न लोगोंमें परस्पर स्नेह बढ सकता है इसलिए समस्त राजा लोगोंको परमार्थकी सिद्धिके कारणोंको समझ लेना चाहिए तथा साम्राज्यके लोभसे होनेवाली हानियोंको समझकर साम्राज्यके लोभका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और फिर मुनियोंके समुदायके समान बिना अपने किसी स्वार्थके समस्त संसारके जीवोंका कल्याण करनेके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—साम्राज्यकी इच्छा करनेसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करने पडते हैं। साम्राज्यकी इच्छा करनेसे अनेक महायुद्ध करने पडते हैं। युद्धोंमें कितनी निर्दयतापूर्वक हिंसा होती है इस बातको सब लोग जानते हैं। इसके सिवाय साम्राज्यकी इच्छा करनेसे अनेक प्रकारके छल-कपट करने पडते हैं कूटनीतिका वर्ताव करना पडता है और न जाने कितने जीवोंका विध्वंस करना पडता है। जिसप्रकार कोई एक मनुष्य वा राजा साम्राज्यकी इच्छा करता है उसी प्रकार अन्य लोग वा अन्य राजा लोग भी साम्राज्यकी इच्छा करते हैं। ऐसी अवस्थामें वे सब परस्पर एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। उनमेंसे प्रत्येक मनुष्य वा राजा दूसरोंको मारना चाहता है, दूसरोंका देश छीनना चाहता है और दूसरोंकी प्रजाको लूटना चाहता है। इस प्रकार साम्राज्यके लोभसे हानि भी बहुत अधिक होती है। कभी-कभी ऐसे राजाकी प्रजा भी बहुत दुःखी हो जाती है और फिर वह अनेक प्रकारके उपद्रव मचाती रहती है तथा कभी-कभी वह प्रजा उस राजाको सिंहासनसे उतार देती है वा मार देती है। इन सब झंझटोंसे उसके परिणाम कभी निराकुल नहीं हो सकते इसलिए वह पुरुष न तो कभी धर्म सेवन कर सकता है

न अपने आचार-विचार श्रेष्ठ रख सकता है, न कभी आत्मतत्त्वकी चर्चा कर सकता है और न अन्य कोई भी पारमार्थिक कार्य कर सकता है। इस प्रकार वह आत्माका कल्याण कभी नहीं कर सकता। अतएव इन सब बातोंको समझ कर साम्राज्यकी लिप्साका त्याग कर देना चाहिए और मुनि लोग जिस प्रकार विना अपने किसी स्वार्थके समस्त संसारका कल्याण चाहते हैं उसी प्रकार राजा लोगोंको भी विना किसी स्वार्थके समस्त संसारके कल्याणकी इच्छा करनी चाहिए। मनुष्य पर्याय पाकरके अपने आत्माका कल्याण कर लेना राजा लोगोंका परम कर्तव्य है। यह राज्यका पाप नरकका कारण है। इसलिए इसका त्याग कर देना और जिनदीक्षा लेकर ध्यान तपश्चरण कर आत्माका कल्याण कर लेना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—भ्रमन्ति के भवारण्ये वद मे सिद्धये गुरो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब मेरे आत्माकी सिद्धिके लिए कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसाररूपी महा सागरमें कौन-कौन जीव परिभ्रमण करते हैं ?

उत्तर—धर्माधर्मं न ये ज्ञात्वा वस्तुयाथात्म्यलक्षणम् ।
स्वस्वधर्मप्रचारार्थं यतन्ते केवलं शठाः ॥४०५॥
तद्दोषात्ते भवारण्ये भ्रमन्त्याचन्द्रतारकम् ।
धर्माधर्मं ततो ज्ञात्वा गृह्णन्तु सिद्ध्ये सदा ॥४०६॥

अर्थ—जो अज्ञानी लोग धर्म अधर्मका स्वरूप तो जानते नहीं और न पदार्थोंका यथार्थ लक्षण जानते हैं। केवल अपने अपने धर्मके प्रचारके लिए ही प्रयत्न किया करते हैं। अतएव इसी महादोषके कारण वे लोग इस संसाररूपी महा सागरमें जबतक सूर्य तारा और चन्द्रमा विद्यमान रहते हैं तबतक

परिभ्रमण किया करते हैं। इसलिए भव्यजीवोंको सबसे पहले धर्म अधर्मका स्वरूप जानना चाहिए और फिर जो यथार्थ धर्म हो उसको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिए धारण करना चाहिए।

भावार्थ--इस संसारमें बहुतसे लोग ऐसे हैं जो न तो धर्मका स्वरूप समझते हैं, न अधर्मका स्वरूप समझते हैं और न जीव वा अजीव आदिके यथार्थ स्वरूपको ही समझते हैं तो भी वे अपने-अपने धर्मका प्रचार करनेके लिए प्रयत्न करते हैं। संसारमें अनेक धर्म हैं, कितने ही धर्म मांसभक्षणको उचित समझते हैं, कितने ही धर्म मद्यपानको उचित समझते हैं, कितने ही धर्म मधुसेवनको भी उचित समझते हैं, कितने ही धर्म पशुओंकी बलि देना उचित बतलाते हैं, कितने ही धर्म पशुओंका होम करना ठीक समझते हैं, कितने ही धर्म मूर्तिपूजाका निषेध करते हैं, कितने ही धर्म रात्रिभक्षणको ठीक समझते हैं, कितने ही धर्म पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते हैं, कितने ही धर्म पदार्थोंको सर्वथा अनित्य मानते हैं, कितने ही धर्म इस समस्त संसारका कारणभूत एक अमूर्त ईश्वरको ही मानते हैं, कोई पंचभूतको संसारका कारण मानते हैं, कोई धर्मविज्ञानको ही संसारका कारण मानता है, कोई इस संसारको मिथ्या समझता है, कोई धर्म ज्ञानादिक गुणोंके अभाव होनेको मोक्षकी प्राप्ति मानता है और कोई मरनेके बाद ही मोक्षकी प्राप्ति मान लेता है। कहां तक कहा जाय इस संसारमें अनेक धर्म हैं और वे सब परस्पर विरुद्ध हैं। यह निश्चित सिद्धांत है कि परस्पर विरुद्धता धारण करनेवाले अनेक धर्मोंमें कोई एक ही धर्म यथार्थ धर्म हो सकता है। सब धर्म यथार्थ धर्म नहीं हो सकते, परंतु सब धर्मवाले अपने-अपने धर्मका प्रचार करते हैं, यह केवल उनकी अज्ञानता है। यदि उन्हें धर्म अधर्मकी पहिचान होती तो वे अवश्य ही यथार्थ धर्मको ग्रहण कर उसीका प्रचार करते, परंतु वे अज्ञानी हैं उन्हें आत्मा तकका ज्ञान नहीं है। इसीलिए इस संसारमें सदाकाल परिभ्रमण किया करते हैं। अतएव सबसे पहले धर्म अधर्मका स्वरूप जानना चाहिए फिर अपने आत्माको सिद्ध करनेके लिए यथार्थ धर्मको ही ग्रहण करना चाहिए। यथार्थ

धर्म धारण करनेसे ही यह जीव संसारके दुःखोंसे छूट सकता है, अन्यथा जिस प्रकार अनादि कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करता आया है उसी प्रकार अनंतकाल तक इसी संसारमें परिभ्रमण करता रहेगा और महा दुःख भोगता रहेगा।

प्रश्न—कलौ काले नरा कीदृग्भवन्ति वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन्! अब मेरे लिए यह बतलानेकी कृपा कीजिए कि इस कलिकालमें मनुष्य कैसे होते हैं?

उत्तर—प्रायः काले कलौ जीवाः नृरूपं धारयन्त्यपि।
कुर्वन्ति पशुवत्कार्यं त्यक्त्वा लज्जाभयादिकम् ॥४०७॥
ततो मूढा भवाब्धौ ते निश्चयेन पतन्त्यधः।
मतिः स्याद् यादृशी येषां तेषां स्यात्तादृशी गतिः ॥४०८॥
अस्याः रीतेः प्रसिद्धाया विशेषो न मयोच्यते।
ज्ञात्वेति स्वमतिः शुद्धा कार्या स्याच्छर्मदा गतिः ॥४०९॥

अर्थ—इस कलिकालमें बहुतसे जीव मनुष्यपर्याय धारण करके भी लज्जा और भय आदिका त्याग कर प्रायः पशुओंके समान कार्य किया करते हैं तथा इसीलिए वे अज्ञानी जीव इस संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण करनेके लिए अवश्य ही नरक निगोद आदि नीची गतियोंमें पडते हैं। सो ठीक ही है संसारमें यह रीति प्रसिद्ध ही है कि जिन जीवोंकी जैसी बुद्धि होती है वैसी ही गति होती है। इसीलिए हमने यहांपर इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। यही समझकर भव्य जीवोंको अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेनी चाहिए जिससे कि आत्माका कल्याण करनेवाली शुभगति प्राप्त हो।

भावार्थ—इस संसारमें जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। जो मनुष्योंका सा कार्य करता है वह मनुष्योंका सा फल पाता है और जो पशुओंके से काम करता है वह पशुओंका सा फल पाता है। मनुष्य पर्याय पाकरके पापोंका त्याग कर आत्माका कल्याण कर लेना मनुष्योचित कार्य है तथा मनुष्य पर्याय पाकरके पाप कार्योंमें ही लगे रहना, अनेक प्रकारके छल कपटकर जीविका करना, सदाचारका कुछ ध्यान न रखना, अपना भेष-भूषा विढंगा बनाना, खडे-खडे पेशाब करना आदि सब कार्य पशुओंके समान कार्य कहलाते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो लज्जा और पापोंका भय मनुष्यका एक भूषण है। संसारमें ऐसे बहुतसे पाप हैं जो लज्जा और भयसे छूट जाते हैं। जहां लज्जा और भय छूट जाता है वहींपर अनेक प्रकारके पाप होते हैं। इस कलिकालमें प्रायः लज्जा और भय छूट गया है तथा स्वतंत्रताकी वायुमें बह जानेके कारण लोग सब निर्लज्ज हो गये हैं। इसीलिए न तो वे धर्म करते हैं, न माता-पिता आदि गुरुजनोंके सामने नम्रता धारण करते हैं और न आर्ष संस्कारोंका कुछ ध्यान रखते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वे लोग संसारमें पडे-पडे सदाकाल महा दुःख भोगा करते हैं। यही सब समझकर प्रत्येक मनुष्यको सबसे पहले अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेनी चाहिए। शुद्ध बुद्धिके होनेपर ही यह मनुष्य धार्मिक क्रियाओंको भी करता है, आर्ष संस्कारोंका भी ध्यान रखता है और नम्रता भी धारण करता है। इन्हीं सब कारणोंसे वह अपने आत्माका कल्याण कर लेता है और स्वर्गादिक उत्तम गतियोंको प्राप्त होता है।

प्रश्न—लोके ब्रह्मा शिवो विष्णुः कोस्तीह मे प्रभो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस संसारमें कौन ब्रह्मा है कौन महादेव है और कौन विष्णु है?

उत्तर–ब्रह्मास्ति चात्मैव शुभाशुभादेः कर्तृत्वयोगाद् भुवने प्रसिद्धः ।
तन्नाशकत्वात् समयं च लब्ध्वा स्वात्मैव चोक्तो हि महेश्वरोपि ॥४१०॥
स्वात्मात्मना चात्मनि चात्मने वै ह्यनन्यभक्त्या सुखदायकत्वात् ।
स्वात्मैव विष्णुः परमार्थदृष्ट्या ततश्च वंद्योपि स एव पूज्यः ॥४११॥

अर्थ–इस संसारमें यह आत्मा ही शुभाशुभ कर्मोंको करता है इसलिए यह आत्मा ही ब्रह्माके नामसे प्रसिद्ध है तथा समय पाकर अर्थात् काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा ही उन शुभाशुभ कर्मोंको नाश करता है इसलिए यह आत्मा ही महेश्वर वा महादेव कहलाता है । इसीप्रकार यही आत्मा अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके लिए अनन्य भक्ति धारण कर सुख देता है इसलिए परमार्थ दृष्टिसे यही आत्मा विष्णु कहलाता है । इसप्रकार यही आत्मा ब्रह्मा है, यही माहेश्वर है और यही विष्णु है इसलिए यह आत्मा ही वन्दनीय और पूज्य है ।

भावार्थ–इस संसारमें बहुतसे लोग ब्रह्माको इस सृष्टिका कर्ता मानते हैं, महादेवको इस सृष्टिका नाश करनेवाला वा प्रलय करनेवाला मानते हैं और विष्णुको उणकी रक्षा करनेवाला मानते हैं। परन्तु विचार करनेसे यह बात ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि उनकी सम्प्रदायके अनुसार ब्रह्मा विष्णु और महादेव तीनों ही ईश्वर हैं । इसलिए ईश्वर ही जगत्कर्ता हो जाता है, ईश्वर ही नाश करनेवाला हो जाता है और ईश्वर ही रक्षक बन जाता है। परन्तु यह बात बन नहीं सकती है। क्योंकि जो जिसको उत्पन्न करता है वह उसका नाश नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि ईश्वर निराकार हैं। जो निराकार होता है वह किसी भी क्रियाको नहीं कर सकता। क्रिया साकार पदार्थसे ही हो सकती है तथा जो कर्ता होता है उसको क्रिया अवश्य करनी पडती है। विना क्रियाके कोई भी कर्ता नहीं हो

सकता तथा निराकारके कोई क्रिया हो नहीं सकती। इसलिए निराकार ईश्वर कभी किसीका कर्ता नहीं हो सकता। जब इस सृष्टिका कर्ता ईश्वर नहीं फिर कौन है? यही बात इस श्लोकमें दिखलाते हैं। ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिसमें क्रिया हो सकती है वही इस सृष्टिका कर्ता हो सकता है। क्रिया दो पदार्थोंमें दिखाई पडती है एक जीवमें और दूसरे पुद्गलमें। जीवमें जो क्रिया दिखाई पडती है वह संसारी सशरीर जीवमें ही दिखाई पडती है। इसलिए इस सृष्टिका कर्ता एक तो सशरीर जीव है। सशरीर जीव ही पुत्र पौत्रादिक उत्पन्न करता है, खेती व्यापार करता है मकान वा भवन बनाता है, वस्त्र बनाता है और संसारकी आवश्कताके समस्त पदार्थ बनाता है। इसलिए यह सशरीर जीव ही इस सृष्टिका कर्ता कहा जाता है। इसके सिवाय शुभ अशुभ कर्मोंको यह सशरीर जीव ही करता है तथा यही जीव उनका फल भोगता है। इस जीवको जो शुभ अशुभ सामग्री प्राप्त होती है वह भी अपने किए हुए कर्मोंके उदयसे ही होती है। इसलिए भी यही सशरीर जीव इस सृष्टिका कर्ता माना जाता है। अतएव कहना चाहिए कि यह आत्मा ही सृष्टिका कर्ता होनेके कारण ब्रह्मा कहलाता है।

यहांपर इतनी बात और समझ लेनी चाहिए कि जिसप्रकार सक्रिय होनेके कारण सशरीर आत्मा कर्ता माना जाता है उसीप्रकार सक्रिय होनेके कारण पुद्गल भी सृष्टिका कर्ता माना जाता है। वायु पुद्गल है और वह अपने आप बहती है, विजली पुद्गल है वह भी अपने आप चलती है, शब्द पुद्गल है वह भी अपने आप चलता है। इससे सिद्ध होता है कि पुद्गलमें भी क्रिया है तथा जहां क्रिया होती है वहीं कर्तृत्व अवश्य होता है। यही कारण है कि विजली बहुत कार्य करती है, अग्नि और पानीसे उत्पन्न हुई भाफ बहुतसे कार्य करती है, और वायु भी बहुतसे कार्य करती है। सोनेकी खानिकी मिट्टी अपनी ही मिट्टीको सोनेका रूप दे देती है. चांदीकी खानिकी मिट्टी अपने ही परमाणुओंको चांदी

बना देती है, इसीप्रकार पर्वतोंकी मिट्टी वा पत्थरकी खानोंकी मिट्टी पत्थर बन जाती है। इसलिए उन सबका कर्तृत्व उस-उस स्थानकी मिट्टीको ही सिद्ध होता है। पानी मिट्टी सर्दी गर्मी सब पुद्गल है परन्तु उनसे घास वा अनेक प्रकारके कीडे मकोडे उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए उनका कर्तृत्व पानी मिट्टी सर्दी गर्मीको ही माना जाता है। इसप्रकार विचार करनेसे पुद्गलमें भी क्रिया सिद्ध होती है और इसीलिए उस पुद्गलमें भी कथंचित् सृष्टिकर्तृत्व माना जाता है।

जिसप्रकार यह सशरीर आत्मा क्रिया विशिष्ट होनेके कारण कर्ता कहलाता है और इसीलिए ब्रह्मा कहलाता है उसीप्रकार यही सशरीर आत्मा उस सृष्टिका नाश करनेवाला महादेव कहलाता है। क्योंकि जिन शुभ वा अशुभ कर्मोंको वह करता है उन्हीं कर्मोंको वह फल भोगकर नष्ट करता है। अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उद्यम करता हुआ यह आत्मा अपने ध्यान तपश्चरणके द्वारा उन समस्त कर्मोंको नाश कर देता है इसलिए वही आत्मा अपनी कर्मरूपी सृष्टिको नाश करनेके कारण महादेव कहलाता है। इसके सिवाय जिस मकानको बनाता है उसको गिराता भी है। जिस खेतीको बोता है उसको काटता भी है। जिस द्रव्यको कमाता है उसको खर्च भी करता है इन्हीं सब कारणोंसे वह सशरीर आत्मा महादेव कहलाता है। इसप्रकार यही आत्मा ब्रह्मा सिद्ध होता है यही आत्मा महादेव सिद्ध होता है और यही आत्मा विष्णु सिद्ध होता है। क्योंकि जिसप्रकार विष्णु इस सृष्टिको सुख देनेवाला माना जाता है उसीप्रकार यह आत्मा भी अपने आत्माके सुखके लिए सदाकाल प्रयत्न करता रहता है। वह आत्मा अपने आत्माको कभी दुखी नहीं देखना चाहता। इसके सिवाय यह आत्मा अपने आत्माको मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिए वा मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त करनेके लिए अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें प्रयत्न करता रहता है और प्रयत्न करते करते उस अनन्त सुखको प्राप्त कर लेता है इसलिए भी यह आत्मा अपने आत्माको सुख देनेके कारण विष्णु कहलाता है।

अतएव परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा ही ब्रह्मा है, यही आत्मा विष्णु है और यही आत्मा महादेव है। इसलिए यह आत्मा ही वंदनीय और पूज्य माना जाता है।

प्रश्न–उपादेयो भवेत्स्वामिन् को हेयो वद मे भुवि ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब कृपाकर मेरे लिए यह बतलाइए कि इस संसारमें उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य क्या है और हेय अर्थात् त्याग करने योग्य क्या है ?

उत्तर–दृग्बोधचारित्रमयो ममात्मा ध्यानादिगम्यो व्यवहारतः सः।
चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थतश्चोपादेय एवास्ति ततः समन्तात् ॥४१२॥
तदन्यएवास्ति ततः पदार्थः सर्वोऽपि हेयश्चिदचित्स्वभावी।
स्वानन्दसाम्राज्यपदे स्थितस्य यथास्ति हेयश्च परप्रदेशः ॥४१३॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुशोभित होनेवाला यह मेरा आत्मा ही मेरे लिए उपादेय है। यह रत्नत्रयसे सुशोभित होनेवाला मेरा आत्मा ध्यानादिकके द्वारा जाना जाता है और व्यवहार दृष्टिसे चैतन्य स्वरूप है। ऐसा यह मेरा आत्मा परमार्थ दृष्टिसे सब ओरसे उपादेय है तथा जिसप्रकार अपने आत्मजन्य आनन्दके साम्राज्य सिंहासनपर विराजमान होनेवाले आत्माके लिए अन्य समस्त प्रदेश हेय गिने जाते हैं उसी प्रकार उस रत्नत्रयरूप मेरे आत्मासे भिन्न जितने चैतन्य वा जडरूप पदार्थ हैं वे सब हेय गिने जाते हैं।

भावार्थ–इस आत्माको यथार्थ अनन्त सुखकी प्राप्ति मोक्ष अवस्थामें होती है। मोक्ष अवस्थामें केवल रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही रहता है। रत्नत्रय स्वरूप आत्माके सिवाय जितने क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, मद, मत्सर, मोह, राग, द्वेष आदि विकार हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर नष्ट हो

जाता है, इसके सिवाय संसारके समस्त अन्य पदार्थ इस संसारमें ही रह जाते हैं। शुद्ध आत्माके साथ कोई नहीं रहता, इसलिए रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही उपादेय है और शेष चैतन्य स्वरूप वा अचेतन जितने पदार्थ हैं वे सब हेय वा त्याग करने योग्य हैं। यही समझकर प्रत्येक आत्माको अपने आत्मामें रत्नत्रय प्रगट करनेका उपाय करना चाहिए। सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए, फिर सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिए और फिर राग, द्वेष, मोह आदि समस्त विकारोंका त्याग कर पूर्ण सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्चारित्रकी वृद्धि करते-करते जब पूर्ण चारित्र हो जाता है उसी समय इस आत्माको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है उसी समय यह आत्मा समस्त कर्मोंसे रहित होकर अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तथा ऐसा शुद्ध आत्मा ही उपादेय कहलाता है। ऐसे रत्नत्रय स्वरूप आत्माके सिवाय अन्य जितने भी पदार्थ हैं सब हेय वा त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि मुक्तावस्थामें सब आत्मासे भिन्न हो जाते हैं इसलिए ऐसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। अन्य सबको छोड देनेका प्रयत्न करना चाहिए। यही संसारमें सार है और सब असार है।

आगे ग्रन्थकर्ता आचार्य इस हेयोपादेयके स्वरूपको कहनेवाले इस अध्यायके निरूपण करनेका अभिप्राय बतलाते हैं।

एवमाचार्यवर्येण धीमता कुंथुसिंधुना।
नृणां चातुर्यवृद्धयै च स्वपरसिद्धये तथा ॥४१४॥
यथावत्सुखदं प्रोक्तं हेयोपादेयलक्षणम।
युष्मभ्यं रोचते यद् यत कुरुत तद्धि तत्सदा ॥४१५॥

अर्थ—इसप्रकार महा विद्वान् आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरने मनुष्योंका चातुर्य बढानेके लिए, अपने

आत्माका कल्याण करनेके लिए और अन्य जीवोंका कल्याण करनेके लिए यह सुख देनेवाला और यथार्थ स्वरूपको कहनेवाला यह हेयोपादेय तत्त्वको निरूपण करनेवाला चौथा अध्याय निरूपण किया है। इस अध्यायमें सब हेयोपादेय तत्त्वोंका स्वरूप बतलाया है। दुःख देनेवाले वा सुख देनेवाले पदार्थोंका निरूपण किया है तथा मनुष्योंके कर्त्तव्य बतलाए हैं। इनमेंसे जिसको जो अच्छा लगे जिससे आत्माका कल्याण हो वही काम सदाकाल करते रहना चाहिए।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे हेयोपादेयस्वरूपवर्णनो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु नामके महाग्रन्थकी 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटीकामें हेयोपादेयके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

पांचवां अध्याय।

शांतिका उपदेश

शांतिप्रदं भ्रान्तिहरं च नत्वा श्रीशान्तिनाथं क्रियतेऽथ शान्त्यै।
श्रीसूरिणा शान्त्युपदेश एव श्रीकुंथुनाम्नात्मरतेन नृभ्यः ॥४१६॥

अर्थ—संसारके समस्त जीवोंको शांति प्रदान करनेवाले और भ्रांतिको हरण करनेवाले ऐसे भगवान शांतिनाथको नमस्कार करके संसारभरमें शांति प्राप्त होनेकी कामनासे अपने आत्मामें लीन रहनेवाले आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर महाराज मनुष्योंके लिए शांतिका उपदेश देते हैं।

प्रश्न—किमर्थं क्रियते स्वामिन् वद दानार्चनादिकम् ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें पात्रदान वा जिनपूजन आदि धार्मिक कार्य किसलिए किए जाते हैं।

उत्तर—शान्त्यर्थमेवं हि जपस्तपश्च व्रतोपवासोपि समो दमादिः।
स्वाध्यायमौनार्चनदानधर्मः सुखप्रदो ध्यानविधिः पवित्रः ॥४१७॥
क्षमाकृपाधैर्यदयाप्रचारः स्वर्मोक्षदा स्वात्ममतिः स्वचर्चा।
तत्त्वोपदेशो विकृते विरागः स्वास्तिक्यबुद्धिः परलोकवार्ता ॥४१८॥
बिम्बप्रतिष्ठा गुरुदेवसेवासन्मानसत्कारनतिः स्तुतिश्च।
निजात्मशुद्धिः क्रियते च भक्तिः ज्ञात्वेति नित्यं यततां तदर्थम् ।४१९

अर्थ—इस संसारमें जो जप वा तपश्चरण किया जाता है, अथवा व्रत उपवास किये जाते हैं समता धारण की जाती है, वा इन्द्रिय दमन किया जाता है, स्वाध्याय किया जाता है, मौन धारण किया जाता है, भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा की जाती है, पात्रदान दिया जाता है वा धर्मसाधन किया जाता है, सुख देनेवाला पवित्र ध्यान किया जाता है, क्षमा, कृपा, धीरता, दया आदि आत्माके गुणोंका प्रचार किया जाता है, स्वर्गमोक्ष देनेवाली अपने आत्माकी बुद्धि अपने आत्मामें लीन की जाती है वा आत्मतत्त्वकी चर्चा की जाती, है तत्त्वोंका उपदेश दिया जाता है, राग द्वेष आदि विकारोंका त्याग किया जाता है, अपने आत्मामें आस्तिक्य बुद्धि रक्खी जाती है, परलोककी चर्चा की जाती है, बिम्बप्रतिष्ठा की जाती है वा निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा, सन्मान आदर सत्कार किया जाता है उनको नमस्कार किया

जाता है वा उनकी स्तुति की जाती है, अपने आत्माकी शुद्धि की जाती है वा भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति की जाती है वह सब अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए की जाती है। यही समझ कर शांति प्राप्त करनेके लिए जप तप आदि करनेके लिए सदा काल प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भावार्थ—जप करनेमें आत्माको निराकुलताकी प्राप्ति होती है, तथा निराकुलता ही शान्ति है। ध्यान और तपश्चरण करनेमें भी संसारके सब झंझट छूट जाते हैं और आत्मा निराकुल हो जाता है। व्रत करनेके दिन सांसारिक सब व्यापारोंका त्याग कर भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंमें मन लगाया जाता है वा स्वाध्यायमें मन लगाया जाता है, इसलिए व्रत करनेमें भी शांति प्राप्ति होती है। उपवासके दिन संसारके समस्त आरम्भ वा व्यापारका त्याग कर जिनालयमें निवास किया जाता है। वहांपर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शांतमुद्राके दर्शन करनेसे ही परम शांति प्राप्त होती है। समता धारण करना शांतिका विशेष कारण है क्योंकि आकुलता राग द्वेषके कार्योंमें होती है तथा समतामें राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर दिया जाता है, इसलिए समतामें सर्वथा शांति प्राप्त होती है। इन्द्रिय दमनमें भी परम शांति प्राप्त होती है। क्योंकि लालसा ही दुःखका कारण है और इन्द्रिय दमनमें लालसाका त्याग हो जाता है। इसलिए इन्द्रिय दमन करनेसे शांति अवश्य प्राप्त होती है। स्वाध्याय करनेमें मन वचन काय तीनों ही तत्त्वचर्चामें लग जाते हैं वा आत्माके स्वरूपमें लग जाते हैं। इसलिए वहां भी शांतिकी प्राप्ति अवश्य होती है। मान धारण करनेमें भी बहुत सी आकुलता मिट जाती है और शांति प्राप्त हो जाती है। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजन करनेमें सबसे अधिक निराकुलता वा आनन्द प्राप्त होता है इसलिए उतनी देर तक उत्तम शांति प्राप्त होती है। पात्र दान देनेमें निर्ग्रंथ गुरुके दर्शन होते हैं उनके दर्शनसे तथा उनकी सेवासे परम आनन्द और शांति प्राप्त होती है। धर्मसाधनमें भी सब आकुलताएं नष्ट

होकर शांति प्राप्त होती है। ध्यानमें आत्मजन्य आनन्द प्राप्त होता है और इसीलिए परम शांति प्राप्त होती है। क्षमा कृपा दया, धीरता, वीरता आदि आत्माके गुणोंमें सदा शांति प्राप्त होती है। आत्मामें लीन होनेसे मोक्ष प्राप्त होने तककी शांति प्राप्त होती है। आत्मतत्त्वकी चर्चा वा तत्त्वोंके उपदेश देनेमें वा परलोककी चर्चा करनेमें आत्माके स्वरूपका बोध होता है और आत्माके स्वरूपका बोध होनेमें परम शांति प्राप्त होती है। राग द्वेष आदि आत्माके विकारोंका त्याग कर देनेसे आत्मा आत्माके ही गुणोंमें लीन होता है इसलिए यह भी परम शांतिका कारण है। बिम्बप्रतिष्ठा वेदी प्रतिष्ठा करानेमें वा तेरह द्वीप विधान आदि अनेक प्रकारके विधान करानेमें हजारों मनुष्योंके आत्माओंमें आनन्द और शांति प्राप्त होती है तथा महापुण्य प्राप्त होता है। भगवान् वीतराग निर्ग्रंथ गुरु परम शांतिकी मूर्ति हैं इसलिए उनकी सेवा-भक्ति करनेसे उनको नमस्कार करनेसे वा उनकी स्तुति करनेसे परम शांति प्राप्त होती है। पहले अनेक राजा महाराजा वीतराग गुरुओंके दर्शन करने मात्रसे संसारसे विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर लेते थे। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इन सब गुणोंको धारण कर अपने आत्मामें शांति प्राप्त कर लेनी चाहिए और फिर उस परम शांतिके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर मोक्षकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

प्रश्न—कुर्वतोपि तपोध्यानं न स्याच्छान्तिः स कीदृशः ?

अर्थ—जो पुरुष ध्यान और तपश्चरण करता रहता है फिर भी उसको शांतिकी प्राप्ति नहीं होती, उस मनुष्यको कैसा समझना चाहिए ?

उत्तर—व्रतोपवासं च तपो जपं च स्वाध्यायमौनार्चनदानधर्मम् ।
पूजां प्रतिष्ठां विविधां सुयात्रां तत्त्वप्रचारं च परोपकारम् ॥४२०॥

नित्यं प्रकुर्वन्नपि पुण्यकार्यं यदि स्वचित्ते न दधाति शान्तिम् ।
स्यात्तर्हि तस्येति वृथेव जन्म व्यर्थं यथान्नं लवणेन हीनम् ॥४२१॥

अर्थ–जिस प्रकार विना लवणके अन्न व्यर्थसा जान पडता है उसी प्रकार जो पुरुष व्रत वा उपवास करता है, तपश्चरण वा जप करता है, स्वाध्याय करता है, मौन धारण करता है, जिनपूजन करता है, दान करता है, धर्म धारण करता है, पूजा करता है, प्रतिष्ठा करता है, अनेक प्रकारकी यात्राएं करता है, तत्त्वोंका प्रचार करता है और परोपकार करता है, इसप्रकार जो पुरुष प्रति दिन पुण्यकार्य करता रहता है, फिर भी जिसके हृदयमें शांति प्राप्त नहीं होती, समझना चाहिए कि उसका जन्म ही व्यर्थ है।

भावार्थ–ऊपरके श्लोकमें यह बात अच्छी तरह बताई जा चुकी है कि व्रत उपवास आदि पुण्य कार्य करनेसे आत्माको अत्यंत शांति प्राप्ति होती है तथापि जो पुरुष इन सब पुण्य कार्योंको करता हुआ भी अपने हृदयमें शांति धारण नहीं करता वह पुरुष वास्तवमें इन पुण्य कार्योंको नहीं करता, अथवा उसका मन वचन काय इन पुण्यकार्योंमें नहीं लगता है। क्योंकि इन सब पुण्यकार्योंमें मनके लगनेपर शांतिका प्राप्त होना अनिवार्य है। यदि शांति प्राप्त नहीं होती है तो समझना चाहिए कि उसका मन ही उसमें नहीं लगता है। विना मन लगाए कोई काम सफल नहीं हो सकता इसीलिए विना मन लगाए ऐसे पुण्य कार्योंको करना अपने जन्मको व्यर्थ खोना है अतएव अपनी शक्तिके अनुसार जितने भी पुण्यकार्य किए जांय उन सबमें मन वचन काय तीनों ही लगाना चाहिए, क्योंकि जहांपर मन वचन काय तीनों ही किसी पुण्यकार्यमें लग जाते हैं वहांपर निराकुलता हो जाती है और निराकुलता होनेसे शांति प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न–पंचाक्षरोघहेतुः को वद मे भगवन् प्रभो ?

अर्थ—हे भगवन् ! हे प्रभो ! अब कृपा कर मेरे लिए पांचों इन्द्रियोंके निरोध करनेका हेतु बतलाइए ?

उत्तर—शान्त्यर्थमेव क्रियते प्रमोदात् पंचाक्षरोधः सुखदः सदैव ।
मानापमानोपि विमुच्यते च भयंकरः क्रोधचतुष्टयादिः ॥४२२॥
एतत्प्रकुर्वन्नपि नैव शान्तिश्चेत्तस्य लोके विफलः प्रयत्नः ।
सुनीतिहीनस्य यथा नृपस्य ज्ञात्वेति शान्तिर्हृदि धारणीया ॥४२३॥

अर्थ—इस संसारमें सदा काल जो सुख देनेवाला पांचों इन्द्रियोंका निरोध किया जाता है वह आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है और हर्षपूर्वक किया जाता है। इसके सिवाय मान अपमानका त्याग कर दिया जाता है और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों भयंकर कषायोंका त्याग कर दिया जाता है। यदि इन सब कामोंको करते हुए भी शांति प्राप्त न हो तो जिसप्रकार श्रेष्ठ नीति को पालन न करनेवाले राजाका सब प्रयत्न निष्फल हो जाता है उसी प्रकार उन इन्द्रियोंको निरोध करनेवालेका भी सब प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए।

भावार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां कहलाती हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श करना है, रसना इन्द्रियका विषय रस ग्रहण करना है, घ्राण इन्द्रियका विषय सूंघना है, नेत्र इन्द्रियका विषय देखना है और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द सुनना है। इनके सिवाय मन भी इन्द्रिय कहलाता है और वह सब इन्द्रियोंके विषय ग्रहण करनेमें सहायक होता है तथा समस्त तत्त्वोंको ग्रहण करने रूप अपने स्वतंत्र विषयको ग्रहण करता है। ये सब इन्द्रियां जब अपने-अपने विषयोंमें लीन रहती हैं तब यह आत्मा अपने स्वरूपको भूल कर इन्हींमें मोहित हो जाता है तथा इन्हीं इंद्रियोंके

विषयोंको संग्रह करनेमें लगा रहता है। उस समय वह कषायोंकी भी तीव्रता धारण करता है और मान अपमानको भी सहन करता है। यह सब मोहनीय कर्मके उदयका तीव्र फल समझना चाहिए। जब यह आत्मा उस मोहनीय कर्मको शान्त कर लेता है वा उसको नष्ट कर देता है तब यह आत्मा अपने स्वरूपको पहचानने लगता है। अपने आत्माके स्वरूपको पहचानकर यह आत्मा उन इन्द्रियोंको अपने आत्माके कल्याणका शत्रु समझने लगता है और फिर धीरे-धीरे प्रयत्न करता हुआ उन इन्द्रियोंके विषयोंको रोकता है। जब वह इन्द्रियोंके विषयोंका निरोध कर लेता है तब उसके कषायोंकी तीव्रता भी हट जाती है और मान अपमानका ध्यान भी हट जाता है। उस समय उस आत्माको पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती है। शांतिकी वाधक कषायोंकी तीव्रता है वह कषायोंकी तीव्रता इन्द्रियोंके निरोध करनेसे अपने आप हट जाती है और आत्माको शांति प्राप्त हो जाती है। यदि इन्द्रियोंका निरोध करते हुए भी शांति प्राप्त नहीं होती तो समझना चाहिए कि उस पुरुषकी लालसाएं ही नहीं घटी हैं। लालसाओंके न घटनेसे ही शांति प्राप्त नहीं होती। अतएव जो पुरुष इन्द्रियोंका निरोध करता हुआ भी लालसाओंको नहीं घटाता और शांति धारण नहीं करता उसका सब प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपनी लालसाएं घटाकर ही इंद्रियोंका निरोध करना चाहिए जिससे कि आत्मामें पूर्ण शांति प्राप्त हो।

प्रश्न—स्नेहादित्यागतः स्वामिन् को लाभो वद मे भुवि ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें स्नेहादिकका त्याग करनेसे क्या-क्या लाभ होता है?

उत्तर—स्नेहप्रसंगादिविवर्जनेन प्रीतिप्रमोदादिविसर्जनेन।
द्वेषप्रदोषादिविमोचनेन निजान्यजन्तोर्ममताद्यभावात् ॥४२४॥

निजात्मरूपा सुखदातिशुद्धा सर्वात्मदेशे शशिनि प्रभेव ।
शान्तिर्भवेत्सर्वविकारहर्त्री ज्ञात्वेति कार्यः कथितः प्रयोगः ॥४२५॥

अर्थ—जिसप्रकार बादलोंके हट जानेसे समस्त संतापोंको दूर करनेवाली चन्द्रमाकी चांदनी फैल कर चन्द्रमाकी शोभा बढाती है तथा संसारमें शांति उत्पन्न करती है उसीप्रकार समस्त स्नेहका त्याग कर देनेसे, प्रीति वा प्रमोदका त्याग कर देनेसे, राग द्वेष आदि दोषोंका त्याग कर देनेसे तथा अपने कुटुम्बी लोगोंसे तथा अन्य समस्त जीवोंसे ममत्वका त्याग कर देनेसे समस्त विकारोंको दूर करनेवाली, अत्यन्त शुद्ध महासुख देनेवाली और अपने आत्मस्वरूप शांति आत्माके समस्त प्रदेशोंमें उत्पन्न हो जाती है। अतएव समस्त भव्यजीवोंको अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए राग द्वेष मोह स्नेह आदि सब विकारोंका त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें राग द्वेष और मोह ये तीनों ही विकार आकुलता और दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। राग वा स्नेह करनेसे ये लोग कितने व्याकुल होते हैं यह बात अनुभव करनेसे स्वयं मालूम हो जाती है। जब किसीका कोई पुत्र रोगी हो जाता है तब स्नेहके कारण माता पिता कितने व्याकुल होते हैं तथा उसके मर जानेपर कितने व्याकुल होते हैं यह बात किसीसे छिपी हुई नहीं है। इसीप्रकार जब अपना कोई शत्रु अपनी हानि पहुंचाना चाहता है तब हम लोग कितने व्याकुल होते हैं तथा उससे बचनेके लिए और उसको नीचा दिखानेके लिए कितना प्रयत्न करते हैं। इन सब कामोंके लिए हजारों रुपये खर्च कर देते हैं तथा जन्मभर दुःख भोगना पडता है। ऐसी व्याकुलता और दुःखमें कभी शांति उत्पन्न नहीं हो सकती। स्नेह और मोहके कारण ज्यों-ज्यों लालसाएं बढती जाती हैं त्यों-त्यों व्याकुलता बढती जाती है तथा व्याकुलतामें दुःख होता ही है। इसलिए शांति प्राप्त करनेके लिए स्नेह राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंका त्याग कर देना चाहिए। इन विकारोंका त्याग करनेसे व्याकु-

लता नष्ट हो जाती है और व्याकुलताके नष्ट होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त हो जाती है। उस परम शांतिके प्राप्त होनेसे अन्य सब विकार नष्ट हो जाते हैं और फिर यह आत्मा अपने आत्मस्वभावके द्वारा समस्त कर्मोंको नष्ट कर अविनश्वर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही आत्माके कल्याणका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

प्रश्न–आलोचनादिकानां कोऽभिप्रायो वद मे प्रभो ?

अर्थ–हे प्रभो ! अब मेरे लिए कृपाकर यह बतलाइए कि आलोचना आदि करनेका क्या अभिप्राय है ? आलोचनादिक किसलिए की जाती है ?

उत्तर–स्याद् यस्य दोषश्च यथा प्रमादात्तथैव भक्त्या सुगुरोः समक्षम् ।
आलोचनादिः क्रियते च भक्तिः मनोवचःकायकृतादिभेदैः ॥४२६॥
श्रद्धान्वितैः कैतवहीनबुद्ध्या शान्त्यर्थमेवं सुखदं विधानम् ।
तद्धीनयोगोपि वृथेति निंद्यो निर्जीवदेहस्य सुगंधलेपः ॥४२७॥

अर्थ–जिस मनुष्यके जिस प्रमादके कारण जैसा दोष लगा हो उसको उसी प्रकार भक्तिपूर्वक गुरुके सामने कहना तथा मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे गुरुकी भक्तिपूर्वक आलोचना करना आलोचना कहलाती है। यह आलोचना श्रद्धापूर्वक और विना किसी छल-कपटके की जाती है तथा यह सुख देनेवाली विधि केवल आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए की जाती है। जिस आलोचनामें श्रद्धा न हो वा छल-कपट पूर्वक की गई हो वह आलोचना व्यर्थ वा निन्दनीय कहलाती है और जीवरहित मृतक शरीरपर सुगंधित लेपके समान मानी जाती है।

भावार्थ—चार विकथा, चार कषाय, पांचों इन्द्रियोंके विषय, स्नेह और निद्रा ये पंद्रह प्रमाद कह-

लाते हैं। उन्हींके परस्पर गुणा करनेसे अस्सी भेद हो जाते हैं। इन्हीं प्रमादोंके कारण दोष लगा करते हैं। जिस जीवको जिस प्रमादके कारण दोष लगा हो वा मनसे, वचनसे, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे दोष लगा हो उस दोषको ज्योंका त्यों गुरुके समीप कहना चाहिए। दोष करते समय किसी प्रकारका छल-कपट नहीं रहना चाहिए। गुरुके ऊपर तथा आलोचनामें श्रद्धा होनी चाहिए और गुरुकी भक्तिपूर्वक आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करनेसे मन, वचन, कायकी सरलता प्रगट होती है। मन वचन कायकी सरलता प्रगट होनेसे तथा उस दोषके लिए बार-बार पश्चात्ताप करनेसे और आगामी कालके लिए उस दोषसे सावधान रहनेसे और गुरुकी आज्ञानुसार उसका प्रायश्चित्त लेनेसे वह दोष शांत हो जाता है। उस दोषके शान्त होनेसे आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होती है और आत्मामें निर्मलता उत्पन्न होनेसे आत्मामें शांति प्रगट होती है। इस प्रकार आलोचनाका फल आत्मामें शांति प्रगट होना है। शास्त्रोंमें आलोचनाके दश दोष बतलाए हैं। आलोचना करते समय उन दश दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिए। जो लोग आलोचना करते समय न तो दश दोषोंका त्याग करते हैं, न छल कपटका त्याग करते हैं, न गुरुपर वा आलोचनापर श्रद्धा रखते हैं और न गुरुकी भक्ति करते हैं उनकी आलोचना करना व्यर्थ है। जिसप्रकार मृतक शरीरपर किया हुआ सुगंधित लेप प्रशंसनीय नहीं गिना जाता। उसी प्रकार दोष सहित की हुई आलोचना प्रशंसनीय नहीं गिनी जाती। अतएव चाहे गृहस्थ व्रती हो, चाहे साधु हो, चाहे त्यागी ब्रह्मचारी हो सबको अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए अपने-अपने दोषोंकी निर्दोष आलोचना करनी चाहिए। कर्मोंके भारसे हलका होनेका यह विशेष साधन है।

प्रश्न—शोकभयमदत्यागात्कस्य लाभो भवेद्गुरु ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाए कि शोक, भय, जुगुप्सा, मद आदिके त्याग करनेसे किस-किसको लाभ होता है?

उत्तर–शोकभयस्पृहाद्वेषक्लेशकालुष्यनाशतः ।
हास्यारतिरतित्यागाज्जुगुप्सामानमोचनात् ॥४२८॥
सर्वजीवे भवेच्छान्तिर्नृत्वेपि मोक्षसौख्यदा ।
तद्विना भाति न त्यागो यथा वीरः क्षमां विना ॥ ४२९ ॥

अर्थ–शोक, भय, स्पृहा, द्वेष, क्लेश, कलुषता, हास्य, अरति, रति, जुगुप्सा, मान आदि समस्त विकारोंके त्याग करनेसे समस्त जीवोंको शांति प्राप्त होती है तथा मनुष्य पर्यायमें मोक्षका अनन्त सुख देनेवाली शांति प्राप्त होती है। जिसप्रकार क्षमा गुणके विना वीर पुरुष शोभायमान नहीं होता उसीप्रकार विना शांतिके इन सब विकारोंका त्याग भी शोभायमान नहीं होता।

भावार्थ–शोक, भय, जुगुप्सा आदि विकारोंके कारण सब जीवोंको दुःख पहुंचता है। इसका कारण यह है कि संसारके समस्त जीव राग द्वेष आदि विकारोंसे भरपूर हो रहे हैं। यदि किसी एक जीवको शोक होता है और उससे वह महादुखी होता है तो उसको देखकर वा सुनकर अन्य जीव भी अवश्य दुखी होते हैं। जो जीव राग द्वेष आदि विकारोंसे रहित होते हैं उन्हींको दुःख नहीं होता। शेष सब जीवोंको दुःख होता है। यदि इन विकारोंका त्याग कर दिया जाय और यह मनुष्य सर्वथा निर्विकार हो जाय तो उस जीवको भी अपूर्व शांति प्राप्त होती है और उसको शांति प्राप्त होनेसे अन्य समस्त जीवोंको शांति प्राप्त होती है। मुनिराज निर्विकार होते हैं उनके शोक, भय, गुजुप्सा आदि कोई दोष नहीं होते इसलिए उनके दर्शन करने मात्रसे सब जीवोंको शांति प्राप्त होती है। वे मुनि स्वयं परम शांत होते हैं इसीलिए उनके दर्शनसे समस्त जीवोंको शांति प्राप्त होती है तथा वह शांति यहां तक बढती है कि सिंह व्याघ्र आदि क्रूर जीव भी उन परम शांत मुनियोंके सामने पहुंचकर अपनी

क्रूरता छोड देते हैं और शांति धारण कर लेते हैं। यदि यह जीव मनुष्य पर्याय पाकरके तथा सज्जातित्व उच्च गोत्र आदि पाकरके इन सब विकारोंका त्याग कर देता है तो उसको मोक्ष सुखकी प्राप्ति होकर सदाकालके लिए अनन्त शांति प्राप्त हो जाती है तथा ऐसे मुक्त जीवोंकी भक्ति कर तथा अनुकरण कर अनेक जीव विकारोंका त्याग कर और मोक्ष प्राप्त कर परम शांत बन जाते हैं। इसप्रकार इन विकारोंके त्यागका फल शांति है। जो पुरुष विकारोंका तो त्याग कर देते हैं परन्तु जिनके हृदयमें विकारोंका त्याग करने पर भी शांति प्राप्त नहीं होती ऐसे जीवोंका वह विकारोंका त्याग सुशोभित नहीं होता अथवा यों कहना चाहिए कि उनका वह विकारोंका त्याग मिथ्या है वा मायापूर्ण है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है कि वह अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए इन सब विकारोंका त्याग करे और परम शांति प्राप्त कर अपने आत्माका कल्याण करे।

प्रश्न—समाधिसाधनं स्वामिन् किमर्थं क्रियते वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइये कि समाधिमरणका साधन किस लिए किया जाता है ?

उत्तर—स्निग्धान्नं त्यज्यते चादौ पानादिः सेव्यते क्रमात् ।
स्निग्धपानमपि त्यक्त्वा खरपानं हि सेव्यते ॥४३०॥
खरपानमपि त्यक्त्वोपवासः क्रियतेऽमलः ।
इत्यादि साधनं शान्त्यै केवलं क्रियते सदा ॥४३१॥
तद्विना लंघनं मन्ये दरिद्राणां क्रियासमः ।
निष्फलो दुःखदो चैवं प्रोक्तो विश्वहिताय हि ॥४३२॥

अर्थ—समाधि मरण धारण करनेके लिए सबसे पहले कषायोंका त्याग किया जाता है। तदनन्तर कायका त्याग करनेके लिए सबसे पहले सचिक्कण अन्नका त्याग किया जाता है और सचिक्कण पान वा दूधका सेवन किया जाता है। तदनन्तर दूधका भी त्याग करके केवल गर्म जलका सेवन किया जाता है, और फिर गर्म जलका भी त्याग कर निर्मल और निर्दोष उपवास किया जाता है। यह सब समाधिमरणका साधन केवल आत्मामें ही शांति प्राप्त करनेके लिए हो किया जाता है! यदि समाधिमरणका यह सब साधन करते हुए भी आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो फिर दरिद्र पुरुषोंके लंघनके समान उस सब साधनको लंघन ही समझना चाहिए। जिसप्रकार दरिद्रोंका लंघन निष्फल और दुःख देनेवाला होता है उसीप्रकार विना शांतिके उस समाधि मरणके साधनको निष्फल और दुःख देनेवाला लंघन समझना चाहिए। ऐसा आचार्य कुंथुसागरने समस्त संसारके हितके लिए निरूपण किया है।

भावार्थ—ध्यान पूर्वक शरीरका त्याग करनेको समाधि मरण कहते हैं। यह समाधिमरण शरीरके अन्त होनेके पहले धारण किया जाता है। जब श्रावक वा साधु यह समझ लेते हैं कि अब यह शरीर टिक नहीं सकता तब वे समाधिमरण धारण करनेका प्रयत्न करते हैं। यदि कोई ऐसा समय आ जाता है कि जिसमें प्राण जानेका सन्देह रहता है तो उस समय वे समयकी मर्यादा नियत कर आहारादिकका त्याग करते हैं। जिसप्रकार किसी घरमें अग्नि लग जानेपर उस अग्निको बुझानेका प्रयत्न किया जाता है और जहांतक बनता है वह अग्नि बुझा दी जाती है। यदि वह अग्नि बुझती दिखाई नहीं देती तो फिर उसमेंसे बहुमूल्य पदार्थ निकाल लिए जाते हैं और उस घरको छोड दिया जाता है उसीप्रकार जब श्रावक वा साधु इस शरीरमें कुछ उपद्रव देखते हैं, कोई रोग देखते हैं तो उसके शमन करनेका उपाय करते हैं। रोगोंको शमन करनेके लिए श्रावक लोग प्रयत्न करते हैं और साधु लोग विशेष प्रयत्न नहीं करते। वे शरीरका ममत्व भी छोड देते हैं, इसलिए वे उसको हेय ही समझते

हैं। श्रावक लोग जब यह निश्चय कर लेते हैं वा साधु लोगोंको भी जब यह निश्चय हो जाता है कि अब यह शरीर टिक नहीं सकता तब वे अपने रत्नत्रय आदि निधियोंको लेकर उस शरीरका त्याग कर देते हैं।

समाधिमरण धारण करनेकी लालसा पहलेसे ही होनी चाहिए और पहलेसे ही इसके लिए विशेष प्रयत्न और अभ्यास करना चाहिए। विना अभ्यास किए समाधिमरण धारण करना कठिन हो जाता है। इसके लिए पहलेसे ही आहार और कषायादिकके त्याग करनेका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अन्त समयमें आहार और कषायादिकका त्याग कर देना ही समाधिमरण है। समाधिमरणमें राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति आदि सब विकारोंका त्यागकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंमें वा उनके गुणोंमें मन लगाना चाहिए अथवा शास्त्ररूपी अमृतका पानकर अपने मनको पवित्र करना चाहिए। फिर अनुक्रमसे आहारका त्याग कर दूध रखना चाहिए, और गर्म पानीका भी त्याग कर अपनी शक्तिके अनुसार उपवास धारण करना चाहिए। इस प्रकार कषायादिक समस्त विकारोंका त्याग कर और चारों प्रकारके आहारका त्याग कर जो पंच नमस्कार मंत्रका जप करते हुए शरीरका त्याग करना है उसको समाधिमरण कहते हैं। समाधिमरण धारण करते समय न तो जीवित रहनेकी आशा रखनी चाहिए, न शीघ्र मर जानेकी आशा रखनी चाहिए, न मरनेसे डरना चाहिए, न मित्रोंका स्मरण करना चाहिए और न आगामी कालके लिए भोगोंकी इच्छा करनी चाहिए। इसीको समाधिमरण कहते हैं। यह समाधिमरण केवल आत्मामें परम शान्ति प्राप्त करनेके लिए ही धारण किया जाता है, क्योंकि जहां कषायादिक विकारोंका त्याग हो जाता है वहांपर आत्मामें शांति अपने आप आ जाती है तथा आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है। यदि ऐसा उत्तम समाधिमरण धारण करते हुए भी शांति न हो तो फिर उसको व्यर्थ ही समझना

चाहिए। स्वर्गादिकके सुख देनेवाला यह समाधिमरण ही है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला भी यही समाधिमरण है इसलिए भव्यजीवको इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न–सप्तव्यसनत्यागेनालभ्यां कां लभते नरः ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि सप्त व्यसनका त्याग करनेसे इस मनुष्यको कौन-कौनसे अलभ्य पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर–द्यूतादि व्यसनस्यैव त्यागाद्देहस्य त्यागवत्।
भयसप्तकदातुश्च सप्तश्वभ्रप्रदायिनः ॥४३३॥
अलब्धाऽपूर्वशान्तिः स्यात्स्वात्मनि शाश्वती सदा।
दुष्टपक्षपरित्यागाच्छान्तिर्विश्वेऽखिले यथा ॥४३४॥

अर्थ–जिस प्रकार दुष्ट पक्षका सर्वथा त्याग कर देनेसे समस्त संसारमें शांति हो जाती है अथवा जिस प्रकार इस शरीरका सर्वथा त्याग कर देनेसे इस शुद्ध आत्मामें निरन्तर रहनेवाली शांति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार सातों नरकोंके दुःख देनेवाले और सातों भयोंको उत्पन्न करनेवाले इन सातों व्यसनोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे इस आत्मामें परम शांति प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ—जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन कहलाते हैं। ये सातों ही व्यसन महा दुःख देनेवाले और तीव्र आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं। इनमें जूआ सब व्यसनोंका राजा है। जूआ खेलनेवाला यदि हार जाता है तो महा दुःखी होता है तथा हार जानेके कारण चोरी करता है। यदि वह जीत जाता है तो फिर और खेलनेकी तीव्र आकुलता धारण करता है और वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन, मद्यपान

आदि अन्य अनेक प्रकारके अनर्थ करता है। जुआरी लोग अपना सब धन हार जाते हैं और स्त्री पुत्र तकको हार जाते हैं। इस जूआके ही कारण पांडवोंने महा दुःख उठाया था इसलिए इस जूआके त्याग कर देनेसे आत्मामें शांति प्राप्त होती है। मांस भक्षण महा पापका कारण है। विना किसी जीवको मारे मांस उत्पन्न नहीं होता तथा जिसका मांस होता है उसमें उसी जातिके अनेक जीव प्रति समयमें उत्पन्न होते रहते हैं तथा मांसके स्पर्श करने मात्रसे वे सब मर जाते हैं। इसके सिवाय मांस भक्षण करनेसे इन्द्रियां सब उत्तेजित रहती हैं और फिर अनेक प्रकारके अनर्थ उत्पन्न करती हैं इसलिए ऐसे इस मांसका त्याग कर देनेसे आत्मामें भारी शांति उत्पन्न होती है। मद्यपान करनेसे आत्मा बेहोश हो जाता है और बेहोश होकर अनेक प्रकारके पाप और अनर्थ करता है। इसके सिवा मद्य अनेक जीवोंका कलेवर होता है और उसमें प्रतिक्षण अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए ऐसे मद्यका त्याग कर देनेसे आत्मामें महा शांति उत्पन्न होती है। वेश्या सेवन अनेक अनर्थोंकी जड है वेश्या मद्य मांसका सेवन करती है उसके मुंहसे मुंह लगाना महा पाप है। वेश्या सेवन करनेवालेका सूतक पातक कभी नष्ट नहीं हो सकता और न वेश्या सेवन करनेवालेके कोई उत्तम विचार हो सकते हैं। इसलिए ऐसे वेश्यासेवनका त्याग करना सुख और न शांति दोनोंका कारण है। शिकार खेलना संकल्पी हिंसा है। हिरण आदि वनके जीव किसीका कुछ नहीं बिगाडते, केवल घास खाकर रहते हैं, ऐसे निरपराधी जीवोंको जान बूझकर या धोखा देकर मारना सबसे बडा पाप है। ऐसे पापोंसे बचनेके लिए तथा आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए शिकारका त्याग करना आवश्यक है। चोरी करना दूसरेकी हत्या करना है, क्योंकि यह जीव जिसकी चोरी करता है वह यही कहकर सोता है कि जीतेजी तो हमारी चोरी कोई नहीं कर सकता। इससे साबित होता है कि गृहस्थ लोग अपने धनको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते हैं। ऐसे धनको जो चुरा लेता है वह उसके प्राणोंको ही हर लेता है ऐसा समझना चाहिए।

चोरी करनेवाला महा पाप उत्पन्न करता है और पकडा जाता है तो महा दुःख पाता है। इसलिए इसका त्याग कर देनेसे महा शांति उत्पन्न होती है। परस्त्री सेवन करनेमें बडी आकुलता रहती है तथा उस स्त्रीके घरवाले उसके शत्रु बन जाते हैं। कभी-कभी तो परस्त्री सेवन करनेवाले उस स्त्रीके कारण ही मारे जाते हैं। इसलिए ऐसी परस्त्रीका त्याग करना महा शांतिका कारण है। इस प्रकार सातों व्यसनोंका त्याग कर देनेसे आत्मामें शांति और सुख प्राप्त होता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको इन व्यसनोंका त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न—जन्मजरादिजं दुःखं किमर्थं मुच्यते प्रभो ?

अर्थ-हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि जन्म जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका त्याग क्यों किया जाता है ?

उत्तर-गर्वजं गर्भजं दुःखं क्रोधजं मानभंगजम् ।
मायालोभादिजं घोरं भ्रान्तिजं मर्मभेदजम् ॥४३५॥
जन्ममृत्युजरादुःखमन्यद्दुःखं प्रमुच्यते ।
शान्त्यर्थमेव हर्षोऽपि ख्यातिपूजादिलाभजः ॥४३६॥
तद्विना केवलं मन्ये नटवद् वेषमोचनम् ।
ज्ञात्वेत्यात्मबहिर्भावास्त्याज्याः शांतिर्भवेद् यथा ॥४३७॥

अर्थ—इस संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं, कितने ही दुःख अभिमानसे होते हैं, कितने ही दुःख गर्भसे उत्पन्न होते हैं, कितने दुःख क्रोधसे उत्पन्न होते हैं, कितने ही दुःख मानभंग होनेसे उत्पन्न होते हैं, कितने ही दुःख मायाचारीसे होते हैं, कितने ही लोभसे होते हैं, कितने ही घोर दुःख भ्रांतिसे

उत्पन्न होते हैं, कितने ही दुःख मर्मच्छेदनसे होते हैं, कितने ही दुःख जन्मसे होते हैं, कितने ही दुःख मरणसे होते हैं, कितने ही दुःख बुढापेसे होते हैं और कितने ही दुःख अन्य अनेक प्रकारसे उत्पन्न होते हैं। इन सब दुःखोंका त्याग केवल आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है। इसके सिवाय अपनी प्रसिद्धता तथा पूजा प्रतिष्ठा आदिसे उत्पन्न होनेवाले हर्षोंका त्याग भी शांतिके लिए किया जाता है। यदि इन समस्त दुःखोंका त्याग करनेपर भी आत्मामें शांति उत्पन्न न हो तो फिर उन सब दुःखोंके त्यागको नटके वेषके त्यागके समान समझना चाहिए। अतएव अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए अपन आत्माके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न जितने भी विभावभाव हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—संसारमें जितने दुःख हैं चाहे वे ऊपर लिखे हुए हों वा इनसे भिन्न अन्य अनेक प्रकारके दुःख हों उन सब दुःखोंसे आकुलता उत्पन्न होती है। जहां आकुलता होती है वहां कभी शांति नहीं हो सकती। शांति आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होनेमें होती है तथा आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति इन समस्त दुःखोंके त्यागसे तथा राग, द्वेष, क्रोध, काम आदि समस्त विकारोंके त्याग करनेसे होती है। अतएव समस्त भव्यजीवोंको दुःखोंका त्याग कर शांति प्राप्त करनी चाहिए। दुःखोंका त्याग समता धारण करनेसे होता है। जिसके हृदयमें सुख दुःख दोनोंमें समता होती है वह पुरुष कभी भी किसी भी दुःखमें संक्लेश परिणाम धारण नहीं करता तथा संक्लेश परिणामोंके न होनेसे शांति प्राप्त होती है। शांति प्राप्त करनेका यह सबसे उत्तम उपाय है।

प्रश्न—कीदृशं मन्यते सौख्यं धनबंधुसुतोद्भवम् ?

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि धन भाई बंधु वा पुत्रादिकोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख कौनसा माना जाता है?

उत्तर–राज्योद्भवं नाकभवं नरोत्थं सैन्योद्भवं कामपिशाचजातम् ।
आदौ प्रियं प्राणहरं फलान्ते ह्यक्षोद्भवं बंधुकलत्रजातम् ॥४३८॥
सत्यार्थशान्तेश्च विनाशकत्वात् पुत्रोद्भवं सौख्यमपीह दुःखम् ।
तत्त्वार्थवेदीति सुमन्यमानः सच्छान्तिहेतोर्यतते प्रवीरः ॥४३९॥
सच्छान्तिहीनस्य पराश्रितस्य सर्वं वृथा त्यागविधेर्विधानम् ।
यथा ह्यनुष्ठानमपीह सर्वं विज्ञानहीनस्य मुनेर्वृथा स्यात् ॥४४०॥

अर्थ–इस संसारमें चाहे राज्यसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे सेनासे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे कामदेवरूपी पिशाचसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों, चाहे भाई बंधु वा स्त्री आदिसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों और चाहे पुत्र पौत्र आदिसे उत्पन्न होनेवाले सुख हों। ये सब प्रकारके सुख पहले तो अच्छे जान पडते हैं परंतु अन्तमें ये सब सुख प्राणोंको नाश करनेवाले हैं और आत्मासे उत्पन्न होनेवाली यथार्थ शांतिको नाश करनेवाले हैं इसलिए यथार्थ तत्त्वोंको जाननेवाले यथार्थ शूर वीर महापुरुष इन सब सुखोंको दुःख ही मानते हैं और इसीलिए वे महापुरुष आत्मासे उत्पन्न होने वाली परम शांतिको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं। जिसप्रकार आत्मज्ञानसे रहित मुनियोंके लिए ध्यान तपश्चरण आदि सब अनुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार जिस पुरुषके हृदयमें परम शांति प्राप्त नहीं होती और जो इन्द्रियोंके वा घर गृहस्थीके ही सदा आधीन रहता है उसके त्याग करनेकी सब विधि व्यर्थ समझी जाती है।

भावार्थ—संसारके जितने सुख हैं वे सब पराधीन हैं और अन्तमें दुःख देनेवाले हैं। जिसप्रकार कुत्ता हड्डी चाटता है हड्डी चाटते समय उसके मुखसे जो रुधिर निकलता है उसीको वह हड्डीसे उत्पन्न होनेवाला रुधिर मानकर उसके चाटनेमें सुख मानता है। वास्तवमें देखा जाय तो वह पहले सुखसा जान पडता है परन्तु अन्तमें सब मुंह छिल जानेसे महादुखी होता है अथवा जिसप्रकार यह मनुष्य दाद खुजानेमें सुख मानता है परन्तु अन्तमें वह उस दादके खुजानेसे महादुःखी होता है। उसीप्रकार इस संसारमें जितने सुख हैं वे सब पहले सेवन करते समय तो बहुत अच्छे जान पडते हैं, परन्तु अन्तमें उन सुखोंसे सदा दुःख ही होता है। सांसारिक सुख कहनेको तो सुख हैं परन्तु समस्त सुख आत्माकी परम शांतिको नष्ट करनेवाले हैं, इसलिए आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले तथा आत्माके अनन्त सुखका स्वरूप समझनेवाले भव्यपुरुष उसे दुःख ही मानते हैं। इसके सिवाय संसारके जितने सुख हैं वे सब पाप उत्पन्न करनेवाले हैं। राज्य करनेमें महा पाप होता है, इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें महा पाप उत्पन्न होता है, काम सेवनमें महापाप होता है, पुत्र पौत्रोंके पालन पोषणमें महापाप होता है और घर गृहस्थीमें व्यापारादिकसे वा रसोई बनाने, पानी भरने आदि कार्योंसे सर्वदा पाप उत्पन्न होता रहता है। उन सब पापोंके उदयसे अनेक प्रकारके दुःख इसी जन्ममें भोगने पडते हैं और परलोकमें नरक-निगोद आदिके महा दुःख भोगने पडते हैं। इस प्रकारसे भी यदि विचार किया जाय तो भी ये सांसारिक सुख महा दुःखके कारण हैं। अतएव आत्मामें परमशांति और आत्मजन्य यथार्थसुख प्राप्त करनेके लिए इन सांसारिक समस्त सुखोंका त्याग कर देना चाहिए। जो पुरुष इन सुखोंका त्याग कर भी परम शांति प्राप्त नहीं करते उनका वह सब त्याग व्यर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित मुनिका ध्यान, तपश्चरण आदि सब व्यर्थ समझा जाता है उसी प्रकार शांतिरहित भव्य जीवका इन्द्रियादिकके विषयोंका त्याग भी व्यर्थ ही समझा जाता है। अतएव इन सांसारिक समस्त

सुखोंका त्याग कर परम शांति प्राप्त कर लेना भव्य जीवका मुख्य कर्त्तव्य है और यही आत्माके परम कल्याणका साधन है।

प्रश्न–इन्द्रादिसौख्यमेवापि किं हेयं मन्यते गुरो ?

अर्थ–हे गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इन्द्र आदिके सुख भी इस संसारमें हेय वा त्याग करने योग्य क्यों माने जाते हैं ?

उत्तर–शान्त्या विहीनं सततं सुदृष्टिश्चिन्तामणेः कल्पतरोः प्रजातम् ।
सुकामधेनोश्च सुभोगभूम्याः नरेन्द्रदेवेन्द्रफणीन्द्रजातम् ॥४४१॥
पंचाक्षसन्तोषकरं ह्यपीह सुखं च हेयं हृदि मन्यते वै ।
यथा चकोरः खलु चन्द्रहीनो ज्ञात्वेति शांतिर्हृदि धारणीया ॥४४२॥

अर्थ–जिसप्रकार चकोर पक्षी विना चन्द्रमाके अपने समस्त सुखोंको हेय वा त्याग करने योग्य समझता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष भी आत्मामें परम शांति धारण किए विना चिन्तामणि रत्नसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको, श्रेष्ठ कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको. उत्तम भोगभूमिसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंको, महाराज चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणीन्द्र आदिके सुखोंको और पांचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करनेवाले सुखोंको भी अपने हृदयमें हेय वा त्याग करने योग्य समझता है। यही समझकर समस्त भव्य जीवोंको अपने हृदयमें परम शांति धारण करनी चाहिए।

भावार्थ–यदि वास्तवमें देखा जाय तो जिसमें किसी प्रकारकी आकुलता न हो उसीको सुख कहते हैं। जिस सुखके होनेमें आकुलता बनी रहे वा नवीन-नवीन आकुलताएं उत्पन्न होती रहें, उन

सुखोंको कभी उत्तम और यथार्थ सुख नहीं कह सकते। निराकुलता आत्माकी शांतिमें ही प्राप्त होती है। जहां-जहां आत्मामें शांति है वहां-वहां परम सुख प्राप्त होता है तथा जहां शांति नहीं है वहां कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए विना शांतिके चाहे कैसे ही उत्तमसे उत्तम सुख हों वे सब दुःख ही होते हैं और सम्यग्दृष्टी पुरुष सदाकाल उनको दुःख ही मानता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टी पुरुषको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है तथा उसके हृदयमें स्वपरभेद विज्ञान प्रगट हो जाता है। इन्हीं सब कारणोंसे वह सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न अन्य समस्त पदार्थोंका त्याग कर देता है, समस्त विभाव भावोंका त्याग कर देता है और इंद्रिय-जन्य समस्त सुखोंका त्याग कर देता है। इन सबका त्याग कर वह अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेका प्रयत्न करता है। आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे उसे परम शांति प्राप्त होती है और वह उस परम शांतिसे परम सुख प्राप्त कर लेता है। अतएव समस्त भव्यजीवोंको अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर अनंत सुख प्राप्त कर लेना चाहिए। यही आत्माका परम कल्याण है।

आगे इसी विषयको विशेष रीतिसे दिखलाते हैं—

इष्टानिष्टादिसंयोगाज्जातं दुःखं सुखं सदा।
सत्यशान्तिगवेष्येव मन्यते सदृशं द्वयम् ॥४४३॥
ज्ञानचक्षुर्विनिर्मुक्तो मूढो हि सुखदुःखकम्।
यथाम्बु लभते वर्णं तत्परिणमते स्वयम् ॥४४४॥

अर्थ—इस संसारमें इष्ट पदार्थोंके वियोगसे तथा अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे महा दुःख उत्पन्न होता है तथा इष्ट पदार्थोंके संयोगसे और अनिष्ट पदार्थोंके वियोगसे सुख माना जाता है, परंतु सत्य और

शांतिको ढूंढनेवाले महापुरुष उन सुख वा दुःख दोनोंको समान मानते हैं। जिस प्रकार पानीमें सफेद वर्ण होता है परंतु उसमें लाल पीला नीला आदि जैसा वर्ण डाल दिया जाय वैसा ही वर्ण उसका हो जाता है उसी प्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानरूपी नेत्रोंसे रहित हैं ऐसे मूढ पुरुष इष्ट वियोग वा अनिष्ट संयोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको दुःख मान लेते हैं और इष्ट संयोग वा अनिष्ट वियोगसे होनेवाले सुखोंको सुख मान लेते हैं।

भावार्थ—यथार्थ शांतिकी प्राप्ति आत्माके शुद्ध स्वरूपमें होती है। जिस पुरुषको उस आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती उसको वह यथार्थ शांतिकी प्राप्ति कभी नहीं होती तथा जिस पुरुषको यथार्थ शांतिकी प्राप्ति नहीं होती अथवा आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती वह अज्ञानी जीव धनकी प्राप्ति वा पुत्र पौत्रादिककी प्राप्तिको सुख मान लेता है और रोगादिककी प्राप्तिको दुःख मान लेता है। वास्तवमें देखा जाय तो पुत्र पौत्रादिककी प्राप्ति वा रोगादिककी प्राप्ति आत्माके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न है, और इसलिए वह सुख वा दुःख क्षणिक है तथा पराधीन है, कर्मोंके उदयसे प्राप्त होते हैं। इसीलिए समता धारण करनेवाले वा आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावक वा मुनि दोनों ही उन समस्त इन्द्रिय जन्य सुखों वा दुःखोंको समान समझते हैं वे इष्ट वियोगादिकसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको दुःख नहीं समझते और इष्ट संयोगादिकसे उत्पन्न होनेवाले सुखको सुख नहीं समझते। वे जिसप्रकार सुखमें अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते हैं, उसीप्रकार दुःखमें भी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते हैं। इसप्रकार वे सुख-दुःख दोनोंको अनुभव न करते हुए परम शांति धारण करते हैं। यही मोक्षका साधन है और यही आत्माके कल्याणका उपाय है।

प्रश्न—यदि न मन्यते दुःखं सुखं तर्हि कथं भुवि ?

अर्थ—इस संसारमें यदि दुःखको न माना जाय तो न सही परन्तु सुख क्यों नहीं माना जा सकता ? सुखको तो सुख मानना चाहिए ?

उत्तर—इष्टवस्तुभवं कार्यं दृष्ट्वेति मन्यते सुखम् ।
तथानिष्टादिजं कार्यं दुःखं दृष्ट्वेति मन्यते ॥४४५॥
वस्तुतो दुःखदं सर्वमिष्टानिष्टादिवस्तुजम् ।
यथेह बन्धहेतुत्वाद् हेमायःशृंखले समे ॥४४६॥

अर्थ—इस संसारमें इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंको देखकर सुख मान लेते हैं, तथा अनिष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंको देखकर दुःख मान लेते हैं। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो चाहे कोई कार्य इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाला हो और चाहे अनिष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाला हो, दोनों प्रकारके कार्य दुःख देनेवाले होते हैं। जैसे बांधनेके लिए संकल चाहे सोनेकी हो और चाहे लोहेकी हो, दोनों ही संकलोंसे यह मनुष्य बांधा जाता है, बांधनेके लिए दोनों समान हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार यह मनुष्य लोहेकी संकलोंसे बांधा जाता है, उसीप्रकार सोनेकी संकलोंसे भी बांधा जाता है। मनुष्यको बांधनेके लिए जैसी सोनेकी संकल काम देती है उसीप्रकार लोहेकी संकल काम देती है। इसीप्रकार जिसप्रकार अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले कार्य दुःख देनेवाले होते हैं, उसीप्रकार इष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले कार्य भी दुःख देनेवाले होते हैं। इसका भी कारण यह है कि जिसप्रकार अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे आकुलता उत्पन्न होती है और आत्मजन्य सुख शांतिका घात होता है उसीप्रकार इष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंसे भी आकुलता उत्पन्न होती है और आत्मजन्य सुख शांतिका घात होता है।

इसलिए जिसप्रकार दुःख दुःख देनेवाले हैं उसीप्रकार सुख भी दुःख ही देनेवाले हैं। आकुलता उत्पन्न होने और सुख शांतिका घात करनेके कारण सुख-दुःख दोनों ही समान माने जाते हैं। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको सुख-दुःख दोनोंको समान मानकर अपने हृदयमें समता तथा सुख और शांति धारण करनी चाहिए। आत्माके कल्याणका सबसे अच्छा उपाय यही है।

प्रश्न—मोहः संगस्तथा स्वामिन् किमर्थं त्यज्यते स्पृहा ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मोह परिग्रह वा स्पृहाका त्याग किस लिए किया जाता है ?

उत्तर—शान्त्यर्थमेव मोहादिस्त्यज्यते हि परिग्रहः।
यदि न त्यज्यते सर्वस्तर्हि त्याज्यः क्रमेण वै ॥४४७॥
अन्तकाले तु भव्येन त्याज्यैव च हठात्स्पृहा।
एवं नो चेद् वृथोद्योगः शरन्मेघध्वनेः समः ॥४४८॥

अर्थ—इस संसारमें आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए मोह वा परिग्रहका त्याग किया जाता है, यदि उस मोह वा परिग्रहका त्याग पूर्ण रीतिसे न हो सके तो फिर उनका त्याग अनुक्रमसे करना चाहिए तथा अन्तकालमें भव्यजीवोंको अपनी समस्त इच्छाओंका वा लालसाओंका त्याग कर देना चाहिए। यदि यह भव्यजीव इन सबका त्याग कर शांति धारण नहीं करता है तो फिर शरद ऋतुके मेघोंकी गर्जनाके समान उनका सब उद्योग व्यर्थ ही समझना चाहिए।

भावार्थ—मोह परिग्रह और लालसाएं ही इस संसारमें दुःख देनेवाली हैं। संसारमें जितने दुःख हैं वे सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं तथा जितनी आकुलताएं हैं वे सब इन्हींसे उत्पन्न होती हैं। इसलिए

इन्हीं तीनोंका त्याग करनेसे ही परम शांति प्राप्त होती है। उस परम शांतिकी प्राप्ति करनेके लिए प्रत्येक भव्यजीवको इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। जो भव्यजीव इन तीनोंका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते उनको धीरे-धीरे अनुक्रमसे त्याग करना चाहिए और इसप्रकार त्याग करते करते अन्तकालमें समाधिमरणके समय इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इन सबका त्याग करते हुए भी यदि आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर उनका वह सब त्याग व्यर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार शरद ऋतुके बादल गरजते रहते हैं परन्तु बरसते नहीं तथा विना बरसे उन बादलोंका गरजना व्यर्थ है उसीप्रकार विना परम शांति प्राप्त किए मोहादिकका त्याग करना व्यर्थ है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको मोह, परिग्रह और लालसाओंका त्याग कर परम शांति धारण करनी चाहिए। यही शांति आत्माके परम सुखका कारण है।

प्रश्न—निंदास्तवादिकान् भव्याः किं त्यजन्ति गुरो वद ?

अर्थ—हे गुरो! अब कृपाकर यह बतलाइए कि भव्यजीव निन्दा वा स्तुति आदिका त्याग क्यों करते हैं?

उत्तर—स्वात्मस्तवादिकं मूलात्परनिन्दादिकं तथा।
मृत्युकालभवं दुःखं व्याध्यादिसंभवो भयः ॥४४९॥
इहामुत्रधनेच्छादिस्त्यज्यते सत्यशान्तये।
न भाति तद्विना कोपि दयाहीनो व्रती यथा ॥४५०॥

अर्थ—इस संसारमें यथार्थ शांति प्राप्त करनेके लिए अपनी प्रशंसा वा स्तुति करनेका सर्वथा त्याग किया जाता है, दूसरोंकी निंदा आदिका त्याग किया जाता है, मरण समयमें होनेवाले दुःखोंका

त्याग किया जाता है, रोगादिकसे उत्पन्न होनेवाले भयोंका त्याग किया जाता है और इस लोक तथा परलोकके लिए धनादिककी इच्छाका त्याग किया जाता है। जिसप्रकार बिना दयाके कोई व्रती पुरुष शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार बिना यथार्थ शांतिके स्तुति वा निंदादिकका त्याग भी सुशोभित नहीं होता।

भावार्थ—तीव्र अभिमानके कारण दूसरेकी निंदा की जाती है और अपनी प्रशंसा की जाती है, मोहके कारण अन्त कालमें दुख होता है वा रोगादिकका भय होता है और लोभके कारण धनादिककी इच्छा होती है। अभिमान, लोभ वा मोह ये तीनों ही महा दुःख देनेवाले हैं, आत्मामें आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं और आत्माकी परमशांतिका घात करनेवाले हैं। धनकी इच्छा करनेसे धनकी प्राप्ति नहीं होती, धनकी प्राप्ति तो लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होती है। अतएव धनकी इच्छा करनेसे केवल आत्माकी शांति वा सुखका ही घात होता है इसलिए उस आत्माकी सुख और शांतिको स्थिर रखनेके लिए इच्छाओंका त्याग कर देना परमावश्यक है। इसी प्रकार मोह पद-पदपर दुःख पहुंचाता रहता है। यह प्राणी मोहके कारण ही चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है और नरकनिगोदादिकके दुःख भोगता रहता है इसलिए सुख और शांति प्राप्त करनेके लिए इस मोहका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है। मोहका त्याग हो जानेसे दुःख वा भय अपने आप छूट जाते हैं। दूसरोंकी निंदा अपनी प्रशंसा करनेसे भी अपना अभिमान सर्वत्र व्याप्त नहीं होता। कभी-कभी तो परनिंदा वा आत्म-प्रशंसा करनेसे बहुत नीचा देखना पडता है और बहुत दुःख होता है ऐसी अवस्थामें आत्माको सुख वा शांति कभी प्राप्त नहीं होती इसलिए आत्माको सुख और शांति प्राप्त करनेके लिए परनिंदा वा आत्म-प्रशंसाका त्याग करना ही आवश्यक है। इसप्रकार इन विकारोंका त्याग करनेसे आत्मामें सुख और शांति प्राप्त होती है। जो पुरुष इनका त्याग करके भी शांति प्राप्त नहीं करते उनके वास्तविक त्याग नहीं समझा जाता।

जिसप्रकार व्रत पालन करनेवाला पुरुष यदि निर्दयी हो तो उसका व्रत पालन करना व्यर्थ है उसी प्रकार विना शांतिके इन विकारोंका त्याग भी सर्वथा व्यर्थ है इसलिए इन विकारोंका त्याग कर परम शांति धारण करना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—पालितस्य व्रतादेः स्यात्किं फलं मे गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि इस संसारमें व्रतोंके पालन करने आदिका क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर—ज्ञातस्य स्वात्मतत्त्वस्य त्यक्तस्य विषयस्य वा ।
पालितस्य व्रतस्यापि पठितस्य श्रुतस्य च ॥४५१॥
मृत्युकाले फलं तेषां शांतिरेव निजात्मनि ।
तद्विना केवलं मन्ये शुकपठनवद् वृथा ॥४५२॥

अर्थ—अपने आत्मतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको जानना, समस्त इंद्रियोंके विषयोंका त्याग करना, व्रतोंका पालन करना और अरहंत प्रणीत श्रुतज्ञानके अभ्यास करनेका फल समाधिमरणके समय अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करना है। यदि आत्मतत्त्वका स्वरूप जानकर भी, विषयोंका त्याग करके भी व्रतोंका पालन करके भी और जिनप्रणीत शास्त्रोंका अभ्यास करके भी यदि समाधिमरणके समय अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर वह आत्माके स्वरूपका जानना विषयोंका त्याग करना व्रतोंका पालना और जैन शास्त्रोंका अभ्यास करना आदि सब तोतेको पढानेके समान व्यर्थ ही समझना चाहिए।

भावार्थ—आत्मतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको जान करके आत्मामें शांतिका प्राप्त होना अनिवार्य है।

क्योंकि आत्माके यथार्थ स्वरूपकी जानकारीके साथ-साथ स्वपरभेदविज्ञान प्रगट हो जाता है तथा स्वपरभेदविज्ञानके प्रगट होते ही यह आत्मा क्रोध मान माया लोभ मोह मद काम आदि समस्त विकारोंको तथा समस्त परिग्रहको पर समझकर उनके त्याग करनेका प्रयत्न करता है और केवल आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। धीरे-धीरे वह संसारसे विरक्त होकर उन समस्त विकारोंका त्याग कर देता है और आत्मामें लीन होनेका अभ्यास कर लेता है। ऐसी अवस्थामें उस आत्मामें कमसे कम समाधिमरणके समय तो अवश्य शांति प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि ऐसे जीवको भी समाधिमरणके समय शांति प्राप्त नहीं होती तो फिर उसके आत्मतत्त्वका जानना तोतेको पढानेके समान व्यर्थ है। इसी प्रकार विषयोंका त्याग और व्रतोंका पालन भी आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए किया जाता है। विषयोंका सेवन करना और किसी प्रकारके व्रत नियम पालन न करना उच्छृंखल होकर महा पाप उत्पन्न करते रहना है। जहां इस प्रकार उच्छृंखल होकर महा पाप किए जाते हैं वहांपर सिवाय दुःख और आकुलताके कभी सुख और शांति नहीं मिल सकती। इसलिए सुख और शांतिके लिए ही विषयोंका त्याग किया जाता है और व्रतोंका पालन किया जाता है। यदि इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके भी तथा व्रतोंका पालन करके भी समाधिमरणके समयमें शांति प्राप्त नहीं हुई तो फिर वह विषयोंका त्याग और व्रतोंका पालन सब व्यर्थ और मिथ्या समझना चाहिए। मरनेके समय समाधिमरण अवश्य हो और उससे आत्माको परम शांति अवश्य प्राप्त हो इसीलिए विषयोंका कषायोंका त्याग किया जाता है और व्रतोंका पालन किया जाता है। समाधिमरणके लिए ही यह सब अभ्यास है। इसलिए व्रतोंका पालन करनेसे और विषयोंका त्याग करनेसे समाधिमरणके समय अवश्य शांति प्राप्त होती है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। इसी प्रकार भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास करना वा कराना भी आत्माकी परम शांतिका कारण है। जैनशास्त्रोंका अभ्यास करनेसे कषायादिकोंका

त्याग हो जाता है और आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है तथा इन दोनोंके होनेसे समाधिमरणके समयमें अपने आत्मामें परम शांतिका प्राप्त होना अनिवार्य है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आत्माका स्वरूप जाननेसे विषय कषायोंका त्याग करनेसे, व्रतोंका पालन करनेसे और जैनशास्त्रोंके अभ्यास करनेसे अपने आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति अवश्य होती है और समाधिमरणके समयमें तो होती ही है।

प्रश्न—किमर्थं क्रियते स्वामिन् सामायिकादिकं भुवि ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें सामायिक जिनपूजन आदि आर्ष क्रियाकांड किसलिए किया जाता है ?

उत्तर—सामायिकादिकं सर्वं क्रियाकाण्डस्तमोहरः।
शान्त्यर्थं क्रियते प्रीतिः सर्वजीवेषु भक्तितः ॥४५३॥
सामायिकादिकं कुर्वन् यदि शान्तिर्न चेतासि।
क्रियाकाण्डोऽखिलस्तस्यान्धजीवगतिवद् वृथा ॥४५४॥

अर्थ—इस संसारमें जो अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेवाला सामायिक आदि समस्त क्रियाकांड किया जाता है अथवा भक्तिपूर्वक समस्त जीवोंमें प्रेम वा वात्सल्य धारण किया जाता है वह सब अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार अंधा पुरुष गमन करता है और उसका वह गमन करना सब व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार जो पुरुष सामायिक आदिक समस्त क्रियाकांडको करता हुआ भी अपने हृदयमें शांति धारण नहीं करता उसका वह समस्त क्रियाकांड व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—इस संसारमें समस्त भव्य जीव सामायिक, स्तुति, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, वंदना, स्वाध्याय, जिनपूजन, गुरुसेवा, पात्रदान आदि श्रावकोंके करने योग्य जितने क्रियाकांड करते हैं वे सब अपने हृदयमें शांति प्राप्त करनेके लिए करते हैं। सामायिकमें समस्त पापोंका वा संकल्प विकल्पोंका त्याग हो जाता है और पंचपरमेष्ठीका वा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन किया जाता है। ऐसी अवस्थामें उस आत्मामें शांति प्राप्त होना अनिवार्य हो जाता है। जिस पुरुषको सामायिकमें भी शांति नहीं मिलती समझना चाहिए कि उसको कभी किसी काममें शांति नहीं मिल सकती। अथवा जिस सामायिकमें शांति प्राप्त न हो उस सामायिकको सामायिक ही नहीं समझना चाहिए अथवा उस सामायिकको व्यर्थ समझना चाहिए। इसी प्रकार समस्त जीवोंमें प्रेम वा वात्सल्य धारण करनेसे भी अत्यंत शांति प्राप्त होती है। परस्परकी शत्रुतामें अत्यंत आकुलता प्राप्त होती है, परंतु समस्त जीवोंमें प्रेम धारण करनेसे परस्परकी शत्रुता सब नष्ट हो जाती है। परस्परकी शत्रुता मिट जानेसे आकुलता नष्ट हो जाती है और आकुलता नष्ट होनेसे शांति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकारके वात्सल्य वा प्रेममें भी आकुलता नष्ट होकर शांति प्राप्त न हो तो फिर उस प्रेम वा वात्सल्यको ही मिथ्या समझना चाहिए। अतएव आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए सामायिक आदि समस्त क्रियाकांडोंका करना प्रत्येक भव्य श्रावकके लिए अत्यावश्यक है।

प्रश्न—किं किं भो चिन्त्यते स्वामिन् सत्यशान्त्यादिहेतवे ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि यथार्थ शांति प्राप्त करनेके लिए क्या-क्या चिन्तवन करना चाहिए।

उत्तर-केनापि सार्द्धं ममता न माया द्वेषो न रागो न च मे कुबुद्धिः।
तथापि जीवाश्च मया प्रमादात् विराधितास्ते खलु मे क्षमन्ताम् ।४५५।

सर्वान् क्षमेऽपीति विशेषशांत्यै मनोविशुद्धिः क्रियते विचारः ।
चेच्छांतिहीनश्च किलोक्तभावो भातीव नैवं मतिहीनमंत्री ॥४५६॥

अर्थ—इस संसारमें परम शांति प्राप्त करनेके लिए भव्य जीवको सदाकाल यह विचार करते रहना चाहिए कि मैं किसी जीवके साथ वा किसी पदार्थके साथ न तो ममता धारण करता हूं, न किसीके साथ माया वा राग वा द्वेष धारण करता हूं और न मैं किसीके साथ कुबुद्धि धारण करता हूं. ऐसा होते हुए भी यदि मुझसे किसी जीवकी विराधना हुई हो तो वे जीव मुझे क्षमा करें तथा अपने आत्मामें विशेष शांति प्राप्त करनेके लिए मैं भी सब जीवोंको क्षमा करता हूं। इसके सिवाय मैं इस शांतिके लिए ही अपने मनको शुद्ध करता हूं और इस प्रकारके विचार सदा स्थिर रखना चाहता हूं। जिस प्रकार कोई मंत्री बुद्धिहीन हो तो वह शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार यदि ऊपर लिखे भावोंसे भी शांति प्राप्त न हो तो वे भाव कभी शोभायमान नहीं होते।

भावार्थ—इस संसारमें आत्माकी परम शांतिको घात करनेवाला ममत्व है, माया है, राग है, द्वेष है और कुबुद्धि है। ये ममत्वादिक सब विकार आत्मामें आकुलता और दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। जहां आकुलता और दुःख होता है वहांपर शांति कभी नहीं हो सकती। इसलिए शांति प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको इनका त्याग कर देना चाहिए। इन सबका त्याग करनेसे आत्मामें परम शांति अवश्य प्राप्त होती है। इन सबका त्याग करनेके अनंतर यह चिंतवन करना चाहिए कि यद्यपि मैंने राग द्वेष माया ममत्व आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है तथापि यदि किसी प्रमादके कारण मुझसे किसी जीवकी विराधना हुई हो तो मैं उससे क्षमा मांगता हूं। वह मुझे क्षमा कर दे तथा अपने हृदयमें विशेष शांति धारण करनेके लिए मैं भी समस्त जीवोंको क्षमा कर देता हूं और इस प्रकार अपने मनको शुद्ध कर लेता हूं। इस प्रकार मनको शुद्ध करनेसे तथा राग द्वेषादिकका त्याग कर देनेसे परम शांतिकी

प्राप्ति अवश्य होती है। यदि इनका त्याग करनेसे भी परम शांति प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि वह त्याग सब मिथ्या है। ऐसा त्याग कभी सुशोभित नहीं हो सकता। अतएव इन सब विकारोंका त्याग कर अपने आत्मामें परम शांति धारण कर अपने आत्माका परम कल्याण कर लेना प्रत्येक भव्य जीवका परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—मनोवचःसुकायेषु किमर्थं ह्यैकमाप्नुयात्।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि मन वचन कायमें जो एकता धारण की जाती है अर्थात् जो मनमें सोचा जाता है वही वचनसे कहा जाता है और वही शरीरसे किया जाता है सो क्यों किया जाता है, किसलिए किया जाता है?

उत्तर—यथैव चित्ते वचसा तथैव निगद्यते कैतवहीनकायैः।
निजान्यशान्त्यै क्रियते च कृत्यं गर्हापि निंदात्मन एव नित्यम् ॥४५७॥
परप्रशंसाखिलतोषदात्री मिथोपि चेर्ष्यादिविनाशकर्त्री।
पूर्वोक्तरीतिर्यदि चेन्न चैव नृत्वं वृथाहश्च विना सुभानुम् ॥४५८॥

अर्थ—इस संसारमें अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए तथा अन्य जीवोंमें शांति प्राप्त करनेके लिए महा पुरुष जैसा मनमें विचार करते हैं वैसा ही वचनसे कहते हैं तथा विना किसी छल कपटके शरीरसे वैसा ही कार्य करते हैं। इसके सिवाय वे पुरुष अपने आत्माकी गर्हा और निंदा करते रहते हैं और समस्त जीवोंको संतुष्ट करनेवाली तथा परस्परकी इर्ष्या वा द्वेषको दूर करनेवाली अन्य जीवोंकी प्रशंसा भी किया करते हैं। यदि इन सब कार्योंको करते हुए भी आत्मामें परम शांति प्राप्त

न हो तो फिर जिसप्रकार विना सूर्यके दिन शोभायमान नहीं होता उसीप्रकार विना शांतिके मन वचन कायकी वह सरलता भी शोभायमान नहीं होती।

भावार्थ—मन वचन कायकी सरलता शांतिका सर्वोत्तम कारण है। जो पुरुष मन वचन कायकी सरलता नहीं रखता, मनमें कुछ सोचता है, वचनसे कुछ कहता है और शरीरसे कुछ करता है वह रात-दिन मायाचारी करता रहता है। कहीं वह मायाचारी प्रगट न हो जाय, इसके लिए वह सदा व्याकुल रहता है। उस व्याकुलतामें कभी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव उस व्याकुलताको दूर करनेके लिए और आत्मामें परम शांति धारण करनेके लिए मन वचन कायकी कुटिलता दूर कर मन वचन कायकी सरलता धारण करनी चाहिए। जिसका मन वचन काय सरल रहता है उसको कभी किसीका भय नहीं रहता इसीलिए वह निराकुल और शांत रहता है। इसके सिवाय जिसका मन वचन काय सरल होता है वह सदाकाल अपने आत्माकी गर्हा वा निंदा करता रहता है तथा दूसरोंकी प्रशंसा करता है। इसप्रकार अपनी गर्हा वा निंदा करनेसे तथा दूसरोंकी प्रशंसा करनेसे सब लोग संतुष्ट हो जाते हैं तथा सब लोगोंको संतुष्ट होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। यदि उत्तम मनुष्य जन्म पाकरके भी मन वचन कायकी सरलता धारण नहीं की तथा अपनी गर्हा निंदा वा परप्रशंसा नहीं की और इन कामोंके द्वारा अपने आत्मामें परम शांति धारण नहीं की तो फिर उसका मनुष्य जन्म ही व्यर्थ समझना चाहिए। जिसप्रकार विना सूर्यके दिनकी शोभा नहीं होती यदि सूर्य बादलोंमें छिप जाता है तो वह दिन दुर्दिन कहलाता है उसीप्रकार विना मन वचन कायकी सरलता और शांतिके मनुष्य जन्म कुजन्म कहलाता है, अथवा वह मनुष्य कुमनुष्य कहलाता है। इसलिए मनुष्य जन्म पाकरके मन वचन कायकी सरलता और शांति धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्त्तव्य है।

प्रश्न—देवादिकृतोपसर्गं किमर्थं सहते मुनिः ?

अर्थ—हे भगवन् ! कृपाकर यह बतलाइए कि मुनिराज देव वा मनुष्यादिकके द्वारा किया हुआ उपसर्ग किस लिए सहन करते हैं ?

उत्तर—देवैर्नरैर्वाथ खगैस्तिरश्चा कुटंबवर्गैश्च खलैः कुभूपैः।
दत्तं क्षणात्प्राणहरं च दुःखं कृतोपसर्गं सहते ह्यसह्यम् ॥४५९॥
मानापमानेन भवां प्रपीडां कायं कषायं स्वजनं स्वदेशम् ।
शान्त्यर्थमेव त्यजतीति साधुः मही यथा वा सहते हि सर्वम् ॥४६०॥

अर्थ—मुनिराज अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए ही देवोंके द्वारा, मनुष्योंके द्वारा, विद्याधरोंके द्वारा वा तिर्यंचोंके द्वारा अथवा कुटुंबी लोगोंके द्वारा, दुष्ट लोगोंके द्वारा वा नीच राजाओंके द्वारा दिए हुए और प्राणोंका हरण करनेवाले दुःखोंको सहन किया करते हैं तथा इन्हींके द्वारा किए हुए असह्य उपसर्गोंको सहन किया करते हैं और मान अपमानसे होनेवाली भारी पीडाको भी सहन किया करते हैं। इसके सिवाय वे मुनिराज शांतिके लिए ही काय कषाय स्वजन और स्वदेशका त्याग किया करते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी सब कुछ सहन किया करती है उसी प्रकार वे मुनिराज भी समस्त उपसर्गोंको सहन किया करते हैं।

भावार्थ—पृथ्वीको लोग कूटते हैं, खोदते हैं, इसपर थूकते हैं, मलमूत्र करते हैं, कूडा कचरा फेंकते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं परंतु वह पृथ्वी सब कुछ सहन करती रहती है। इसी प्रकार मुनिराजोंको भी बहुतसे लोग दुःख दिया करते हैं, बहुतसे देव अनेक प्रकारके उपसर्ग करते हैं, बहुतसे विद्याधर अनेक प्रकारके उपसर्ग करते हैं, बहुतसे सिंह व्याघ्र आदि पशु भी दुःख दिया करते हैं, बहुतसे

मनुष्य वा दुष्ट राजा वा अनेक कुटुंबी लोग उन मुनियोंको दुःख दिया करते हैं। उन सब उपसर्गोंको वा दुःखोंको वे मुनिराज सहन किया करते हैं। इसके सिवाय अनेक प्रकारके अपमानजनक वचन वा पीडाएं सहन किया करते हैं। उन मुनियोंका यह सब सहन करना केवल शांतिके लिए होता है। वे मुनिराज अपने मनमें कभी भी संक्लेशता वा आकुलता उत्पन्न होने देना नहीं चाहते, क्योंकि संक्लेश परिणाम होनेसे आत्माकी शांति नष्ट होती है और इसीलिए उन संक्लेश परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका बंध होता है। आत्मामें शांति धारण करनेसे अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता और पहलेके संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार कषायोंका त्याग भी शांतिके लिए किया जाता है और स्वदेश वा कुटुंबवर्गका त्याग भी शांतिके लिए किया जाता है। अतएव समस्त भव्य जीवोंको शांतिका धारण करना परमावश्यक है और यही आत्माके कल्याणका कारण है।

प्रश्न—दीनतादिर्वद स्वामिन् किमर्थं त्यज्यते भुवि ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि दीनता मूर्खता आदिका त्याग इस संसारमें क्यों किया जाता है?

उत्तर—दीनता मूर्खता निंद्या नीचता धर्महीनता।
कूरता वैरताऽशान्तिर्निन्दकतातिमन्दता ॥४६१॥
परता भीरुताऽकीर्तिर्दुर्जनतातिलोभता।
शान्त्यर्थं केवलं सर्वास्त्यज्यंते लोकमूढता ॥४६२॥
वृथा स्यात्तद्विना त्यागस्त्यक्तकंचुकसर्पवत।
ज्ञात्वेति सुखदा शान्तिर्धारणीया निरन्तरम् ॥४६३॥

अर्थ—इस संसारमें जो दीनता, मूर्खता, निंदनीय नीचता, धर्महीनता, क्रूरता, वैर, विरोध, अशांति निंदा करना, अत्यंत मंद वा आलसी होना, परपदार्थोंमें लीन होना, भय, अपकीर्ति, दुर्जनता, अत्यंत लोभता और लोकमूढता आदिका जो त्याग किया जाता है वह केवल शांतिके लिए किया जाता है। जिस प्रकार सर्पके लिए कांचलीका त्याग कुछ कार्यकारी नहीं होता व्यर्थ होता है उसी प्रकार इन सबका त्याग करके भी यदि शांति प्राप्त न हो तो फिर उस सब त्यागको व्यर्थ समझना चाहिए यही समझकर प्रत्येक भव्य जीवको सदाकाल अपने हृदयमें सुख देनेवाली शांति धारण करनी चाहिए।

भावार्थ—दीनता, मूर्खता आदि जो ऊपर दिखलाये हैं वे सब मनुष्योंके अवगुण हैं। जहां अवगुण होते हैं वहांपर अनेक प्रकारकी आकुलताएं उत्पन्न होती रहती हैं तथा जहां आकुलताएं होती हैं वहां पर कभी शांति नहीं हो सकती। इसलिए इन सबका त्याग शांतिके लिए ही किया जाता है। अवगुणोंका त्याग करनेसे आत्माके गुणोंकी वृद्धि होती है तथा आत्माके गुणोंकी वृद्धि होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। यदि इन अवगुणोंका त्याग करके भी आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि वह अवगुणोंका त्याग मिथ्या और व्यर्थ है। अतएव समस्त भव्य जीवोंको अपने समस्त अवगुणोंका त्याग कर आत्मामें परम शांति धारण करनी चाहिए। यह शांति ही आत्माके कल्याणका उत्कृष्ट साधन है।

प्रश्न—लाभालाभं समानं हि किमर्थं मन्यते वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मुनि लोग लाभ, अलाभ वा सुख दुःख आदिमें समता धारण क्यों करते हैं ?

उत्तर—लाभे ह्यलाभे सुजनेपि दुष्टे हर्म्येऽप्यटव्यां हि सुखेपि दुःखे।
प्रियेऽप्रिये वस्तुनि चात्मबाह्ये मानापमाने रिपुबन्धुवर्गे ॥४६४॥

रोगे विरोगेपि जलस्थले खे भोगोपभोगे ध्रियते समत्वम् ।
शान्त्यर्थमेवं क्रियते प्रयोगः स तद्विना स्याद् वकवत् प्रदुष्टः ॥४६५॥

अर्थ—इस संसारमें लाभ, अलाभ, सज्जन, दुर्जन, घर, वन, सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय आदि पदार्थोंमें वा अन्य आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें वा मान अपमानमें, शत्रु वा बंधुओंमें, रोग वा नीरोगतामें, जलमें, स्थलमें, आकाशमें और भोगोपभोगोंमें जो समता धारण की जाती है वह केवल शांतिके लिए ही की जाती है। यदि इन सबमें समता धारण करके भी आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो फिर उस समताको बगुलाओंकीसी ही दुष्टता समझना चाहिए।

भावार्थ—किसी पदार्थके लाभ होनेपर हर्ष मनाया जाता है और उसकी प्राप्ति न होनेपर शोक वा दुःख मनाया जाता है। परन्तु हर्ष वा शोक दोनोंके होनेमें आकुलता होती है तथा आकुलता ही दुःख है। अतएव उस आकुलताको दूर करनेके लिए वा आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए लाभ अलाभ दोनोंमें समता धारण की जाती है। इसीप्रकार सज्जनसे मिलकर सुख होता है और दुष्टसे मिलकर दुःख होता है तथा सुख-दोनोंमें आकुलता होती है। उस आकुलताको दूर करनेके लिए और आत्माको परम शांत रखनेके लिए उन दोनोंमें समता धारण की जाती है। इसीप्रकार हर्ष वा विषादसे उत्पन्न होनेवाली आकुलताको दूर करनेके लिए घर वा वन दोनोंमें समता धारण की जाती है, सुख-दुःख दोनोंमें समता धारण की जाती है, प्रिय वा अप्रिय दोनों पदार्थोंमें समता धारण की जाती है, मान-अपमानमें वा रोग और स्वास्थ्यमें वा जल-स्थलमें भोगोपभोगोंमें वा अन्य समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें समता धारण की जाती है। इस समताके धारण करनेसे आकुलता नष्ट हो जाती है और आत्मामें परम शांति प्राप्त हो जाती है। यदि इस समताके धारण करनेसे भी शांति प्राप्त न हो, सम-

झना चाहिए कि वह समता मिथ्या है और वगुलाके ध्यानके समान मायाचारीसे भरी हुई है। अतएव ऐसी मायाचारीका त्याग कर भव्यपुरुषोंको समस्त इष्टानिष्ट पदार्थोंमें समता धारण कर अपने आत्मामें परम शांति धारण करनी चाहिए। मोक्षसुख प्राप्त करनेका यही सर्वोत्तम उपाय है।

प्रश्न–स्वात्मतत्त्वविचारस्य प्रयोजनं प्रभो वद ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि मुनि लोग जो आत्मतत्त्वका विचार करते हैं वह किस लिए करते हैं ?

उत्तर–स्वात्मैव चानन्दमयं सुदृक् स्यात् स्वात्मैव शुद्धः प्रबलः प्रबोधः।
स्वात्मैव सौख्यं परमार्थदृष्ट्या स्वात्मैव वीर्यं सुखदं च वृत्तम् ॥४६६॥
व्यक्तोपि गुप्तः कथितः प्रमाणात् सुखप्रदो वात्मन एव धर्मः।
शान्त्यर्थमेवं क्रियते विचारः स्यात्तद्विना मूर्खनृवद् व्यथादः ॥४६७॥

अर्थ–यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो यह मेरा आत्मा ही चिदानन्दमय सम्यग्दर्शन है यही आत्मा अत्यन्त शुद्ध अनन्तज्ञान है, यही आत्मा अनन्तसुख है, यही आत्मा अनन्तवीर्य है, यही आत्मा सुख देनेवाला सम्यक् चारित्र है और यही आत्मा सुख देनेवाला आत्माका शुद्ध स्वरूप है। ऐसा यह आत्मा व्यक्त होता हुआ भी गुप्तरूपसे रहता है और प्रमाणसे उसका स्वरूप कहा जाता है। इसप्रकारके विचार केवल शांतिके लिए ही किए जाते हैं। यदि ऐसे विचार होते हुए भी शान्ति प्राप्त न हो तो फिर उन विचारोंको मूर्ख मनुष्यके समान दुःख देनेवाले ही समझने चाहिए।

भावार्थ–इस संसारमें आत्मतत्त्वका चिंतवन सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। यद्यपि उसका स्वरूप अत्यन्त शुद्ध और निर्विकल्पक है और इसीलिए वह अवक्तव्य है कहा नहीं जा सकता, तथापि

उसका स्वरूप किसी एक एक गुणके द्वारा कहा जाता है, तथा किसी एक गुणके द्वारा ही चिंतवन किया जाता है। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय आत्माका निज स्वरूप है। ये आत्माके चारों गुण घातिया कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे प्रगट होते हैं। दर्शनावरण कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे अनन्तदर्शन गुण प्रगट होता है, ज्ञानावरण कर्मके नाश होनेसे अनन्तज्ञान वा केवलज्ञान प्रगट होता है, मोहनीय कर्मके अत्यन्त नाश होनेसे अनन्तसुख प्रगट होता है और अन्तराय कर्मके सर्वथा नाश होनेसे अनन्तवीर्य प्रगट होता है। ये चारों गुण सिद्ध अवस्थामें भी आत्माके साथ रहते हैं इसलिए चारों गुण आत्माके स्वभाव रूप है, अथवा आत्माके निज धर्म रूप है। इनमेंसे किसी एक गुणके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करना आत्मामें परम शान्ति प्राप्त करनेवाला है। यद्यपि इन चारों गुणोंमेसे ज्ञान गुण साकार है और सवि-कल्पक है तथा शेष सब गुण निराकार और निर्विकल्पक हैं तथापि ज्ञानके द्वारा उनका निरूपण किया जाता है। यद्यपि अन्य समस्त पदार्थोंके चिंतवन करनेसे भी शान्ति प्राप्त होती है तथापि समस्त पदार्थ वा तत्त्वोंकी अपेक्षा आत्मतत्त्व सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। समस्त तत्त्वोंमें एक आत्मतत्त्व ही उपादेय है शेष तत्त्व हेय हैं। इसलिए आत्मतत्त्वका चिंतवन करना सर्वोत्कृष्ट चिंतवन वा ध्यान कह-लाता है और इसीलिए आत्मतत्त्वक चिंतवन करनेसे परम शांति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि अपने आत्म तत्त्वका चिंतवन करनेसे यह आत्मा अन्य समस्त संकल्प विकल्पोंका त्याग कर केवल आत्मामें ही लीन हो जाता है। इसलिए उस समय उस आत्मामें सब प्रकारकी आकुलताएं नष्ट हो जाती हैं और केवल आत्मामें लीन होनेके कारण परम शांति प्राप्त हो जाती है। वह परम शांति सब प्रकारके आस्रव वा बंधको रोकनेवाली होती है और आत्माका परम कल्याण करनेवाली होती है! जो लोग इस प्रकारके आत्माका चिंतवन करते हुए भी परम शांति प्राप्त नहीं करते उनका

वह आत्म चिंतवन सर्वथा मिथ्या समझना चाहिए और इसीलिए वह चिंतवन मूर्ख मनुष्यके समान महादुःख देनेवाला समझना चाहिए।

प्रश्न—स्वपरवस्तुबोधेन कस्य सिद्धिर्भवेद्वद ?

अर्थ-हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि स्व और परपदार्थोंके ज्ञान होनेसे किस पदार्थकी सिद्धि होती है ?

उत्तर-एकः सदा मे विमलोऽस्ति स्वात्मा ज्ञातापि दृष्टा हि परैरभेद्यः।
स्वानन्दपूरोऽखिलदुःखदूरः सदा स्वसंवेदनतश्च गम्यः ॥४६८॥
पूर्वोक्तधर्मेण विवर्जितो यः स एव हेयश्च निजात्मनोऽन्यः।
ज्ञात्वेति सेव्यः सुखदो निजात्मा शान्त्यै यथा भव्यजनैर्जिनेन्द्रः।४६९।

अर्थ—यह मेरा आत्मा अत्यन्त निर्मल है, एक है, ज्ञाता है, दृष्टा है, दूसरोंके द्वारा अभेद्य है, अपने आत्मजन्य आनन्दका पूर है, समस्त दुःखोंसे दूर है और सदाकाल अपने आत्माके स्वसंवेदन-ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। जो पदार्थ ऊपर लिखे हुए धर्मसे रहित है और अपने आत्मासे भिन्न है वह सदाकाल हेय वा त्याग करने योग्य समझा जाता है। यही समझकर जिसप्रकार भव्यजीव अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा सेवा करते हैं उसीप्रकार अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए सुख देनेवाले अपने आत्माकी ही सेवा करनी चाहिए अर्थात् अपने आत्माका ही ध्यान वा चिंतवन करना चाहिए।

भावार्थ-स्वपरभेदविज्ञान होनेसे आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति वा सिद्धि होती है। इसका भी कारण यह है कि मोहनीय कर्म अपने आत्माके स्वरूपको भुला देता है। मोहनीय कर्मके उदयसे यह

आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको न देख सकता है न जान सकता है। जब कभी किसी विशेष पुण्य-कर्मके उदयसे अथवा काललब्धिके निमित्तसे उस मोहनीय कर्मका उपशम वा क्षयोपशम वा क्षय हो जाता है, तब उस आत्मामें एक प्रकारका निर्मल प्रकाश प्रगट हो जाता है, उस निर्मल प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस निर्मल प्रकाशके प्रगट होनेसे यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको देखने और जानने लगता है। जब यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको देख लेता है वा जान लेता है तब यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको उपादेय समझकर ग्रहण कर लेता है और उस आत्माके शुद्ध स्वरूपके सिवाय अन्य समस्त आत्माके विकारोंका त्याग कर देता है। इस प्रकार आत्माके साथ लगे हुए परपदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे वह शुद्ध स्वरूप ज्ञाता दृष्टा चिदानंदमय निर्मल स्वात्मा अकेला ही रह जाता है। उस समय परपदार्थोंका कोई संबंध न रहनेके कारण उस आत्मामें कोई किसी प्रकारकी आकुलता प्रगट नहीं होती। आकुलताका प्रगट न होना ही आत्मामें परम शांतिका उत्पन्न होना है। इस प्रकार अपने आत्माके स्वरूपको तथा अन्य समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जान लेनेसे अपने आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति होती है तथा यही परम शांति मोक्षकी प्राप्तिका मुख्य साधन है। इसलिए भव्यजीव जिस प्रकार भगवान जिनेंद्रदेवकी सेवा वा भक्ति करके अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करते हैं उसी प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप और परम सुख देनेवाले आत्माकी सेवा करके वा उसका चिंतवन करके समस्त भव्य जीवोंको अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर लेना चाहिए। ऐसी परम शांति प्राप्त कर लेनेके अनंतर उस भव्य जीवको मोक्षकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

प्रश्न—मिथः सम्बन्धचर्चानां को हेतुर्विधते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पदार्थोंमें परस्परक संबंध होनेसे वा परस्परके संबंधकी चर्चा करनेसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर–दुःखप्रदानां भवबन्धकानां संयोगतो बाह्यपदार्थकानाम् ।
भीमे भवाब्धौ च पतन्ति मूढाः विभावशक्तेः प्रबलोदयाद्वा ॥४७०॥
यथैव मेघाः पवनप्रसंगात् प्रजा यथा दुष्टनृपस्य संगात् ।
मिथःप्रबोधादिति तेपि शान्तिं लब्ध्वा लभन्ते समयं स्वराज्यम् ।४७१

अर्थ–जिस प्रकार वायुके संयोगसे मेघ सब गिर जाते हैं और दुष्ट राजाके संबंधसे प्रजा भी गिर जाती है उसी प्रकार विभाव-शक्तिके प्रबल उदयसे तथा दुःख देनेवाले और संसारका बंध करनेवाले बाह्य पदार्थोंके संबंधसे ये अज्ञानी जीव इस भयंकर संसाररूपी समुद्रमें गिरकर डूब जाते हैं तथा वे ही अज्ञानी जीव उन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर लेते हैं और उस परम शांतिको प्राप्त कर लेनेसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको तथा मोक्षरूप स्वराज्यको प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें यह जीव इन कर्मोंके ही निमित्तसे अनादिकालसे परिभ्रमण कर रहा है। अपने कषायादिकोंके निमित्तसे पौद्गलिक कर्मोंको ग्रहण करता है और फिर उन कर्मोंके उदयसे दुःखी होता हुआ नवीन कर्मोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार बीज वृक्षके समान कर्म और कषायोंका संबंध इस आत्माके साथ लगा हुआ है। ये कर्म और कषाय दोनों ही पौद्गलिक हैं और आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। इन्हीं कर्मोंके उदयसे होनेवाले कषायोंको वा मोहादिके विकारोंको विभाव-भाव कहते हैं। इन्हीं विभाव-भावोंकी तीव्रतासे यह जीव अशुभ कर्मोंका बंध करता है और उन अशुभ कर्मोंके उदयसे इस संसार-समुद्रमें परिभ्रमण करता हुआ महादुःख भोगता है। जिस प्रकार वायुके निमित्तसे बादल गिर जाते हैं अथवा जिस प्रकार दुष्ट राजाके निमित्तसे प्रजा गिरकर महा दुखी होती है उसी प्रकार इन

कर्म और कषायोंके निमित्तसे यह जीव इस संसारमें पडा पडा महादुःख भोग रहा है। जब यह जीव अपने आत्मा वा कषाय वा कर्मोंका यथार्थ स्वरूप जान लेता है तब यही उन कषाय और कर्मोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझकर उनका त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ही अपना स्वरूप समझकर उसमें लीन हो जाता है तथा जब यह आत्मा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन हो जाता है तब परपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाली आकुलता भी नष्ट हो जाती है और फिर उस आत्माको परम शांतिकी प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार वह आत्मा परम शांत होकर अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है और मोक्षरूप स्वराज्यको प्राप्त कर लेता है तथा यही इस आत्माके परम कल्याणका उपाय है।

प्रश्न–पंचामृताभिषेकादिः किमर्थं क्रियते प्रभो ?

अर्थ–हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि भगवान् जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिका पंचामृताभिषेक किसलिये किया जाता है ?

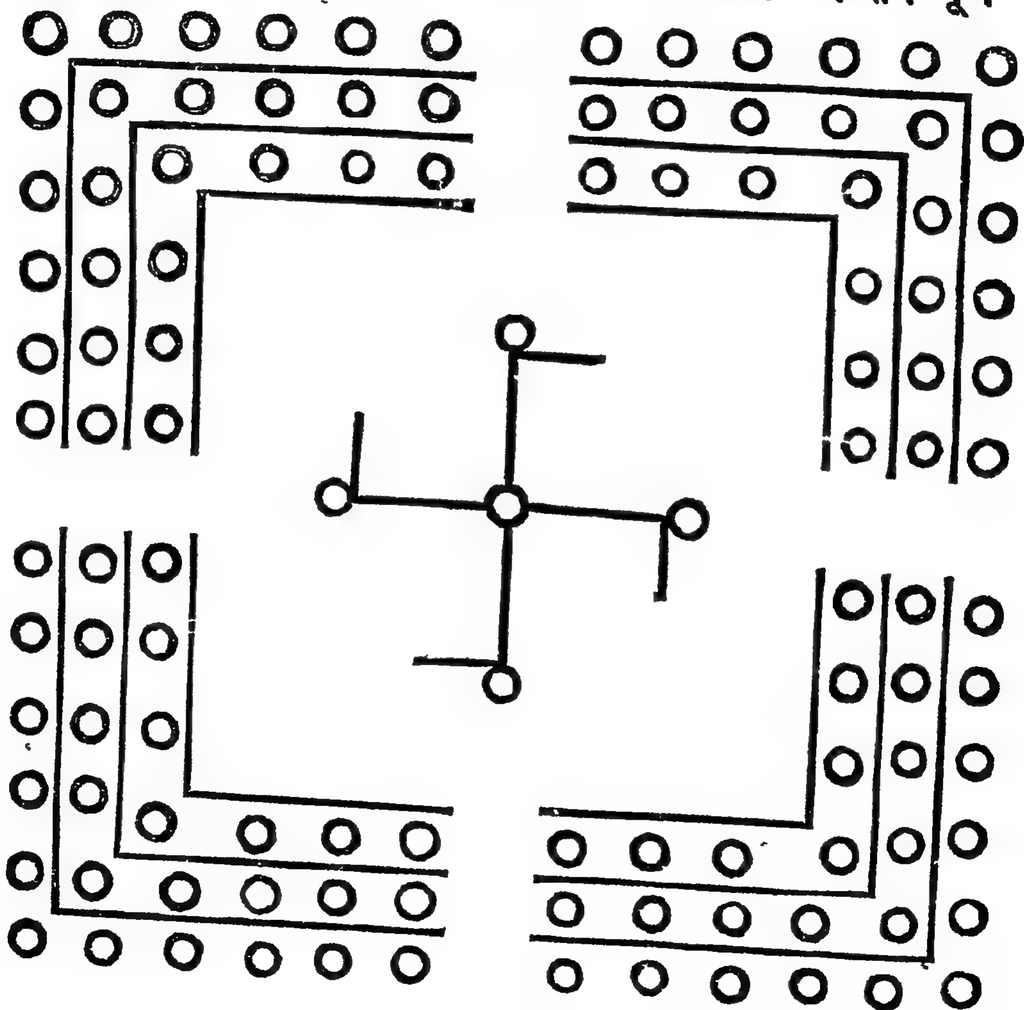
उत्तर–शुद्धैर्जलैः शान्तिकरैः प्रियैश्च सुखप्रदैश्चेक्षुरसैः सुमिष्टैः ।
श्रेष्ठैः घृतैः कांचनवर्णतुल्यैः शुभ्रैर्महापौष्टिकरैश्च दुग्धैः ॥४७२॥
श्रीक्षीरसिंधोर्दधिभिः प्रगाढैः सर्वांगदैश्च स्वसुखप्रदैश्च ।
जिनेन्द्रमूर्तेश्च क्रियतेभिषेको रसैस्तथाम्रादिमहाफलानाम् ॥४७३॥
भक्त्या मुनिश्रावकधर्मकर्त्रे चतुर्विधं दीयत एव दानम् ।
शान्त्यर्थमेवापि गृहादिशुद्धिः सुखप्रदं चाष्टविधार्चनादि ॥४७४॥

पूर्वोक्तकार्यं सकलं यथावत् सदैव कुर्वन्नपि चेन्न शान्तिः ।
अभव्यजन्तोरिव तस्य जन्तोः सर्वं वृथा स्याद्धि विधेर्विधानम् ।४७५

अर्थ—सबसे पहले शांति उत्पन्न करनेवाले और अत्यन्त प्रिय ऐसे शुद्ध जलसे भगवान्‌का अभिषेक करना चाहिए, सुख देनेवाले और अत्यन्त मिष्ट ऐसे इक्षुरससे अभिषेक करना चाहिए, फिर सुवर्णके समान घीसे अभिषेक करना चाहिए, अत्यन्त सफेद और महापुष्ट करनेवाले दूधसे अथवा क्षीर सागरके जलसे अभिषेक करना चाहिए, तदनन्तर गाढे दहीसे अभिषेक करना चाहिए, फिर आत्माको सुख देनेवाले सर्वौषधिसे अभिषेक करना चाहिए। तदनन्तर आम आदि महा फलोंके रससे अभिषेक करना चाहिए। इसीप्रकार मुनि वा श्रावकके धर्मको धारण करनेवाले मुनि वा श्रावकोंको भक्ति पूर्वक चारों प्रकारका दान देना चाहिए, पात्रदान देकर वा समदत्ति देकर गृह-शुद्धि करनी चाहिए और भगवान् जिनेन्द्रदेवका सुख देनेवाला आठ द्रव्यसे पूजन करना चाहिए। ये सब काम आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए किये जाते हैं। यदि इन समस्त कार्योंको विधि-पूर्वक करते हुए भी आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर उस जीवका समस्त विधि-विधान अभव्य जीवके द्वारा किए हुए विधि-विधानके समान व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—पंचामृताभिषेककी संक्षिप्त विधि इसप्रकार है। सबसे पहले दूध, दही, घी, इक्षुरस, सर्वौषधिरस, फलरस, गंधोदक आदिके कलश तैयार कर लेना चाहिए। फिर चार कोण कलश तथा एक पूर्ण कलश तैयार करना चाहिए। इन पांचों कलशोंमें अक्षत, पुष्प, रत्न आदि डालने चाहिए ऊपर पान और नारियल रखना चाहिए चारों ओर सूत्रवेष्टन करना चाहिए। फिर दशों दिशाओंमें दश दिक्पालोंका आह्वान करना चाहिए तथा क्षेत्रपाल आदि शासनदेवोंका आह्वान करना चाहिये। तदनन्तर 'श्रीकार' लिखकर उस पीठपर प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए अर्घ्य देना

चाहिए। तदनन्तर कलश पूजन कर सुन्दर श्लोक और मंत्र पढते हुए पहले जलसे, इक्षुरससे, घीसे, दूधसे, दहीसे, सर्वौषधिसे अभिषेक करना चाहिए। यहींपर फलोंके रसोंसे भी अभिषेक करना चाहिए। तदनन्तर गंधोदकसे फिर कोण कलशोंसे और सबसे अन्तमें पूर्ण कलशसे अभिषेक



करना चाहिए। यदि एकसौ आठ कलशोंसे अभिषेक करना हो तो कोण कलशोंसे पहले एकसौ आठ कलशोंसे अभिषेक कर लेना चाहिए। एकसौ आठ कलशोंका स्थापन ऊपर लिखे यंत्रके समान करना चाहिए।

इनमें चारों कोणोंके चार कलश कोणकलश माने जाते हैं और मध्यका कलश पूर्ण कलश माना जाता है।

पंचामृताभिषेक करते समय अथवा एकसौ आठ वा एक हजार आठ कलशोंका अभिषेक करनेपर उस अभिषेकको देखनेके लिए हजारों लोग इकट्ठे होते हैं तथा अभिषेक होते ही सब लोग जयजयकार करते हुए अत्यन्त प्रफुल्लित और आनन्दित होते हैं। इसप्रकार हजारों मनुष्य एक साथ पुण्य सम्पादन करते हुए अपने आत्माको शांत बना लेते हैं। जो लोग ऐसे अभिषेकोंसे महापुण्यका सम्पादन नहीं करते वा अपने आत्माको शांत नहीं करते उन्हें भी भाग्यहीन वा अज्ञानी समझना चाहिए। अतएव पंचामृताभिषेक करना आत्माका परम कल्याण करनेवाला है और भगवान् जिनेन्द्रदेवमें भक्तिका प्रवाह बहानेवाला है। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्तिकी अपार महिमा है। आचार्यवर्य श्रीसमन्तभद्रके समान भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भक्ति अद्भुत महात्म्यको प्रगट करनेवाली और तीर्थंकर नामकर्म तकका बंध करनेवाली होती है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको भगवान् जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिका पंचामृताभिषेक करना चाहिए और सैकडों हजारों मनुष्योंको पुण्य सम्पादन कराना चाहिए। जिन पूजनमें पंचामृताभिषेक करना मुख्य पूजन है और प्रत्येक भव्यजीवके लिए प्रतिदिनका कर्त्तव्य है। श्रीपूज्यपाद आदि अनेक आचार्योंने पंचामृताभिषेकके पाठ निरूपण किए हैं तथा सब आचार्योंने इसकी पुष्टि की है। इसलिए यह शास्त्रोक्त मार्ग है। जो इसका खंडन करता है वह शास्त्रोंका खंडन करता है और महापाप उत्पन्न करता है। यही समझकर प्रत्येक भव्यपुरुषको

यह महाभिषेक प्रतिदिन करना चाहिए। सैकडों वा हजारों मनुष्योंके लिए शांति प्राप्त करने और आत्माके कल्याण करनेका यह सर्वोत्कृष्ट और सरल मार्ग है।

इसीप्रकार मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका आदिके लिए उनकी आवश्यकतानुसार चारों प्रकारका दान देना चाहिए। मुनियोंके लिए पीछी, कमंडलु, आहार, औषध, शास्त्र, वसतिका आदिका दान देना चाहिए। अर्जिका वा क्षुल्लिकाओंके लिए वा ऐलक क्षुल्लकके लिए उनकी आवश्यकतानुसार ऊपर लिखे पदार्थ भी देने चाहिए तथा वस्त्र भी देने चाहिए। श्रावक श्राविकाओंके लिए उनकी आवश्यकतानुसार धन वस्त्र वर्तन औषधि आदि जो वन सके वही देना चाहिए। इस प्रकारके दान देनेमे भी आत्माको परम संतोष और शांति प्राप्त होती है तथा महा पुण्यका उपार्जन होता है। इसके सिवाय प्रतिदिन भगवान जिनेंद्रदेवका पूजन करना चाहिए और वह जल चंदन आदि अष्ट द्रव्योंसे ही करना चाहिए। पूजन करनेसे भी आत्मामें परम संतोष और परम शांति प्राप्त होती है। इसप्रकार भगवान जिनेंद्रदेवकी भक्ति करनेसे आत्माको परम शांति प्राप्त होती है तथा परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो पुरुष इन विधिविधानोंको करते हुए भी अपने आत्मामें शांति प्राप्त नहीं करते उनको या तो अभव्य जीव समझना चाहिए अथवा अभव्य जीवके समान उसका सब कर्तव्य व्यर्थ समझना चाहिए वा मिथ्या वा मायाचारीपूर्ण समझना चाहिए। इसलिए भगवानकी भक्ति विना मायाचारीके सच्चे हृदयसे होनी चाहिए तभी आत्मामें शांति प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न—सम्मेलं धर्मिणां स्वामिन् किमर्थं चिन्त्यते मिथः ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अव कृपा कर यह वतलाइए कि धर्मात्मा पुरुषोंका परस्पर सम्मेलन किसलिए किया जाता है वा किसलिए चिंतवन किया जाता है।

उत्तर–शान्त्यर्थमेवेह मिथोऽविरुद्धा प्रमाणसिद्धा सकला प्रवृत्तिः ।
सर्वैः समं लोकविधेर्विधानं सम्मेलनादिः क्रियते यथावत् ॥४७६॥

अर्थ–इस संसारमें शांतिके ही लिए परस्पर अविरुद्ध और प्रमाणसिद्ध समस्त प्रवृत्तियां की जाती हैं तथा शांतिके लिए ही समस्त लौकिक विधियां की जाती हैं और शांतिके ही लिए धर्मात्मा पुरुषोंका सम्मेलन आदि किया जाता है।

भावार्थ–मेला प्रतिष्ठाओंमें अनेक धर्मात्मा पुरुष बुलाए जाते हैं वा स्वयं आते हैं, वे सब मिलकर आत्मतत्त्वकी चर्चा करते हैं, आत्माके कल्याणका उपाय बतलाते हैं, धर्मकी वृद्धिके उपाय बतलाते हैं, अपनी भावी संतानको धर्मात्मा बनानेका विचार करते हैं, विद्वान् बनानेका विचार करते हैं, प्रभावनाके अंगोंकी वृद्धिके लिए विचार करते हैं और अनेक प्रकारका धर्मोपदेश देते हैं। ऐसा करनेसे स्वयं उनको शांति मिलती है तथा सुननेवाले अनेक भव्य जीवोंको शांति प्राप्त होती है तथा अनेक जीवोंका कल्याण होता है। उसी प्रकार यज्ञोपवीत आदि जितने संस्कार हैं वा दान पूजा वा परस्परका व्यवहार आदि जितनी प्रवृत्तियां हैं वे सब इस प्रकार करनी चाहिए जिससे परस्पर कभी विरोध न हो तथा समस्त प्रवृत्तियां शास्त्रानुकूल हों। परस्पर श्रावकोंके साथ वा अन्य लोगोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है वह भी शास्त्रानुकूल और शांतिके लिए होना चाहिए। ऐसा करनेसे ही धर्मकी वृद्धि और आत्मामें शांति प्राप्त होती है।

प्रश्न—किमर्थं पूज्यते राजा किमर्थं दण्ड्यते वद ?

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि किसलिए तो राजाकी पूजा की जाती है और किस लिए राजाको दंड दिया जाता है?

उत्तर–स्वपुत्रवत्पालयति प्रजां यो दधाति शांतिं भुवि वृष्टिवद् वा ।
स एव राजा खलु पूज्यते च शान्त्यर्थमेवं सकलप्रजाभिः ॥४७७॥
इयं प्रजा मे तनयोस्ति चायमिति प्रमोहाद्धि करोति भेदम् ।
दुःखं प्रजानां तनयस्य सौख्यं ददाति चेद् यः स च दण्डनीयः ।४७८

अर्थ–जो राजा अपनी समस्त प्रजाको पुत्रके समान पालन करता है और जो वर्षाके समान समस्त संसारमें शांति स्थापन करता है वह राजा केवल शांतिके लिए सब प्रजाके द्वारा पूजा जाता है तथा जो राजा यह विचार करता है कि यह तो प्रजा है और यह मेरा पुत्र है। इस प्रकार विचार कर जो मोहके कारण अपने पुत्र और प्रजामें भेद स्थापन कर देता है तथा जो प्रजाको दुःख दिया करता है और अपने पुत्रको सुख पहुंचाता है वह राजा शांतिभंगका कारण है और इसीलिए वह राजा प्रजाके द्वारा दंडनीय होता है।

भावार्थ–जिस प्रकार किसी एक घरमें उस घरका जो स्वामी होता है वह अपने घरके सब लोगोंका पालन करता है। घरमें जो पढाने योग्य होता है उसको पढाता है, जो दूध पीने योग्य होता है उसको दूध पिलाता है, जो व्यापार योग्य होता है उसको व्यापारमें लगाता है और जो जिस योग्य होता है उसको उसी काममें लगा देता है। वह गृहस्थ अपने घरमें किसी प्रकारका कलह नहीं होने देता सबको सुखी रखता है। उसी प्रकार राजा भी अपने राज्यका स्वामी होता है। उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने राज्यमें सब प्रकारकी शांति बनाए रक्खे। प्रजावर्गमें जो व्यापारके योग्य हैं उनको व्यापारमें लगा देवे, जो सेनाके योग्य हैं उनको सेनामें रक्खे, जो खेतीके योग्य हैं उनको खेतीमें रक्खे, और जो सेवा करने योग्य हैं उनको सेवावृत्तिमें लगावे। इस प्रकार वर्णव्यवस्था शास्त्रानुकूल बनाए

रखना राजाका कर्तव्य है। इसी प्रकार अपराधीको दंड देना राजाका काम है। यदि राजाका पुत्र स्वयं अपराध करे तो विना कुछ मोह वा विचारके उसे अपने पुत्रको भी दंड देना राजाका कर्तव्य है। जब तक राजाका पुत्र राजसिंहासनपर नहीं बैठता तब तक वह भी प्रजावर्गमें ही गिना जाता है। इसलिए राजाको प्रजा और पुत्रमें कोई भेद नहीं रखना चाहिए। ऐसा न्यायपरायण राजा ही प्रजाके द्वारा पूजा जाता है और वह भी शांति बनाए रखनेके कारण ही पूजा जाता है। जो राजा इसप्रकार न्यायपरायण नहीं होता अथवा जो प्रजा-पुत्रमें भेद मानता है तथा वर्णव्यवास्थाको तोड कर संसारमें अशांतिस्थापन करता है ऐसा राजा प्रजाके द्वारा दंडनीय होता है।

प्रश्न–राजद्रोहिनरत्यागहेतुः को विद्यते वद ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि राजद्रोही मनुष्यका त्याग किसलिए किया जाता है ?

उत्तर–प्रजापालनरक्तो यो यदि मोहात्खलैर्नृपः।
हन्यते राज्यहेतोर्यः शान्त्यर्थं सोपि दण्ड्यते ॥४७९॥
न्यायनीतेर्यदा भ्रष्टः काष्ठांगारो यथा खलः।
नीतिज्ञधर्मनिष्ठेन जीवंधरेण ताडितः ॥४८०॥

अर्थ–जिसप्रकार न्याय और नीतिसे भ्रष्ट होनेवाले दुष्ट काष्ठांगारको नीतिको जाननेवाले धर्मात्मा राजा जीवंधरने ताडन किया था, उसीप्रकार जो राजा प्रजा पालन करनेमें लीन रहता है उसको भी जो दुष्ट केवल राज्य छीन लेनेके लिए मार देते हैं उनको संसारमें शांति प्राप्त करनेके लिए दंडित किया जाता है।

भावार्थ—जीवोंकी हिंसा करना पाप है परन्तु उस पापमें भी अपने परिणाम और जीवोंकी शक्तिकी अपेक्षासे भेद हो जाता है। एक घासका पौधा उखाडनेमें जितना पाप लगता है उससे कहीं अधिक पाप बडे बृक्षके काटनेमें लगता है, उससे भी अधिक पाप लट आदि दो इन्द्रिय जीवोंके घात करनेमें लगता है। उससे भी अधिक पाप चींटी-चींटा आदि तेइन्द्रिय जीवोंके घात करनेमें लगता है, उससे भी बहुत अधिक पाप मक्खी भौंरा आदि चौ-इन्द्रिय जीवोंके घात करनेमें लगता है। उससे भी अधिक पाप पंचेन्द्रिय असैनीके घात करनेमें लगता है, उससे भी अधिक पाप पंचेन्द्रिय पशुके घात करनेमें लगता है, उससे भी अधिक पाप मनुष्योंके मारनेमें लगता है और उससे भी अधिक पाप किसी राजा वा किसी धर्मात्माको मारनेमें लगता है। इसका भी कारण यह है कि धर्मात्मा राजासे वा अन्य धर्मात्माओंसे सैकडों हजारों जीवोंको लाभ पहुंचता है अथवा सैकडों जीवोंका कल्याण होता है। उसके मार देनेमें उस लाभ वा कल्याणका मार्ग बंद हो जाता है। इसीलिए राजद्रोही पुरुष महादुष्ट और महापापी माना जाता है तथा संसारमें अशांति उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है। दुष्ट काष्ठांगारने अपनी दुष्टताके कारण सत्यंधरको मार कर राज्य छीन लिया था जिससे उसकी रानीको दुःख हुआ था, जीवंधर कुमारको दुःख हुआ था और सब प्रजा दुखी होकर अशांत हो गई थी। अन्तमें जीवंधरने उसको ताडित कर राज्य अपने हाथमें ले लिया था और सब प्रजाको सुखी कर शांत किया था। राजद्रोही पुरुष संससारभरमें अशांतिका कारण होता है इसीलिए वह दंडित किया जाता है। ऐसे राजद्रोही पुरुषको दंडित करनेसे ही प्रजा शांत होती है। अतएव प्रजामें शांति बनाए रखना वा धर्मात्माओंमें शांति बनाए रखना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

प्रश्न—किमर्थं दृश्यते जैनधर्मस्यैव महत्त्वता ?

अर्थ–हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें जैनधर्मकी महत्ता ही क्यों दिखाई पडती है ?

उत्तर–निर्दोषयोगान्निरपेक्षबुध्या लोके पदार्थाश्च यथैव सन्ति ।
जिनेन भव्याय तथा हि चोक्ताः निश्चीयते ह्येव ततस्त्रिलोके ॥४८१॥
जिनेन्द्रधर्मोऽस्ति सदा पवित्रः सर्वैश्च सर्वोपरिमाननीयः ।
ततः स एवं हृदि धारणीयः सत्यार्थशान्त्यै सकलैश्च विश्वैः ॥४८२॥

अर्थ–इस संसारमें जो पदार्थ जिस स्वरूपमें विद्यमान है भगवान् जिनेन्द्रदेवने अपनी निर्दोष और वीतराग तथा सर्वज्ञ अवस्था होनेके कारण अपनी निरपेक्ष वा समता बुद्धिसे भव्यजीवोंके लिए उसीप्रकार निरूपण किए हैं और इसीलिए तीनों लोकोंमें उसीप्रकार उनका निश्चय किया जाता है। इसके सिवाय यह जैनधर्म अत्यन्त पवित्र है और समस्त जीव इसको सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। अतएव समस्त संसारको यथार्थ शांति प्राप्त करनेके लिए यह जैनधर्म सदाकाल अपने हृदयमें धारण करना चाहिए।

भावार्थ—भगवान् अरहंतदेव राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित वीतराग होते हैं तथा सर्वज्ञ होते हैं। सर्वज्ञ और वीतराग होनेके कारण वे जो कुछ निरूपण करते हैं वह सर्वथा यथार्थ ही होता है। पदार्थोंका अयथार्थ स्वरूप या तो अजानकारीके कारण कहा जाता है अथवा किसी राग वा द्वेषसे कहा जाता है। भगवान् अरहंतदेवके सर्वज्ञ होनेके कारण न तो किसी पदार्थकी अजानकारी है और न वीतराग होनेके कारण किसीसे राग वा द्वेष है। इसलिए वे जो कुछ कहते हैं वह सब यथार्थ ही होता है उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड सकता। जिस महापुरुषके हृदयमें समस्त

जीवोंके कल्याण करनेकी भावना सतत बनी रहती है वे ही जीव दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन कर तीर्थंकर नामकर्मका बंध करते हैं तथा वे ही तीर्थंकर परमदेव वीतराग सर्वज्ञ होनेपर तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। इसलिए वह तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ होता है, जीवोंका कल्याण करनेवाला होता है और तीनों लोकोंमें वही निश्चित तत्त्व माना जाता है। उन भगवान् तीर्थंकर सर्वज्ञ परमदेवने जो अहिंसामय धर्मका स्वरूप कहा है वह धर्म यथार्थ धर्म है सब जीवोंका कल्याण करनेवाला है, अत्यंत पवित्र है और इंद्र नरेंद्र धरणींद्र आदि सब इसको मानते हैं। यह अहिंसामय धर्म ही सब जीवोंको कल्याण करनेवाला है, सब जीवोंको शांति प्राप्त करानेवाला है और मोक्षका साक्षात् कारण है। यही समझकर अपने हृदयमें परम शांति प्राप्त करनेके लिए समस्त भव्य जीवोंको यही पवित्र जैनधर्म अपने हृदयमें धारण करना चाहिए। इस जैनधर्मका माहात्म्य सर्वोपरि प्रसिद्ध है, जो महापुरुष इस पवित्र जैनधर्मको धारण करता है उसकी सेवा इंद्रादिक देव भी किया करते हैं। मुनि लोग इसी पवित्र जैनधर्मको धारण करनेके कारण महा पूज्य माने जाते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे जैन-धर्मका माहात्म्य तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है।

प्रश्न—वद मे चिन्त्यते जन्तोः किं पंचपरिवर्तनम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस संसारमें संसारी जीव जो पंचपरिवर्तन-रूप संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं उन पंचपरिवर्तनके स्वरूपका चिंतवन करनेका क्या कारण है ?

उत्तर—द्रव्यस्य भावस्य भवस्य जन्तोः क्षेत्रस्य कालस्य यथा स्थितस्य ।
युक्त्या प्रयुक्त्या नयमानयोगात् केनाप्युपायेन सतः स्वरूपम् ।४८३

शान्त्यर्थमेव ह्यवगम्यते च संसारलीलादिविदा नरेण।
पूर्वोक्तवस्त्वादि विबोधितेपि वृथा प्रबोधः यदि चेन्न शान्तिः ॥४८४॥

अर्थ—द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन ये पांच परिवर्तन कहलाते हैं। जो पुरुष इस संसारकी लीलाको वा संसारके स्वरूपको जानते हैं वे पुरुष अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए किसी भी युक्ति प्रयुक्तिसे वा किसी भी प्रमाण नयसे वा अन्य किसी उपायसे इन पांचों परिवर्तनोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करते हैं। यदि पांचों परिवर्तनोंके स्वरूपको जानकर भी उनके आत्मामें शांति प्राप्त न हो तो वह उनका जानना सब व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—ऊपर लिख चुके हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे परिवर्तन वा संसारके पांच भेद हैं। इनमेंसे द्रव्यका अर्थ पुद्गल है। इसलिए द्रव्य परावर्तनका अर्थ पुद्गलपरावर्तन होता है। यों तो पुद्गलोंके अनेक भेद हैं परंतु जिन पुद्गलोंसे जीवका संबंध है उन्हीं पुद्गलोंको यहांपर ग्रहण करते हैं। ऐसे जीवसे संबंधित होनेवाले पुद्गल कर्म और नोकर्मके भेदसे दो प्रकार हैं। अतएव द्रव्य परिवर्तनेके भी नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मपरिवर्तन ऐसे दो भेद हो जाते हैं। औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको नोकर्मवर्गणा कहते हैं और आठों कर्मोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको कर्मवर्गणा कहते हैं। इन्हींके परिवर्तनको नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। यह जीव प्रति समय कर्म वा नोकर्म वर्गणाओंको ग्रहण करता रहता है। मान लो कि किसी जीवने एक समयमें नोकर्म वर्गणा ग्रहण कीं। वे नोकर्म वर्गणाएं अपने समयानुसार निर्जीर्ण हो गईं। फिर दूसरे तीसरे आदि समयमें अन्य-अन्य नोकर्म वर्गणाएं ग्रहण कीं वे इस परिवर्तनमें शामिल नहीं होतीं। जब कभी पहले समयमें ग्रहण कीं हुई वर्गणाएं उतनी ही संख्याको

लिए तथा उतना ही स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गंधको लिए तथा उतना ही तीव्र मध्यम वा मन्द परिणामको लिए जब यह जीव दुबारा ग्रहण करता है और इसप्रकार ग्रहण करते करते समस्त तीन शरीर छह पर्याप्तके योग्य समस्त नोकर्म वर्गणाओंको दुबारा ग्रहण कर लेता है तब एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। मध्यके अपरिमित समयमें एक जीवने जो अनन्त अग्रहीत[1] वर्गणा ग्रहण कीं, अनन्त मध्य ग्रहीत वर्गणाएं ग्रहण कीं और अनन्त मिश्र वर्गणाएं ग्रहण कीं परन्तु वे सब गिनतीमें नहीं आतीं। इसप्रकार अत्यन्त संक्षेपसे नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप है।

कर्म आठ हैं उनमेंसे मानलो कि किसी जीवने किसी समयमें ज्ञानावरण कर्मके योग्य पुद्गल वर्गणा ग्रहण कीं, और वे द्वितीय तृतीय आदि किसी भी समयमें जाकर निर्जीर्ण हो गईं। फिर दूसरे समयमें ज्ञानावरणकर्मके ही योग्य अन्य वर्गणाएं ग्रहण कीं और वे भी समयानुसार निर्जीर्ण हो गईं। इसीप्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें ज्ञानावरणके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण करता रहा। जब कभी किसी समयमें पहले समयमें जो ज्ञानावरणके योग्य पुद्गल वर्गणाएं ग्रहण की थीं वे ही पुद्गल वर्गणाएं उतनी ही संख्याको लिए उतने ही स्निग्ध रूक्ष वर्णकी गंधको लिए तथा उतने ही तीव्र मध्यम मन्द परिणामको लिए यह जीव दुबारा ग्रहण करता है और इसीप्रकार जब दुबारा उसी रूपसे ज्ञानावरणके योग्य समस्त पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण कर लेता है तथा इसीप्रकार अन्य समस्त कर्मोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको दुबारा ग्रहण कर लेता है तब उसका वह एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। मध्यमें अग्रहीत मिश्र[2] वा मध्यग्रहीत[3] वर्गणाओंको अनन्तबार ग्रहण करता है परन्तु वह ग्रहण इस

१—जो वर्गणाएं पहले ग्रहण नहीं की हैं उनको अग्रहीत कहते हैं।

२—पहले ग्रहण की हुई जो थोड़ीसी वर्गणाएं नवीन वर्गणाओंमें मिलकर आती हैं उनको मिश्रवर्गणा कहते हैं।

३—जो पहले ग्रहण की हुई समस्त वर्गणायें अन्य अग्रहीत वर्गणाओंको अपने इधर उधर चारों ओर लिये हुए आती हैं उनको मध्यग्रहीत वर्गणायें कहते हैं।

परिवर्तनमें नहीं गिना जाता। इसप्रकार इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने जो कर्मके योग्य तथा ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके योग्य सम्पूर्ण पुद्गल वर्गणाएं अनन्तबार ग्रहण की हैं और अनन्त ही बार छोड दी हैं। इसप्रकारके विस्तृत परिभ्रमणको द्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

आगे क्षेत्र-परिवर्तनको कहते हैं। कोई सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्त जीव जघन्य अवगाहनाके शरीरको धारण कर मेरुके नीचेके लोकके मध्य भागमें जन्म ले और वह इसप्रकार जन्म ले कि जिसमें उस जीवके मध्यके आठ प्रदेश लोकके मध्यके आठ प्रदेशोंमें आ जांय। वह जीव अपनी आयु पूर्ण होनेपर मर जाय। फिर संसारमें परिभ्रमण करता हुआ किसी कालमें वहींपर उसीप्रकार जन्म ले। इसप्रकार भ्रमण करता करता असंख्यातबार वहीं पर उसीप्रकार जन्म ले। तदनन्तर भ्रमण करता एक प्रदेश अधिक क्षेत्रमें जन्म ले, फिर भ्रमण करता करता किसी कालमें दो प्रदेश अधिक क्षेत्रमें जन्म ले। इसीप्रकार श्रेणीवद्ध क्रमसे एक-एक प्रदेश बढता हुआ लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म ले। क्रम रहित प्रदेशोंमें जन्म लेना इसमें शामिल नहीं होता। इसप्रकार जितने अपरिमित कालमें यह जीव अपने जन्म द्वारा लोकाकाशमें सम्पूर्ण प्रदेश पूरा करे उतना उसका वह अपरिमित कालका परिभ्रमण क्षेत्र-परिवर्तन कहलाता है!

आगे काल परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं। कोई जीव उत्सर्पिणी कालके पहले समयमें उत्पन्न हुआ। मर कर संसारमें परिभ्रमण करता करता फिर किमी दूसरी तीसरी चौथी आदि उत्सर्पिणी कालके दूसरे समयमें उत्पन्न हो। फिर परिभ्रमण करता करता किसी भी उत्सर्पिणी कालके तीसरे समयमें जन्म ले फिर किसी भी उत्सर्पिणीके चौथे समयमें जन्म ले। इसप्रकार अनुक्रमसे पांचवें छठे आदि समयोंमें जन्म ले लेकर उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें अनुक्रमसे जन्म ले फिर इसीप्रकार अनुक्रमसे अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म ले। जिसप्रकार उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें

अनुक्रमसे जन्म लेकर उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालको पुरा किया है उसी प्रकार इन दोनों कालोंके प्रत्येक समयमें अनुक्रमसे मरण करता हुआ दोनों कालोंको पूर्ण करे। विना अनुक्रमके जो जन्म वा मरण किया जाता है वह इसमें शामिल नहीं है। इस प्रकारके महा परिभ्रमणको कालपरिवर्तन कहते हैं।

आगे भवपरिवर्तनका स्वरूप कहते हैं। कोई जीव प्रथम नरकमें दस हजारकी जघन्य आयु पाकर उत्पन्न हुआ और आयु समाप्त कर मर गया। तदनंतर फिर संसारमें परिभ्रमण करता हुआ किसी कालमें उसी प्रथम नरकमें उतनी ही आयु पाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। तदनंतर फिर भ्रमण करता-करता तीसरी बार वहींपर उतनी ही आयु पाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार वह जीव दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार दस-दस हजार वर्षकी आयु पाकर वहीं उत्पन्न हो और मरण करे। तदनंतर फिर भ्रमण करता हुआ एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर उसी नरकमें उत्पन्न हो। फिर दो समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर उत्पन्न हो। इस प्रकार एक-एक समय अधिक पाकर जन्म लेता हुआ सातों नरकोंकी तेंतीस सागरकी आयुको पूर्ण करे। क्रमप्राप्त आयुसे हीनाधिक आयु पाकर नरकमें जन्म लेना इस परिवर्तनकी गिनतीमें नहीं है। जब नरककी तेतीस सागरकी आयुको पूर्ण कर ले तब तिर्यंच योनिमें अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म ले, फिर परिभ्रमण करता हुआ अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर तिर्यंच योनिमें जन्म ले। इस प्रकार अंतर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी ही बार अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर तिर्यंच योनिमें जन्म ले। तदनंतर परिभ्रमण करता हुआ एक समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर तिर्यंच योनिमें जन्म ले, फिर दो समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म ले। इस प्रकार एक-एक समय अधिक आयु पाकर तिर्यंच योनिकी तीन पल्यकी आयुको पूर्ण करे। इसी प्रकार मनुष्य योनिमें अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म

ले, फिर परिभ्रमण कर दुबारा अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर जन्म ले। इस प्रकार अंतर्मुहूर्तके जितने समय होते हैं उतनी बार अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर मनुष्य योनिमें ही जन्म ले। फिर एक समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर मनुष्य योनिमें जन्म ले। फिर दो समय अधिक अंतर्मुहूर्तकी आयु पाकर मनुष्य हो। इस प्रकार अनुक्रमसे एक-एक समय अधिक आयु पाकर मनुष्य योनिकी तीन पल्यकी आयुको पूर्ण करे। मध्यकालमें क्रमप्राप्त आयुसे हीनाधिक आयु पाकर तिर्यंच वा मनुष्य होना इस परिवर्तनमें शामिल नहीं है। इस प्रकार जब तिर्यंच योनि और मनुष्य योनिकी समस्त आयुको अनुक्रमसे एक-एक समय बढाकर पूर्ण कर ले तब देवगतिमें दस हजार वर्षकी आयु पाकर जन्म ले। फिर परिभ्रमण कर दस हजार वर्षकी आयु पाकर दुबारा देवयोनिमें जन्म ले। फिर परिभ्रमण कर तीसरी बार दस हजार वर्षकी आयु पाकर देव हो। इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार दस-दस हजार वर्षकी आयु पाकर देव योनिमें उत्पन्न हो। तदनंतर परिभ्रमण करता हुआ एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर देवयोनिमें जन्म ले। फिर दो समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु पाकर जन्म ले। इस प्रकार देव योनिके इकतीस सागरकी आयुको पूर्ण करे। मध्यकालमें क्रमप्राप्त आयुसे हीनाधिक आयु प्राप्त कर देव होना इसमें शामिल नहीं है। इस प्रकारके इस महापरिभ्रमणको भव-परिवर्तन कहते हैं। इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि नव ग्रैवेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर है तथा संसारमें परिभ्रमण करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव नव ग्रैवेयक तक ही जाते हैं। इसलिए इस परिभ्रमणमें इकतीस सागर ही ग्रहण किए हैं। नव ग्रैवेयकसे ऊपर नो अनुदिश तथा सर्वार्थसिद्धि आदि पंचोत्तरमें सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं और वे एक या दो भवमें ही मोक्ष चले जाते हैं। इसलिए उनकी बत्तीस वा तेतीस सागरकी आयु इसमें नहीं ली गई है।

आगे भाव-परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं। अनन्त परिणामोंके द्वारा संसारमें परिभ्रमण करना

भावसंसार वा भावपरिवर्तन कहलाता है। यह जीव कर्मोंकी स्थितिके कारण संसारमें परिभ्रमण करता है, स्थितिके लिए कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। कषायाध्यवसायके लिए अनुभागस्थान कारण होते हैं। अनुभाग स्थानके लिए योगस्थान कारण होते हैं। स्थितिके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य आदि अनेक भेद हैं इसलिए उसके कारणभूत कषायाध्यवसाय, अनुभागाध्यवसाय और योगाध्यवसायके भी अनेक भेद होते हैं। उत्कृष्ट स्थितिके लिए उत्कृष्ट कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं और जघन्य स्थितिके लिए जघन्य कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं। मानलो कि किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने भावपरिवर्तन प्रारम्भ किया। उसके ज्ञानावरणकर्मकी जघन्य स्थिति अंतःकोडा-कोडी सागर पडती है। (एक करोडको एक करोडसे गुणा कर देनेसे कोडा-कोडी होता है, कोडा-कोडी सागरसे कुछ कम स्थितिको अंतःकोडा-कोडी सागर कहते हैं) उसकी उस जघन्य स्थितिके लिए असंख्यातलोकपरिमाण कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। (स्मरण रहे कि एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानमें अनन्तानन्त अविभागी परिच्छेद होते हैं और वे षट्स्थानपतित हानि वृद्धिरूप होते हैं) एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानके लिए असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण होते हैं। एक-एक अनुभागाध्यवसाय स्थानके लिए श्रेणीके असंख्यातभाग परिमाण योगस्थान कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिके लिए जैसा जघन्य योगस्थान चाहिए उनमेंसे एक हुआ, फिर चतुःस्थान वृद्धि हानिरूप होता हुआ दूसरा हुआ, फिर तीसरा हुआ। इसप्रकार जब उनकी संख्या श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण हो जाती है तब एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसीप्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण योगस्थान हो जाते हैं तब दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। इसप्रकार जब असंख्यात लोक परिमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान हो जाते हैं तब एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसी क्रमसे श्रेणीके असंख्यातवें भाग

पूर्वोक्तकार्ये सुखदा प्रवृत्तिः कार्या विचार्यैव तथान्यकार्ये ।
भवेद् यतः सर्वतनौ स्वशान्तिर्यथैव वृष्ट्या सकलेपि विश्वे ॥४८८॥

अर्थ—जिसप्रकार वृष्टि होनेसे समस्त संसारमें शांति हो जाती है उसीप्रकार चलनेमें, ठहरनेमें, कहनेमें, किसी भी कार्यके करनेमें, विनोदमें, गांवमें, वनमें, राज्य करनेमें, कला सीखनेमें, भोगोंमें, विलासोंमें, सोनेमें, बैठनेमें, दुष्टमें, सज्जनमें, किसी भी लौकिक विधिके करनेमें वा अन्य समस्त कार्योंमें अपनी सुख देनेवाली प्रवृत्ति विचार पूर्वक ही करनी चाहिए। विचार पूर्वक समस्त कार्य करनेसे इस संसारमें समस्त जीवोंको शांतिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—कहीं भी ठहरना हो तो विचार पूर्वक ही ठहरना चाहिए, ठहरते समय यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि यहां ठहरनेमें सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्रका घात तो नहीं होता है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। यहां ठहरनेमें देवदर्शन वा गुरुदर्शन होते हैं वा नहीं। जहांपर रत्नत्रयका घात होता हो वा देव दर्शनादिक न हों वहां कभी नहीं ठहरना चाहिए। गमन करते समय भी सब प्रकारके भयोंका विचार कर लेना चाहिए तथा मार्ग कुमार्गका विचार कर लेना चाहिए। वचनके कहनेमें वा किसी कामके करनेमें यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि इस बातके कहनेमें वा इस कामके करनेमें किसीको दुःख तो नहीं पहुंचता है अथवा किसीकी हानि तो नहीं होती है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। जिसमें किसीकी हानि हो वा धर्मका घात हो ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिए अथवा ऐसे कार्य कभी नहीं करने चाहिए। इसी प्रकार विनोद वा क्रीडा करनेमें भी किसी जीवकी हानि वा किसी जीवका घात वा धर्मके घातका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। विनोदके लिए शस्त्र चलाकर जीवोंका घात कभी नहीं करना चाहिए अथवा किसी जीवको दुःख पहुंचानेवाला विनोद कभी नहीं करना चाहिए। किसी गांव वा वनमें जानेके पहले धर्म

भावसंसार वा भावपरिवर्तन कहलाता है। यह जीव कर्मोंकी स्थितिके कारण संसारमें परिभ्रमण करता है, स्थितिके लिए कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। कषायाध्यवसायके लिए अनुभागस्थान कारण होते हैं। अनुभाग स्थानके लिए योगस्थान कारण होते हैं। स्थितिके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य आदि अनेक भेद हैं इसलिए उसके कारणभूत कषायाध्यवसाय, अनुभागाध्यवसाय और योगाध्यवसायके भी अनेक भेद होते हैं। उत्कृष्ट स्थितिके लिए उत्कृष्ट कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं और जघन्य स्थितिके लिए जघन्य कषायाध्यवसाय आदि कारण हैं। मानलो कि किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने भावपरिवर्तन प्रारम्भ किया। उसके ज्ञानावरणकर्मकी जघन्य स्थिति अंतःकोडाकोडी सागर पडती है। (एक करोडको एक करोडमें गुणा कर देनेमें कोडा-कोडी होता है, कोडाकोडी सागरसे कुछ कम स्थितिको अंतःकोडा-कोडी सागर कहते हैं) उसकी उस जघन्य स्थितिके लिए असंख्यातलोकपरिमाण कषायाध्यवसायस्थान कारण होते हैं। (स्मरण रहे कि एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानमें अनन्तानन्त अविभागी परिच्छेद होते हैं और वे षट्स्थानपतित हानि वृद्धिरूप होते हैं) एक-एक कषायाध्यवसाय स्थानके लिए असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण होते हैं। एक-एक अनुभागाध्यवसाय स्थानके लिए श्रेणीके असंख्यातभाग परिमाण योगस्थान कारण होते हैं। अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिके लिए जैसा जघन्य योगस्थान चाहिए उनमेंसे एक हुआ, फिर चतुःस्थान वृद्धि हानिरूप होता हुआ दूसरा हुआ, फिर तीसरा हुआ। इसप्रकार जब उनकी संख्या श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण हो जाती है तब एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसीप्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग परिमाण योगस्थान हो जाते हैं तब दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। इसप्रकार जब असंख्यात लोक परिमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान हो जाते हैं तब एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। फिर इसी क्रमसे श्रेणीके असंख्यातवें भाग

परिमाण योगस्थानोंसे एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है और इसी क्रमसे असंख्यात लोक परिमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानोंसे एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। इसप्रकार जब असंख्यात लोक परिमाण कषायाध्यवसाय स्थान हो जाते हैं तब एक जघन्य स्थिति स्थान होता है। यह जघन्य स्थिति स्थान उस पंचेन्द्रिय जीवका वही अंतःकोडा-कोडी समझना चाहिए। इसप्रकार जब अंतःकोडा-कोडी सागर स्थितिके योग्य कषायाध्यवसाय स्थान पूर्ण हो जाते हैं तब फिर एक समय अधिक अंतःकोडा-कोडी सागरकी स्थितिके योग्य कषायाध्यवसायस्थान अनुभागाध्यवसायस्थान और योगस्थान लेने चाहिए। तदनन्तर दो समय अधिक अंतःकोडा कोडी सागरकी स्थितिके योग्य कषायाध्यवसाय-स्थान अनुभागाध्यवसायस्थान और योगाध्यवसायस्थान लेने चाहिए। इसप्रकार मूल प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तकके योग्य सम्पूर्ण कषायाध्यवसायस्थान, अनुभागाध्यवसायस्थान और योगाध्यवसायस्थानरूप आत्माके परिणामपूर्ण हो जानेपर एक भाव परिवर्तन होता है।

द्रव्य परिवर्तनका काल अनन्तकाल है। उससे अनन्त गुना क्षेत्रपरिवर्तनका काल है। उससे अनन्त गुना कालपरिवर्तनका काल है, उससे अनन्त गुणा भवपरिवर्तनका काल है और उससे अनन्त गुणा भावपरिवर्तनका काल है। इस जीवने अब तक ऐसे ऐसे अनन्तपरिवर्तन किए हैं। इनके जाननेका मुख्य उद्देश इनको जानकर संसारसे भयभीत होना और संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होकर अपने आत्मामें परम शांति धारण कर लेना है तथा आत्माका कल्याण कर लेना है। जो पुरुष इनका स्वरूप जानकर भी संसारसे विरक्त नहीं होते और आत्मामें परम शांति धारण नहीं करते उनका वह ज्ञान सर्वथा व्यर्थ समझना चाहिए। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको इनका स्वरूप जानकर अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न—किमर्थं त्यज्यते ब्रूहि कुदेवागमपूजकः ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कुदेव कुशास्त्र कुगुरु वा इनके पूजकोंका त्याग किस लिए किया जाता है ?

उत्तर—लोके कुदेवः कुगुरुः कुमार्गः तथा कुतीर्थं भवदं कुशास्त्रम् ।
तंत्रादिमंत्रो विषमो विचारः तत्सेवको वाथ विकल्पकेतुः ॥४८५॥
यथार्थशान्त्यै परिवर्ज्यते हि निजात्मबाह्यः सकलः पदार्थः ।
यथा सुरेन्द्रैश्च जिनार्चनार्थं प्रमुच्यते स्वर्गसुखं च सर्वम् ॥४८६॥

अर्थ—जिसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके लिए स्वर्गका इन्द्र स्वर्गके समस्त सुखोंका त्याग कर देता है उसीप्रकार अपने आत्मामें परम शांति धारण करनेके लिए इस संसारके कुदेव, कुगुरु, कुमार्ग, कुतीर्थ, संसारको बढानेवाले कुशास्त्र, तंत्र मंत्र विषम विचार आदि सबका त्याग कर दिया जाता है तथा परम शांतिको धारण करनेके लिए ही अपने आत्मासे भिन्न अन्य समस्त पदार्थोंका त्याग किया जाता है।

भावार्थ—जो देव होकर भी अपने साथ स्त्री रखते हों, अस्त्र शस्त्र रखते हों, खाते हों, पीते हों, सोते हों, युद्ध करते हों वा समस्त दोषोंसे परिपूर्ण हों उनको कुदेव कहते हैं। जो परिग्रह रखते हों, जिनके हृदयसे काम क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष मद आदि विकार दूर न हुए हों, जिनके विषयोंकी लालसा लगी हो, जो रोटी-पानी खेती बाडी करते हों ऐसे मिथ्या साधुओंको कुगुरु कहते हैं। जो मोक्षका मार्ग रत्नत्रयसे भिन्न है, आत्मस्वरूपसे भिन्न है, वह सब कुमार्ग कहलाता है। जहांपर यथार्थ देव वा गुरुके चरणकमल विराजमान होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थोंसे भिन्न जो तीर्थ

कहलाते हैं उन सबको कुतीर्थ कहते हैं। इसीप्रकार जो शास्त्र भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए नहीं हैं, जिनमें हिंसाका निरूपण हो, जिनमें मद्य मांस मधुके सेवन करनेका निरूपण हो वा जिनमें सातों व्यसनोंके सेवन करनेका निरूपण हो ऐसे शास्त्रोंको कुशास्त्र कहते हैं। ये कुदेव कुगुरु कुशास्त्र आदि सब संसारमें डुबोनेवाले हैं और नरक निगोदादिकके महादुःख देनेवाले हैं। इसीलिए इनकी सेवा पूजा करनेवाला भी महादुःखी होता है और अपने आत्माका अहित करता है। इसीप्रकार धन वृद्धि आदिके लिए जो मंत्र तंत्र किए जाते हैं वा दूसरोंका बुरा चिंतवन किया जाता है वा अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प किए जाते हैं वे भी सब जन्म-मरणरूप संसारको बढानेवाले हैं इसलिए अपने आत्माको वह सब दुःख न हो, अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त हो इसके लिए इन सबका त्याग किया जाता है। इनके सिवाय भी अपने आत्मासे भिन्न जितने पदार्थ हैं वा कषायादिक विकार हैं उन सबका त्याग भी अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है। जिसप्रकार स्वर्गका इन्द्र भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करता है और उसके लिए स्वर्गादिकके सब सुख छोडनेकी लालसा रखता है, उसीप्रकार भव्यजीवोंको भी अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए कुदेवादिकका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

प्रश्न—विचार्यैव गुरो वृत्तिः किमर्थं क्रियते वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि अपनी सब प्रवृत्तियां विचारपूर्वक ही क्यों करनी चाहिए।

उत्तर—स्थितौ गतौ वाचि कृतौ विनोदे ग्रामे वने राज्यविधौ कलायाम्।
भोगे विलासे शयनासनादौ साधौ खले लोकविधेर्विधाने ॥४८७॥

पूर्वोक्तकार्ये सुखदा प्रवृत्तिः कार्या विचार्यैव तथान्यकार्ये ।
भवेद् यतः सर्वतनौ स्वशान्तिर्यथैव वृष्ट्या सकलेपि विश्वे ॥४८८॥

अर्थ—जिसप्रकार वृष्टि होनेसे समस्त संसारमें शांति हो जाती है उसीप्रकार चलनेमें, ठहरनेमें, कहनेमें, किसी भी कार्यके करनेमें, विनोदमें, गांवमें, वनमें, राज्य करनेमें, कला सीखनेमें, भोगोंमें, विलासोंमें, सोनेमें, बैठनेमें, दुष्टमें, सज्जनमें, किसी भी लौकिक विधिके करनेमें वा अन्य समस्त कार्योंमें अपनी सुख देनेवाली प्रवृत्ति विचार पूर्वक ही करनी चाहिए। विचार पूर्वक समस्त कार्य करनेसे इस संसारमें समस्त जीवोंको शांतिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—कहीं भी ठहरना हो तो विचार पूर्वक ही ठहरना चाहिए, ठहरते समय यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि यहां ठहरनेमें सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्रका घात तो नहीं होता है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। यहां ठहरनेमें देवदर्शन वा गुरुदर्शन होते हैं वा नहीं। जहांपर रत्नत्रयका घात होता हो वा देव दर्शनादिक न हों वहां कभी नहीं ठहरना चाहिए। गमन करते समय भी सब प्रकारके भयोंका विचार कर लेना चाहिए तथा मार्ग कुमार्गका विचार कर लेना चाहिए। वचनके कहनेमें वा किसी कामके करनेमें यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि इस बातके कहनेमें वा इस कामके करनेमें किसीको दुःख तो नहीं पहुंचता है अथवा किसीकी हानि तो नहीं होती है अथवा किसी धर्मका घात तो नहीं होता है। जिसमें किसीकी हानि हो वा धर्मका घात हो ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिए अथवा ऐसे कार्य कभी नहीं करने चाहिए। इसी प्रकार विनोद वा क्रीडा करनेमें भी किसी जीवकी हानि वा किसी जीवका घात वा धर्मके घातका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। विनोदके लिए शस्त्र चलाकर जीवोंका घात कभी नहीं करना चाहिए अथवा किसी जीवको दुःख पहुंचानेवाला विनोद कभी नहीं करना चाहिए। किसी गांव वा वनमें जानेके पहले धर्म

अधर्मका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। राज्य करनेमें बहुत लम्बे विचारकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कलाके सीखनेमें भी धर्म अधर्मका विचार करना चाहिए। भोग-विलासोंको भी बहुत सोच समझकर करना चाहिए और धर्म अधर्मका विचार अवश्य रखना चाहिए। सोनेमें बैठनेमें आपत्तियोंका विचार करना चाहिए, दुर्जन सज्जनोंमें उनकी संगतिके फलका विचार करना चाहिए और समस्त लौकिक क्रियाओंमें धर्म, अधर्मका, अपने पदस्थका और शास्त्रोंके आदेशका अवश्य विचार करना चाहिए। इनके सिवाय अन्य जितने कार्य हैं उनके करनेमें धर्म अधर्मका विचार करना चाहिए। इस प्रकार विचारपूर्वक इन प्रवृत्तियोंके करनेसे संसारके समस्त जीवोंको शांतिकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—स्तुतेस्तुष्यति को जन्तुः कुप्यते निन्दया कथम् ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि कौन मनुष्य स्तुतिसे संतुष्ट होता है और निंदा करनेसे कौन क्रोध करता है तथा क्यों करता है ?

उत्तर—ख्यातादिपूजाविनयप्रणामान्न वर्द्धते स्वात्मसुखं स्वशान्तिः।
हानिर्न लाभः खलु निन्दया मे स्वसौख्यभोक्तास्मि सदा सुखी च॥
स्वसौख्यशून्यो विनयप्रणामैः काको यथा तुष्यति मांसपिण्डैः।
ततो ह्यशान्तिं लभते प्रमूढो ज्ञानीति शांतिं ह्यचलां स्वभावात् ४९०

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको जानता है वह यही विचार करता है कि मेरी प्रसिद्धि होनेसे, मेरी पूजा होनेसे, मेरी विनय करनेसे और मुझे प्रणाम करनेसे मेरा आत्माका सुख नहीं बढता तथा आत्माकी शांति भी नहीं बढती। इसी प्रकार मेरी निंदा करनेसे न तो मेरी हानि होती है और न कोई लाभ होता है। मेरा आत्मा अपने आत्मजन्य आनंदको भोगनेवाला है और सदा सुखी

रहनेवाला है, परंतु जो पुरुष अपने आत्मजन्य सुखका स्वाद नहीं जानता वह पुरुष जिसप्रकार कौवा मांस-पिंडसे प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है उसी प्रकार वह भी विनय और प्रणाम करनेसे प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है तथा अन्तमें वह अज्ञानी महा अशांतिको प्राप्त होता है। परन्तु जो पुरुष आत्माके स्वरूपको जानता है वह अपने स्वभावसे ही अनंत शांतिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहता है और आत्मजन्य आनन्दका अनुभव करता है। वह अपने मान अपमानका कोई विचार नहीं करता। न तो अपना आदर-सत्कार होनेपर अपना कोई लाभ समझता है और न अपनी निंदा होनेपर अपनी कोई हानि समझता है। वह निंदा स्तुति दोनोंमें समता धारणकर परम शांतिका अनुभव करता है, परंतु जो पुरुष आत्मज्ञानसे रहित है वह अपने आदर-सत्कारसे प्रसन्न होता है और अपनी निंदासे दुःखी होता है। इसप्रकार वह पुरुष हर्ष विषाद करता हुआ महा अशांतिको प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानी भव्यजीवोंको अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर निंदा वा स्तुतिसे किसी प्रकारका हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए और समता धारणकर परम शांति प्राप्त कर लेनी चाहिए। यही आत्माके कल्याणका मुख्य उपाय है।

प्रश्न—अर्हत्सिद्धादिशास्त्राणां नतिप्रयोजनं वद।

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर यह बतलाइए कि अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु शास्त्र आदिके लिए नमस्कार क्यों किया जाता है?

उत्तर—अर्हत्सिद्धादिशास्त्रेभ्यः सूरिपाठकसाधवे।
एकादशादिश्राद्धेभ्यो यथायोग्या नतिः स्तुतिः ॥४९१॥

कार्या भक्त्या सदा शान्त्यै सम्यक्त्वव्रतशालिभिः ।
यथा श्रेणिकभूपेन संयमिने पुरा कृता ॥४९२॥

अर्थ—भगवान महावीर स्वामीके समयमें जिसप्रकार राजा श्रेणिक भक्तिपूर्वक समस्त संयमियोंकी स्तुति करते थे, सबके लिए नमस्कार करते थे और इसप्रकार उनकी भक्ति कर अपने आत्मामें परमशांति प्राप्त करते थे, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य श्रावकोंको अपने आत्मामें परमशांति प्राप्त करनेके लिए भक्तिपूर्वक यथायोग्य रीतिसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, शास्त्र, क्षुल्लक, ऐलक आदिके लिए नमस्कार करना चाहिए, उनकी स्तुति करनी चाहिए तथा उनकी सेवा, भक्ति-वैयावृत्ति आदि सब कुछ करना चाहिए ।

भावार्थ—अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी कहलाते हैं । इस संसारमें ये पंचपरमेष्ठी सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं । ये पांचों परमेष्ठी ही इस संसारमें मंगलस्वरूप हैं और ये ही समस्त जीवोंके लिए शरण हैं । इस संसारमें जीवोंका कल्याण करनेवाले और मोक्ष प्रदान करनेवाले ये ही पंच परमेष्ठी हैं । इन पंच परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण करना उनको नमस्कार करना उनकी स्तुति करना उनकी पूजा करना आदि सब कार्य महापुण्य उत्पन्न करनेवाले हैं तथा आत्माको पवित्र करनेवाले हैं । जो पुरुष इनके गुणोंमें प्रेम रखते हैं वे इनके आदेश और उपदेशको भी अवश्य मानते हैं और पंच परमेष्ठीका आदेश वा उपदेश समस्त जीवोंका कल्याण कराता हुआ मोक्ष प्रदान करानेवाला होता है। इसीलिए इनकी सेवा पूजा करनेवाले भव्य-जीव इनकी पूजा स्तुति करके वा गुण स्मरण करके उन गुणोंको धारण कर उन्हींके समान हो जाते हैं । इसी प्रकार भगवान अरहंत देवके कहे हुए शास्त्रोंकी भक्ति स्तुति करनेवाला पुरुष भी उनकी आज्ञाको मानता हुआ तथा उनकी आज्ञानुसार अपनी प्रवृत्ति

करता हुआ अपने आत्माका कल्याण कर लेता है। इस प्रकार देव शास्त्र गुरुकी भक्ति सेवा पूजा स्तुति करनेवाले पुरुष अपने आत्माका कल्याण करते हुए अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त कर लेते हैं। राजा श्रेणिकने भी ऐसा ही किया था और इन्हीं पंच परमेष्ठीकी भक्ति वा स्तुतिके कारण राजा श्रेणिकको तीर्थंकर नामकर्मका बंध हुआ था। इन पंच परमेष्ठियोंकी स्तुति आदिका अपार माहात्म्य है। इन पंच परमेष्ठियोंकी स्तुति वा नमस्कारकी तो बात ही अलग है, जो पुरुष इनके नामका भी स्मरण करते हैं वा इनके नामका जप करते हैं वे पुरुष भी इस संसारसे पार हो जाते हैं। राजा श्रेणिकके ही समयमें एक मेंढक कमलकी एक कली लेकर भगवान महावीर स्वामीकी पूजा करनेके लिए चला था परंतु मार्गमें ही हाथीके पैर तले दबकर मर गया था और उसी समय बडी भारी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ था। वह देव उत्पन्न होते ही भगवान महावीर स्वामीके समवसरणमें आया था और उसने अपनी देदीप्यमान प्रभासे समवसरणमें विराजमान समस्त भव्य जीवोंको आश्चर्यमें डाल दिया था और और सबके लिए उस पूजाका अपार माहात्म्य प्रगट कर दिखाया था। अतएव समस्त भव्य जीवोंको पंच परमेष्ठीकी पूजा स्तुति भक्ति आदि प्रतिदिन करना चाहिए, प्रतिदिन उनको नमस्कार करना चाहिए, प्रतिदिन उनका जप करना चाहिए और प्रतिदिन उनके गुणोंका स्मरण करना चाहिए। आत्माके कल्याणका यह सबसे अच्छा उपाय है।

प्रश्न–ज्ञानिभिः कर्मबद्धैश्च किमर्थं कर्मचिन्तनम्।

अर्थ–हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइए कि कर्मोंसे बंधे हुए ज्ञानी पुरुष अपने कर्मोंका चिंतवन किसलिए करते हैं?

उत्तर–ज्ञानिभिः कर्मबद्धैश्च द्रव्यभावादिकर्मणः।
स्वरूपं चिन्त्यते शान्त्यै साधुनेव निजात्मनः ॥४९३॥

अर्थ—जिसप्रकार परम शांति प्राप्त करनेके लिए मुनिराज अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करते हैं उसीप्रकार कर्मोंमे बंधे हुए ज्ञानी पुरुष भी अपने आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए द्रव्यकर्म भावकर्म वा नोकर्मके स्वरूपका चिंतवन करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतन्राय ये आठ कर्म तथा इनके एकसौ अडतालीस उत्तर भेद सब द्रव्यकर्म कहलाते हैं तथा जिनसे ये कर्म बंधते हैं ऐसे राग द्वेष कषाय आदिकोंको भावकर्म कहते हैं और औदारिक वैक्रियक आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलवर्गणाओंको नोकर्म कहते हैं। इन्हीं कर्मोंके कारण यह जीव अनादिकालसे बंध रहा है और नरक निगोद आदिके महादुःख भोग रहा है। रागद्वेषादिकके कारण नवीन नवीन कर्मोंका बंध करता है और उनके उदय होनेपर दुःख भोगता है। राग द्वेष वा कषायोंका उत्पन्न करना इस जीवके हाथमें हैं। यह जीव कषायोंको उत्पन्न भी कर सकता है और कषायोंको रोक भी सकता है। कषायोंको उत्पन्न करनेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है और कषायोंके रोकनेसे कर्मोंसे छूटता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको इन कर्मोंके स्वरूपका चिंतवन कर कषायोंको रोकनेका प्रयत्न कर अपने आत्माको सुखी बनाना चाहिए। जिसप्रकार मुनिलोग अपने आत्माका चिंतवन कर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उसीप्रकार भव्य श्रावकोंको कर्मोंका दुःखदायी स्वरूप चिंतवन कर उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए। कषायोंको रोक कर आते हुए नवीन कर्मोंका संवर करना चाहिए और फिर सुख-दुःखमें समता धारण कर संचित कर्मोंको नष्ट कर देना चाहिए। यही कर्मोंके स्वरूपके चिंतवन करनेका फल है।

प्रश्न—कथं युद्धं भवेत्पृथ्व्यां कदा च तत्प्रशाम्यति ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर यह बतलाइए कि इस पृथ्वीपर युद्ध क्यों होता है और वह कब शांत होता है ?

उत्तर—श्रीराज्यलक्ष्म्याश्चपलप्रकृत्याः समागमार्थं च जना यतन्ते ।
तावद्धि युद्धं विषमं भवेत्कौ तद्रोधनार्थं खलु तत्प्रमोहम् ॥४९४॥
ज्ञात्वेति मुक्त्वा सततं यतन्तां स्वराज्यलक्ष्म्या ह्यचलप्रकृत्याः ।
समागमार्थं हि यथा यतीन्द्राः सत्यार्थशान्तेर्मुनिवर्गमातुः ॥४९५॥

अर्थ—इस संसारमें जबतक अत्यन्त चंचल स्वभावको धारण करनेवाली राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए ये जीव प्रयत्न करते रहते हैं तबतक इस संसारमें विषम वा भयंकर युद्ध होता रहता है यही समझ कर उस युद्धको रोकनेके लिए उस राज्यके मोहका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और जिसप्रकार मुनिराज अचल वा निश्चल स्वभावको धारण करनेवाली स्वराज्यलक्ष्मी वा मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं उसीप्रकार समस्त मुनियोंकी माताके समान यथार्थ शांतिको प्राप्त करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—राज्यकी लालसा युद्धका कारण है । इन संसारी जीवोंकी तीव्र लालसाएं जब तक शांत नहीं होती तब तक युद्ध भी कभी नहीं रुक सकता । राज्यकी लालसा राजा राजाओंमें युद्ध कराती है, धनकी लालसा धनियोंमें युद्ध कराती है, पृथ्वीकी लालसा पृथ्वीके स्वामियोंमें युद्ध कराती है, ख्यातिकी लालसा विद्वानोंमें युद्ध कराती है और परस्परकी मत्सरता परस्परमें युद्ध कराती है । वर्तमान समयमें अनेक प्रकारकी लालसाओंके बढ जानेके कारण संसारभरमें अनेक प्रकारके युद्ध हो रहे हैं । और जब तक लालसाएं शांत नहीं होतीं तब तक होते रहेंगे । उन समस्त युद्धोंको रोकने वा शांत

करनेका एकमात्र उपाय मोहका त्याग कर देना है। लालसाएं मोहसे ही उत्पन्न होती हैं। मोहका त्याग कर देनेसे समस्त लालसाएं छूट जाती हैं और लालसाओंके छूट जानेसे युद्ध शांत हो जाते हैं।

यहांपर एक बात और समझ लेनी चाहिए इस संसारमें जितने युद्ध होते हैं वे सब दो व्यक्तियोंमें वा दो पदार्थोंमें होते हैं। जीव कर्मका संबंध जो अनादिकालसे चला आ रहा है उन दोनोंमें भी युद्ध होता रहता है। कर्म आत्माको दबाना चाहते हैं और आत्मा कर्मोंको नष्ट करना चाहता है। जब यह आत्मा उन कर्मोंका वा कर्मोंके फलोंका मोह छोड देता है और कर्मोंके फलोंसे प्राप्त होनेवाली समस्त विभूतिका मोह छोड देता है तब यह आत्मा अपने आत्माको उन समस्त विभूतियोंसे भिन्न करनेका प्रयत्न करता है इसके लिए वह कषायोंका त्याग करता है और आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन कर उन कर्मोंको नष्ट कर चिदानन्दस्वरूप अकेला आत्मा रह जाता है इसीको मोक्षकी प्राप्ति कहते है। इस प्रकार जब यह आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है और सर्वथा शुद्ध एक चैतन्य स्वरूप आत्मा रह जाता है उस समय अकेला होनेके कारण सब प्रकारके युद्धसे अलग हो जाता है। युद्ध करनेमें सर्वदा संक्लेश परिणाम होते हैं परंतु युद्धसे अलग हो जानेपर अनंत शांति प्राप्त होती है। अतएव समस्त भव्य जीवोंको अपने मोहका त्याग कर सब प्रकारके युद्ध शांत कर देने चाहिए और मुनिराज जिस प्रकार मोहका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार परम शांतिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह परम शांति मुनियोंकी माता है। समस्त मोहका त्याग कर परम शांति प्राप्त हो जानेपर ही मुनिदीक्षा धारण की जाती है। जिस प्रकार माता संतानको उत्पन्न करती है उसी प्रकार मोहके त्यागसे उत्पन्न होनेवाली परम शांति दीक्षा धारण कराकर मुनियोंको उत्पन्न करती है इसीलिए यह परम शांति मुनियोंकी माता कहलाती है। ऐसी परम शांति प्राप्त कर तथा दीक्षा धारण कर मुनि बनना चाहिए और फिर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही भव्य जीवका कर्तव्य है।

किमर्थं पाठशालादिः स्थाप्यते वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पाठशाला विद्यालय आदिका स्थापन किस लिये किया जाता है ?

उत्तर—विद्यालयोऽज्ञानविनाशकश्च ह्यनाश्रितानां स्थितिवृद्धिहेतोः ।
सुखप्रदः स्थाप्यत एव कोशो धैर्यं तथा दीयत एव तेभ्यः ॥४९६॥
निरुध्यते दुष्टनृपस्य नीतिः भाषा समंतैः क्रियते च मिष्टा ।
यथार्थशान्त्यै बहुना वटो किं धर्मानुकूला विविधा क्रियापि ॥४९७॥

अर्थ—हे वत्स ! इस संसारमें परम शांति प्राप्त करनेके लिए अज्ञानको नाश करनेवाले विद्यालयोंका स्थापन किया जाता है, आश्रयरहित लोगोंको सुख देनेवाले कोशका स्थापन किया जाता है, उन लोगोंको धैर्य दिया जाता है, दुष्ट राजाकी नीतिकी रुकावट की जाती है, सबके साथ मीठी वाणी बोली जाती है और यथार्थ शांतिके लिए ही अनेक प्रकारकी धर्मानुकूल क्रियाएं की जाती हैं।

भावार्थ—आत्मज्ञानके विना अन्य जितने ज्ञान हैं वे सब अज्ञान वा मिथ्या ज्ञान कहलाते हैं। ऐसे मिथ्या ज्ञान वा अज्ञानको दूर करनेके लिए अर्थात् आत्माके यथार्थ ज्ञानकी वृद्धिके लिए विद्यालय स्थापन किए जाते हैं। उन विद्यालयोंमें आर्ष ग्रंथोंका अध्ययन कर विद्यार्थी लोग अपने आत्माके स्वरूपको पहचान लेते हैं और फिर उसके शुद्ध स्वरूपको उपादेय समझ कर उसको ग्रहण करनेका प्रयत्न करते हैं और कषायोंका त्याग कर परम शांति प्राप्त कर लेते हैं यही विद्यालयोंके स्थापन करनेका फल है। जिन विद्यालयोंमें आत्मज्ञानकी शिक्षा नहीं दी जाती वा आत्मज्ञानके विरुद्ध शिक्षा दी जाती है अथवा आर्ष ग्रंथोंके विरुद्ध शिक्षा दी जाती है वे विद्यालय भले ही यद्वा तद्वा जीविकाके साधन माने

जाते हों परंतु उन विद्यालयोंमें पढनेवाले विद्यार्थियोंकी आत्मामें शांतिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अतएव ऐसे विद्यालयोंसे धार्मिक लाभ कुछ नहीं होता। जिस विद्याके अध्ययन करनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त हो वही विद्या श्रेष्ठ विद्या कहलाती है। जिस विद्यासे शांति प्राप्त न हो वह विद्या संक्लेश उत्पन्न करनेवाली और अशुभ कर्मोंका बंध करनेवाली वा नरकादिकके दुःख देनेवाली मानी जाती है। इसलिए ऐसी विद्याका पढना सर्वथा व्यर्थ है। इसी प्रकार शांति प्राप्त करनेके लिए ही कोश स्थापन किया जाता है। उस कोशके द्रव्यसे अनाश्रित धर्मात्मा पुरुषोंका स्थितिकरण किया जाता है और उनको सुख देने वा धर्म साधन करनेके साधनोंकी वृद्धि की जाती है। विना द्रव्यके अनाश्रित लोग शांति-पूर्वक धर्म साधन नहीं कर सकते इसीलिए उनका स्थितिकरण किया जाता है और इसके लिए कोशकी स्थापना की जाती है। इसके सिवाय संसारभरमें शांति स्थापन करनेके लिए दुःखी जीवोंको धैर्य धारण कराया जाता है, दुष्ट राजाकी कुटिल नीतिका निरोध किया जाता है, शांतिके ही लिए सबके साथ मिष्ट और हितरूप भाषण किया जाता है और शांतिके ही लिए पात्रदान, जिनपूजन, व्रत, उपवास, यज्ञोपवीतादिके समस्त संस्कारोंकी क्रियाएं की जाती हैं। हे वत्स! ये सब कार्य आत्मामें शांति प्राप्त करनेके लिए ही किए जाते हैं।

प्रश्न—इतश्च क्रियते शान्त्यै भावना सुखदा सदा।

अर्थ—अब आगे अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए सदा सुख देनेवाली अपनी भावनाओंका निरूपण करते हैं?

उत्तर—निरामयोऽनन्तसुखस्वरूपः सदा चिदानन्दमयो ममात्मा।
व्याध्यादिमुक्तोऽखिलदुःखदूरः चिन्मात्रमूर्तिर्भुवि निर्विकारी॥४९८

शुद्धः प्रबुद्धो विमलो विरागी ब्रह्मस्वरूपी समशान्तिशीलः ।
समस्तसंकल्पविकल्पभेदी शान्त्यर्थमेवापि च चिन्त्यते हि ॥४९९॥

अर्थ—यह मेरा शुद्ध स्वरूप आत्मा समस्त रोगोंसे रहित है, अनंत सुखस्वरूप है, सदाकाल चिदानंदस्वरूप रहता है, समस्त आधि व्याधियोंसे रहित है, समस्त दुःखोंसे रहित है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, निर्विकार है, शुद्ध है, प्रबुद्ध है, निर्मल है, वीतराग है, ब्रह्मस्वरूप है, समता और शांतिसे सुशोभित है और समस्त संकल्प विकल्पोंको नष्ट करनेवाला है ऐसा यह मेरा आत्मा अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए अपने ही आत्माके द्वारा चिंतवन किया जाता है।

भावार्थ—यह अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करनेसे संकल्प विकल्प सब नष्ट हो जाते हैं, दुःख सब दूर हो जाते हैं और विकार सब नष्ट हो जाते हैं। आत्माका शुद्ध स्वरूप कर्मोंसे रहित है, शरीरसे रहित है और इसीलिए समस्त रोगादिकोंसे रहित है। ऐसे आत्माका चिंतवन करनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है तथा यह अत्यन्त निर्मल होकर समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्मामें परम शांति प्राप्त करनेके लिए अपने शुद्ध स्वरूप आत्माका चिंतवन अवश्य करते रहना चाहिए।

आगे और भी कहते हैं—

कर्मणा त्रिविधेनात्मा मुक्तो मे ज्ञानभास्करः ।
निराकारी निराहारी निरंजनो निराकृतिः ॥५००॥
शुद्धचिद्रूपमूर्तिश्च स्वात्मसाम्राज्यनायकः ।
भव्यैः शान्त्यर्थमेवापि चिन्त्यः सदेति चेतसि ॥५०१॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म इन तीनों कर्मोंसे रहित है, समस्त तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिए ज्ञानमय सूर्य है, निराकार है, निराहार है, निरंजन है, किसी विशेष आकृतिको धारण नहीं करता, केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप मूर्तिको धारण करता है और अपने शुद्धस्वरूप साम्राज्यका स्वामी है। ऐसा यह आत्मा समस्त भव्यजीवोंको अपने हृदयमें अनन्त शांति प्राप्त करनेके लिए सदाकाल चिंतवन करते रहना चाहिए।

भावार्थ—यह आत्मा द्रव्यकर्मोंसे भी रहित है, भावकर्मोंसे भी रहित है और नोकर्मोंसे भी रहित है। यद्यपि संसारी आत्मामें तीनों प्रकारके कर्म दिखाई देते हैं, क्रोधादिक कषायरूप भावकर्म भी विद्यमान हैं, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म भी विद्यमान हैं और शरीररूप नोकर्म भी विद्यमान हैं तथापि वे सब इस आत्माके शुद्ध स्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं अथवा यों कहना चाहिए कि इस आत्माका शुद्ध स्वरूप इन तीनों प्रकारके कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है। इसका भी कारण यह है कि ये तीनों प्रकारके कर्म पौद्गलिक हैं तथा पुद्गल जड है, मूर्त है, आत्मा अमूर्त है और चैतन्य स्वरूप है। इसलिए आत्माके शुद्ध स्वरूपको कर्मोंसे सर्वथा भिन्न मानना ही पडता है। इसके सिवाय आत्मा ज्ञानमय है। जिसप्रकार सूर्य समस्त मूर्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है उसीप्रकार अनन्त ज्ञानमय यह आत्मा मूर्त, अमूर्त, सूक्ष्म स्थूल आदि समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। साथमें अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है। इसीलिए यह आत्मा सूर्यके समान स्वपर प्रकाशी कहलाता है। इसीप्रकार आत्माका कोई विशेष आकार नहीं है, संसारी आत्मा जैसे शरीरको धारण करता है उसीके आकार स्वरूप हो जाता है और मुक्त आत्मा जैसे जितने छोटे-बडे शरीरको छोडता है उतना ही छोटा-बडा और वैसे ही आकारका हो जाता है। अतएव इसका कोई विशेष आकार न होनेसे निराकार कहलाता है। इसके सिवाय यह आत्मा निराहार है। आहार पौद्गलिक होता है इसलिए पौद्गलिक शरीर ही उसको ग्रहण करता है

और पौद्गलिक शरीर ही उससे पुष्ट होता है। अमूर्त आत्मा न तो पुद्गलको ग्रहण कर सकता है और न उससे पुष्ट हो सकता है। अतएव यह शुद्ध आत्मा सब प्रकारके आहारसे रहित है तथा यही शुद्ध आत्मा निरंजन है, अंजन शब्दका अर्थ कर्ममल कलंक है। जो कर्ममल कलंकसे रहित हो वा राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित हो उसको निर्दोष वा निरंजन कहते हैं। शुद्ध आत्मा भी इन सबसे रहित है, इसलिए यह भी निरंजन है। ऐसा यह शुद्ध आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और स्वात्म साम्राज्यका वा मोक्ष साम्राज्यका अधिपति है। ऐसा शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा सदा चिंतवन करने योग्य है। ऐसे आत्माके चिंतवन करनेसे आत्मामें परम शांतिकी प्राप्ति होती है। इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अपने अपने शुद्ध आत्माका स्वरूप अवश्य चिंतवन करते रहना चाहिए।

आगे और भी कहते हैं।

संसारहर्ताऽखिलविश्वनेता स्वभावलीनः परभावभिन्नः।
आल्हादकारी भवतापहारी पापप्रणाशी वरपुण्यदर्शी ॥५०२॥
अज्ञानहारी स्वपरप्रकाशी विज्ञानज्योतिर्विकथाविनाशी।
लक्ष्मीपतिर्ज्ञाननिधिर्विरोगी जगज्जयी कल्मषकोशहर्ता ॥५०३॥
स्वात्मास्ति मे धर्मपतिर्हितैषी निरामयो वा भुवि निष्कलंक।
शान्तो विपाप्मा विमदोपि वर्यो व्यक्तोपि गुप्तो महितो महान् हि ॥५०४

अर्थ—यह मेरा आत्मा जन्म-मरणरूप संसारको हरण करनेवाला है, समस्त संसारका नेता है, अपने स्वभावमें लीन रहता है, परभावोंसे सर्वथा भिन्न है, आल्हादको उत्पन्न करनेवाला है, संसारके संतापको नाश करनेवाला है, पापोंको नाश करनेवाला है, श्रेष्ठ पुण्यको दिखानेवाला है, अज्ञानको

दूर करनेवाला है, स्वपर दोनोंके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है, विज्ञानकी ज्योति स्वरूप है, विकथाओंको नाश करनेवाला है, लक्ष्मीका स्वामी है, ज्ञानका निधि है, रागरहित है, तीनों लोकोंको जीतनेवाला है, पापोंके समस्त भंडारको हरण करनेवाला है, धर्मका स्वामी है, समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, समस्त रोगोंसे रहित है, कलंकसे रहित है, शांत है, पापरहित है, मदरहित है, सर्वोत्कृष्ट है, व्यक्त होकर भी गुप्त है, पूज्य है और महान् है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करता चला आ रहा है तथा वह संसारका परिभ्रमण कर्मोंके निमित्तसे हो रहा है। कर्मोंका बंधन इस कर्मविशिष्ट अशुद्ध जीवने किया है। यह जीव जबतक कर्मविशिष्ट रहता है तबतक कर्मोंका बंधन करता है परन्तु जब यह आत्मा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको जान लेता है तब कर्मोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझ कर उनको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है। यह आत्मा ज्यों-ज्यों कषाय और कर्मोंको नष्ट करता जाता है त्यों-त्यों शुद्ध होता जाता है और अन्तमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर यह आत्मा अपने जन्म-मरणरूप संसारसे सर्वथा दूर हो जाता है और इसीलिए संसारका हर्ता कहलाता है। जब यह आत्मा कर्मोंको नष्ट करते करते घातिया कर्मोंको नष्ट कर लेता है तब यह आत्मा वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है और समवमरणमें विराजमान होकर मोक्षमार्गका उपदेश देता है। घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे इस आत्माका प्रभाव तीनों लोकोंमें फैल जाता है। इन्द्रादिक सब देव उसकी सेवा करनेके लिए आते हैं और समस्त भव्यजीव उसका उपदेश सुननेके लिए आते हैं। उनमेंसे सैकडों हजारों जीव संसारसे विरक्त होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेते हैं। इसप्रकार उस समय यह आत्मा समस्त तीनों लोकोंका नेता माना जाता है। जिस समय यह आत्मा घातिया कर्मोंको नष्ट कर देता है अथवा समस्त कर्मोंको नष्ट कर देता है उस समय यह आत्मा अपने स्वाभावमें ही लीन रहता

है, तथा कषायादिक परभाव इसके सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। कर्मोंके नष्ट होनेपर सिवाय आत्मस्वभावके वा ज्ञानस्वरूप आत्माके परभावोंका सर्वथा अभाव हो जाता है इसीलिए यह आत्मा स्वभावमें लीन रहनेवाला और परभावोंसे सर्वथा भिन्न कहलाता है। घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे इस आत्माको अनन्तसुख प्राप्त हो जाता है और वह अनन्तसुख फिर सदाकाल तक वा अनन्तकाल तक बना रहता है। अनन्तसुखके प्राप्त होनेसे संसारके समस्त संताप नष्ट हो जाते हैं, जहां अनन्तसुख है वहां कोई संताप हो ही नहीं सकता। इसलिए ही यह आत्मा आल्हादकारी और भवतापहारी कहलाता है। जिस समय इस आत्माके घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उससमय पापकर्म कोई भी शेष नहीं रहता, पापकर्म सब नष्ट हो जाते हैं। समस्त पापकर्मोंके नष्ट होनेसे पुण्यकर्म ही शेष रहते हैं। इसलिए उस समय यह आत्मा पापप्रणाशी और पुण्यप्रदर्शी कहलाता है। अथवा जिस समय इस आत्माके घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उससमय इसके दर्शन मात्र करनेसे भव्यजीवोंके पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्यकर्मोंका विशेष संचय होता है। इसलिए यह आत्मा पापप्रणाशी और पुण्यप्रदर्शी कहलाता है। केवलज्ञान होनेपर यह आत्मा लोकालोक सबको प्रकाशित करता है इसीलिए विज्ञान ज्योति कहलाता है। जहांपर केवल ज्ञान विशिष्ट यह आत्मा विराजमान रहता है वहांपर कोई भी विकथा नहीं होती, इसलिए यह आत्मा विकथाविनाशी कहलाता है। समवसरणमें विराजमान यह आत्मा तीनों लोककी लक्ष्मीका स्वामी कहलाता है तथा लोक आलोक सबको जाननेके कारण ज्ञाननिधि कहलाता है। राग द्वेष आदि समस्त दोषोंसे रहित होनेके कारण वीतराग कहलाता है। तीनों लोकोंको जीतनेवाला मोह है और मोहको भी जीतनेवाला यह आत्मा है इसलिए यही आत्मा जगज्जयी कहलाता है। पापोंके समस्त भंडारको नाश करनेके कारण कल्मषकोशहर्ता कहलाता है। समस्त जीवोंका हित करनेवाला और धर्मका स्वामी कहलाता है। परमौदारिक शरीर धारण करनेके कारण

निरामय कहलाता है। कर्मोंसे रहित होनेके कारण निष्कलंक कहलाता है। अत्यंत शांत है, पापोंसे रहित है, मंद मत्सरता आदिसे रहित है, सर्वोत्कृष्ट है, व्यक्त होनेपर भी किसीको दिखाई नहीं देता, तथापि पूज्य और महान् कहलाता है। ऐसा यह मेरा आत्मा सदाकाल चिंतवन करने योग्य है।

आगे और भी कहते हैं—

महोदयो धर्मदिवाकरोहं यथार्थदृष्ट्या भवपारकर्ता।
क्षान्तो महात्मा परमप्रसन्नः क्षेमी क्षमः क्षेमपतिर्दमीशः ॥५०५॥
स्वामी ह्यलेपो जितकर्मकाण्डो गतस्पृहो विश्वविलोचनोस्मि।
सदा विविक्तोविरतो विसंगःकृती गुणज्ञो विजरो विशोकः ॥५०६॥

अर्थ—मेरा यह आत्मा महान् उदयको करनेवाला है, धर्मका दिवाकर है, यथार्थ दृष्टिसे संसारसे पार करनेवाला है, क्षमा धारण करनेवाला है, महात्मा है, अत्यंत प्रसन्न है, कल्याण करनेवाला है, समर्थ है, कल्याण करनेवालोंमें शिरोमणि है, इंद्रिय दमन करनेवालोंमें शिरोमणि है, स्वामी है, कर्ममलकलंकसे रहित है, कर्मोंके समूहको जीतनेवाला है, स्पृहा वा इच्छाओंसे सर्वथा रहित है, तीनों लोकोंको देखनेवाला नेत्र है, अकेला है, विरक्त है, परिग्रह रहित है, कृतार्थ हैं, गुणोंको जाननेवाला है, बुढापारहित है और शोकरहित है।

भावार्थ—जिस समय यह आत्मा घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है उस समय समस्त इन्द्रादिक देव भी आकर उसकी सेवा करते हैं। इसीलिए यह आत्मा महोदय कहलाता है। उस समय यह सर्वज्ञ आत्मा धर्मका उपदेश देकर संसारका कल्याण करता है इसलिए धर्मदिवाकर कहलाता है। दिवाकर शब्दका अर्थ सूर्य है जो धर्मको प्रकाशित करनेके लिए सूर्यके समान हो उसको

धर्मदिवाकर कहते हैं। ऐसे उस आत्माकी सेवा पूजा करनेसे अनेक जीव इस संसारसे पार हो जाते हैं इसीलिए यह आत्मा भवपारकर्ता कहलाता है। कषायोंके सर्वथा नष्ट होनेसे क्षान्त वा क्षमा धारण करनेवाला कहलाता है, सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण महात्मा कहा जाता है, पापकर्मोंसे रहित वा निर्मल होनेके कारण परम प्रसन्न माना जाता है, ऐसे आत्मासे सब जीवोंका कल्याण होता है इसलिए क्षेमी वा क्षेमपति माना जाता है, कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ होनेके कारण क्षम वा समर्थ कहलाता है और इंद्रियोंको अत्यंत दमन करनेके कारण दमीश वा इंद्रियोंके दमन करनेवाला कहलाता है। इंद्रादिकोंका स्वामी होनेके कारण स्वामी कहलाता है, दोषोंसे वा कर्मोंसे रहित होनेके कारण अलेप कहलाता है, समस्त कर्मोंको नाश करनेके कारण कर्मोंको जीतनेवाला माना जाता है, समस्त इच्छाओंसे रहित होनेके कारण गतस्पृह वा इच्छारहित कहलाता है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण विश्वविलोचन कहलाता है, समस्त कर्ममलकलंकसे रहित होनेके कारण तथा मोक्षमें विराजमान होनेके कारण विविक्त कहलाता है, वीतराग और परिग्रहसे सर्वथा रहित होनेके कारण विरत और निसंग कहलाता है, अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लेनेके कारण कृती और गुणज्ञ कहलाता है और समस्त दोषोंसे रहित होनेके कारण बुढापा रहित तथा शोकरहित कहलाता है। इस प्रकार श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा है। आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी बतलाते हैं—

वाचस्पतिस्तीर्थशिरोमणिश्च प्रमोहहंता करुणापतिर्वा।
दयापताकः परमप्रमोदी मनोनिरोधी मदनप्रणाशी ॥५०७॥
स्वयंप्रभुर्विश्वविकाशहेतुः सुधर्मसारोऽखिलदीनबन्धुः।
शास्ता प्रणेता सुखशान्तिभर्ता स्वराज्यकर्तास्मि निजे निवासी ॥५०८॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा वाचस्पति वा सर्वोत्कृष्ट वक्ता है, समस्त तीर्थोंका शिरोमणि है, मोहको नाश करनेवाला है, करुणाका स्वामी है, दयाकी ध्वजाको धारण करनेवाला है, परमानंदस्वरूप है, मनको निरोध करनेवाला है, कामैंको नाश करनेवाला है, स्वयं प्रभु है, तीनों लोकोंको विकसित वा प्रसन्न करनेवाला है, श्रेष्ठ धर्मका सार है, समस्त दीन संसारी जीवोंका बंधु है, धर्मका उपदेश है, मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाला है, सुख और शांतिका स्वामी है, अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यका कर्ता है और अपने आत्मामें लीन रहनेवाला है।

भावार्थ—केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर जब यह आत्मा अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा धर्मोपदेश देता है तब इसकी वह वाणी पूर्वापर अविरुद्ध, निर्दोष और समस्त तत्त्वोंका स्वरूप कहनेवाली होती है। इसीलिए यह आत्मा वाचस्पति कहलाता है। ये संसारी जीव जिसके द्वारा इस संसारसे पार हो जांय उसको तीर्थ कहते हैं। इस सर्वज्ञ वीतराग और पवित्र आत्मासे हजारों जीव संसारसे पार हो जाते हैं कोई उसकी भक्ति कर पार होता है, कोई धर्मोपदेश सुनकर पार होता है और कोई उसकी आज्ञानुसार चलकर पार होता है। इसलिए यह आत्मा तीर्थशिरोमणि कहलाता है। मोहनीय कर्मको सर्वथा नष्ट कर देनेके कारण प्रमोह-हंता कहलाता है, समस्त जीवोंका कल्याण करनेके कारण करुणापति माना जाता है, दया-धर्म प्रबल ध्वजा फहरानेके कारण दयापताक अथवा दयाकी ध्वजा फहरानेवाला कहलाता है, चिदानन्द स्वरूप होनेके कारण परमप्रमोदी माना जाता है, मन आदि समस्त इन्द्रियोंका निरोध करनेके कारण मनोनिरोधी कहा जाता है, कामादिक समस्त विकारोंको नाश कर देनेके कारण मदनप्रनाशी वा कामको नाश करनेवाला कहलाता है, यह आत्मा कर्मोंको नष्ट कर स्वयं सिद्ध होता है इसलिए स्वयंप्रभु कहा जाता है, लोक-अलोक सबको प्रकाशित करता है इसलिए तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला कहलाता है, समस्त कर्मोंको नष्ट कर यह आत्मा अपने धर्म वा

स्वभावमें लीन हो जाता है इसलिए स्वधर्मसार माना जाता है, समस्त संसारी जीवोंको कल्याणकारी उपदेश देता है इसलिए अखिल दीन बंधु कहा जाता है, श्रेष्ठ वक्ता होनेके कारण शास्ता माना जाता है, मोक्षमार्गका निरूपण करनेके कारण प्रणेता कहा जाता है, अनन्तसुख और अनन्तशांतिका भंडार होनेके कारण सुख-शांतिभर्ता माना जाता है अपने आत्मामें लीन होनेके कारण आत्मनिवासी कहा जाता है और मोक्षका स्वामी होनेसे स्वराज्यकर्ता कहलाता है। इसप्रकार यह मेरा आत्मा तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी दिखलाते हैं।

योगी कृतार्थी च जगत्प्रसिद्धः स्वानन्दकन्दः कृतकृत्य एव।
प्रजापतिः सौख्यशिखामणिश्च चारित्रचूणामणिरेव शुद्धः ॥५०९॥
स्वानन्दसाम्राज्यपदाधिकारी ह्याद्यन्तमध्यादिविवर्जितश्च।
गुणाकरो धर्मशिरोमणिश्च त्रिरत्नधारी त्रिविकारहारी ॥५१०॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा योग वा ध्यान धारण करनेके कारण योगी कहलाता है, चारों पुरुषार्थोंको वा सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कर लेनेके कारण कृतार्थी कहा जाता है, अरहंत वा सिद्ध होनेपर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हो जाता है इसलिए जगत्प्रसिद्ध कहलाता है, अपने आत्मजन्य आनन्दस्वरूप होनेके कारण स्वानन्दकन्द माना जाता है, आत्माको अत्यन्त शुद्धरूप कृत्यको कर लेनेके कारण कृतकृत्य कहलाता है, तीनों लोकोंका स्वामी होनेके कारण प्रजापति कहा जाता है, अनन्तसुख और अनन्तशांतिको धारण करनेके कारण सौख्य-शिखामणि कहलाता है, पूर्ण चारित्रको धारण करनेके कारण वा समस्त पापोंको नाश कर देनेके कारण चारित्र-चूडामणि कहा जाता है, अत्यन्त शुद्ध होनेके

कारण शुद्ध है, अपने आत्मजन्य आनन्दके साम्राज्यके सिंहासनपर विराजमान होनेके कारण अथवा अनन्तसुखके सिंहासनपर विराजमान होनेके कारण स्वानन्द-साम्राज्य-पदाधिकारी कहलाता है, यह मेरा आत्मा अनादिकालसे विद्यमान है और अनन्तानन्त काल तक रहेगा अतएव न इसका कहीं आदि है न मध्य है और न अन्त है, आदि मध्य अन्त तीनोंसे रहित है, यह आत्मा गुणोंका सागर है अनन्त गुणोंका भंडार है इसीलिए गुणाकार कहलाता है, यह आत्मा सर्वोत्कृष्ट आत्मधर्ममें लीन रहता है वा सर्वोत्कृष्ट धर्म स्वरूप है इसलिए धर्मशिरोमणि कहलाता है, इसीप्रकार यह आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय स्वरूप है इसलिए त्रिरत्नधारी कहा जाता है और समस्त विकारोंसे रहित है अथवा मानसिक वाचनिक और शारीरिक तीनों विकारोंसे रहित है अथवा द्रव्यकर्म, नोकर्म भावकर्म इन तीनों विकारोंसे रहित है इसलिए त्रिविकारहारी वा तीनों विकारोंसे रहित कहलाता है। इसप्रकार यह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप मेरा आत्मा सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करनेवाला है। आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी दिखलाते हैं—

कलानिधिः केवलबोधसिंधुर्निःस्वार्थमूर्तिर्जितकर्मबन्धः ।
समाधितंत्रः समतासमुद्रो दमीश्वरो विस्मयरूपधारी ॥५११॥
धीमान् मनीषी सुजनः सुशीलो ज्ञानी च मौनी धनदो धनेशः ।
ध्यानी प्रदानी निपुणो नरेशः स्वानन्दभोगी चतुरोत्तमोहम् ॥५१२॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा अनेक कलाओंका निधि है, केवलज्ञानरूपी महाज्ञानका सागर है, वह समस्त स्वार्थोंसे रहित है उसके किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है इसलिए वह निःस्वार्थकी मूर्ति कहलाता है, समस्त कर्मोंको जीतनेवाला वा नष्ट करनेवाला है वा कर्मबंधनको रोकनेवाला है इसलिए कर्मबंधनको

जीतनेवाला कहा जाता है। समाधि वा ध्यानमें लीन रहता है अतएव समाधितंत्र कहलाता है, दुःख सुख आदि सबमें समता धारण करता है और परम समताका समुद्र माना जाता है, इंद्रियोंको दमन करनेवालोंमें भी मुख्य वा स्वामी कहलाता है इसलिए इसको दमीश्वर कहते हैं, यह आत्मा तीनों लोकोंमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपने आत्माकी अनंत चतुष्टयरूप विभूतिको धारण करता है अतएव आश्चर्य करनेवाले रूपको धारण करनेवाला कहलाता है, यह आत्मा समस्त पापोंका त्याग कर अपने आत्माका कल्याण कर लेता है इसलिए बुद्धिमान और मनीषी वा विचारवान कहलाता है, समस्त जीवोंका कल्याण करता है किसीका अहित नहीं करता अतएव सुजन कहलाता है, आत्माके अनंत गुणोंको धारण करनेवाला है इसलिए सुशील कहा जाता है, आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेके कारण ज्ञानी कहलाता है, किसीसे भी बातचीत नहीं करता, केवल अपने आत्मामें लीन रहता है, इसलिए मौनी वा मौन धारण करनेवाला माना जाता है, यह आत्मा मोक्षमार्गका निरूपण कर अनेक भव्य जीवोंको अनंतचतुष्टयरूप महालक्ष्मी प्राप्त करा देता है तथा स्वयं भी अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मीको धारण करता है इसलिए धन देनेवाला धनद और धनका स्वामी धनेश कहलाता है, ध्यानमें निमग्न रहनेके कारण ध्यानी माना जाता है, अनेक भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेके कारण प्रदानी कहा जाता है, अपने आत्माको अनंत सुख पहुंचानेके कारण निपुण माना जाता है, तीनों लोकोंका स्वामी होनेके कारण नरेश कहा जाता है, अपने आत्मजन्य आनंदका उपभोग करनेके कारण वा अनंत सुखका अनुभव करनेके कारण आनंद भोक्ता कहलाता है और इन सब उत्तम गुणोंको धारण करनेके कारण चतुर पुरुषोंमें भी सर्वोत्तम कहलाता है। ऐसा यह मेरा आत्मा सदाकाल ध्यान करने योग्य माना जाता है।

आगे इसी आत्माके स्वरूपको और भी बतलाते हैं-

जयी जिनेन्द्रो ह्यजितो जितारिः वंद्योऽभिनंद्यो सुमतिः सुयोग्यः ।
गणाधिपः पुण्यनिधिः पुनीती महान् मनोज्ञो हतषड्रिपुश्च ॥५१३॥
श्रीभूतनाथो भुवनेशवंद्यो जगद्गुरुर्भव्यसरोजभानुः ।
प्रक्षीणदोषः शमदः शमात्मा मुनिर्महर्षिः सुविधिः श्रुतात्मा ॥५१४॥

अर्थ—मेरा यह आत्मा तीनों लोकोंको जीतनेवाला है अथवा तीनों लोकोंको जीतनेवाले काम और मोहको भी जीतनेवाला है, घातिया कर्मोंको जीतनेवाले जिन कहलाते हैं, उनके इन्द्र वा स्वामीको जिनेन्द्र कहते हैं, मेरा यह आत्मा भी जिनोंमें श्रेष्ठ है इसलिए जिनेन्द्र कहलाता है। इस संसारमें मोह वा काम वा अन्य इन्द्रादिकदेव कोई भी इस आत्माको जीत नहीं सकते इसलिए यह आत्मा अजित कहलाता है। इस संसारमें काम मोह वा ज्ञानावरण आदि कर्म ही शत्रु हैं उनको जीतनेवाला यह मेरा आत्मा है इसीकारण मेरा यह आत्मा जितारि कहा जाता है। यह मेरा पवित्र निर्मल शुद्ध आत्मा तीनों लोकोंके द्वारा वंदनीय और अभिनन्दनीय है इसीलिए वंद्य और अभिनंद्य कहलाता है। यह मेरा आत्मा श्रेष्ठ केवलज्ञानको धारण करनेवाला है वा अपने आत्माका कल्याण करनेवाला है इसलिए इसीको सुमति वा श्रेष्ठ बुद्धिवाला कहते हैं। मोक्षके सर्वथा योग्य यही पवित्र आत्मा है इसलिए इसको सुयोग्य कहते हैं। यह आत्मा समस्त भव्यगुणोंका स्वामी है इसलिए इसको गणाधिप वा गणका नायक कहते हैं। यह आत्मा समस्त पापोंको नाश कर पुण्यका निधि बन जाता है इसलिए पुण्यनिधि कहलाता है। पापोंके नाश करनेके कारण ही पुनीत वा पवित्र कहलाता है। यह आत्मा समस्त तत्त्वोंमें सर्वोपरि माना जाता है इसलिए इसको महान् कहते हैं। यह आत्मा उपादेय है सर्वथा ग्रहण करने योग्य है इसलिए इसको मनोज्ञ कहते हैं। इस आत्माने काम क्रोध आदि अंतरंग शत्रु सब नष्ट कर

दिये हैं इसलिए इसको छहों अंतरंग शत्रुओंको नाश करनेवाला कहते हैं। यह आत्मा समस्त प्राणियोंका स्वामी है इसलिए भूतनाथ वा प्राणियोंका स्वामी कहलाता है। तीनों लोक इसको नमस्कार करते हैं अथवा तीनों लोकोंके इन्द्र इसको नमस्कार करते हैं इसलिए इसको भुवनेशवंद्य कहते हैं। यह आत्मा तीणों लोकोंके गुरु वा शासक है इसलिए जगतगुरु कहा जाता है। जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल खिलते हैं उसीप्रकार इस पवित्र शुद्ध आत्मासे समस्त भव्यजीव प्रफुल्लित होते हैं इसलिए इसको भव्यसरोज भानु वा भव्यरूपी कमलोंका सूर्य कहते हैं। यह आत्मा राग द्वेषादिक समस्त दोषोंको नाश करनेवाला है इसलिए प्रक्षीणदोष वा दोषोंको नाश करनेवाला कहलाता है। यही आत्मा समस्त जीवोंको शांति उत्पन्न करनेवाला है इसलिए इसको शमद वा शांत परिणामोंको कराने वाला कहते हैं। यह आत्मा स्वयं शांत है इसलिए शमात्मा वा अत्यन्त शांत कहलाता है। यह आत्मा सदाकाल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करता रहता है इसलिए मुनि कहलाता है, तपश्चरण और ध्यानके द्वारा अपने आत्माको पवित्र करता हुआ यह आत्मा अणिमा महिमा आदि अनेक ऋद्धियोंको प्राप्त कर लेता है इसलिए इसको महर्षि कहते हैं। यह आत्मा पापाको नाश करने तथा महापुण्य कर्मोंको धारण करनेके कारण सुविधि वा श्रेष्ठ पुण्यकर्मोंको धारण करनेवाला कहलाता है। अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए ध्यान तपश्चरण आदि श्रेष्ठ क्रियाओंको करता है इसलिए भी सुविधि कहलाता है। यह आत्मा श्रुतज्ञानका भंडार है इसलिए श्रुतात्मा वा श्रुतज्ञान स्वरूप कहलाता है। इसप्रकार अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा सर्वदा ध्यान करने योग्य माना जाता है।

आगे अपने आत्माका स्वरूप और भी दिखलाते हैं—

क्षमापतिर्ज्ञानरविर्दमेशः कर्मारिजेता निजराज्यदाता ।
स्वानन्दसाम्राज्यविभुः कृपेशो दिगम्बरोऽनन्तगुणात्मकोहम् ॥५१५॥
पूर्वोक्तधर्मेण विराजितोस्मि तथा स्वसंवेदनतोहि गम्यः ।
वाक्कायचित्तैश्च निजात्मना वा शान्त्यर्थमेवं भुवि चिन्तनीयः ॥५१६॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा क्षमाका स्वामी है, ज्ञानरूपी सूर्यको धारण करनेवाला है, इन्द्रिय दमन करनेवालोंमें सर्व श्रेष्ठ है, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाला है, अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वरूपको देनेवाला है अर्थात् इसी शुद्ध आत्माके चिंतवन करनेसे आत्माके शुद्धताकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिए इसको स्वराज्यका दाता कहते हैं। यह आत्मा अपने आत्मजन्य अनंत आनंदको धारण करता है और मोक्षरूप साम्राज्यका स्वामी है इसलिए इसको स्वानंद साम्राज्यविभु कहते हैं। यह आत्मा संसारके समस्त जीवोंको अपने समान समझकर सबपर परम कृपा धारण करता है इसलिए इसको कृपाका स्वामी कहते हैं। यह आत्मा वस्त्राभूषण आदि सबसे रहित है, शरीरसे भी सर्वथा भिन्न है, इसीलिए इसको दिगम्बर कहते हैं। यही मेरा आत्मा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य और अनंत गुणोंको धारण करता है इसीलिए अनंतगुणात्मक वा अनंत गुणोंको धारण करनेवाला कहलाता है। इस प्रकार इस आत्माके अनेक धर्म वा अनेक गुण बतलाए हैं उन सबसे यह आत्मा सदाकाल सुशोभित रहता है। ऐसा यह आत्मा किसी इंद्रियसे नहीं जाना जाता किंतु स्वसंवेदनसे जाना जाता है। अपने आत्माके अनुभवको स्वसंवेदन कहते हैं। उसीसे यह आत्मा जाना जाता है। ऐसा यह आत्मा परम शांति प्राप्त करनेके लिए मन वचन कायसे वा अपने आत्माके द्वारा सदाकाल चिंतवन करने योग्य कहा जाता है।

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करनेसे आत्माकी परम शुद्धता प्राप्त होती है तथा परम शुद्धता प्राप्त होनेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। इसलिए उस परम शांतिको प्राप्त करनेके लिए प्रत्येक भव्य जीवको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन सदाकाल करते रहना चाहिए। आत्माके कल्याण करनेका यही सर्वोत्तम उपाय है।

आगे और भी बतलाते हैं—

साध्यसाधकभावेन स्वात्मेति व्यवहारतः।
चिन्त्यो निश्चयतो नाम नामातीतो निरंजनः ॥५१७॥

अर्थ—साध्य साधकभावसे यह अपना शुद्ध आत्मा चिंतवन करने योग्य है, व्यवहारनयसे उसका नाम चिंतवन करने योग्य है और निश्चयनयसे नामरहित और कर्ममलसे सर्वथा रहित शुद्ध स्वात्मा चिंतवन करने योग्य है।

भावार्थ—यही अपना आत्मा साध्य है और यही आत्मा साधक है। यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका चिंतवन करके अपने ही आत्माको शुद्ध करता है, अपने ही आत्मामें लगे हुए कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माको पवित्र एवं निर्मल बनाता है। अतएव यही आत्मा साध्य वा सिद्ध करने योग्य कहलाता है और यही आत्मा साधक वा सिद्ध करनेका साधन कहलाता है। इस प्रकार साध्यसाधकरूपसे यह अपना ही आत्मा चिंतवन करने योग्य कहा जाता है। इसके सिवाय व्यवहारनयसे व्यवहारमें रक्खे हुए इस परमात्माके नाम ही चिंतवन करने योग्य माने जाते हैं। जैसे चौबीसों तीर्थंकरोंके नाम चिंतवन करने योग्य माने जाते हैं, पंच परमेष्ठीके नाम चिंतवन करने योग्य माने जाते हैं। इस प्रकार व्यवहारनयसे पंचपरमेष्ठीके नाम चिंतवन करने योग्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार समस्त कषायोंसे, समस्त विकारोंसे और समस्त कर्मोंसे रहित अत्यंत शुद्ध जो यह आत्मा है

वही नामसे रहित और कर्ममलकलंकसे रहित निरंजन कहलाता है। ऐसा यह निरंजन आत्मा निश्चय नयसे चिंतवन करने योग्य कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि सब अवस्थामें यही आत्मा चिंतवन करने योग्य है।

आगे इन सब भावनाओंका सारांश बतलाते हैं—

सच्छान्तिरेवोत्तमधर्मसिंधुः सच्छान्तिरेवापि परं तपश्च ।
सच्छान्तिरेवं परमं सुदृक् स्यात् सच्छान्तिरेवं परमः प्रबोधः ॥५१८॥
ध्यानं यथार्थं परमं हि वृत्तं सच्छान्तिरेवापि परं सुखं च ।
ज्ञातव्यमेवेति यथार्थदृष्ट्या स्यात्तद्विना सर्वविधिर्वृथा कौ ॥५१९॥
यथैव विश्वो जलवृष्टिहीनः कदापि नो तिष्ठति कुंथुसिंधुः ।
आचार्यवर्यः सुखशांतिमूर्तिः पूर्वोक्तशान्तेर्न बहिः प्रयाति ॥५२०॥

अर्थ—इस संसारमें जो सर्वोत्तम धर्मरूपी समुद्र कहलाता है वह भी परम शांति स्वरूप ही है, इसका भी कारण यह है कि धर्म धारण करनेसे पापोंका नाश होता है और पापोंके नाश होनेसे तथा कषायादिकोंके नष्ट हो जानेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है इसीलिए आचार्य महाराजने धर्मको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण भी शांतिस्वरूप है। तपश्चरण करनेसे पापकर्मोंका भी नाश हो जाता है और राग द्वेष क्रोध काम आदि समस्त विकारोंका नाश हो जाता है तथा इसके साथ-साथ तपश्चरण करनेसे यह आत्मा परम निर्मल और अत्यंत शुद्ध हो जाता है इसप्रकार आत्माके अत्यंत शुद्ध हो जानेसे आत्मामें परम शांति प्राप्त होती है। इसीलिए इस तपश्चरणको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसके सिवाय आत्माका जो सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शन गुण है वह भी परम

सिद्ध ४१७

शांतिस्वरूप है क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे यह आत्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने लगता है, सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेवाले स्वपरभेदविज्ञानसे यह आत्मा क्रोधादिक कषायोंको विभाव और परकीय परिणाम समझकर उनका सर्वथा त्याग कर देता है और अपने निर्मल आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार आत्मामें लीन होनेसे इस आत्माको परम शांतिकी प्राप्ति होती है। इसीलिए इस सम्यग्दर्शन गुणको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसी प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानको भी परम शांतिस्वरूप बतलाया है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्ज्ञानके प्रगट होनेसे यह आत्मा अपने स्वरूपका वा अपने गुणोंका चिंतवन करता है तथा समस्त बाह्य पदार्थोंको व समस्त विभाव भावोंको परकीय समझकर सर्वथा छोड देता है और फिर अत्यन्त शांत होकर अपने आत्मामें लीन हो जाता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानसे परम शांतिकी प्राप्ति होती है। इसीलिए सम्यग्ज्ञानको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। सम्यक्चारित्रके धारण करनेसे वा पंचपरमेष्ठीका ध्यान करनेसे अथवा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है, समस्त विकारोंका नाश हो जाता है और कर्मोंका नाश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त होनेपर अनंतसुख और अनंत शांति मिलती है। इस प्रकार ध्यान और तपश्चरण दोनों ही परम शांतिके कारण हैं और इसीलिए परम शांतिस्वरूप कहलाते हैं। अथवा ध्यानमें समस्त संकल्प विकल्प छूटकर यह आत्मा अपने पवित्र और शुद्ध आत्मामें लीन हो जाता है और उस समय परम शांत हो जाता है। इसलिए भी ध्यानको परम शांतिस्वरूप बतलाया है। सामायिक आदि सम्यक् चारित्रको धारण करनेसे भी समस्त पापोंका त्याग हो जाता है और आत्मा परम शांत हो जाता है इसलिए ही सम्यक्चारित्र परम शांतिस्वरूप कहलाता है। इसी प्रकार आत्मजन्य परम सुख परम शांतिस्वरूप है अथवा मोक्षमें प्राप्त होनेवाला अनंतसुख परम शांतिस्वरूप है क्योंकि इन दोनों ही सुखोंमें किसी

प्रकारकी आकुलता नहीं होती। इंद्रियजन्य सुखमें सदा आकुलता बनी रहती है इसलिए इंद्रियजन्य सुख तो अशांत स्वरूप ही है, और इसीलिए आत्म-जन्य सुख निराकुल होनेके कारण सदाकाल परम शांत स्वरूप माना जाता है। इसप्रकार धर्म भी शांति स्वरूप है, तपश्चरण भी शांति-स्वरूप है, सम्यग्दर्शन भी शांति-स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान भी शांति-स्वरूप है, सम्यक्चारित्र भी शांति-स्वरूप है, ध्यान भी शांति स्वरूप है और आत्मजन्य सुख भी शांति-स्वरूप है। यह यथार्थ दृष्टिसे प्रत्येक भव्यजीवको समझ लेना चाहिए। यदि इन धर्मादिकके धारण करनेसे भी आत्मामें परम शांति प्राप्त न हो तो फिर उस धर्मको वा तपश्चरणादिकको व्यर्थ ही समझना चाहिए। जिसप्रकार विना जलकी वर्षाके यह संसार कभी नहीं रहता उसीप्रकार सुख और परम शांतिकी मूर्ति ऐसे आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर भी ऊपर लिखी हुई परम शांतिसे बाहर कभी नहीं जाते हैं। अर्थात् इस शांतिसिंधु महाग्रंथके रचयिता आचार्य कुंथुसागर भी ध्यान तपश्चरण करते हुए तथा रत्नत्रयका पालन करते हुए परम शांत होकर अपने आत्मामें लीन रहते हैं। इसीप्रकार समस्त भव्यजीवोंको अपने आत्मामें परम शांतता धारण करनी चाहिए। यही इस ग्रंथकी रचना करनेका तथा पठन-पाठन करनेका यथार्थ फल है।

इति श्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचिते शांतिसिंधुग्रंथे परमशांतिस्वरूपवर्णनो नाम पंचमोऽध्यायः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित श्रीशान्तिसिन्धु नामके महाग्रन्थकी 'धर्मरत्न' पं० लालाराम शास्त्री कृत हिन्दी भाषाटोकामें परम शांतिके स्वरूपका वर्णन करनेवाला यह पांचवा अध्याय समाप्त हुआ।

अथ प्रशस्तिः ।

आगे आचार्यवय श्रीकुंथुसागरजी महाराज अपनी लघुता दिखलाते हुए तथा गुरुजनोंको स्मरण करते हुए अपनी प्रशस्ति लिखते हैं–

दीक्षागुरोरेव दयानिधेर्मे श्रीशांतिसिंधोश्च कृपाप्रसादात् ।
अज्ञानहर्तुः सुमतिप्रदातुः विद्यागुरोरेव सुधर्मनाम्नः ॥५२१॥
ग्रंथो हि नाम्ना वरशान्तिसिंधुरशान्तिहर्ता सुखशान्तिदाता ।
स्वजन्ममृत्योश्च तथा परेषां विनाशहेतोर्विविधव्यथानाम् ॥५२२॥
शान्त्या विना सर्वविधिर्वृथेति प्रबोधनार्थं सकलप्रजानाम् ।
श्रीकुंथुनाम्ना रचितः प्रशान्तेर्मंत्रात्मनिष्ठेन च सूरिणा हि ॥५२३॥

अर्थ–अपनी आत्मामें लीन रहनेवाले और परम शांतिके स्वामी ऐसे आचायवर्य श्रीकुंथुसागर स्वामीने अपने दीक्षागुरु दयाके निधि आचार्यवर्य श्रीशांतसागरकी कृपासे तथा अज्ञानको हरण करनेवाले और श्रेष्ठ-बुद्धिको देनेवाले विद्यागुरु आचार्यवर्य श्रीसुधर्मसागरकी कृपाप्रसादसे इस सर्वोत्तम शांतिसिंधुग्रंथकी रचना की है। यह शांतिसिंधुग्रंथ अशांतिको दूर करनेवाला है तथा परम सुख और परम शांतिको देनेवाला है। इस संसारमें विना शांतिके व्रत विधान आदि करना सब व्यर्थ है। यह बात समस्त प्रजाको समझानेके लिए तथा अपने जन्ममरणरूप संसारका नाश करनेके लिए

और अन्य जीवोंकी अनेक प्रकारकी व्यथाओंको नाश करनेके लिए ही इस शांतिसिंधु महाग्रंथकी रचना की गई है।

काव्यं ह्यलंकारमपीह छन्दो न्यायं नयं व्याकरणं न वेद्मि।
तथापि भक्त्या भवनाशको हि ग्रंथो मयायं लिखितः पवित्रः ॥५२४॥

अर्थ—मैं न तो काव्यग्रंथोंको जानता हूं, न अलंकारशास्त्र जानता हूं, न छन्दशास्त्र जानता हूं, न न्यायशास्त्र जानता हूं, न नयोंका स्वरूप जानता हूं और न व्याकरणशास्त्रको जानता हूं। तथापि मैंने (आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरने) भक्तिके वश होकर ही यह जन्म-मरणरूप संसारको नाश करनेवाला और अत्यन्त पवित्र ऐसे इस शांतिसिंधुग्रंथकी रचना की है।

विरुद्धानुचितं किंचिद् ग्रंथेस्मिन् लिखितं यदि।
शोधयित्वा मुनीन्द्रास्ते पठन्तु पाठयन्तु वै ॥५२५॥

अर्थ—यदि मैंने किसी प्रमादके वशसे इस ग्रंथमें कुछ विरुद्ध वा अनुचित लिखा हो तो मुनिराजोंको वह शोधकर पढना चाहिए और शोधकर ही पढाना चाहिए।

अर्हन् जयतु तद्वाणी जिनधर्मश्च शर्मदः।
पूर्वाचार्यः सुधर्मो मे शान्तिसिंधुगुरुः सदा ॥५२६॥

अर्थ—इस संसारमें भगवान् अरहंतदेव सदा जयवंत रहें, उनकी वाणी सदा जयशील रहे, सब जीवोंका कल्याण करनेवाला यह जैनधर्म सदा जयशील रहे, श्रीकुंदकुंद आदि समस्त पहलेके आचार्य

सदा जयशील रहें, मेरे विद्यागुरु आचार्य सुधर्मसागर सदा जयशील रहें और मेरे दीक्षागुरु आचार्य श्रीशांतिसागर महाराज सदा जयशील रहें ।

ग्रंथं ह्यमुं शांतिकरं सदैव स्मरन्ति वाछन्ति पठन्ति यान्ति ।
त एव योग्यं भुवि सारसौख्यं लब्ध्वा लभन्ते ह्यजरामरत्वम् ॥५२७॥

अर्थ—जो भव्यजीव परम शांति उत्पन्न करनेवाले इस महाग्रंथको सदाकाल स्मरण करते हैं सदाकाल इसका पठन-पाठन करते हैं वा इसको प्राप्त होते हैं अथवा इसके पठन-पाठनकी इच्छा करते हैं वे पुरुष इस संसारमें इन्द्र चक्रवर्ती आदिके सारभूत सुखोंको प्राप्त होकर अजरामर पदको अर्थात् मोक्षपदको प्राप्त कर लेते हैं ।

सुखप्रदं वांछितदं च वस्तु धर्मानुकूलं च कुटुम्बवर्गम् ।
बोधिं समाधिं परिणामशुद्धिं स्वराज्यलक्ष्मीं विदधातु देवः ॥५२८॥

अर्थ—वे भगवान् अरहंतदेव सुखदेनवाले इच्छानुसार पदार्थोंको प्रदान करें, धर्मके अनुकूल कुटुम्बको प्रदान करें, सम्यग्ज्ञान प्रदान करें, समाधिमरण प्रदान करें, परिणामोंकी शुद्धता प्रदान करें और मोक्षरूप स्वराज्यलक्ष्मी प्रदान करें ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला

उद्देश—परमपूज्य आचार्यश्रीके द्वारा रचित ग्रन्थोंका प्रकाशन व प्रचार करना व अनुकूलताके अनुसार इतर प्राचीन जैनग्रंथोंका उद्धार तथा प्रकाशन करना है।

सामान्य नियम

१ इस ग्रन्थमालाको जो सज्जन अधिकसे अधिक सहायता देना चाहेंगे वह सहर्ष स्वीकार की जायगी।
२ जो सज्जन १०१) से अधिक देकर इस ग्रन्थमालाके स्थायी सभासद बनेंगे उनको ग्रन्थमालासे प्रकाशित सर्व ग्रन्थ पोस्टेज खर्च लेकर विना मूल्य दिए जायेंगे।
३ जो सज्जन ५१) या अधिक देकर हितचिन्तक बनेंगे उनको पोस्टेज व अर्धा मूल्य लेकर प्रकाशित ग्रन्थ दिये जायेंगे।
४ जो सज्जन २५) या अधिक देकर सहायक बनेंगे उनको पोस्टेज व लागत मूल्य लेकर प्रकाशित ग्रन्थ दिए जायेंगे।
५ अन्य सज्जनोंको निश्चित मूल्यसे दिये जायेंगे।
६ ग्रन्थके मूल्यसे आई हुई रकमका उपयोग ग्रन्थमालाके द्वारा प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंके उद्धारमें ही होगा।
७ ध्रुवनिधिकी व्यवस्था होनेके बाद सुयोग्य सज्जनोंके तत्त्वावधानमें इसका ट्रस्ट कराया जायगा।

सहायता भेजनेका पता :—

सेठ गोविन्दजी रावजी दोशी

ठि० रावजी सखाराम दोशी, मंगलवार पेठ सोलापुर

ग्रन्थमाला सम्बन्धी सर्व प्रकारका पत्र व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करें

वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

मंत्री—आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर,

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालासे

प्रकाशित ग्रन्थ।

१ चतुर्विंशतिजिनस्तुति
२ शांतिसागरचरित्र
३ बोधामृतसार
४ निजात्मशुद्धिभावना
५ निजात्मशुद्धिभावना (गुजराती)
६ मोक्षमार्गप्रदीप
७ ज्ञानामृतसार
८ लघुबोधामृतसार (गुजराती)
९ लघुबोधामृतसार (हिंदी)
१० लघुबोधामृतसार (कानडी)
११ लघुबोधामृतसार (मराठी)
१२ स्वरूपदर्शनसूर्य
१३ नरेशधर्मदर्पण
१४ लघुप्रतिक्रमण
१५ लघुज्ञानामृतसार (गुजराती)
१६ लघुज्ञानामृतसार (हिन्दी)
१७ लघुज्ञानामृतसार (कानडी)
१८ लघुज्ञानामृतसार (मराठी)
१९ सुधर्मोपदेशामृतसार
२० सुधर्मोपदेशामृतसार (मराठी)
२१ श्रावकप्रतिक्रमणसार
२२ शांतिसुधासिन्धुः
२३ आचार्यकुंथुसागरपूजा
२४ स्वानन्दसाम्राज्यपदप्रदर्शी
२५ नरेशधर्मदर्पण (षड्भाषात्मक)
२६ लघुसुधर्मोपदेशामृतसार
२७ मोक्षमार्गप्रदीप (गुजराती)
२८ मोक्षमार्गप्रदीप (कानडी)
२९ स्वरूपदर्शनसूर्य (षड्भाषात्मक)

जिनको इन ग्रन्थोंकी स्वाध्याय करनेकी इच्छा हो वे श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमलाको सदस्य बनें।

व्यवस्थापक—

श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला

श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके स्थायी सदस्य

१ श्री दि० जैन मन्दिर जहेर
२ श्री दि० जैन मन्दिर नरसोपुर
३ शा० हेमचन्द पोतांबरदास नरसीपुर
४ से० उगरचन्द अमथालाल ,,
५ शा० हरजीवनदास नारायणजी जेहर
६ दामोदरदास वहेचरदास ,,
७ शा० शिवलाल हरगोविन्ददास नरसोपुर
८ परी शिवलाल फतेचन्द जहेर
९ ब्र० प्यारीबाईजी हाथरस
१० शा० पुरुषोत्तमदास मगनलाल जहेर
११ शा० भीखालाल रायचन्द ,,
१२ शा० फतेचन्द दोलचन्द ,,
१३ शा० मणिलाल केवलदास ,,
१४ परी अमीचन्द देवकरण ,,
१५ परी हरचन्द गोरधनदास ,,
१६ शा० नेमचन्द तलकचन्द नरसीपुर
१७ शा० नेमचन्द त्रिभुवनदास ,,
१८ शा० केशवलाल लल्लुभाई ,,
१९ शा० हरीलाल शांतिदास जहेर
२० शा० शिवलाल लल्लुभाई ,,
२१ शेठ साकरचन्द जगजीवनदास नरोडा
२२ शा० छोटालाल पीतांबरदास नरसोपुर
२३ शा० हरीलाल मगनलाल जहेर
२४ श्री० दि० जैनमन्दिर दावोल
२५ शा० चिमनलाल भाईलाल महेलाव
२६ शा० केवलदास रावजीभाई ईडर
२७ शा० हीरालाल फतेचन्द रावली
२८ शा० कालीदास नानचन्द ईडर
२९ सेठ अबीरचन्द लखमीचन्द कटनी
३० सेठ भोपजी शम्भुरामजी मन्दसौर
३१ शा० अंबालाल पोताम्बरदास नरसोपुर
३२ शा० मणीलाल जेसिंगभाई अहमदाबाद
३३ शा० फूलचन्द ताराभाई पारा
३४ चिमनलाल शिवलाल कलोल
३५ चुनीलाल नरोत्तमदास नरसीपुर
३६ रेवचन्द रवचन्द रखियाल
३७ गांधी उगरचन्द फुलचन्द ,,
३८ शा० रेवचन्द खेमचन्द ,,
३९ छगनलाल जेठाभाई पोशोना
४० सि० तोडरमल कन्हैयालाल कटनी
४१ शा० भोगीलाल मगनलाल जांबुडी
४२ शा० माणिकचन्द भाईचन्द ,,
४३ शा० वाडीलाल जगजीवनदास कलोल
४४ विश्वम्भरदास हरिश्चन्द देहली
४५ सौभागचन्द कालीदास डबका

शान्तिसुधासिन्धु

॥ समाप्त ॥

मोक्षं गते महावीरे स्वर्मोक्षसुखदायके ।
चतुर्विंशतिसंख्याते चतुःषष्ठ्याधिके शते ॥ १ ॥
फाल्गुने शुक्लपक्षे हि तृतीयायां शुभे दिने ।
तारंगासिद्धभूमौ हि स्थित्वा स्वराज्यहेतवे ॥ २ ॥
ग्रन्थश्च्छान्तिसुधासिन्धुरयं वांछितदः सदा ।
रचितः स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीमहावीर निर्वाण संवत् २४६४ के फाल्गुन शुक्ल तीजके दिन श्रीतारंगा सिद्धक्षेत्रपर इस अभीष्ट फल देनेवाले श्रीशांतिसुधासिंधुकी रचना आचार्य श्रीकुंथुसागर महाराजने अपना सच्चा स्वराज्य पानेके लिए की ।

श्रीआचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके स्थायी सदस्य

१ श्री दि० जैन मन्दिर जहेर
२ श्री दि० जैन मन्दिर नरसोपुर
३ शा० हेमचन्द पीतांबरदास नरसीपुर
४ से० उगरचन्द अमथालाल ,,
५ शा० हरजीवनदास नारायणजी जेहर
६ दामोदरदास वहेचरदास ,,
७ शा० शिवलाल हरगोविन्ददास नरसोपुर
८ परी शिवलाल फतेचन्द जहेर
९ ब्र० प्यारीबाईजी हाथरस
१० शा० पुरुषोत्तमदास मगनलाल जहेर
११ शा० भीखालाल रायचन्द ,,
१२ शा० फतेचन्द दोलचन्द ,,
१३ शा० मणिलाल केवलदास ,,
१४ परी अमीचन्द देवकरण ,,
१५ परी हरचन्द गोरधनदास ,,
१६ शा० नेमचन्द तलकचन्द नरसीपुर
१७ शा० नेमचन्द त्रिभुवनदास ,,
१८ शा० केशवलाल लल्लुभाई ,,
१९ शा० हरीलाल शांतिदास जहेर
२० शा० शिवलाल लल्लुभाई ,,
२१ शेठ साकरचन्द जगजीवनदास नरोडा
२२ शा० छोटालाल पीतांबरदास नरसोपुर
२३ शा० हरीलाल मगनलाल जहेर
२४ श्री० दि० जैनमन्दिर दावोल
२५ शा० चिमनलाल माईलाल महेलाव
२६ शा० केवलदास रावजीभाई ईडर
२७ शा० हीरालाल फतेचन्द सावली
२८ शा० कालीदास नानचन्द ईडर
२९ सेठ अबीरचन्द लखमीचन्द कटनी
३० सेठ भोपजी शम्भुरामजी मन्दसोर
३१ शा० अंबालाल पीताम्बरदास नरसोपुर
३२ शा० मणीलाल जेसिंगभाई अहमदाबाद
३३ शा० फूलचन्द ताराभाई पाडरा
३४ चिमनलाल शिवलाल कलोल
३५ चुनीलाल नरोत्तमदास नरसीपुर
३६ रेवचन्द रवचन्द रणियाल
३७ गांधी उगरचन्द फुलचन्द ,,
३८ शा० रेवचन्द रेमचन्द ,,
३९ छगनलाल जेठाभाई पोशीना
४० सि० तोडरमल कन्हैयालाल कटनी
४१ शा० भोगीलाल मगनलाल जांबुडी
४२ शा० माणिकचन्द भाईचन्द ,,
४३ शा० वाडीलाल जगजीवनदास कलोल
४४ विश्वम्भरदास हरिश्चन्द्र देहली
४५ सौभागचन्द कालीदास डबका

शान्तिसुधासिन्धु

॥ समाप्त ॥